मोहन राकेश
रचनावली
संपादक जयदेव तनेजा

मोहन राकेश रचनावली के इस दूसरे खंड को 'पहले पहल' शीर्षक दिया गया है। यहाँ लेखक द्वारा विविध विधाओं में किए गए प्रकाशित-अप्रकाशित, पूर्ण-अपूर्ण सर्वप्रथम रचना-प्रयोगों को कालक्रमानुसार एक साथ प्रस्तुत किया गया है।

इसमें मोहन राकेश के सत्रह वर्ष की उम्र में पिता की मृत्यु पर लिखे गए सर्वप्रथम एकांकी 'समझ का फेर' के साथ-साथ सर्वप्रथम एकांकी-संग्रह, कहानी-संग्रह, फ़िल्मालेख, निबन्ध, यात्रा-संस्मरण, रेडियो-नाटक, अधूरे उपन्यास के दो अंश, डायरी का शुरुआती हिस्सा और प्रथम पूर्णकालिक नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को सम्मिलित किया गया है। इनके अतिरिक्त, कोई भी नौकरी ज्वॉइन करते वक्त पहले से ही जेब में त्यागपत्र तैयार रखने के लिए कुख्यात रहे मोहन राकेश के जीवन का वह 'पहला इस्तीफ़ा' भी यहाँ प्रकाशित किया गया है जो इस रचनाकार के आरम्भ से ही स्वाभिमानी तेवर और साहस का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

यही खंड वह आधार-भूमि है, जिस पर खड़े होकर हम लेखक की रचनात्मक-यात्रा को अथ से अन्त तक जाँच-परखकर उसके विकास, ह्रास और सफलता-असफलता का उचित मूल्यांकन कर सकते हैं।

विविध विधाओं से समृद्ध यह खंड मोहन राकेश के बहुआयामी व्यक्तित्व, अस्थिर स्वभाव, भटकाव और तनाव का प्रत्यक्ष प्रमाण देता है।

मोहन राकेश रचनावली-2
[पहले पहल]

मोहन राकेश रचनावली

खंड : दो

सम्पादक

जयदेव तनेजा
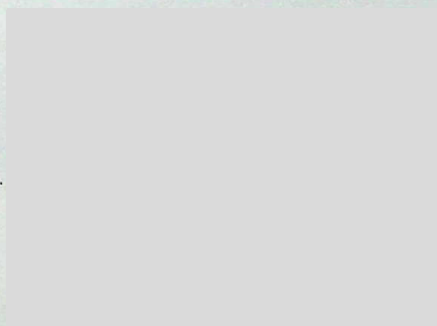
राधाकृष्ण

नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद

ISBN : 978-81-8361-427-6

मोहन राकेश रचनावली-2

पहला संस्करण : 2011

मूल्य : ₹ 10400
(तेरह खंड)

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001

वेबसाइट : www.radhakrishnaprakashan.com
ई-मेल : info@radhakrishnaprakashan.com

आवरण : राधाकृष्ण स्टूडियो

मुद्रक
बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

MOHAN RAKESH RACHANAWALI-2
Edited by Jaidev Taneja

एक अलग अंदाज में
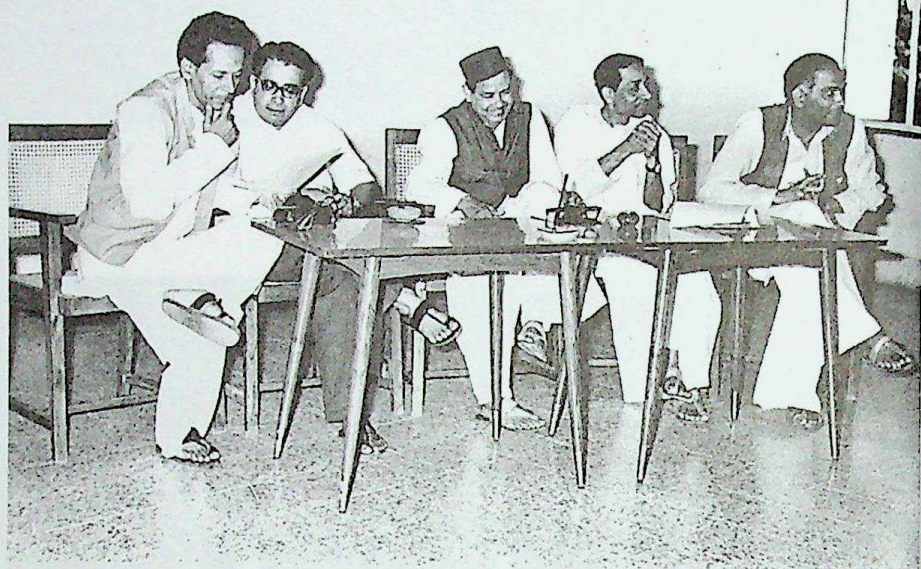
'बहुत बड़ा सवाल'
हबीब तनवीर, सुरेश अवस्थी व अन्य साथियों के साथ

'बीच बहस में'
हबीब तनवीर, नेमीचन्द्र जैन, लक्ष्मी नारायण लाल व अन्य साथियों के साथ

'आषाढ़ का एक दिन' डॉ. राधाकृष्णन से सर्वश्रेष्ठ नाटक का गोल्ड मैडल लेते हुए, दिल्ली, 1959

Form:

As now.

SBI CBM.

Enter sharma & GP.

Enter Mano.

Enter Kapoor

KAPOOR

'उलझते धागे'

अनुक्रम

फ़िल्म-पटकथा

त्याग-पत्र

समीक्षा

निबन्ध

डायरी

यात्रा-वृत्तान्त

उपन्यास

नाटक

परिशिष्ट

भूमिका

इस रचनावली के प्रथम खंड 'अंतरंग' में मोहन राकेश के जन्म, बचपन, किशोरावस्था और आरम्भिक जीवन-परिचय के बाद इस दूसरे खंड 'पहले-पहल' में हम उनकी विविध-विधाओं में सर्वप्रथम लिखी या प्रकाशित उन रचनाओं से साक्षात्कार करवा रहे हैं—जहाँ से रचनाकार राकेश की विकास-यात्रा का आरम्भ होता है। हम जानते हैं कि प्रायः रचना के लेखन-काल और प्रकाशन-काल में अन्तर होता है और कभी-कभी तो यह अन्तराल बरसों नहीं दशकों का भी हो सकता है। उदाहरण के लिए राकेश का सर्वप्रथम एकांकी, जो उन्होंने सत्रह वर्ष की उम्र में सन् 1941 में लिखा था वह मुझे उनकी स्कूल की कॉपी में सँभाल-सँभालकर लिखे हस्तलेख में 1996 में मिला था जो 1998 में 'एकत्र' में पहली बार छपा। उसी के साथ-साथ या थोड़ा बाद लिखे और छपे उनके आरम्भिक एकांकियों का संग्रह 'सत्य और कल्पना' 1949 में प्रकाशित होकर कालान्तर में लुप्तप्राय हो गया था, जिसे लगभग पाँच दशक बाद 'एकत्र' में पुनः प्रकाशित किया गया। बिलकुल यही नेपथ्य-कथा 7 मई, 1944 को उन्नीस साल की उम्र में राकेश द्वारा लिखी गई सर्वप्रथम कहानी 'नन्ही' की भी है, जो कमलेश्वर को स्कूल की एक कॉपी में लेखक के हस्तलेख में 1972 को मिली थी। इसी दौर की कई अप्रकाशित और कुछ यत्र-तत्र प्रकाशित हुईं ये आरम्भिक कहानियाँ काफ़ी खोजबीन के बाद मार्च 1973 के सारिका के 'मोहन राकेश स्मृति विशेषांक' में पहली बार एक साथ छपीं। फिर उन्हीं के सम्पादन में ये बारह कहानियाँ 'एक घटना' नामक संग्रह में सन् 1974 में प्रकाशित हुईं।

सारिका के उसी अंक में छपी एक कहानी 'पंप' पता नहीं क्यों संग्रह में नहीं आ पाई—यहाँ उसे भी पुनश्च के रूप में जोड़ दिया गया है। स्पष्ट है कि 1974 में पुस्तकाकार पहली बार प्रकाशित होने के

बावजूद रचना-काल की दृष्टि से राकेश की ये कच्ची-पक्की एकदम आरम्भिक कहानियाँ हैं। इसी तर्क से उन्हें यहाँ दिया गया है।

मोहन राकेश ने अपने जीवन की पहली नौकरी 1944 में लाहौर की एक फ़िल्म कम्पनी 'दरबार पिक्चर्स' में बतौर बुद्धिजीवी/लेखक की थी। उसी के लिए उन्होंने 'दिन ढले' नामक फ़िल्म-पटकथा लिखनी शुरू की थी। परन्तु उसके पूरी होने से पहले ही 1945 में ही आत्मसम्मानी और बेसब्रे राकेश ने वहाँ से त्यागपत्र दे दिया। यह सम्भवतः पटकथा का प्रथम प्रारूप है। यहाँ प्रकाशित आलेख में सम्पादक ने अधलिखे दृश्यों को छोड़कर और छोटे-छोटे किन्तु सम्बद्ध दृश्यों को जोड़कर (अपनी ओर से बिना कुछ विशेष जोड़े) आलेख को कथानक की दृष्टि से समग्र एवं पठनीय बनाने का प्रयास किया है। बीस वर्ष की उम्र में लिखी गई यह रोमानी प्रेम-कहानी 1940-1945 के आसपास के फ़िल्म-परिदृश्य का आभास देती है।

कोई भी नौकरी ज्वाइन करते वक़्त ही जेब में त्यागपत्र तैयार रखने के लिए कुख्यात राकेश के जीवन का 'पहला इस्तीफा' भी इस खंड के एकदम उपयुक्त एवं प्रासंगिक ही है।

मोहन राकेश की लिखी पहली पुस्तक-समीक्षा 'भारतमंजरी पर एक दृष्टि' लाहौर के आरिएंटल कॉलेज की पत्रिका में मई, 1946 में छपी थी। 22 साल की उम्र में लिखा गया राकेश का पहला निबन्ध 'ब्याह कर ही लूँ', उस समय की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के जून, 1947 के अंक में छपा था। 'बम्बई : 1948' और 'जालंधर स्टेशन : 1949' में दो डायरियों के अंश भी यहाँ दिए गए हैं। ये सम्पूर्ण सामग्री राकेश के बहुआयामी व्यक्तित्व, अस्थिर स्वभाव, भटकाव और तनाव का प्रत्यक्ष प्रमाण देती है।

भारतीय जन-मानस के वैविध्य एवं वैशिष्ट्य को समझने, यहाँ के आकाश, समुद्र और धरातल की बदलती छवियों से साक्षात्कार करने तथा प्रकृति के विस्मयकारी गत्यात्मक रूप-रंग से अनुभव-समृद्ध होने के महत् उद्देश्य से यायावर राकेश ने दिसम्बर 1952 से फरवरी 1953 के बीच गोआ से कन्याकुमारी तक की यात्रा की थी। अपनी इस बाह्य और अन्तर्यात्रा के साक्ष्य को स्थायी रूप देने के लिए तत्काल ही लेखक ने उस यात्रा-वृत्तान्त को 'आखिरी चट्टान तक' के नाम से लिपिबद्ध कर डाला। 1953 में प्रकाशित राकेश के इस सर्वप्रथम यात्रा-संस्मरण को भी हमें यहीं स्थान देना ज़रूरी लगा।

राकेश के पहले उपन्यास 'स्याह और सफ़ेद' की चर्चा बहुत होती है। परन्तु वह कब शुरू हुआ, कब तक उसका लेखन चलता रहा और कभी पूरा हुआ या नहीं कोई नहीं जानता? परन्तु कमलेश्वर का कहना है कि, "इस उपन्यास को राकेश ने प्रकाशन के लिए दिया था, लेकिन फिर कुछ कारणों जो राकेश के ही दिमाग़ में रहे होंगे—उन्होंने इसका प्रकाशन स्थगित कर दिया था। उनकी फ़ाइलों में ऐसी एक टिप्पणी प्राप्त हुई जिसके अनुसार अब वह इस उपन्यास को प्रकाशन के लिए देने ही वाले थे।" यह सच है कि उसका एक आरम्भिक अंश कमलेश्वर को उनकी किसी फ़ाइल में मिल गया था, जिसे उन्होंने 'स्याह और सफ़ेद' नाम से ही राकेश के स्मृति अंक में छापा भी था। यह भी सच है कि इसका लगभग अन्तिम एक अंश राकेश ने 'कल्पना' में प्रकाशित करवा दिया था जो अब उनकी कहानी 'गुंझल' के नाम से जाना जाता है। इस सबके बावजूद तथ्य यही है कि न तो यह कभी प्रकाशित हुआ और न ही इसकी पूरी पांडुलिपि कभी किसी को मिली। हाँ, अन्तरंग यारों-दोस्तों के बीच इसे मज़ाक में 'शीला पुराण' के नाम से अवश्य जाना जाता था। अतः लगता यही है कि इसकी कथा राकेश की पहली शादी (1950) से लेकर पठानकोट में हुए तलाक (1957) तक फैली थी। अतः अनुमानतः इसका रचना-काल सन् 1950 और 1957 के बीच का माना जा सकता है। रचनावली के इस खंड में इस पहले उपन्यास के उपलब्ध दोनों अंश दिए गए हैं। सम्भवतः यह इस उपन्यास के लगभग आरम्भिक और अंतिम अंश हैं।

इस खंड के अन्त में है—नाटक। ऐतिहासिक परिवेश की कहानी 'भिक्षु' और एकांकी 'कलिंग विजय' की तरह ही राकेश ने 1956 में 'कालिदास' नामक एक पूर्णकालिक नाटक भी लिखा था। जो न कहीं छपा और न ही उसकी पांडुलिपि कहीं मिली। 'आषाढ़ का एक दिन' सम्भवतः उसी का संशोधित-परिवर्धित रूप है। अतः यह एक प्रामाणिक तथ्य है कि 3 मार्च से 21 अप्रैल, 1958 को जालंधर में लिखा गया और जून, 1958 में प्रकाशित 'आषाढ़ का एक दिन' राकेश का पहला पूर्णकालिक नाटक है। लेकिन यह दुराग्रह सत्य नहीं है कि यह रंग-शिल्प से अनभिज्ञ कथाकार मोहन राकेश द्वारा अनायास लिख दिया गया एक पाठ्य या रेडियो नाटक था। इसके दूसरे संस्करण की एक व्यक्तिगत प्रति पर राकेश के हस्तलेख में इसमें संशोधन करके इसके ध्वनि-नाटक बनाए जाने के प्रमाण मौजूद हैं।

'पहले पहल' के इस खंड के बाद मैं समझता हूँ कि पाठक शेष रचनाओं का गहरा आस्वाद प्राप्त करने के साथ-साथ रचनाकार के रूप में राकेश के विकास और उनकी प्रतिभा एवं सृजनात्मक उपलब्धियों का बेहतर आकलन कर सकेंगे।

—जयदेव तनेजा

एकांकी
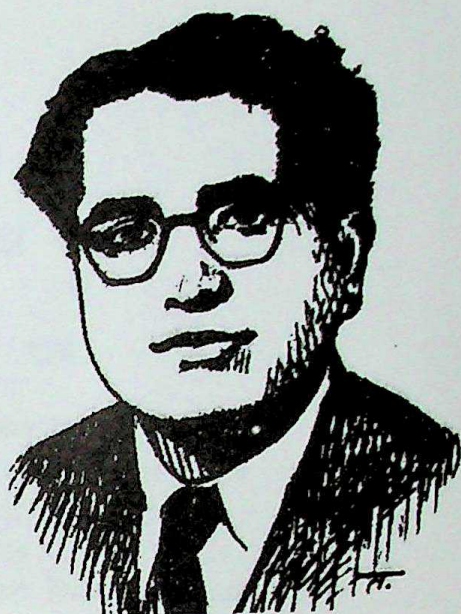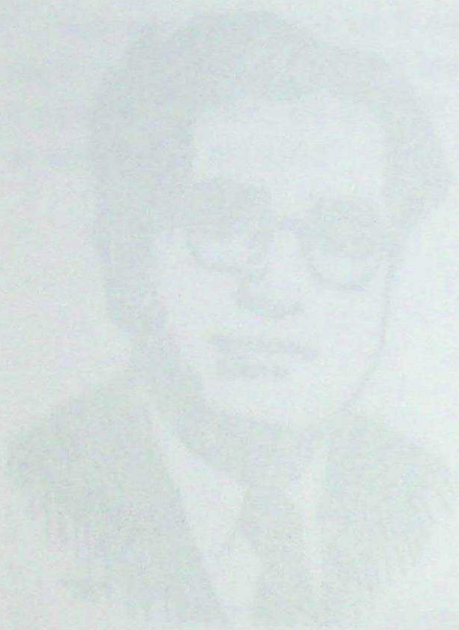
समझ का फेर

पात्र

दयाशंकर : सम्भ्रान्त मध्यवर्गीय रोगी
विनोदशंकर : दयाशंकर का पुत्र, आयु लगभग 19 वर्ष
विजयशंकर : दयाशंकर का बड़ा सौतेला भाई
जानकी : दयाशंकर की माता
शीला : दयाशंकर की पत्नी; विनोदशंकर की माता
वैद्यजी, डॉक्टर, टूनेवाला*, कुछ स्त्रियाँ
स्थान : दयाशंकर का घर।
समय : बाद दोपहर (फरवरी)

पर्दा उठने पर स्टेज़ दो भागों में विभक्त दिखाई देता है। दाईं ओर का भाग रोगी का कमरा है। रोगी का पलंग पिछली दीवार से सटा हुआ है। पलंग पर का कीमती बिछावन अस्तव्यस्त-सा हो रहा है। पलंग से कुछ हटकर तीन-चार कुर्सियाँ बेतरतीब पड़ी हैं। सिरहाने के पास एक छोटी-सी मेज़ है, जिस पर कई तरह की दवाई की शीशियाँ ख़ाली-अधख़ाली और भरी हुई, कुछ डिब्बियाँ और ऐसा ही सामान पड़ा है।

इस कमरे को बाएँ भाग से, जो कि दालान है, अलग करने के लिए एक दरवाज़ा है। दरवाज़े के ऊपर रोशनदान है। इस समय दरवाज़े पर एक सिरकी पड़ी हुई है। दालान में दो-तीन चटाइयाँ बिछी हैं और एक कुर्सी भी पड़ी है।

रोगी दयाशंकर कराह उठता है। जानकी देवी कुछ व्यस्तता से गंगाजली का जल उस पर छिड़कती जाती हैं। विनोदशंकर

---

* टोना-टोटका करनेवाला ओझा/तांत्रिक–सं.

व्यग्रता से उसके पाँव दबाए जाता है। नेपथ्य में कुछ पग-ध्वनि सुनाई देती है। जानकी गंगाजली को मेज़ पर रखकर चुपचाप दालान में आ जाती है।

जानकी : कौन है? *(नेपथ्य से स्त्री कंठ की आवाज़ आती है।)*

: सेठ सागरमल के घर से खबर पूछने आई हैं माँ जी!

जानकी : *(व्यग्रता से)* आई मैं! *(बाहर निकल जाती हैं।)*

इधर रोगी कराहकर करवट बदलता है। विनोद अधिक संलग्नता से पैर दबाने लगता है। विजयशंकर वैद्यजी को लिए हुए दालान में आ जाता है। विजयशंकर दालान पार करके पहले कमरे में झाँककर देखता है फिर वैद्यजी को आने के लिए संकेत करता है। दोनों अन्दर प्रवेश करते हैं।

विजय : *(धीमे स्वर से)* सो गया?

विनोद : *(उदास स्वर से)* नहीं...नींद नहीं आई। अभी-अभी कराहकर करवट बदली है।

विजय : *(वैद्य से)* आवाज़ दूँ या नहीं?

वैद्यजी : नींद नहीं आई—बिल्कुल भी नहीं आई?

विनोद : जी नहीं।

वैद्यजी : वमन हुआ?

विनोद : आपके जाने के बाद तीन बार।

वैद्यजी का मुख गम्भीर हो जाता है। रोगी फिर कराहकर करवट बदलता है। वैद्यजी चिन्ता-व्यंजक भाव से रोगी की नाड़ी देखने लगते हैं।

विजय : पैरों की सूजन ज़रा भी नहीं घटती।

वैद्यजी उत्तर दिए बिना उठकर दालान में आ जाते हैं। विजयशंकर भी साथ ही। विनोद पूर्ववत् पैर दबाता रहता है।

विजय : *(डूबती हुई उत्सुकता से)* कैसी हालत है?

वैद्यजी : बुख़ार आगे से तेज़ है। कमज़ोरी बढ़ती जा रही है।

विजय : *(घबराकर)* फिर?

वैद्यजी : भगवान पर ही भरोसा है। दवाई तो कोई काम नहीं करती। यदि हालत ऐसे ही बिगड़ती गई तो बारह घंटे...

विजय : *(आँखों में आँसू भरकर)* वैद्यजी!

वैद्यजी : आप दिल हल्का न करें। मैंने एक वैद्य के नाते नहीं, एक घनिष्ठ मित्र के नाते अपनी पूरी शक्ति लगाकर देख ली है। पर अब बात मेरी समझ से बाहर होती जा रही है। डॉक्टर व्यास को एक बार फिर बुलाकर दिखा दीजिए। हो सकता है शायद...

विजय : *(करुण दीनता से)* आप सचमुच ही आशा छोड़ रहे हैं?

वैद्यजी चुपचाप दालान से बाहर निकल जाते हैं। विजयशंकर भी आँखें पोंछते हुए पीछे ही निकल जाते हैं। उसी समय जानकी देवी दो-तीन स्त्रियों के साथ प्रवेश करती हैं।

जानकी : *(कमरे के बाहर से)* विनोद!

विनोद : *(अन्दर से)* माँ जी!

जानकी : जरा बाहर आओ।

विनोद अनिच्छापूर्वक रोगी के पास से उठकर बाहर दालान में आ जाता है।

जानकी : उधर बैठक में इनका छोटा लड़का बैठा है, ज़रा दो मिनट उसका दिल बहलाओ। नौकर को मैंने बाज़ार भेजा है।

विनोद आगंतुक स्त्रियों की ओर देखता है, फिर कुछ खिन्न-सा जानकी देवी की ओर।

विनोद : मैं ज़रा उनके पाँव दाब रहा था...

जानकी देवी भृकुटी चढ़ाकर उसकी ओर देखती हैं। वह सिर झुकाकर चुपचाप बाहर चला जाता है। जानकी देवी चिक उठाकर सबको अन्दर चलने के लिए निर्देश करती हैं, और अन्त में स्वयं भी कमरे के अन्दर आ जाती हैं। रोगी उन सबकी ओर देखकर एक बार फिर ज़ोर से कराहता है।

जानकी : कितने वैद्य डॉक्टर और न जाने कौन-कौन आए, पर लगती तो किसी की है ही नहीं। कितना कमज़ोर हो गया है। *(ठंडी साँस भरती है।)*

स्त्री-1 : डॉक्टरों, हकीमों से आजकल कुछ नहीं होता। *(जरा धीमे स्वर से)* किसी जादू, टूनेवाले को दिखाया होता। हमारे घर के पास ही एक डूम रहता है। कितनों को मौत के मुँह से बचा लाया है।

रोगी ज़ोर से कराहता है।

स्त्री-2 : उसे ज़रूर दिखाइए। हमने भी उसकी बहुत तारीफ सुनी है। देखिए न क्या हाल हो गया है! हड्डियों के सिवाय कुछ बचा ही नहीं! पर उसके हाथ में बड़ी ताकत है।

स्त्री-1 : वह सब जगह तो वैसे जाता भी नहीं। पर हमारा उसे लिहाज है। यदि आप कहें...

जानकी देवी उन्हें बाहर चलने का संकेत करती हैं। सब निकलकर दालान में आ जाती हैं।

जानकी : *(दबे हुए स्वर में)* यह सब इन बातों को मानते नहीं। पर अब वैद्य डॉक्टरों के भरोसे बहुत दिन देख लिया!...आप ज़रूर कष्ट करें। आप जैसे भी हो...

स्त्री-1 : आप चिन्ता न करें। एक बार उसके हाथ डाल देने से फिर चिन्ता की कोई बात ही नहीं रह जाएगी। मैं अभी जाऊँगी। इनकी इतनी कमज़ोरी देखकर मेरा तो दिल डरने लगा है। अच्छा...

जानकी : उधर चलकर पहले कुछ जलपान कीजिए।...आइए–

सब स्त्रियों के साथ बाहर चली जाती हैं। विनोद तत्परता से अन्दर आकर उसी प्रकार पिता के पैर दबाने लगता है। रोगी कराहता है। विनोद झट उठकर मेज़ पर से दवाई की एक शीशी उठाकर उसे हिलाने लगता है। जानकी देवी आती हैं।

विनोद : आप उधर चली गईं। इधर यह अकेले...

जानकी : कुछ समझ भी है? बड़े घर की स्त्रियाँ थीं। वह बेचारी इतना कष्ट उठाकर यहाँ तक हाल पूछने आईं और मैं...यह कौन-सी दवाई है?

विनोद : जो वैद्यजी ने कल दी थी। इससे गले के छाले...

जानकी : हो गए ठीक! कल से हालत और भी बिगड़ गई है। फिर यही दवाई देकर अब बिल्कुल ही...

विनोद : जरा धीरे बात करें। उनकी हालत...

जानकी : *(क्रोधपूर्वक)* मैं उसकी दुश्मन हूँ? मैंने ही उसे पैदा किया, पढ़ाया, लिखाया और इतना बड़ा किया। पहले भी तो बीमार होता था। पर तुम लोगों की हिकमत के बग़ैर ही राजी कर लेती थी। अब तुम सब मिलकर जो न करो वही थोड़ा है।

विनोद सिर लटकाकर दवाई की शीशी वहीं रख देता है।

उसी समय बाहर पग-ध्वनि सुनाई देती है। विजयशंकर हाथ में चमड़े का बॉक्स लिए डॉक्टर के साथ प्रवेश करते हैं। जानकी देवी एक ओर को हट जाती हैं। वह कुर्सियों पर बैठ जाते हैं।

डॉक्टर : टेंपरेचर कितना है?

विनोद : जी, घंटा भर पहले एक सौ तीन था। उसके बाद कम तो नहीं हुआ।

रोगी करवट बदलकर कराहता है।

डॉक्टर : *(हृदय-गति की परीक्षा करते हुए)* बोल सकते हैं?

विनोद : छत्तीस घंटे से कोई बात नहीं की। वैद्यजी कहते थे गला बहुत पक गया है। यदि पानी पिला दें तो कोई हर्ज़ तो नहीं?

डॉक्टर : नहीं...नहीं...। थोड़ा-थोड़ा पानी ज़रूर देते जाना चाहिए।

विनोद : बड़े माँजी का ख्याल था...

जानकी देवी उसे घूरकर देखती हैं। वह चुप हो जाता है।

डॉक्टर : मैं चार खुराकें भेजता हूँ। तीन-तीन घंटे बाद देते जाइए। *(विजयशंकर से)* आप चलिए मेरे साथ।

विजयशंकर और डॉक्टर बाहर दालान में आ जाते हैं। उनके पीछे-पीछे जानकी देवी भी।

विजय : क्यों डॉक्टर साहब?

डॉक्टर : हालत नाजुक है। बहुत सावधानी की ज़रूरत है।

विजय : आप जैसे कहें, वैसे ही किया जाएगा।

डॉक्टर : उस कमरे में ताज़ी हवा बिल्कुल नहीं जाती। इस दालान में लिटाएँ तो ज़्यादा अच्छा है। देखभाल करनेवालों के अलावा और किसी को पास न आने दें। इससे रोगी को कष्ट होता है। दवाई ठीक समय पर दीजिए। शायद...

विजय : शायद?

डॉक्टर : हाँ-हाँ! कोशिश करना अपने हाथ में है। मेरे साथ आइए।

डॉक्टर और पीछे-पीछे विजयशंकर बाहर चले जाते हैं। जानकी देवी झल्लाई-सी कुछ सोचने लगती हैं। शीला आती है। हाथ आटे में सने हुए हैं।

शीला : *(विषादपूर्ण स्वर में)* डॉक्टर ने क्या कहा?

जान[illegible] लिटाओ।

शीला : *(कुछ धीरे-से)* उस दिन वैद्यजी ने भी तो यही कहा था।

जानकी : तो फिर सोचना क्या है? ले आओ यहाँ। एक बुख़ार है, दूसरे हवा न लग जाए। जो नहीं हुआ, वह भी हो जाए।

शीला व्यथित-सी होकर सिर झुका लेती है।

शीला : और कुछ कहा है?

जानकी : क़हा है सबका आना-जाना बन्द कर दो। जैसे वह लोग बीमारी हाथ में पकड़कर लाते हैं और लगा जाते हैं। जिस किसी के दिल में लगाव है, वही तो पूछने आता है। अपनी बहनों-बेटियों को रोक दूँ। सेठ सागरमल की धर्मपत्नी खुद चलकर आई थीं। उन्हें उलटे पैरों लौटा दूँ? बड़े आदमी इसे अपनी हेठी समझेंगे। तो सारी उमर के लिए बिगाड़ लूँ?

शीला चुपचाप अन्दर झाँककर एक ठंडी साँस ले, धीरे-धीरे बाहर जाने लगती है।

जानकी : चुप तो ऐसे हो जैसे बोलना सीखा ही नहीं। बेटा बात-बात पर नोक-टोक करता रहता है। जैसे एक ही समझदार पैदा हुआ है।

शीला बाहर चली जाती है। जानकी देवी झुँझलाकर अन्दर आ जाती हैं। विनोद पानी का गिलास उठा चुका है, और चम्मच से पानी पिता के मुँह में डालने जा रहा है। रोगी विकलता से सूखे होंठों को खोलने की चेष्टा कर रहा है।

जानकी : *(अत्यन्त क्रोध से)* जहर पिला दो। पानी से जल्दी बिगाड़ न होगा। खाने के नाम से तो उसके अन्दर कुछ जाता नहीं। ख़ाली अँतड़ियों में जाकर पानी चाहे कलेजा चीर दे, पर तुम्हारी बला से।

रोगी करुण दृष्टि से दोनों की ओर देखता है। विनोद दो चम्मच पानी उसके मुँह में डाल देता है।

जानकी : पिला दिया? जान लेकर ही रहोगे?...कर लो जो तुमसे हो सके।

आवेश में निकलकर बाहर दालान में आ जाती हैं। कुछ निस्तब्धता। दवाई लिए हुए विजयशंकर का प्रवेश।

विजय : कैसी हालत है? *(जानकी देवी चुप रहती हैं।)*

विजय : चलकर यह खुराक तो पिला दो।

जानकी : तुम ही जाकर पिला दो। मैं अपने हाथों अपने बेटे की जान लेना नहीं चाहती।

विजय : *(मलिन आवेश के साथ)* यह दवाई भी बुरी हो गई? यह तो डॉक्टर ने पहली बार ही दी है।

जानकी : सभी दवाइयाँ पहली बार ही दी जाती हैं। यह लाल-लाल-सा पानी है। न जाने किसी जानवर का ख़ून है।

विजय : दवाई खिलाए बग़ैर तो कुछ नहीं होगा।

जानकी : हाँ! ऐसी दवाई ही फायदा करेगी। धर्म डुबोकर ही फायदा मिलेगा। ऐसी-ऐसी दवाइयाँ खिला-खिलाकर आगे ही यह हाल कर दिया है। अब बाक़ी कसर भी न रहे।

विजयशंकर विवश क्रोधमय मुद्रा से अन्दर चले जाते हैं।

विजय : *(दवाई रखते हुए)* विनोद! डॉक्टर ने यह दवाई दी है।

विनोद शीशी हिलाकर एक प्याली में दवाई उँड़ेलता है, और चम्मच से रोगी के मुँह में डालता है। जानकी देवी अन्दर आती हैं।

जानकी : पिला दी? यों ही गला घोंट दो! *(रोगी ज़ोर से कराहता है।)*

विजय : *(भर्त्सना भरे स्वर से)* कुछ तो धीरे बात करो।

जानकी : मेरे सामने तुम लोग मेरे बेटे को जहर दो, और मैं मुँह देखती रहूँ? कुछ भी न कहूँ?

विजय : इतना मत चिल्लाओ। आज तक जितनी दवाइयाँ आई हैं, कोई भी तुमने पूरी तरह देने दी है? शुरू से ही दवाई ठीक तरह होती तो हालत यहाँ तक न पहुँचती।

जानकी : मैं ही उसकी दुश्मन हूँ न? सौतेले भाई की चिन्ता है, और जिसने पैदा किया है, उसे नहीं! देखती हूँ बहुत बढ़कर बातें करने लगे हो।

विनोद तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से जानकी देवी की ओर देखता है। विजयशंकर चुपचाप खिन्न से बाहर की ओर चल देते हैं। जानकी देवी भी पीछे-पीछे दालान में आ जाती हैं।

जानकी : जरा सुनोगे?

विजय : *(घूमकर)* क्या है?

जानकी : मैं कहती हूँ इन वैद्यों-हकीमों के सिर पर कब तक चलेगा?

विजय : समझ में नहीं आता कि तुम क्या चाहती हो। *(ठंडी साँस भरकर)* डॉक्टर पर अन्तिम भरोसा था।

जानकी : *(चमककर)* अन्तिम भरोसा?

विजय : हाँ! वैद्यजी आशा छोड़ गए हैं। *(उमड़ते हुए आँसुओं को रोकते हुए)* वह तो कहते थे कि बारह घंटे भी...*(आवाज़ रुक जाती है।)*

जानकी : *(विह्वल उत्तेजना के साथ)* बारह घंटे! कहते हुए शर्म नहीं आती?...उसे हुआ क्या है? ऐसी अपशगुन की बात सौतेले भाई के सिवाय कौन मुँह से निकाले?

विजय : बस चुप रहो। सौतेला भाई तो हूँ, पर तुम्हारे जैसा कलेजा नहीं है। यदि जान देकर भी उसे बचा सकता...

बाहर पैरों की आवाज़ सुनाई देती है। वही स्त्री एक काले से व्यक्ति को साथ लिए आती है, जो फटे कपड़ों में भी अकड़कर चलता है। जानकी देवी अभिवादन करती हैं। विजयशंकर गम्भीर अर्थपूर्ण दृष्टि से जानकी देवी की ओर देखते हैं। वह उपेक्षा करके, उन दोनों को रोगी के कमरे में ले जाती हैं। विनोद आश्चर्य से उन सबकी ओर देखता है। रोगी कराहता है। डूम रोगी के निकट ही बैठ जाता है। विजयशंकर भी खिन्न से वहीं आ जाते हैं। डूम आँखें बन्द करके हाथ हवा में हिलाता है, फिर कुछ बड़बड़ाकर आँखें खोलता है। वह स्त्री और जानकी देवी श्रद्धापूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखती रहती हैं।

डूम : *(कृत्रिम गम्भीरता से)* खुदा के घर से दूत चल चुके हैं, भाई!

विजय : *(उतावले आवेश के साथ)* आपने जो कुछ कहना हो बाहर चलकर कहें।

जानकी देवी क्रोध से विजयशंकर को घूरती हैं। डूम चुपचाप दालान में आ जाता है, साथ ही वह स्त्री, जानकी देवी और विजयशंकर।

जानकी : *(माथे से पसीना पोंछते हुए)* आप इसकी जान बचा दें। मैं जो कहोगे, दूँगी।

डूम : हम ऐसा उपाय कर सकते हैं जिससे खुदा के दूत खुद ही रास्ते में मर जाएँ।

जानकी : आप ज़रा बाहर आ जाएँ। *(विजयशंकर से)* तुम उसके पास बैठो।

विजयशंकर वहीं खड़े रहते हैं। डूम स्त्री और जानकी देवी बाहर चले जाते हैं। विजयशंकर एक ठंडी साँस लेकर अन्दर रोगी के पास आ जाते हैं।

विजय : उठो विनोद बेटा! अब मैं ज़रा पाँव दबाऊँगा।

विनोद : नहीं...नहीं...आप...

विजय : कोई बात नहीं। विपत्ति के समय कोई डर नहीं होता।

बाँह पकड़कर विनोद को उठा देते हैं, और स्वयं पाँव दबाने लगते हैं। जानकी देवी फिर अन्दर आ जाती हैं।

जानकी : उसे रजाई से अच्छी तरह ढक दो।

विनोद : यह कैसे हो सकता है? डॉक्टर ने तो कहा था...

जानकी : मैं जो कह रही हूँ, वह करो। आज तक तुम सब अपनी मर्जी से सब कुछ करते रहे, अब मैं अपनी मर्जी से करूँगी जो डॉक्टरों से पन्द्रह दिन में न हो सका, वह अब मिनटों में हो जाएगा।

रजाई खोलने लगती हैं। रोगी कराहता है, पर कराहट में अब तीव्रता नहीं। शीला धीरे-धीरे आकर चुपचाप एक कोने में खड़ी हो जाती है।

विजय : *(रोगी के पैरों को, फिर हाथों को छूकर देखते हुए)* बुख़ार तो बिल्कुल उतरता-सा मालूम होता है।

शीला : *(घबराई हुई आवाज़ में)* माँजी! यह उनकी आँखों को क्या होता जा रहा है?

सब चौंककर देखते हैं। रोगी की आँखें चढ़ती जा रही हैं। हाथ-पैर निश्चेष्ट होते जा रहे हैं।

विनोद : *(ऊँचे स्वर में)* बाबूजी! बाबूजी!!

विजय : *(हिलाने की चेष्टा करते हुए)* दयाशंकर! दयाशंकर!!

विनोद : *(रोकर)* यह बाबूजी को क्या हो रहा है?

जानकी : *(माथे पर हाथ मारकर)* जो तुम लोगों ने किया है।...आखिर उसकी जान ले ही ली!

जोर से रोने लगती हैं। शीला आँखें फाड़कर सबको देखती है। विजयशंकर रोगी को पलंग से नीचे उतारने लगते हैं।

विजय : *(रोती हुई आवाज़ में)* बेटा विनोद! *(विनोद चीख़ उठता है।)*

[पर्दा गिरता है।]

सत्य और कल्पना

स्वर्गीय
डॉ. लक्ष्मणस्वरूप
को
जिन्होंने मेरी नाटकीय प्रवृत्ति को
प्रेरित और प्रोत्साहित किया।

भूमिका

'सत्य और कल्पना' मेरे एकांकी नाटकों का पहला संग्रह है। इसके अधिकांश नाटक हिन्दी की पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, और रंगमंच पर खेले जा चुके हैं।

आज यहाँ नाटक-रचना के सम्बन्ध में पुरानी बातों को दोहराने का मेरा विचार नहीं। नाटक के गुण-भेद नाट्य-शास्त्र का विषय हैं, और आज के युग की आवश्यकताओं तथा प्रयोगों को देखते हुए, एक सर्वांग-पूर्ण नये नाट्य-शास्त्र का निर्माण होना अभी रहता है।

परिभाषाएँ बनती रही हैं, और बनती रहेंगी। साहित्य का शरीर शब्द हैं, और परिभाषाएँ भी शब्दों का आश्रय लेती हैं, अतः वे व्यापक न बनकर आज तक साहित्य में व्याप्त ही होती रही हैं। साहित्य के साथ अपने सम्बन्ध को लेकर मेरे हृदय में किसी तरह का संशय, अनिश्चय या वितर्क नहीं। अपने चिन्तन और उसके परिणाम को मैं आशंकित होकर नहीं देखता। मैं जानता हूँ कि आकृतियों की तरह रुचियों की विभिन्नता भी नैसर्गिक है। आकृतियों की तरह रुचियों में वर्गीकरण भी है। साहित्यिक परिभाषाओं के बनाने में इस वर्गीकरण का बहुत बड़ा हाथ है।

पर जिस किसी वर्ग में भी हो, सौन्दर्य अपने प्रभाव से जाना जाता है। और जिस किसी वर्ग में भी हो, साहित्य अपने प्रभाव से जाना जाता है।

यह आवश्यक है कि मैं एक-एक नाटक के चरित्रों का विश्लेषण करूँ, या उसकी प्रेरणा के बिन्दु की व्याख्या करूँ। चाहे तो हर पिता अपनी संतति में महत्ता के लक्षण देख सकता है, पर उसका दर्शन संतति की महत्ता का प्रमाण नहीं। मेरा कर्त्तव्य इतना ही है कि मैं इन नाटकों का थोड़ा-थोड़ा परिचय दे दूँ।

कलिंग-विजय

इस ऐतिहासिक नाटक में करुण-रस का प्राधान्य है। आरम्भ से अन्त तक जितनी घटनाएँ और संवाद हैं, उनमें करुण-रस का धीर पर निश्चित आरोह है। विजयगुप्त की मृत्यु में इस रस की निष्पत्ति होती है।

संवादों का तीखापन इस नाटक की विशेषता है। पात्रों के असन्तोष को मुखर करने में कहीं-कहीं भाषा आलंकारिक हो गई है, पर इससे रस की पुष्टि ही हुई है। कहीं ऐसे व्याख्यान नहीं, जो नाटक की गति पर प्रभाव डालें। नाटक रंगमंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखा गया है।

मिट्टी और मानव

यह इंसान का अपने पर एक व्यंग है। व्यंग का गुण यह है कि उसकी करुण में भी विनोद की पुट रहती है। नाटक का अन्त किसी तरह की कटुता नहीं छोड़ता।

इस नाटक में मनुष्य के अवचेतन मन का एक कोण प्रकाश में आया है। सीता और शारदा—दोनों बहनों की आत्मीयता का अपना-अपना क्षेत्र है। दोनों के अपने-अपने मर्म हैं, एक के मर्म की चोट दूसरी अनुभव नहीं करती, नहीं कर सकती है, पर चेतन मन लोकाचार के अधीन प्रदर्शन के लिए बाध्य करता है। नाटक का आक्षेप मुख्यतया सीता पर है, जो एक ओर तो शरीर को चार दिनों की मोह-ममता, फिर मिट्टी की मिट्टी' कहकर परिस्थिति से ऊपर उठना चाहती है, और दूसरी ओर विपरीत परिस्थिति में विक्षिप्त होकर वह धरातल पर उतरती है और रोकर क़हती है 'मैं लल्लू के बिना पल भर भी नहीं जी सकती।' शरीर को मिट्टी बतलाने वाली नारी अपने बच्चे को मिट्टी में खेलने से मना करती है तो व्यंग को एक मुस्कराहट मिलती है, और जब वह मिट्टी में लथपथ बच्चे को बाँहों में उठाकर चूमती है, तो व्यंग एक आँसू में बह निकलता है। और जब लल्लू माँ के दुलार की उपेक्षा करके मिट्टी के टूटे खिलौने के लिए रो उठता है, तो व्यंग मौन हो जाता है।

नाटक में संवाद स्वाभाविक हैं, और भाषा में कहीं आलंकारिक आरोप नहीं। नाटक की गति और है और इसे रंग-मंच पर खेला जा सकता है।

प्रतीक्षा

'प्रतीक्षा' मनुष्य के अन्तस्तल की ट्रेजेडी है। इसमें एक माँ के हृदय की करुणा मूर्त-रूप में सामने आती है। बेटा युद्ध में गया है। माँ प्रतीक्षा कर रही है उसके पत्र की। पत्र नहीं आ रहा। चारों ओर होने वाली घटनाएँ और बातें एक विशेष संकेत देती हैं। आशंका जागरूक है, जिसे दबाने की चेष्टा वह निरन्तर करती है। दिनभर मन को झुठलाकर जब वह सो जाती है, तब वह आशंका स्वप्न में सशरीर सामने आती है, और चेतन मन द्वारा अपवारित बातों को उसके कानों में बोल जाती है। अब वह है, जीवन है, और आगे की दुःसह प्रतीक्षा है...

नाटक साधारण बोलचाल की भाषा में लिखा गया है। राजी की अप्रासंगित बातें उसके अशिक्षित मन को प्रकट करती हैं, जिसे युक्तियुक्त चिन्तन की आदत नहीं। संवरण उसके लिए सम्भव नहीं।

बिजली का बिल

यह एक पारिवारिक व्यंग्य है। प्रधान रस हास्य है। एक साधारण घर की आर्थिक विवशता का चलते जीवन पर प्रभाव—यह इस नाटक का विषय है। आरम्भ से अन्त तक वातावरण में विनोद की पुट है।

नाटक उन कच्चे सूत्रों को छेड़ता है, जिनके सहारे हमारी निम्न-मध्य-श्रेणियों का जीवन लटक रहा है। कल्याणी का चरित्र यह स्पष्ट कहता है कि किस तरह अभाव से असन्तोष, असन्तोष से असहिष्णुता और असहिष्णुता से पारिवारिक क्लेशों का जन्म होता है।

नाटक की भाषा विनोदपूर्ण है, और इसमें परिस्थिति और घटना को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

स्वयंवर

यह एक काल्पनिक प्रहसन है। इनमें सत्य और वास्तविकता का आशय बहुत कम है। मुख्यता घटना की है। आदि से अन्त तक इसका उद्देश्य हल्के क्षणों में जीवन को गुदगुदा देना है।

नाटक का लक्ष्य एक ही है, और वह है मनोरंजन। मनोरंजन के साथ-साथ कहीं-कहीं बहुत मीठा व्यंग्य भी है।

रिहर्सल

यह नाटक एक ऐसी वास्तविकता के आधार पर लिखा गया है, जिसे जानने का अवसर बहुतों को नहीं मिलता। रंगमंच पर रँगे हुए पात्रों

को सबने देखा है, पर रंगमंच पर आने से पहले वे किस परिस्थिति से गुज़रते हैं, यह वही लोग जानते हैं जिनका प्रदर्शन के साथ सम्बन्ध है। रिहर्सल रूम में घटित होने वाली घटनाएँ कई बार इतनी मनोरंजक होती हैं कि स्वयं नाटक फीका पड़ जाता है।

एक लड़के द्वारा लड़की का अभिनय किया जाना, हमारे यहाँ अस्वाभाविक नहीं है। कुछ बड़े शहरों को छोड़ दीजिए। अन्यत्र आज भी नाटक का शौक इसी तरह पूरा किया जाता है। वैसे बचपन में ऐसे नाटक तो सभी ने देखे होंगे जिनमें लाल साड़ी उनके परिचितों में से ही किसी एक के बँधी हो।

नाटकों का परिचय देकर अब मैं पीछे हट जाता हूँ। नाटक आपके हाथ में है। पढ़ जाइए। पढ़कर खेलिए, चाहे ताक में रख दीजिए।

प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं।

अमृतसर
1-9-49

—मोहन 'राकेश'

कलिंग-विजय-1

पात्र

असंधिमित्रा : अशोक की सम्राज्ञी
सुजाता : महामात्य की पत्नी
वृद्धा : एक सामंत की माँ
अशोक : मौर्य सम्राट
महामात्य : अशोक का प्रधानमंत्री
युवक : एक विद्रोही बन्दी
तारा : युवक की बहन *(एक सद्यःविधवा)*
तारा का बच्चा, द्वारपाल
देशपाल : सैनिक

पहला दृश्य

अशोक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष उसकी सेनाओं ने कलिंग पर आक्रमण किया। देवानां-प्रिय प्रियदर्शी राजा की सेनाएँ शत्रुओं को परास्त करती हुई आगे बढ़ने लगीं। पूर्ण विजय अब कुछ ही चिर की बात रह गई। तभी एक दिन पाटलिपुत्र में अशोक के विहारोद्यान में असंधिमित्रा दुःखी सुजाता को कुछ समझाती-सी दिखाई देती हैं। तेज़ संगीत के कारण उनके संवाद सुनाई नहीं देते। संगीत कम और प्रकाश अधिक होने पर...

सुजाता : हर पराजय भी तो विजय का स्मारक ही होती है। उन ध्वस्त और जीर्ण-शीर्ण घरों में जाकर पता चलता है कि विजय क्या होती है।
असंधिमित्रा : कुमार की अनुपस्थिति ने तुम्हारे हृदय को बहुत अस्थिर कर दिया है, सुजाता बहन! तभी तुम ऐसी-ऐसी बातें सोचती हो।

कलिंग पर विजय होने में अब देर नहीं है। थोड़े ही दिनों में कुमार विजय का सेहरा बाँधे हुए तुम्हारे पास आकर उपस्थित हो जाएगा। फिर तुम्हारी यह उदासी और निराशा सब जाती रहेगी। मैं भी माँ हूँ और माँ के हृदय को समझ सकती हूँ। तुम सोचने लगती हो तो बहुत गहरे तक सोच जाती हो। सुजाता, तुम चाहो तो मैं महाराज से कहकर कुमार को पहले भी बुलवा सकती हूँ...

सुजाता : उसको बुलवा लूँगी महादेवी तो उसकी जगह कोई-न-कोई कुमार तो जाएगा ही। और अब भी वह वहाँ अकेला नहीं है। सहस्रों और सैनिक उसके साथ हैं। *(रुआँसे स्वर में)* मैं केवल उसकी कुशल-क्षेम चाहती हूँ महादेवी, और कुछ नहीं चाहती। परन्तु मैं जानती हूँ कि कुमार तक मेरे हृदय की बात पहुँच जाए तो वह क्षुब्ध हो उठेगा। घर में उनसे बात करती हूँ तो वे क्षुब्ध हो उठते हैं। जैसे जीवन में वीर धर्म ही एक धर्म है। ममता और कोमलता का कोई धर्म ही नहीं है। मैं उनसे कभी बात नहीं करना चाहती। उनका हृदय भी शिलाखंड की तरह ही है, जिससे टकराकर मेरी कोमल भावना चूर-चूर हो जाती है। मैं उनसे कुछ नहीं कहना चाहती। आँखें भर जाती हैं तो आकाश की ओर देख लेती हूँ। हृदय भारी होता है तो आपके पास चली आती हूँ।

असंधिमित्रा : तुम्हें कुमार के कुशल क्षेम के सम्बन्ध में कभी चिंतित नहीं होना चाहिए सुजाता बहन! कुमार बहुत वीर और रण-दक्ष सेनापति है। आज विहारोद्यान से लौटकर मैं तुम्हारे साथ उसकी कुशल क्षेम के लिए प्रार्थना करूँगी। तुम चिंता छोड़ दो। कुमार चिरायु है और उसे अभी जीवन में बहुत कुछ करना है।

एक वृद्धा की खोखली उन्मादपूर्ण हँसी का शब्द सुनाई देता है।

वृद्धा : तुम कहती हो कुमार चिरायु है? यह झूठ है। धोखा है। कुमार मर चुका है। उसे कोई शक्ति प्राण नहीं दे सकती।

फिर हँसती है।

असंधिमित्रा : तुम कौन हो माँ? ऐसे शब्द तुम क्यों कह रही हो?

वृद्धा : मैं कौन हूँ?...तुम देख नहीं रही हो, मैं कौन हूँ? मैं कुमार की माँ हूँ। कुमार आदित्यगुप्त की माँ। और तुम मुझसे कहती हो

कि कुमार चिरायु है? तुम मेरे बच्चे की मृत्यु का उपहास उड़ाती हो? इसलिए कि तुम इस राज्य की महादेवी हो?

असंधिमित्रा : *(अव्यवस्थित स्वर में)* तुम कुमार आदित्यगुप्त की माँ हो, और इस दशा में? यह तुमने अपना कैसा वेश बना लिया है माँ? तुम ये तार-तार वस्त्र पहने घूम रही हो?

वृद्धा : तुम्हें मेरे इन वस्त्रों की चिंता है? *(हँसकर)* मेरे इन वस्त्रों से तुम्हारे राज्य की मर्यादा जाती है?...परन्तु मेरी कोई मर्यादा नहीं है। मैं एक मरे हुए सामन्त की माँ हूँ। अब मेरे पुत्र के पीछे एक सहस्र अश्वारोही नहीं चलते।

असंधिमित्रा : फिर भी माँ, तुम्हारे पुत्र की मर्यादा तो शेष है...

वृद्धा : मेरे पुत्र की मर्यादा शेष है? कहाँ? किस रूप में? मेरे घर चलोगी? मेरे घर की गिरी हुई दीवारों में तुम्हें वह मर्यादा दिखाई देगी। मेरे टूटे हुए चूल्हे में वह मर्यादा दिखाई देगी। देखोगी?

असंधिमित्रा : *(संवेदनापूर्वक)* मुझे बहुत दुःख है माँ! मैं आज ही महाराज से तुम्हारी दशा का उल्लेख करूँगी। वे हर तरह से तुम्हारी सहायता करेंगे। वे प्रजा में किसी को दुखी नहीं देख सकते, फिर तुम तो राज्य के एक दिवंगत सामन्त की माँ हो। तुम्हारे लिए कुछ भी करना वे अपना धर्म समझेंगे। उनका राज्य धर्मराज्य है। वे तुम्हारे सम्बन्ध में...

: क्या बात है माँ? तुम इस तरह क्यों देख रही हो?

वृद्धा : मैं देख रही हूँ कि तुम बहुत भोली हो या बहुत चतुर हो। यह राज्य धर्मराज्य है!...और अब उस धर्मराज्य की सीमाओं का विस्तार भी हो रहा है। इस राज्य के वीर सैनिक इस धर्मगाथा को दूर-दूर तक ले जा रहे हैं।

असंधिमित्रा : हाँ, माँ! महाराज सारे देश को अधर्मियों और आततायियों के पंजों से छुड़ाकर सुख और शान्ति के छत्र में ले जाना चाहते हैं।

वृद्धा : सुख और शान्ति के छत्र में? *(हँसती है)* और उस सुख और शान्ति की अग्रदूत बनकर आती है रक्त से रँगी हुई तलवार?... महादेवी असंधिमित्रा, तुम एक राज्य की स्वामिनी हो और जीवन को तुम जीवन के बीच से नहीं, अपनी सत्ता की ऊँचाई से देखती हो। यह सत्ता और प्रभुता ही तुम्हारे लिए यथार्थ है, जीवन यथार्थ नहीं है।...तुम जानती हो, युद्ध किसे कहते हैं?

असंधिमित्रा : मैं तुम्हारा प्रश्न ठीक से समझ नहीं सकी माँ!

वृद्धा : यह प्रश्न तुम समझ भी नहीं सकती हो महादेवी! युद्ध का अभिप्राय वही समझ सकता है, जिसने युद्ध के परिणाम को सहा हो। मैं युद्ध का अभिप्राय जानती हूँ और बहुत अच्छी तरह जानती हूँ। युद्ध की मार-काट से सुख और शान्ति उन्हें मिलती होगी जिनकी गौरवगाथा शिलाखंडों पर लिखी जाती है, मरने और कटनेवालों को नहीं मिलती।

असंधिमित्रा : मरनेवाले को भी सुख मिलता है माँ। उसकी यशस्विता उसे सुख देती है। वास्तव में शिलाखंडों पर मरनेवालों की यशोगाथा ही तो अंकित होती है। राजा अपने आपमें कोई व्यक्ति नहीं होता, केवल एक प्रतीक होता है। प्रजाहित में ही उसकी सत्ता की सार्थकता है। राजा जो भी करता है, प्रजाहित के लिए ही करता है। यह बात तुम क्यों नहीं सोचती हो माँ?

वृद्धा : *(व्यंग्यपूर्ण स्वर में)* राजा जो कुछ भी करता है, प्रजाहित के लिए करता है! उसकी सत्ता प्रजाहित के लिए है, उसका शासन प्रजाहित के लिए है और उसका पीड़न भी प्रजाहित के लिए है! इतनी सूक्ष्म बात समझने की बुद्धि मुझमें नहीं है महादेवी! परन्तु इतना मैं अवश्य जानती हूँ कि यशस्विता भी राजा के लिए होती है, युद्धभूमि में मरनेवालों के लिए नहीं। मरनेवाले को जो कुछ मिलता है, वह मेरे पास देख लो। मेरी इस फटी हुई झोली में कितना यश भरा है।

असंधिमित्रा : *(व्याकुल स्वर में)* नहीं, माँ नहीं। तुम्हारी यह हीन दशा सचमुच मुझसे नहीं देखी जाती। मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकती कि एक सामन्त की माँ को ऐसे वस्त्रों में रहना पड़ सकता है। मुझे अवसर दो माँ! मैं तुम्हारे लिए कुछ करना चाहती हूँ। कुछ भी बताओ जो मैं तुम्हारे लिए कर सकूँ...

वृद्धा : तुम कुछ भी नहीं कर सकतीं महादेवी! मैं अकेली नहीं हूँ, जिसके पुत्र की मृत्यु हुई है। एक मेरी ही झोली में छेद नहीं है। इस विहारोद्यान से बाहर बहुत-बहुत बड़ी दुनिया है महादेवी! किसी एक के लिए करने से कुछ नहीं होगा! प्रभुसत्ता में एक बहुत बड़ी विशेषता होती है महादेवी! वह जितना व्यापक विध्वंस कर सकती है, उतना व्यापक निर्माण नहीं।

असंधिमित्रा : फिर भी मुझे कर्तव्य का बोध दो माँ। मुझे मार्ग का निर्देश दो।

मैं अपनी अकिंचनता समझ रही हूँ। फिर भी मैं कुछ करना चाहती हूँ...

वृद्धा : महादेवी कुछ करना चाहती हैं?...तुम क्या कर सकती हो, यह मैं नहीं जानती। मैं एक साधारण मानवी की तरह सोचती हूँ कि यह युद्ध नहीं होना चाहिए। परन्तु बहती हुई रक्तधाराएँ विजय के उन्माद में राजाओं को बहुत भली लगा करती हैं। तुम चाहो तो राजा को यह समझा सकती हो कि प्रजा के हर मनुष्य के रक्त में उतनी ही उष्णता होती है, जितनी राजा के रक्त में।

असंधिमित्रा : महाराज को मैं प्रजा के हित की बात बताऊँगी? उन्हें, जो सारी प्रजा को अपनी सन्तान की तरह समझते हैं!

वृद्धा : सत्ता के विस्तार की कामना मन में अंधकार भर देती है महादेवी! उस अंधकार में पिता के पैर सन्तान को भी कुचल जाते हैं। परन्तु रानी भी प्रजा की माँ होती है। माँ के हृदय को अँधेरा व्याप्त नहीं करता। यदि तुम सचमुच माँ हो और तुम्हारे हृदय में वह वत्सलता है तो राजा को बताओ कि उसकी प्रजा का हृदय कहाँ और किस रूप में धड़कता है।

असंधिमित्रा : *(जैसे स्वगत)* मैं उन्हें दृष्टि दूँगी? उन्हें न्यायमार्ग की बात बताऊँगी? मेरी अकिंचनता उनकी महत्ता को निर्देश देगी?

वृद्धा : *(व्यंग्य से हँसकर)* मैं जानती थी कि तुम्हारे पास शब्दों की भावुकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपनी भावुकता पर बोझ मत पड़ने दो महादेवी! मुझे विक्षिप्त समझकर मेरा अपराध क्षमा कर देना। राजा का सत्तागर्व उसे जिस दिशा में ले जाए, ले जाने दो। उससे तुम्हारी अधिकार-लिप्सा भी सन्तुष्ट होगी। मैं विवेकहीन हूँ जो तुमसे ऐसी बातें कह रही हूँ। मेरा पुत्र जो नहीं रहा, विवेक कहाँ से रहता है? मुझे आज्ञा दो, मैं जा रही हूँ।

सुजाता के सिसकने का शब्द।

असंधिमित्रा : तुम रो रही हो सुजाता बहन?

सुजाता : हाँ, महादेवी! मैं अनुभव कर रही हूँ कि इस माँ के हृदय के किस कोने में व्यथा की हिलोर उठती है। उसके चारों ओर जैसे सब निर्जन है! उस निर्जन में कहीं प्रतिध्वनि पैदा नहीं होती।

असंधिमित्रा : नहीं, इतना निर्जन नहीं है। कहीं-न-कहीं अवश्य प्रतिध्वनि होती है। मेरा हृदय आज विचलित हो उठा है। मैं उनसे अनुनय

करूँगी कि और युद्ध न किया जाए। सेनाएँ जहाँ तक जा पहुँची हैं, वहाँ से और आगे उन्हें न जाने दिया जाए। मुझे विश्वास है कि वे मेरी बात अवश्य सुनेंगे। तुम धैर्य रखो। थोड़े दिनों में कुमार भी लौटकर तुम्हारे पास आ जाएगा।

सुजाता : नहीं महादेवी, युद्ध बन्द नहीं होगा। कुमार मेरे पास लौटकर आएगा या नहीं, यह मैं नहीं जानती; परन्तु युद्ध चलता रहेगा। युद्ध का संचालन जिनकी बुद्धि द्वारा हो रहा है, उन्हें मैं कितना पास से जानती हूँ?

असंधिमित्रा : मैं उनसे भी अनुरोध करूँगी कि वे महाराज को युद्ध बन्द कर देने का परामर्श दें। महामात्य राजनीतिज्ञ हैं, वीरधर्मा हैं पर अन्ततः उन्हें भी तो मानव का हृदय प्राप्त है। मैं उन्हें युद्ध की वीभत्सता के सम्बन्ध में सोचने के लिए विवश करूँगी...

सुजाता : आप ऐसा कहती हैं क्योंकि आप उन्हें ठीक से जानती नहीं हैं। मैं जानती हूँ। वे महाराज को युद्ध बन्द कर देने का परामर्श कदापि-कदापि नहीं देंगे। उनका हृदय हृदय नहीं, शिलाखंड है महादेवी, जहाँ एक ही लिपि अंकित है...युद्ध और विजय। एक दिन मैंने उनसे ऐसी बात करनी चाही थी तो जानती हैं उन्होंने मुझसे क्या कहा था?

असंधिमित्रा : क्या कहा था?

सुजाता : उन्होंने कहा था कि मैं देशद्रोहिणी हूँ। उनकी दृष्टि में साम्राज्यहित के सामने मानवहित और समाजहित का कोई मूल्य नहीं है। वे केवल एक सैनिक की भाषा जानते हैं। और कोई भाषा उनकी समझ में नहीं जाती।

असंधिमित्रा : हर भाषा सीखने से आती है सुजाता बहन! मुझे उनसे बात कर लेने दो। समय के कोमल हाथ शिलाखंड की कठोर से कठोर लिपि को भी बुझा देते हैं। उन हाथों में विश्वास रखो। महामात्य को अपनी कर्तव्यभावना का भान है, इसीलिए वे तुम्हें कठोर प्रतीत होते हैं। यदि हम प्रयत्न से उनकी इस भावना की दिशा बदल दें तो उनके अन्तर के कोमलता के स्रोत बाहर फूट निकलेंगे। शिलाखंड हिमखंड की तरह पिघल जाएगा।

सुजाता : मुझे विश्वास नहीं। आपके शब्दों से बहुत सांत्वना मिलती है, फिर भी विश्वास नहीं होता। मुझ तो डर लगता है यह सोचकर कि मेरी प्रेरणा से आप यह सब कह रही हैं, वे मेरे प्रति और

भी कठोर हो जाएँगे। मेरा हृदय और कठोरता सहन नहीं कर सकता महादेवी! और सहना पड़ा तो मैं टूट जाऊँगी—बिल्कुल टूट जाऊँगी।

असंधिमित्रा : नहीं, ऐसा अवसर नहीं आएगा। मुझे विश्वास है कि मेरी बात अवश्य सुनी जाएगी। मुझे एक बार अपने विश्वास की परीक्षा तो कर लेने दो।

दूसरा दृश्य

पर्दा उठने पर अशोक का उपवेश-गृह दिखाई देता है। बीच में एक बड़ा सिंहासन है जिसके दोनों ओर दो छोटे सिंहासन रखे हैं। बीच के सिंहासन पर अशोक और दाईं ओर के सिंहासन पर महामात्य बैठे हैं।

अशोक : तुम ठीक कहते हो महामात्य! हमारी सेना के सामने शत्रु कहीं टिक सकेंगे, अब ऐसी सम्भावना नहीं है। कलिंग पर विजय लगभग निश्चित ही है। फिर भी कुमार का कोई समाचार नहीं आया, यह बात रह-रहकर हमारे हृदय को उद्विग्न कर देती है। कुमार पुत्र तुम्हारा है, पर हमें उससे कितना मोह है, कितनी आशा है, यह तुमसे छिपा नहीं है।

महामात्य : वह आपके स्नेह का भाजन बन सका है, मैं उसके लिए यह गौरव की बात समझता हूँ महाराज! यदि साम्राज्य की सेवा करते हुए उसके प्राण चले जाएँ तो यह भी उसके लिए गौरव की बात होगी। मैं विजय के समाचार की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। कुमार एक सैनिक है और सैनिक का समाचार न आना भी अशुभ बात नहीं है।

अशोक : यह शुभ-अशुभ का प्रश्न नहीं है महामात्य! भावना का प्रश्न है। हम चाहते हैं कि स्वयं कुमार ही विजय का समाचार लेकर आए। परन्तु युद्ध जितना लम्बा होता जा रहा है, हमारा हृदय उतना ही आशंकित रहता है।

महामात्य : आशंकित होने का कोई कारण नहीं है महाराज! कलिंग पर विजय निश्चित है। इस विजय की कीर्ति युगों तक अनेकानेक शिलाखंडों के वक्ष पर खुदी रहेगी। एक महान विजेता, एक

महान नेता और एक महान शासक के रूप में इतिहास सदैव आपको स्मरण रखेगा। मैं सोच रहा हूँ कि विजय के उपलक्ष्य में एक व्यापक समारोह हो। आनन्द और उत्साह की बाढ़ दिशा-दिशा में फैल जाए। देश भर के घरों में दीपमाला हो...

असंधिमित्रा का प्रवेश। महामात्य बोलते-बोलते रुककर अभिवादन करता है।

असंधिमित्रा : मैं आपके वार्तालाप में बाधा बन सकती हूँ?

अशोक : आओ...आओ...रानी! महामात्य विजय के समारोह की बात कर रहे हैं।

असंधिमित्रा : महामात्य विजय की सम्भावना से बहुत उत्तेजित प्रतीत होते हैं।

महामात्य : कलिंग-विजय साम्राज्य की बहुत बड़ी विजय होगी महादेवी! उसकी सम्भावना से दास का उत्तेजित हो उठना अस्वाभाविक नहीं है।

असंधिमित्रा : निःसंदेह! विजय की सम्भावना किसे उत्तेजित न कर देगी?...परन्तु महामात्य, जिन घरों के जीते-जागते दीपक युद्ध की आँधी ने बुझा दिए हैं, उन घरों में दीये कौन जलाएगा? हमारी राजाज्ञा या उनकी विवशता?

महामात्य : यह आप क्या कह रही हैं महादेवी?

असंधिमित्रा : मैं ठीक कह रही हूँ महामात्य! जहाँ बाल युवतियाँ रणक्षेत्र में अपने सुहाग की आहुति दिए जाने पर दो बूँद जल गिरा लेने का अवसर भी न पाएँगी, वहाँ यह आनन्द और उल्लास की बाढ़ कैसे पहुँच जाएगी? क्या हमारी राजाज्ञा से उन्हें आँसू पोंछकर विजयोत्सव में भाग लेना होगा? उस उत्सव को किस न्याय से उत्सव कहा जा सकेगा?

अशोक : यह तुम कैसी बात कह रही हो रानी? तुम जानती हो कि हमारे साम्राज्य की नींव धर्म और न्याय पर खड़ी है। हम ऐसी किसी भावना को प्रश्रय नहीं दे सकते जिससे अन्याय की गन्ध आती हो।

असंधिमित्रा : इसीलिए मेरा यह प्रश्न है कि सहस्रों सैनिकों के रक्त से सींची हुई पृथ्वी पर जो विजय का फूल लहराएगा, उसे देखकर आनन्दित होना क्या अन्याय न होगा? जिस वायुमंडल से मरे हुए या मर रहे सैनिकों की करुण कराहट अभी विलीन न हुई होगी, उसमें नृत्य-गीत के स्वर मिला देना क्या अन्याय न कहा जाएगा?

महामात्य : विजय एक पर्व है महादेवी और उस पर्व का अभिनन्दन करना हर क्षत्रिय का धर्म है। व्यक्ति का जीवन और व्यक्ति की मृत्यु,

व्यक्ति का आनन्द और व्यक्ति की करुणा, इनका कोई महत्त्व नहीं है। विजय का उत्सव समूह का उत्सव है। समूह को उसका अधिकार देने में कुछ भी अन्याय नहीं है महादेवी! हमें इस पर्व का उचित अभिनन्दन करना ही चाहिए।

असंधिमित्रा : विजयी के लिए विजय एक पर्व है तब पराजित के लिए पराजय क्या है महामात्य? वह भी एक पर्व है? और पराजय का पर्व भी तो समूह का ही पर्व होगा। वह समूह अपना पर्व किस तरह मनाएगा? नहीं महामात्य। बुझे हुए दिलों से दीपक जलवा लेने से दीपमाला नहीं हो जाती। कुछ लोग सिर झुकाकर जय-जयकार करें, इसे विजय नहीं कहते।

महामात्य भावपूर्ण दृष्टि से राजा की ओर देखकर चुप हो जाता है। अशोक आश्चर्यचकित-सा असंधिमित्रा की ओर देखता है।

अशोक : महामात्य ही उत्तेजित नहीं हैं। तुम भी आज उत्तेजित प्रतीत हो रही हो रानी।

असंधिमित्रा : सम्भव है, मैं भी उत्तेजित हूँ। परन्तु विजय के उपलक्ष्य में एक समारोह हो, इसके पक्ष में मैं कदापि नहीं हूँ।

महामात्य : धृष्टता क्षमा हो महादेवी! विजयोत्सव का सारा आयोजन पहले से ही किया जा चुका है। जब पहला सैनिक विजय की पताका लिए हुए राज्य की सीमा में प्रवेश करेगा, तभी दुंदुभियाँ बज उठेंगी। मन्दिरों में विजयगीत गाए जाने लगेंगे। राजवीथियाँ आलोकित हो उठेंगी।...अब इस सारे आयोजन को स्थगित कैसे किया जा सकता है?

अशोक : हम तुम्हारी दृष्टि को समझते हैं रानी। परन्तु तुम युद्ध का केवल एक ही पक्ष क्यों देखती हो? यह क्यों नहीं सोचती हो कि इस युद्ध में धर्म और न्याय की शक्तियाँ अधर्म और अन्याय की शक्तियों से लड़ रही हैं? शक्तियों की विजय धर्म और न्याय की विजय है।

असंधिमित्रा : जिसे प्राप्त करने के लिए शक्तियाँ लड़ती हैं, उसे मैं विजय नहीं समझती।

अशोक : उसे तुम विजय नहीं समझतीं? तो तुम्हारी दृष्टि में विजय क्या है रानी?

असंधिमित्रा : विजय वह है जो दूसरे को नीचा नहीं दिखाती, ऊँचा उठाती है।

उसमें साम्राज्य-विस्तार मिट्टी के क्षेत्र को नहीं, मनुष्य के हृदय को अपना बनाने से होता है।

महामात्य : मनुष्य के हृदय को अपना बनाने के लिए सुविधा और अवसर की आवश्यकता होती है महादेवी! और वह सुविधा और अवसर प्राप्त करने के लिए ही युद्ध का आश्रय लेना पड़ता है।

अशोक : रानी, हिंसा और रक्तपात युद्ध के साधन हैं अवश्य पर उसका उद्देश्य महान है। तुम यह बात क्यों नहीं सोचती हो?

असंधिमित्रा : मैं सोचकर भी यह बात नहीं समझ पाती महाराज! महान की प्राप्ति के लिए साधन भी महान होना चाहिए। एक महान उद्देश्य को पाने के लिए हिंसा और रक्तपात का आश्रय ही क्यों आवश्यक है? और कोई मार्ग क्यों नहीं है?

दूर से कुछ कोलाहल सुनाई देता है।

महामात्य : राजप्रासाद के अन्दर यह कैसा कोलाहल सुनाई दे रहा है?

अशोक : शायद किसी प्रहरी से कोई प्रमाद हुआ हो!

महामात्य : नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ प्रहरी कभी प्रमाद नहीं करते।...ठहरिए, मैं जाकर देखता हूँ।

शोर बहुत बढ़कर धीरे-धीर शान्त हो जाता है।

अशोक : क्या बात है महामात्य? यह कोलाहल किसलिए हो रहा था?

महामात्य : एक उपद्रवी युवक राजप्रासाद को आग लगाने की चेष्टा करता हुआ पकड़ा गया है। प्रहरी देशपाल उसे बन्दी करके ला रहा है।

प्रहरी एक बलिष्ठ नवयुवक को रस्सियों से बाँधे हुए लेकर आता है। सैनिक झुककर अभिवादन करता है।

देशपाल : देवानां प्रिय प्रियदर्शी महाराज की जय!

नवयुवक सीधा लापरवाही से खड़ा रहता है।

महामात्य : अभिवादन करो युवक! तुम्हें मर्यादा का कुछ तो ध्यान होना चाहिए।

युवक उत्तर नहीं देता।

महामात्य : तुम जानते हो कि तुम इस समय राजा के सम्मुख खड़े हो?

युवक : *(सीना तानकर बँधी रस्सियों से बाहर उभरने लगता है)* जानता हूँ।

महामात्य : *(क्रोध से)* पर यह सम्भवतः नहीं जानते कि राजा की अवज्ञा करना राजप्रासाद में आग लगाने से भी बड़ा अपराध है?

युवक : *(घृणापूर्वक मुस्कुराकर)* जानता हूँ।

महामात्य : तो यह भी जानते होगे कि इस अपराध के लिए तुम्हें मृत्युदंड दिया जा सकता है?

युवक : यह भी जानता हूँ।

महामात्य : तो और कुछ जानना शेष नहीं है। इसे यहाँ से ले जाओ देशपाल!

अशोक : ठहरो महामात्य! हम इस युवक से कुछ बात करना चाहते हैं।... तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो युवक?

युवक : *(दृढ़तापूर्वक)* नहीं।

अशोक : तो तुमने राजप्रासाद में आग लगाने का प्रयत्न नहीं किया?

युवक : उसी प्रयत्न के लिए तो मैं यहाँ लाया गया हूँ।

अशोक : तो तुम इस प्रयास को अपराध नहीं समझते?

युवक : कदापि नहीं।

अशोक : कारण?

युवक : कारण बताना मैं आवश्यक नहीं समझता। परन्तु यदि फिर अवसर मिले तो मैं फिर ऐसा ही प्रयत्न करना अनुचित नहीं समझूँगा। मैं जो कुछ कर रहा था, धर्म और न्याय समझकर कर रहा था।

अशोक : धर्म और न्याय समझकर? छिपकर राजप्रासाद में आग लगाने को तुम धर्म और न्याय कहते हो?

युवक : यह आवश्यक नहीं है कि जो आपके लिए धर्म और न्याय है, वही मेरे लिए भी हो।

अशोक : तुम यह समझते हो कि तुम इस तर्क से दंड से बच सकते हो?

युवक : मैं किसी भी तर्क से दंड से बचना नहीं चाहता।

असंधिमित्रा : ठीक से बात करो युवक! तुम बताओ कि तुम क्यों राजप्रासाद में आग लगाने का प्रयत्न कर रहे थे? महाराज तुम्हारे साथ न्याय करेंगे।

नवयुवक एक बार ध्यान से असंधिमित्रा के मुख की ओर देखता है।

युवक : महाराज, मेरे साथ न्याय करेंगे? परन्तु मुझसे पहले एक और अपराधी के साथ न्याय होना चाहिए, जिसने मेरा घर उजाड़ा है और मेरी बहन का सुहाग छीना है।

असंधिमित्रा : आवेश में बात मत करो युवक! उस अपराधी के साथ भी न्याय होगा। बताओ, वह कौन व्यक्ति है और उसने ऐसा क्यों किया है?

युवक : यदि मैं बतला दूँ तो क्या आप उसे दंड दिलवा सकेंगी?

और अपराध बढ़ जाता है। मैं कलिंग के भावी विजेता से दंड चाहता हूँ।

महामात्य : आप इस युवक को व्यर्थ ही प्रश्रय दे रही हैं महादेवी! इसे सबसे पहले यह सीख मिलनी चाहिए कि राजा का आदर किस तरह से किया जाता है।

युवक : राजा का आदर? आप मुझे राजा का आदर करना सिखाएँगे?... मैंने अपनी माँ का आदर करना सीखा है। उसके वक्ष पर जिसकी तलवार चलती है, उसका आदर करना सीखकर मैं माँ की हत्या में हाथ बँटाऊँगा?

महामात्य : बहुत हो चुका है युवक! महाराज अभी तुम्हारे लिए व्यवस्था दे देते हैं।...इस धृष्ट युवक के लिए मैं मृत्युदंड के अतिरिक्त और किसी व्यवस्था की सम्मति नहीं दे सकता महाराज! आदेश दीजिए, जिससे...*(दूर से आवाज़ आती है) नहीं...नहीं...*

तारा : *(आती हुई)* नहीं...नहीं, इसे दंड मत दीजिए! मैं इसकी ओर से आपसे क्षमा माँगती हूँ, इसे दंड मत दीजिए!

युवक : यह क्या उन्माद है तारा? तुम क्यों यहाँ चली आई हो? इन नृशंस अत्याचारियों से अपने भाई के लिए क्षमा माँगकर तुम उसे अपमानित करना चाहती हो?

तारा : नहीं, मैं तुझे अपमानित नहीं करना चाहती। मुझे तेरे और अपने प्राणों की चिन्ता नहीं है, पर इस जीव की चिन्ता है। तेरे चले जाने पर इस जीव की देखभाल कौन करेगा? मेरे वक्ष में तो इसे पिलाने के लिए दूध भी नहीं है...

असंधिमित्रा : धैर्य रखो बहन! तुम्हें अपने भाई और बच्चे के लिए चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारी हर सहायता करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

तारा : आप मेरी हर सहायता करने के लिए प्रस्तुत हैं? हाँ, आप महादेवी हैं, आप क्या नहीं कर सकतीं? तो आप इस बच्चे के भरण-पोषण का भार ले लीजिए। मैं और मेरा भाई दोनों मृत्युदंड पाने को प्रस्तुत हैं। मेरी दशा ने ही इसके अन्तर में प्रतिहिंसा की ज्वाला जलाई है। वास्तव में अपराधिनी मैं हूँ। इस बच्चे को मुझसे ले लीजिए और मेरे लिए दंड का आदेश दे दीजिए। मैं आधी मर चुकी हूँ, परन्तु यह मुझे पूरी तरह मरने नहीं देता। लीजिए, इसे अपने पास रख लीजिए...

बच्चे के सहसा रो उठने और फिर चुप हो जाने का शब्द।

तारा : आप चुप क्यों हैं महादेवी? आपने कहा था कि आप कुछ भी कर सकती हैं। यह बच्चा मुझसे अलग नहीं होता। आप इसे अलग नहीं कर सकतीं?...जा बेटे, देख ये हमारी नई महादेवी हैं।...अब हम इनकी छत्रछाया में रहते हैं। तेरी माँ नहीं रहेगी, तो ये तेरी पालना करेंगी।...तेरी माँ के पास तो तेरे लिए दूध भी नहीं है। इनके पास बहुत धन-धान्य है...सारी धरती का अन्न इनका है।...चला जा बेटे!...ये तुझे सोने से सजाकर रखेंगी। छोड़, तू मेरे साथ क्यों चिपट रहा है?...जा...जा इनके पास।

बच्चा पुनः रो उठता है।

तारा : नहीं जाएगा?...माँ को इतना भी सुख नहीं दे सकता? *(रुआँसे स्वर में)* देखो महादेवी, यह कैसा बच्चा है! यह मुझसे अलग नहीं होता। मैंने पति के साथ चिता पर जल जाना चाहा था तो इसने जलने नहीं दिया। अब मैं अपने भाई के साथ मृत्युदंड चाहती हूँ तो यह उस इच्छा के मार्ग में भी बाधक बन रहा है।...आप हम दोनों के साथ इसे भी मृत्युदंड दे दीजिए। यही एक उपाय है, जिससे हम सब सुखी हो सकते हैं, मैं भी, मेरा भाई भी और यह भी।

युवक : यह उन्माद का अवसर नहीं है तारा! मैं नहीं चाहता कि तुम इस उन्माद से शासकों की दया-माया को जगाओ। हमें किसी की कृपा-दृष्टि नहीं चाहिए। इन्हें मेरे लिए दंड विधान करने दो। तुम बच्चे को लेकर यहाँ से चली जाओ।

तारा : कहाँ चली जाऊँ? तुम साथ नहीं रहोगे, तो यह पेट ही हमें मृत्यु-दंड दे देगा। उससे अच्छा है कि तुम्हारे साथ रहूँ। इस मृत्यु में एकाकीपन का अनुभव तो न होगा।

अशोक : यह तुमने कैसे सोच लिया बहन कि हम तुम्हारे भाई के लिए मृत्युदंड की ही व्यवस्था करने जा रहे हैं? हम तुम्हारी व्यथा से किस तरह व्यथित हैं, यह शायद हम व्यक्त न कर सकें। देशपाल, इस युवक के बन्धन खोल दो।

असंधिमित्रा के मुख पर गौरवमय स्मित की रेखाएँ खिंच जाती हैं। महामात्य आश्चर्य से अशोक की ओर देखता है। देशपाल बन्धन खोलने लगता है। युवक गम्भीर हो जाता है।

...,मेरे बन्धन खोलने से पहले मेरे लिए दंड की व्यवस्था होनी चाहिए। मैं स्वतंत्रता की भिक्षा नहीं चाहता।

अशोक : यह स्वतंत्रता की भिक्षा नहीं है युवक! तुमने अपनी स्वतंत्रता की याचना नहीं की। हमने तुम्हें कुछ दिया नहीं है, तुमसे कुछ लिया ही है। हम तुम्हारी देन को सदा स्मरण रखेंगे। और बहन, तुम्हारे पति की मृत्यु युद्ध में हुई है, इसलिए अपने बालक के उचित लालन-पालन के लिए तुम्हें जितने धन की आवश्यकता हो, वह तुम्हें राजकोष से दिया जाएगा...

युवक : दंड देने, न देने के लिए आप स्वतंत्र हैं। परन्तु किसी का उपकार ग्रहण करने, न करने की स्वतंत्रता हमको है। हमें आपका कोई भी उपकार नहीं चाहिए।

असंधिमित्रा : यह उपकार नहीं है युवक...

युवक : सद्भावना है? परन्तु हमें आपकी सद्भावना की भी अपेक्षा नहीं है। अपनी आवश्यकताओं के लिए हम अपने पर निर्भर रह सकते हैं और धरती और आकाश की इस विस्तीर्ण सम्पत्ति पर।

अशोक : हम तुम्हारी इस भावना का भी आदर करते हैं युवक! देशपाल, इन्हें राजप्रासाद के बाहर तक पहुँचा दो।

देशपाल अशोक का अभिवादन करता है। तारा कृतज्ञता ज्ञापित करती है। युवक चुपचाप असंधिमित्रा को अभिवादन करता है। तीनों का प्रस्थान।

महामात्य : इस उद्दंड युवक को बन्धन-मुक्त करना नीति के अनुकूल नहीं कहा जा सकता महाराज! आज यह जिस प्रयत्न में असफल रहा है, कल यह उसी प्रयत्न में सफल भी हो सकता है।

अशोक : तो भी हमें अपने निर्णय के लिए खेद नहीं होगा। इस युवक की उद्दंडता एक वरदान थी महामात्य! उसने हमारे सामने यथार्थ का एक ऐसा पक्ष प्रस्तुत किया है, जिसकी ओर से हमारी आँखें मुँदी हुई थीं। आज हमारा हृदय बार-बार हमें धिक्कारता है कि सचमुच हमने अपराध किया है। हमें विश्वास हो रहा है कि जिसे हम विजय कहते हैं, वास्तव में वह अधिकार-प्राप्ति के लिए मनुष्यता की पराजय है। नहीं, महामात्य, हमें यह विजय नहीं चाहिए। युद्ध तुरन्त बन्द कर देना होगा।

महामात्य : युद्ध बन्द कर देना होगा? यह आप कैसी बात कह रहे हैं महाराज? दो व्यक्तियों के प्रलाप से इस तरह अस्थिर हो उठना

आपको शोभा नहीं देता। राजनीतिज्ञ का हृदय शिलालेख की तरह कठोर होना चाहिए...

अशोक : नहीं, अब हम वह शिलाखंड नहीं हो सकते। यह दो व्यक्तियों के प्रलाप की ही बात नहीं है। ऐसे भी तो अनेक स्वर होंगे, जिनमें हमारे कानों तक पहुँचने की शक्ति नहीं है। हमने निर्णय कर लिया है महामात्य! युद्ध तुरन्त बन्द कर देना होगा।

महामात्य : पूर्ण विजय के निकट पहुँचकर हम युद्ध बन्द कर देंगे? हमारे सैनिकों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? सीमा प्रदेशों के शासक क्या सोचेंगे? दूसरे देशों के लिए हमारी राजनीति का क्या मान रह जाएगा?

अशोक : आज जो विराट हम अपने सामने देख रहे हैं, राजनीति का मान उसके सामने बहुत तुच्छ प्रतीत होता है महामात्य! आज इस विराट में चारों ओर रक्त के बिन्दु तड़पते दिखाई देते हैं या चिनगारियाँ उड़ती दिखाई देती हैं। अनेकानेक नरकंकाल अपनी चर्महीन आँखों से हमारी ओर संकेत करके कहते हैं कि हमने अपराध किया है। नहीं, महामात्य, अब और अधिक युद्ध नहीं होगा। जो हो चुका है, हम उसके लिए भी अपने आगे लज्जित हैं। इसी समय युद्ध बन्द करने का आदेश-पत्र भेज दीजिए।

महामात्य : परन्तु महाराज...

असंधिमित्रा : महाराज की आज्ञा का पालन होना चाहिए महामात्य! आपके वीर हृदय की कुंठा को मैं समझ सकती हूँ। परन्तु मानव धर्म वीर धर्म से कहीं ऊँचा है। आप आदेशपत्र लिपिबद्ध कीजिए।

महामात्य : मैं सेवक के रूप में अपने धर्म का पालन करूँगा, परन्तु...

असंधिमित्रा : आप लिखिए महामात्य!–देवानां प्रिय प्रियदर्शी महाराज यह आदेश देते हैं...

महामात्य : *(लिपिबद्ध करते हुए)*–देवानां प्रिय प्रियदर्शी महाराज यह आदेश देते हैं–

असंधिमित्रा : कि कलिंग की राजधानी तक पहुँची हुई हमारी सेनाएँ...

महामात्य : कि कलिंग की...राजधानी तक पहुँची हुई हमारी सेनाएँ...

असंधिमित्रा : इस आदेशपत्र के प्राप्त होते ही तुरन्त युद्ध बन्द करके पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान कर दें।

महामात्य : इस आदेशपत्र के प्राप्त होते ही...तुरन्त युद्ध बन्द करके... पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान कर दें।

असंधिमित्रा : युद्ध की विभीषिका ने देवानां प्रिय प्रियदर्शी के हृदय को बहुत पीड़ित किया है।

महामात्य : युद्ध की विभीषिका ने देवानां प्रिय प्रियदर्शी के हृदय को बहुत पीड़ित किया है।

असंधिमित्रा : इसलिए विजय निश्चित होते हुए भी वे युद्ध बन्द करने का आदेश दे रहे हैं।

महामात्य : इसलिए विजय निश्चित होते हुए भी...वे युद्ध बन्द करने का...

सहसा दुंदुभियों का शब्द सुनाई देने लगता है।

अशोक : ये दुंदुभियाँ सहसा क्यों बज उठीं? क्या यह हमारे इस आदेश का दैवी अभिनन्दन है?

महामात्य : यह दुंदुभियों का स्वर इस बात की सूचना देता है महाराज कि अब हमारे इस आदेशपत्र को भेजने का कोई अर्थ नहीं है। कलिंग पर देवानां प्रिय प्रियदर्शी की सेनाएँ पूर्ण विजय प्राप्त कर चुकी हैं...

अशोक : कलिंग पर पूर्ण विजय हो चुकी है? कितना बड़ा व्यंग्य है। इन दुंदुभियों के स्वर में?

दुंदुभियों का स्वर निकट आकर फिर दूर चला जाता है।

अशोक : इस विजय को हम अपनी पराजय समझते हैं महामात्य! हमारी सद्भावना आज पराजित हुई है।

महामात्य : इसे हम अपनी दुर्बलता की पराजय भी तो समझ सकते हैं महाराज! विजय का क्षण अपने में इतना महान है कि हृदय में किसी हीन भावना का अवकाश ही नहीं होना चाहिए। मन से ग्लानि दूर कर दीजिए और आनन्द के इस पर्व में अपना सहयोग दीजिए...

अशोक : तुम इसे आनन्द का पर्व कहते हो महामात्य! तुम हमारे हृदय में उतर सकते तो तुम देखते कि हम इस समय कितनी व्यथा का अनुभव कर रहे हैं। यदि समय हमारी इस विजय का साक्षी न होता...

चर : देवानां प्रिय प्रियदर्शी महाराज की जय! यह दास कलिंग पर पूर्ण विजय के उपलक्ष्य में आपको बधाई देने के लिए उपस्थित हुआ है।...साथ ही एक हृदयविदारक समाचार सुनाने के लिए क्षमा चाहता है।

अशोक : अभी हृदयविदारक समाचार शेष है? कहो देवगुप्त, हम सुनने के लिए प्रस्तुत हैं।

चर : जब हमारी सेनाएँ शत्रु की राजधानी पर अन्तिम आक्रमण कर रही थीं...

अशोक : हाँ-हाँ, कहो...

चर : तो महामात्य के आत्मज कुमारामात्य कुमारसेन...बाहुबल का परिचय देते हुए वीरगति पा गए।

असंधिमित्रा : *(जैसे स्वगत)* कुमार नहीं रहा।...कैसी विडम्बना है! प्रकृति आज सभी व्यंग्य एक साथ करना चाहती है।...मैंने सुजाता बहन को क्या-क्या आश्वासन दिए थे...ओह!

अशोक : हमारे पास कहने के लिए शब्द नहीं रहे महामात्य! जैसे विचार के सब सूत्र सो गए हैं। कुमार के न रहने से हृदय का अन्तिम आश्वासन भी तो टूट गया है।

सुजाता के हँसने का शब्द सुनाई देता है। उसके स्वर में वृद्धा के स्वर की प्रतिध्वनि-सी है।

सुजाता : कुमार नहीं रहा!...मैं जानती थी, वह नहीं रहेगा।...यह उत्सव और समारोह का अवसर है।...उसकी मृत्यु का उत्सव मनाओ... विजयस्तम्भ खड़े करो।...शिलाखंडों पर विजय का इतिहास अंकित करो।...यह आनन्द...

नेपथ्य में शंख और घंटा ध्वनि होने लगती है। अशोक हतप्रभ और थका-हारा-सा दिखाई देता है।

[पर्दा गिरता है।]

मिट्टी का मानव

पात्र

सीता : पैंतीस वर्ष की सम्भ्रान्त महिला
शारदा : सीता की छोटी बहन, जो अभी विधवा हुई है
लल्लू : सीता का पाँच वर्ष का लड़का
चानन : सीता का नौकर
विनायक : शारदा का लड़का, आयु लगभग पन्द्रह वर्ष
शान्ति : सीता की छोटी नौकरानी
जानकी : एक पड़ोसिन
हरदेव : सीता का पति

पर्दा उठने पर एक आधुनिक ढंग से सजा हुआ कमरा दिखाई देता है। बाईं ओर की दीवार के कोने में एक छोटा दरवाज़ा है जो अन्दर की ओर खुलता है।

कमरा ख़ाली है। बाईं ओर के दरवाज़े से सीता शारदा के साथ प्रवेश करती है। सीता की वेशभूषा यदि भड़कीली नहीं तो सादा भी नहीं, शारदा उससे दो-एक वर्ष छोटी है। वह खादी की सफ़ेद साड़ी पहने है। चेहरा और बाल बिल्कुल रूखे हैं।

सीता : *(एक हाथ शारदा के कन्धे पर रखे, दूसरे हाथ से उसका मुँह अपनी ओर करती हुई)* तू दिन-रात रोया करती है शारदा! एक ही महीने में तेरी कुन्दन-सी देह आधी हो गई। लाल आँखें, पीला चेहरा, रूखे बाल, तू कुछ तो अपना ख़याल कर।

शारदा एक ठंडी साँस लेती है। उसकी आँखों में पानी भर आता है।

शारदा : अपने को बहुतेरा समझाती हूँ दीदी! आँसू आँखों में ही

सुखाने की चेष्टा करती हूँ। जितना हो सके, मन को रोकती हूँ पर वश नहीं चलता। पता नहीं, कभी-क्या हो जाता है?

शारदा कुर्सी पर बैठने लगती है।

सीता : उधर बैठ पंखे के नीचे। यहाँ हवा नहीं आएगी। *(उसे सोफे पर बिठाकर पास ही आप भी बैठती है।)* चानन!

चानन अन्दर से उत्तर देता है :

चानन : बीबीजी!

सीता : दो गिलास ठंडा पानी ला। *(शारदा से)* तू इस तरह क्यों बैठी है? आराम से बैठ। *(अपने बालों को ठीक करती हुई)* मैं रात को उनसे...*(रुककर)* हाय, मेरा हेयर पिन! *(गोदी में देखकर)* यह रहा, यहाँ। *(हेयर पिन लगाती हुई)* मैं रात को उनसे तेरी ही बात कर रही थी...

चानन पानी के दो गिलास लेकर आता है। उसे देखकर।

: क्यों, चाँदी के गिलास नहीं थे? तुझे समझ किस दिन आएगी?

चानन चुपचाप लौट जाता है।

शारदा : मुझे तो प्यास नहीं है दीदी!

सीता : होंठ तेरे सूख रहे हैं, और कहती है, प्यास नहीं। मैं तो तुझे देख-देखकर हैरान होती हूँ...

चानन चाँदी के गिलासों में पानी लाता है।

सीता : *(एक गिलास शारदा को देकर तथा दूसरा गिलास स्वयं लेकर)* केवड़ा डाला है?

चानन : बीबीजी, याद नहीं रहा।

सीता : अपने लिए याद रहता है, हम लोगों के लिए याद नहीं रहता? जा, जलपान का सामान ठीक कर। वे अभी आनेवाले हैं।

चानन अन्दर चला जाता है।

शारदा : *(केवल दो घूँट पीकर)* खाते-पीते दिल उमड़ आता है। बार-बार यही मन होता है कि क्यों नहीं मैं भी उनके साथ ही चली गई!

आँखों में पानी भर आता है।

सीता : पगली, यह दुख रोकर दूर हो जाता तो दुनिया रो-रोकर धरती को सागर में मिला देती।

शारदा एक ठंडी साँस लेकर छत की ओर देखने लगती है।

सीता : रोने से कुछ नहीं बनता। तू अपना नहीं तो बच्चों का तो ध्यान कर। उन्हें सँभालनेवाला कौन है?

शारदा : दीदी, बच्चों का ध्यान न होता तो ये प्राण क्या अटके रहते? सोचती हूँ, इस जीवन का भार ढो-ढोकर अब मुझे शान्ति कहाँ मिलेगी! *(फिर आँखें भर लेती है।)*

सीता : तेरे धीरज रखने से उनकी आत्मा को तो स्वर्ग में शान्ति मिलेगी। मैं तुझे क्या समझाऊँ? तू तो आप गीता पढ़ती है।

शारदा : अब तो गीता भी नहीं पढ़ी जाती। उनके कमरे में जाती हूँ तो डर लगता है। वहाँ जैसे कोई मेरा गला दबाकर कहता है—मर, मर, तू मरती क्यों नहीं?

सीता : बच्चों के सामने भी तू ऐसी ही बातें किया करती है? जानती है, उन पर इसका क्या प्रभाव पड़ता होगा?

शारदा : क्या करूँ दीदी! विनायक है कि पिता के बाद से पहचाना भी नहीं जाता। बिना बात के किसी-न-किसी बहाने से रोने लगता है। उसका दिल बहुत हलका पड़ गया है।

लल्लू एक लकड़ी की मोटर के पहियों को हाथ से घुमाता हुआ बाहर के दरवाज़े से अन्दर आता है।

लल्लू : बुर्र-बू-बुर्र!

सीता : तू विनायक को समझाया कर। यह जीवन कभी किसी का रहा भी है? चार दिन की मोह-ममता, फिर मिट्टी की मिट्टी।

लल्लू : *(पास आकर)* ममी, मेरी मोतल चलती बी है, बोलती बी है। *(मोटर के पहिए घुमाकर)* बुर्र-बुर्र!

सीता : इधर आ, मौछी को जय कर। अच्छा बता, तेरी मोटर में कौन बैठेगा?

लल्लू : मैं औल मेली मेम।

सीता : *(मुस्कुराकर)* बिन्नो कहाँ गई?

लल्लू : छछुलाल।

सीता : *(शारदा से)* उसके कॉलेज को ससुराल कहता है। वह होती है, तो बहुत चिढ़ती है।

शारदा लल्लू को बाँह से पकड़कर अपनी ओर खींचना चाहती है। वह बाँह छुड़ाकर अपनी माँ की गोदी में सिर डाल लेता है।

लल्लू : *(माँ के गले में बाँहें डालकर)* दो आने दे!

सीता उसका मुँह चूमकर दो आने उसके हाथ में दे देती है।

सीता : ले, पर खाएगा क्या?

लल्लू : *(बाहर जाते हुए)* आदमी लूँगा, मिट्टी की छिपाई।

सीता : आगे इतने खिलौने हैं, घोड़ा, हाथी, सर्कस। फिर सिपाही क्या करेगा?

लल्लू : छलकछ पल पैला देगा।

सीता : *(शारदा से)* बड़ी बातें करता है। *(लल्लू से)* बाहर ही खेलना। सड़क पर धूल-मिट्टी होगी, वहाँ मत जाना।

लल्लू 'बुर्र-बू-बुर्र' करता हुआ निकल जाता है।

सीता : *(शारदा से)* विनायक अभी बच्चा है। बच्चों के दिल में शोक बैठ जाए, तो देर तक नहीं जाता।

शारदा : उसे देख-देखकर तो मेरा दिल और भी गिर जाता है। सोचती हूँ, इस बेचारे ने क्या अपराध किया था जो पन्द्रहवें बरस में ही पिता की छाया सिर से उठ गई?

सीता : यह समय दिल पर पत्थर रखने का है, शारदा! उनकी बातों को तू अब याद मत किया कर।

शारदा : *(ठंडी साँस लेकर)* याद न करने से कुछ नहीं भूलता दीदी! रानी का सिन्दूर पुँछ गया था, तो मैं उसे दिन-रात दिलासा दिया करती थी। आज अपने पर पड़ी है तो ज्ञान-विवेक कुछ नहीं सूझता।

सीता : यही तो हम लोगों की भूल है। देह मिट्टी है पर उसे मिट्टी नहीं समझते। अन्त में जब स्वयं मिट्टी में मिल जाते हैं, तब हमें पता नहीं रहता। *(कुछ रुककर)* विनायक ने इस साल मैट्रिक कर लिया है न?

अन्दर का दरवाज़ा खुलता है। चानन अन्दर से झाँकता है।

चानन : बीबीजी!

सीता : क्या है?

चानन : जी, ग्वालन दूध आज अच्छा नहीं दे गई।

सीता : क्या बात है?

चानन : दूध कड़ाही में चढ़ाया है, उस पर कुछ मिट्टी तैर रही है।

सीता : *(क्रोध से)* तो दूध लेते समय अन्धा हो गया था? आँख मूँदकर दूध ले लिया और अब कहता है, मिट्टी तैर रही है! वे दफ़्तर से आकर क्या पिएँगे?

चानन : बीबीजी, आगे तो हर रोज़ दूध अच्छा होता था।

सीता : इसलिए आज तुझे मिट्टी दिखाई नहीं दी? जा, उनके लिए हलवाई की दुकान से और दूध ले आ।

चानन अन्दर चला जाता है।

सीता : नौकर तो आजकल आँखों में धूल झोंकना जानते हैं। मालिक के पैसों को कुछ समझते ही नहीं। *(कुछ रुककर)* विनायक ने मैट्रिक कर लिया है न?

शारदा : परीक्षा दे चुका है। परिणाम अभी नहीं निकला।

सीता : मैं उनसे आज कहूँगी कि इसे कहीं न कहीं कोई नौकरी दिला दें।

शारदा : दीदी, मुझे तो अब तुम्हारा ही भरोसा है।

सीता : वैसे कोई बड़ी बात नहीं। इनके अपने ही दफ़्तर में क्लर्कों की जगह निकलती ही रहती है। कई-कई सिफारिशवाले आते हैं। तू विनायक को साथ नहीं लाई?

शारदा : कह-कहकर लाई हूँ। रास्ते में कोई उनकी पहचानवाले मिल गए। उन्हीं की बातें करने लगा। मैं आगे आ गई हूँ, वह पीछे आता होगा।

सीता : *(व्यग्रता से)* यह नौकर गया है तो जल्दी थोड़े ही आएगा? उनके आने का समय हो रहा है। *(उठती हुई)* मैं ज़रा देखूँ कि जलपान का सामान रख गया है या नहीं।

उठकर अन्दर चली जाती है। शारदा चुपचाप छत की ओर देखने लगती है। तभी विनायक गोरा और दुबला-पतला बाहर के दरवाज़े से झाँकता है।

विनायक : माँ!

शारदा : विनायक! आ जा बेटा अन्दर!

विनायक आकर चुपके से माँ के पास बैठ जाता है।

शारदा : कौन मिला था?

विनायक : स्कूल के हेडमास्टर साहब थे।

शारदा : क्या कहते थे?

विनायक : कुछ नहीं, यूँ ही।

शारदा : *(उसके सिर पर हाथ फेरकर)* बाबूजी की बात करते थे? *(विनायक की आँखें भर आती हैं। वह किसी तरह आवेग को रोकता है।)*

विनायक : *(सिर हिलाकर)* हाँ।

शारदा : और भी कोई बात की?

विनायक : नहीं।

शारदा चुपचाप विनायक के सिर पर हाथ फेरती है। सीता अन्दर से आती है।

सीता : *(विनायक को देखकर)* आ गया बेटा? कैसा हालचाल है?

विनायक उत्तर न देकर हाथ जोड़ देता है।

शारदा : *(प्यार से)* मौसी ने क्या पूछा है? उत्तर तो दे।

विनायक : *(धीमे स्वर में)* जी, अच्छा हूँ।

फिर अपना होंठ काटकर सिर झुका लेता है।

सीता : बहुत सीधा लड़का है। जब से पैदा हुआ है, मेरे घर अधिक से अधिक दस बार आया होगा। और बच्चे तो माँ के और मौसी के घर में कोई भेद नहीं समझते।

विनायक का सिर और भी झुक जाता है।

सीता : चानन अब गया है तो वहीं बैठा रहेगा। शान्ति! शान्ति!

शान्ति अन्दर से आती है।

शान्ति : बीबीजी!

सीता : अन्दर से बड़ी प्लेट में खाने को मठरी और मिठाई रख ला। *(कुछ रुककर)* और देख, गरम हो गया हो तो दूध भी चीनी मिलाकर चाँदी के गिलास में ले आ।

शारदा : रहने दो न दीदी, इसकी भला क्या आवश्यकता है?

सीता : तू मत बोल। विनायक मेरा भी तो बेटा है। *(शान्ति से)* जा जल्दी ला। और सुन, बाहर लल्लू खेल रहा होगा। पहले उसे अन्दर भेज दे।

शान्ति बाहर जाने लगती है। उसका पैर मेज़ से टकरा जाता है। मेज़ पर पड़ा फूलदान हिल जाता है।

सीता : अन्धी हो रही है? अभी गिरकर टूट जाता तो पाँच रुपये मिट्टी में मिल जाते *(जरा और तीखे स्वर में)* अब मेरी ओर क्या देख रही है? जा, काम कर।

शान्ति चुपचाप बाहर चली जाती है।

शारदा : देखो दीदी, अभी घर से दूध पीकर ही चला था।

विनायक : *(संकोच के साथ)* मुझे और भूख नहीं है।

सीता : भूख लग आएगी। तेरी उम्र के लड़कों को तो सारा दिन भूख रहती है। माँ रोज़ दूध पिलाती है, एक दिन मौसी के हाथ से भी पी ले।

शारदा कुछ कहना चाहती है पर सीता बीच में ही बोल पड़ती है।

सीता : तुझे कहा न, तू मत बोल! *(विनायक से)* मेरे पास आ बेटा!

विनायक थोड़ा निकट होकर बैठता है।

सीता : *(उसे ध्यान से देखकर)* तूने कमीज़ इतनी मैली क्यों पहन रखी है।

विनायक का सिर झुक जाता है।

शारदा : *(फीकी पड़कर)* मैंने तो कहा था कपड़े बदल ले। पर जल्दी में जैसे बैठा था, वैसे ही चला आया।

सीता : *(सहानुभूतिपूर्वक)* यह ठीक नहीं। मैले कपड़ों में जो धूल-मिट्टी होती है, वह पसीने के साथ शरीर के अन्दर चली जाती है। मिट्टी से शरीर को सदा बचाना चाहिए। मैं तो लल्लू के कपड़े दिन में कई-कई बार बदलती हूँ।

शान्ति वापस आती है।

शान्ति : बीबीजी, लल्लू बाहर तो नहीं है।

सीता : बाहर कैसे नहीं है? अभी-अभी तो यहाँ से गया है। देख इधर-उधर कहीं खेल रहा होगा।

शान्ति : जी, मैंने चारों तरफ़ देखा है। वह बाहर नहीं है।

सीता : *(कुछ क्रोध से)* काम से कितना बचती है! तुझे यहाँ रखा किसके लिए है? चल, मैं तेरे साथ चलूँ। दिखाऊँ बाहर है या नहीं।

सीता उठकर बाहर चली जाती है। शान्ति भी सहमी हुई पीछे-पीछे जाती है।

विनायक : *(अवकाश पाकर)* माँ, मैं यहाँ कुछ नहीं खाऊँगा।

शारदा : *(बढ़ावा देकर)* थोड़ा-बहुत खा लेना, नहीं तो वे बुरा मान जाएँगी।

विनायक : पर मुझसे कुछ भी खाया नहीं जाएगा।

शारदा : ऐसे कहना ठीक नहीं। कुछ तो तुझे खाना ही चाहिए। तेरे आने से पहले वे तेरी नौकरी की बात कर रही थीं। *(कुछ रुककर)* दूध चाहे...चल पी लेना थोड़ा-सा दूध भी।

कुछ देर निस्तब्धता रहती है। फिर सीता घबराई हुई बाहर से आती है! शान्ति भी पीछे-पीछे आती है।

सीता : लल्लू इधर तो नहीं आया?

शारदा : नहीं तो। वहाँ बाहर नहीं है क्या?

सीता : बाहर वह इधर-उधर कहीं नहीं है। *(पुकारकर)* चानन! चानन!!

शान्ति : बीबीजी, चानन दूध लाने गया है।

सीता : अब गया है तो वापस थोड़े ही आएगा? हे भगवान!

शारदा : घबराओ नहीं दीदी! लल्लू अभी आ जाएगा।

सीता : शान्ति!

शान्ति सामने आती है।

सीता : चुपचाप क्यों खड़ी है? नीली कोठी में जाकर पूछ। शायद वहाँ चला गया हो; उनके बच्चों के साथ खेल रहा हो।

शान्ति शीघ्रता से बाहर जाती है।

शारदा : आगे भी कहीं खेलने चला जाता है?

सीता : कहीं भी नहीं जाता। अपनी कोठी के बाहर ही खेला करता है। सड़कों पर धूल-मिट्टी बहुत होती है, इसलिए मैं जाने नहीं देती।

चानन दूध का गिलास उठाए आता है।

सीता : तूने उसे देखा है?

चानन : किसे बीबीजी?

सीता : लल्लू नहीं मिल रहा! जल्दी से बाग़ में इधर-उधर दौड़कर देख।

चानन : दूध अन्दर रख दूँ?

सीता : दूध यहीं रख दे। जल्दी जा! जैसे भी हो, उसे ढूँढ़कर ला।

चानन गिलास मेज़ पर रखकर बाहर जाता है। सीता टेबल पर कुहनियाँ रखकर कुर्सी पर बैठ जाती है। फिर उठकर घबराहट में इधर-उधर टहलती है। फिर दरवाज़े की ओर देखने लगती है।

सीता : *(अपने आप)* अभी तक नहीं आई, जैसे कोस भर गई हो।

शारदा : नीली कोठी किधर है, दीदी? विनायक जाकर देख आता है।

विनायक माँ की बात सुनकर उठने की मुद्रा बनाता है।

सीता : कोठी तो पास ही है, पर वह गई जो है। अब रानियों की चाल चलती आएगी।

फिर कुर्सी पर बैठ जाती है! शान्ति हाँफती हुई आती है।

शान्ति : लल्लू वहाँ नहीं है, बीबीजी! वह उधर नहीं गया। उनके सब बच्चे घर में हैं। उनमें से किसी ने लल्लू को नहीं देखा।

सीता देवी का चेहरा उतर जाता है।

सीता : *(बहुत उद्विग्न होकर)* तो फिर वह चला कहाँ गया? हे भगवान! *(आँखों में पानी भर आता है।)*

शारदा : दीदी, मन क्यों भरती हो? बच्चा जाएगा कहाँ? देख लेना अभी चानन के साथ आ जाएगा।

सीता : चानन भी नहीं आया। शान्ति, देख चानन किधर गया है?

शान्ति बाहर के दरवाज़े तक जाकर फिर वापस आती है।

शान्ति : चानन आ रहा है।

सीता : लल्लू साथ है?

शान्ति : लल्लू तो नहीं है बीबीजी!

सीता : लल्लू नहीं है?

स्वयं दरवाज़े के पास जाकर देखती है। फिर बदहवास होकर कुर्सी पर बैठ जाती है।

शारदा : दीदी, क्यों ऐसी हो रही हो?

चानन अन्दर आता है।

चानन : बीबीजी, इधर-उधर के सब प्लाटों में देख आया हूँ। वह बाग़ में कहीं नहीं है। माली ने भी उसे नहीं देखा।

सीता का चेहरा काला पड़ जाता है।

सीता : *(रुँधे गले से)* तू कहीं से पता लगा, चानन! तुझे इनाम मिलेगा। एक बार फिर देखकर आ।

चानन सिर झुकाए फिर जाता है। पड़ोसिन जानकी आती है।

जानकी : क्यों सीता बहन, लल्लू का कुछ पता चला? शान्ति ढूँढ़ती फिर रही थी।

सीता : वह कहीं नहीं मिल रहा बहन! मैं क्या करूँ? वे भी अभी दफ़्तर से नहीं आए। मैं और किसे भेजूँ?

जानकी : इतना नहीं घबराओ। मैं जाकर अपने नौकर को सेवा-समिति में सूचना देने भेजती हूँ। इस तरह दिल हलका करने से काम नहीं चलता। *(जाती हुई)* अगर अभी आ जाए तो पता भेजना।

चली जाती है। चानन आता है।

शारदा : *(चानन से)* कुछ पता चला?

चानन चुप रहता है।

सीता : बोलता क्यों नहीं? कहीं पता चला?

चानन : जी, नहीं।

सीता : *(रूमाल में आँखें छिपाकर)* शारदा! शारदा! अब क्या होगा?

शारदा : *(उसके कन्धे पर हाथ रखकर)* ऐसे मत करो दीदी! जीजाजी आकर झटपट उसका पता निकाल लेंगे।

सीता : *(रूमाल हटाकर)* शारदा, मैं लल्लू के बिना पल-भर भी नहीं जी सकती...मैं...*(गला रुँध जाता है।)*

शारदा : *(बाहर की ओर देखकर)* जीजाजी आ गए।

हरदेव फलों का बड़ा-सा लिफाफा लिए प्रवेश करता है। शारदा पीछे हट जाती है। सीता उठकर खड़ी हो जाती है।

सीता : *(एकदम)* आपने सुना है?

हरदेव : क्या बात है? तुम्हें हो क्या गया है? इतनी बदहवास क्यों हो?

लिफाफा मेज़ पर रखकर कोट उतारने लगता है।

शारदा : लल्लू बाहर खेलने गया था, पर न जाने किस तरफ़ चला गया? हम सब उसी के लिए घबरा रहे हैं।

हरदेव : बस, इतनी-सी बात है?

सीता : *(आँखों में पानी भरकर)* इतनी-सी बात नहीं है। उसका कहीं पता नहीं चल रहा। वह कहीं नहीं मिल रहा।

कहते-कहते गला फिर रुँध जाता है। मुँह से और शब्द नहीं निकलते।

हरदेव : पर लल्लू तो बाहर सड़क पर मिट्टी के खिलौने के साथ खेल रहा था। मैं ही उसे अपनी साइकिल पर बिठाकर ज़रा फल लाने चला गया था।

सीता : सच?

आँखों में चमक आ जाती है। उसी समय लल्लू, सिर से पैर तक धूल में लथपथ, एक हाथ में आम और दूसरे में मिट्टी का सिपाही पकड़े अन्दर आता है।

सीता : *(झपटकर)* मेरा लल्लू!

उसे उठा लेती है और छाती से चिपकाकर बार-बार उसका मुँह चूमती है। झटका लगने से लल्लू के हाथ से मिट्टी का सिपाही गिरकर टूट जाता है। लल्लू सिपाही की ओर बाँह फैलाकर रोता है।

लल्लू : *(मचलता हुआ)* मेला छिपाई, मेला मिट्टी का छिपाई...*(माँ की बाँहों से निकलकर, जमीन पर औंधा लेट जाता है और चीख़ता है :)*

ऊँ, ऊँ, ऊँ! मेला मिट्टी का छिपाई! मेला मिट्टी का छिपाई!

[पर्दा गिरता है।]

प्रतीक्षा

पात्र

वृद्धा : देहाती स्त्री जिसका बेटा युद्ध में गया है।
मन्नी : वृद्धा की नवयौवना बेटी
राजी : एक पड़ोसिन
दीनू : एक पड़ोसी कुम्हार
दो शरणार्थी लड़कियाँ
मानिक : *(कल्पनारूप)* वृद्धा का बेटा, जो युद्ध में गया है।

पहला दृश्य

पर्दा उठने पर देहात के घर का आँगन दिखाई देता है, जो अँधेरा और सीलनदार है। आँगन के बीच में फटी हुई चटाई बिछ रही है। एक ओर दो-एक मिट्टी के बर्तन पड़े हैं। बाईं ओर लकड़ी का टूटा हुआ दरवाज़ा है। फ़र्श की मिट्टी जहाँ-तहाँ उखड़ रही है।

वृद्धा चटाई पर बैठी हुई चर्खे से सूत कात रही है। मन्नी पास ही चुपचाप बैठी है। दो क्षण निःस्तब्धता में चर्खे का 'घूँ-घूँ' स्वर सुनाई देता है। फिर मन्नी उठकर बाईं ओर के दरवाज़े से बाहर झाँकती है।

मन्नी : *(देखती हुई अपने आप)* अँ...अँ...अँ...अभी नहीं आया।

वृद्धा एक बार मन्नी की ओर देखकर फिर व्यस्तता से सूत कातने लगती है।

मन्नी : *(कुछ क्षण रुककर)* वो...वो...तो *(एकदम)* वह आ गया माँ! आज भैया की चिट्ठी ज़रूर आई होगी। *(बाहर निकल जाती है।)*

वृद्धा सूत कातना छोड़, एक ठंडी साँस ले उत्सुकतापूर्वक दरवाज़े की ओर देखने लगती है। कुछ क्षण निःस्तब्धता रहती है। फिर मन्नी निराश और थकी-सी चुपचाप वापस आती है।

वृद्धा : *(निराश उत्सुकता से)* वह आया री?

मन्नी : आया है, माँ! पर भैया की चिट्ठी नहीं आई।

आँखों में पानी भर आता है।

वृद्धा : पूछा तूने?

मन्नी : पूछा है माँ! दीनू का लिफ़ाफ़ा था, चौधरी का कार्ड। मन्नी की माँ के नाम कुछ नहीं था।

वृद्धा : *(लम्बी साँस छोड़कर)* अपना भाग है और क्या?

मन्नी : अगले मंगल को चिट्ठी ज़रूर आएगी, माँ! मेरा दिल कहता है।

वृद्धा : तेरा दिल तो हर मंगल को कहता है, बेटी। ऐसे ही सब मंगल निकल जाते हैं। जाने परमेश्वर की क्या करनी है?

मन्नी : पहली चिट्ठी को पूरे तीन महीने हो गए, माँ! भैया ने लिखा था कि वे ब्रम्मा की लड़ाई पर जा रहे हैं। *(कुछ रुककर)* लड़ाई से समय नहीं मिला होगा।

वृद्धा : क्या जाने।

मन्नी : यह ब्रम्मा कितनी दूर है, माँ?

वृद्धा : क्या मालूम? कोसों होगा।

मन्नी : रेल से जाते हैं?

वृद्धा : मानिक बताता था, जहाज़ जाता है पानीवाला।

मन्नी : चिट्ठी भी उस जहाज़ में आती होगी, माँ?

वृद्धा : उसी में आती होगी, और उड़कर थोड़े आएगी?

वृद्धा : *(कुछ सोचकर)* पर माँ, अगर चिट्ठीवाला जहाज़ डूब गया हो, तो?

वृद्धा : *(काँपकर)* नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जहाज़ बहुत बड़े-बड़े होते हैं, वे नहीं डूबते। कलकत्ते के समुन्दर में, मानिक ने कहा था न, एक इतना बड़ा जहाज़ था जितना बड़ा शहर का चिड़ियाघर है।

मन्नी : पर माँ, चौधरी तो खबर सुनाता है कि रोज़ कई-कई जहाज़ डूब जाते हैं।

वृद्धा : *(फिर काँपकर)* सुनने-सुनाने की बात और है। चौधरी को घर बैठे क्या पता? जहाज़ तो उसने कभी देखा भी नहीं।

मन्नी : क्या पता माँ, भैया इधर से चिट्ठी की राह देखते हों।

वृद्धा : मैं चिट्ठी कहाँ लिखाऊँ? पता भी तो हो। *(कुछ रुककर)* मैं तो कहती हूँ जहाज़ नहीं डूब सकते। डूब जाते हों, तो सरकार फ़ौजों को उन पर क्यों भेजे?

मन्नी : तो माँ, अगले मंगल को चिट्ठी ज़रूर आएगी।

वृद्धा : *(अनाश्वस्त स्वर में)* देखो! *(व्यस्तता से सूत कातने लगती है। मन्नी कुछ क्षण चुपचाप बैठी रहकर, फिर लेट जाती है।)* —मन्नी की माँ!

मन्नी एकदम उठकर बैठ जाती है। वृद्धा बाहर की ओर देखती है।

वृद्धा : आ, राजी!

पड़ोसिन राजी प्रवेश करती है। वह एक पत्तल लपेटकर आँचल में बाँधे हुए है।

वृद्धा : *(पीढ़ा देकर)* बैठ, बहन!

राजी बैठ जाती है।

राजी : कोई चिट्ठी-पत्री आई?

वृद्धा : चिट्ठी कहाँ राजी! इस लड़ाई का कुछ समझ नहीं पड़ता। राजी-खुशी ही लिख दे तो दिल को शान्ति रहे।

राजी : लड़ाई के तो खेल ही निराले हैं। देख, धन्नो का ब्याह है, लाख सिर पटके, पर चीज़ें जैसे सब वलायत चली गईं। दुगुने-चौगुने देकर भी कुछ पल्ले नहीं पड़ता। चार तोले सोना देना है, पर इतने दाम कौन दे? कहते हैं, शहर में नकली सोना आया है, दो रुपये तोला।

वृद्धा : नकली सोना?

मन्नी : दो रुपये तोला?

राजी : सुना ही है। वे कहते थे अगर मिला तो दो तोले यह असली दे देंगे, और दो तोले नकली डाल देंगे। *(रुककर)* मानिक की चिट्ठी को आए तीन महीने से ऊपर हो गए।

मन्नी : नहीं, पूरे तीन महीने हुए हैं।

राजी : चौधरी कहता है ब्रम्मा में लड़ाई बड़े ज़ोर की हो रही है। हर रोज़ हज़ारों जानें चली जाती हैं।

वृद्धा : सब सुने की बातें हैं। चौधरी ने कौन-सा वहाँ जाकर देखा है? यहाँ बैठे लोग हज़ार बात कह लें, पर लड़ाई का हाल तो लड़ाई वाले ही जानते हैं। मानिक आकर सच्ची बात बताएगा।

मन्नी : भैया आ जाएँ, तो फिर लड़ाई पर मत भेजना माँ! इतनी दूर से चिट्ठी भी नहीं आती।

राजी : चिट्ठी तो आती है। मेरे मायके गाँव का एक लड़का गया था। इतना होनहार, ख़ूबसूरत—बस बिल्कुल तुम्हारे मानिक जैसा, हर महीने घर चिट्ठी भेजता था। उस दिन सरकारी चिट्ठी आई कि चल बसा। माँ बेचारी रो-रोकर बावली हो गई। लड़ाई में जीने-मरने का कोई पता नहीं रहता?

वृद्धा सिर से पैर तक काँप जाती है।

मन्नी : वह कहाँ की लड़ाई में गया था?

राजी : लाल समुन्दर के आगे गया था, बड़ी वलायत में। अभी पिछले महीने अपने हाथ से चिट्ठी लिखी थी।

वृद्धा : *(झूठ-मूठ आश्वस्त होकर)* बड़ी वलायत की बात दूसरी है। मेरा मानिक तो ब्रम्मा में है।

राजी : बेचारा घर आए जल्दी। मन्नी के भी हाथ पीले करे। सब सहेलियाँ इसकी चली गईं। धन्नो अभी बैसाख में चली जाएगी। दो ही महीने में सबकुछ करना धरना है। वे सारा शहर ढूँढ़ आए, पर कहीं पाँच गज़ मलमल नहीं मिली। तू बता, उसके लिए कोई घर नहीं देखा?

मन्नी तुनककर अन्दर चली जाती है।

वृद्धा : घर क्या देखना है, राजी, मानिक आए तो कुछ हो भी। जानती है, लोगों के हाथ बढ़े हुए हैं।

राजी : करनेवाली तो तू ही है। चौदह की तो हो गई। गाँव में और भी कोई चौदह की रही है, मेरी धन्नो को अभी तेरहवाँ है, ससुराल वालों के चार खेत हैं, सो सुख से रहेगी। तू कहीं देखभाल कर।

वृद्धा : घर भी तो मुँह को आते हैं, बहन! यहाँ किसका मुँह है? मुँहवाला तो दूर बैठा है। *(ठंडी साँस लेती है।)*

राजी : कोशिश तो कर! सूत कातती के पास कोई नहीं आएगा। लड़की का धन जा के देना पड़ता है। कहे तो मैं कहीं बात करूँ। मानिक जाने...

दीनू कुम्हार हाँफता हुआ दरवाज़े के पास आता है।

दीनू : मन्नी की माँ, देखा-सुना कुछ?

वृद्धा राजी : क्या हुआ?

दीनू : *(पल भर साँस लेकर)* हुआ क्या, बेशर्मी की हद हो गई।

राजी : बता तो क्या हुआ?

दीनू : देखोगी तो आप उँगली काटोगी।

मन्नी बाहर आ जाती है।

दीनू : बिटिया को भेज दो अन्दर। वे इधर ही आ रही हैं।

वृद्धा : कौन आ रही हैं? इतना क्यों हाँफता है?

दीनू : देख लो, वे आ गईं। मैं चौधरी को पता देता हूँ।

दीनू तत्परता से चला जाता है। दो क्षण निःस्तब्धता रहती है। फिर दो साँवली बर्मी लड़कियाँ जाँघों तक के मैले फ्राक पहने दरवाज़े से अन्दर आती हैं। सब उनकी ओर ध्यान से देखती हैं।

लड़कियाँ : माँ जी, रोटी पाजी के लिए कुछ....

राजी : किस घर की हो री? लाज नहीं आती? खाने को पास में नहीं और घूमती हो इस तरह, तुम्हारे घर में कोई नहीं?

पहली लड़की : घर-बार उजड़ गया है, माँ जी! जापानी जहाज़ों ने गोले गिराए थे। भाई को तड़पते घर में छोड़कर हम लोग भाग आए। रेल की पटरी के पास माँ के भी प्राण निकल गए। जंगल में पिता को साँप ने काट लिया। उसकी देह पानी में बहाकर किसी तरह यहाँ तक पहुँची हैं। अब आप ही लोगों का आसरा है। दो-चार मुट्ठी चावल दे दीजिए।

राजी : निकल जाओ यहाँ से। घर की बदनामी होगी। कह न इनसे मन्नी की माँ!

वृद्धा : क्यों री, तुम किस देश की हो?

दूसरी लड़की : ब्रह्मा से आई हैं, माँ जी! कभी वहाँ हमारा भी घर था। हमारे भी माँ-बाप थे। हमने अच्छे दिन देखे हैं, माँ जी! आज भूख हमें दर-दर लिए फिरती है।

मन्नी : माँ, ये ब्रम्मा से जहाज़ पर नहीं आईं?

पहली लड़की : जी नहीं। हम पैदल रास्ते से आए हैं! जहाज़ सब डूब जाते हैं। हमारे पास जो सामान था, वह भी डाकुओं ने छीन लिया।

वृद्धा : क्यों री, ब्रम्मा में बहुत लड़ाई होती है?

पहली लड़की : वहाँ तो आग बरसती है माँ जी! भागना भी आसान नहीं। कई वहीं रह गए। कई रास्ते में मर गए। खाने-पीने को कुछ नहीं मिलता।

वृद्धा के मुख पर चिन्ता की रेखाएँ गाढ़ी हो जाती हैं।

मन्नी : *(उत्सुकतापूर्वक)* लड़ाई से फ़ौजी भी भाग आए?

दूसरी लड़की : फ़ौजी नहीं भाग सकते। जो पलटन छोड़े उसे गोली मार दी जाती है।

पहली लड़की : माँ जी, कुछ खाने को दे दीजिए। आपके बेटे की बड़ी उम्र होगी।

राजी : निकालो न इनको मन्नी की माँ! कोई देखेगा, क्या कहेगा?

दूसरी लड़की : दो मुट्ठी चावल दे दीजिए माँ जी! आपका बेटा जिए।

वृद्धा : मन्नी, इन्हें अन्दर से चावल ला दे।

मन्नी अन्दर चली आती है।

राजी : क्या करती हो मन्नी की माँ? इनका कोई धरम-करम है?

दूसरी लड़की : बुरा मत कहो माँ जी, कुछ पास नहीं, इसीलिए माँगती हैं। अपना घर रहता, तो क्यों बाहर आतीं?

मन्नी चावल ले आती है। पहली लड़की झोले में डलवा लेती है।

पहली लड़की : *(चावल लेकर)* तुम्हारी बेटी जुग-जुग जिये, माँ जी!

इस आशीर्वाद से वृद्धा का मुख मुरझा जाता है। दोनों शरणार्थी लड़कियाँ चली जाती हैं।

राजी : किनको दे दिया, मन्नी की माँ! ये लड़कियाँ क्रिस्तान हैं।

वृद्धा : कोई हो बहन, पेट तो सबका बराबर है।

मम्मी : माँ, ये ब्रम्मा की हैं, शायद इन्होंने भैया को देखा हो।

वृद्धा : हज़ारों आदमियों में कहाँ पता चलता है, बेटी?

मन्नी : माँ, ये तो कहती हैं, वहाँ बहुत लड़ाई होती है।

वृद्धा : *(दोनों हाथ जोड़कर ऊपर की ओर देखती हुई)* वह राखनहार है। *(आँखें भर आती हैं।)*

राजी : *(उठती हुई)* यह मिठाई रख ले मन्नी! चन्दू की ससुराल की है। *(पत्तल खोलकर पीढ़े पर रख देती है।)*

वृद्धा : *(मुरझाई-सी)* रख ले, मन्नी!

राजी : *(उठकर)* अगले मंगल को शायद चिट्ठी आ ही जाए। आए तो पता भेजना।

चली जाती है। मन्नी उदास-सी फिर लेट जाती है। वृद्धा चुपचाप पूर्ववत् सूत कातने लगती है।

पट-परिवर्तन

दूसरा दृश्य

पर्दा उठने पर फिर वही आँगन दिखाई देता है। समय आधी रात का है। आँगन में दो चारपाइयाँ बिछी हैं। चारपाइयों पर वृद्धा और मन्नी मुँह ढाँपकर सोई हैं। अँधेरा ज़रा घना होता है, फिर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश छाने लगता है।

बाहर से धीमी-धीमी आवाज़ आती है।

—माँ! माँ!

दाईं चारपाई से वृद्धा हड़बड़ाकर उठती है। पर चादर तानकर सोनेवाली आकृति उसी प्रकार सोई रहती है। प्रकाश और भी खिलता है। वृद्धा का घबराया हुआ चेहरा स्पष्ट दिखाई देता है।

वृद्धा : *(स्नायविक स्वर में)* कौन है, कौन पुकारता है?

शब्द :

—माँ! माँ!

वृद्धा : *(चारपाई से उठकर)* मानिक! *(एकदम दरवाज़े की ओर बढ़ती है।)*

शब्द :

—हाँ माँ! मैं हूँ मानिक। दरवाज़ा खोल, मैं आ गया हूँ।

वृद्धा तत्परता से दरवाज़ा खोलती है। फ़ौजी वेश में एक युवक अन्दर प्रवेश करता है। वह झुककर वृद्धा के पैरों को छूता है। वृद्धा उसे उठाकर छाती से लगा लेती है।

वृद्धा : मेरा मानिक! मेरा बेटा! लगता है बरसों में देखा है।

दोनों आँगन के बीच आ जाते हैं।

वृद्धा : बिटिया तुझे याद करती-करती सो गई। आज मंगल था, सो सवेरे से ही तेरी चिट्ठी की बाट देखती रही। पर तू तो आप ही आ रहा था। चिट्ठी कैसे आती? *(भाव-व्याकुल-सी)* बैठ तो जा, बेटा!

मानिक एक पीढ़ा ले लेता है। वृद्धा दूसरे पीढ़े पर बैठ जाती है।

मानिक : क्या बताऊँ माँ! बड़ी ही मुश्किल है। दिन-रात लड़ाई चलती है। नीचे धरती बोलती है, ऊपर आकाश, एक पल के लिए भी निकलना संभव नहीं, मैं तो रात के अँधेरे में छिपकर तुझे मिलने चल आया।

वृद्धा : कितना जी चाहता था देखने को। लोग सौ बातें कहते थे। चुपचाप सुनती रहती थी। जानती थी, तू आके लड़ाई के हाल बताएगा। सुनी-सुनाई किस-किसकी मानती? *(रुककर)* पहले बोल, क्या खाएगा? मैं तो बातों में ही भूल गई।

मानिक : नहीं, माँ! खाना कुछ नहीं। *(रुखी हँसी हँसकर)* और तेरे हाथ की तो अब भाग में रही नहीं...

वृद्धा : *(काँपकर)* नहीं बेटा! अपशगुन की बात नहीं बोलते।

मानिक : अपशगुन की बात नहीं माँ! तू ही सोच, जो खाना हम लोग खाते थे, उसमें क्या कुछ नहीं होता था? मछली, मुर्गा, भेड़, बकरा...

वृद्धा : राम, राम राम।

मानिक : जंगल में और कुछ नहीं मिले तो गीदड़ ही मारकर खा जाते थे। इसीलिए तो कहता हूँ कि मुझे खिलाने से तुझे छूत लगेगी।

वृद्धा : नहीं-नहीं। मेरा धरम-करम सब तू ही है। वहाँ जो खाना पड़ा, खा लिया। यहाँ पर वह चीज़ थोड़े खाएगा? बोल क्या बना दूँ।

मानिक : रहने दे माँ! मुझे अब भूख ही नहीं लगती। दो घड़ी अपने चरणों में बैठ लेने दे। फिर जाने आ भी सकूँ या नहीं।

वृद्धा : कैसी बात मुँह पर लाता है?...मन्नी से तो मिल, सोने से पहले तेरी ही बात कर रही थी।

मानिक : उसे सोने दे माँ! तू बता, इतनी दुबली क्यों हो गई? दिन-रात चिन्ता किया करती है, क्या?

वृद्धा : चिन्ता काहे की है, बेटा! यही सोचती थी कि तू आ जाए...

मानिक : तेरी तो देह आधी भी नहीं रही, माँ, लड़ाई का क्या भरोसा है? आज जान है, कल नहीं। कितने साथी देखते-देखते चले गए।

वृद्धा : *(काँपकर)* अब तू वहाँ मत जा, मैं तुझे नहीं जाने दूँगी।

मानिक : यहाँ कैसे रह सकता हूँ, माँ? जान अपनी हो तो रहूँ भी।

वृद्धा : *(मुरझाकर)* तो तू वापस चला जाएगा?

मानिक : अभी चला जाऊँगा, माँ! बहुत दूर जाना है। मैं तो मिलने चला आया, नहीं तो आना संभव ही कहाँ था? डॉक्टर यदि सिर न हिलाता, तो अभी मैं हस्पताल में ही होता।

वृद्धा : *(घबराकर)* हस्पताल में? वहाँ क्यों?

मानिक : *(रूखी हँसी हँसकर)* मुझे गोली लगी थी माँ!

वृद्धा : *(उसको कन्धे से पकड़कर)* तुझे लगी थी? कहाँ लगी थी, लाल? मुझे पहले क्यों नहीं बताया?

मानिक : घबरा नहीं माँ! गोलियाँ तो लगती ही रहती थीं। पर यह घाव गहरा था। गोली दिल के पास लगी थी। मुझे उठाकर वे हस्पताल में ले गए। वहाँ डॉक्टर ने देखा, और सिर हिलाया। फिर...

वृद्धा : फिर, उसके बाद?

मानिक : फिर मैं यहाँ आ गया, और मुझे कुछ भी याद नहीं।

वृद्धा : *(मानिक का हाथ पकड़कर)* मैं अब तुझे नहीं भेजूँगी। चाहे जो भी हो।

मानिक : नहीं माँ! रहना मेरे वश में नहीं है। जैसे आया हूँ, वैसे ही चला जाऊँगा।

वृद्धा : तू रह जाता तो तेरे सामने ही लड़की के हाथ पीले कर देती।

मानिक : यह चाह मेरे मन में भी है, माँ! जब गोली लगी, तब भी मैं यही सोच रहा था। जब डॉक्टर ने सिर हिलाया, तब भी। अब भी यही सोच रहा हूँ। पर सोचकर भी मैं कुछ कर नहीं सकता।

वृद्धा : कर क्यों नहीं सकता? तू ही सबकुछ करेगा।

मानिक : तो, अब जाने दे, माँ! रात बीतती जा रही है।

वृद्धा : अभी क्यों चल दिया! अभी तो मैंने जी भरकर देखा भी नहीं।

मानिक चुपचाप उसके पैर छूकर दरवाज़े की ओर चल देता है।

वृद्धा : ज़रा तो ठहर जा! मुझे अभी कितनी ही बातें करनी हैं...

मानिक दरवाज़े से निकल जाता है। अँधेरा गहरा होने लगता है।

वृद्धा : *(पीछे-पीछे जाती हुई)* मेरा प्यार तो ले जा! मानिक! मानिक!

विह्वल-सी दरवाज़े से निकल जाती है। चारपाई पर सोई हुई आकृति ज़ोर-ज़ोर से पुकार रही है :

—मानिक! मानिक!

मन्नी अपनी चारपाई पर चौंककर जाग उठती है। वृद्धा सोई-सोई पुकार रही है :

—मानिक! मानिक!

मन्नी उसे हिलाकर जगाती है। वृद्धा आँखें खोलकर इधर-उधर देखती है।

वृद्धा : वह आया नहीं था?

मन्नी : *(वृद्धा के साथ सटकर)* कौन माँ?

वृद्धा : *(कंपित स्वर में)* मानिक।

मन्नी : तुम सोई-सोई भी भैया के ही सपने देखा करती हो, माँ? देख लेना, अगले मंगल को भैया की चिट्ठी ज़रूर आएगी।

वृद्धा गहरी साँस लेकर लेट जाती है। अँधेरा पहले की तरह गाढ़ा हो जाता है।

[पर्दा गिरता है।]

बिजली का बिल

पात्र

रमा : पन्द्रह-सोलह वर्ष की कुमारी
आशा : रमा की छोटी भाभी
कान्ता : रमा की छोटी भाभी
बिजली घर का चपरासी
कल्याणी : रमा की माँ, आशा तथा कान्ता की सास
मदन : कल्याणी का छोटा लड़का
निवास : कल्याणी का बड़ा लड़का, कान्ता का पति एक मजदूर

पर्दा उठने पर घर का बरामदा दिखाई देता है। बाहर जाने का रास्ता बाईं ओर है, घर के अन्दर जाने का रास्ता दाईं ओर। बरामदे के बीच में एक मेज़ और दो कुर्सियाँ रखी हैं। मेज़ पर किसी हिन्दी पत्रिका का अधिक नहीं तो डेढ़-दो वर्ष पुराना कोई अंक रखा है। मेज़ से कुछ हटकर एक चारपाई है जो अब दिन ही गिन रही है। चारपाई के पास ही एक अधफटी चटाई बिछा दी गई है। दीवारों पर सफ़ेदी पुरानी नहीं है, पर दरवाज़ों पर कई वर्षों से रोगन नहीं हुआ।

पर्दा उठने पर पहले मकान के अन्दर से कुछ हँसने की आवाज़ आती है, कुछ क्षण रुककर हँसने की आवाज़ अधिक निकट सुनाई पड़ती है। रमा और आशा हँसती हुई बरामदे में आ जाती हैं।

रमा : *(मुँह में दुपट्टे का आँचल दबाए हँसी से दोहरी होती हुई)* बस भी करो भाभी, पेट में बल पड़ जाएँगे।...बच्चा पेट के बल...

हँसती हुई धड़ाम से कुर्सी पर बैठती है, और हाथ की सिलाइयों व अधबुने बुनयाइन को मेज़ पर पटक देती है।

आशा : *(हँसती हुई)* सुन तो सही। मैं तो अँधेरे में डरी कि कहीं तकिया चारपाई से उतरकर अपने आप रेंगने लगा है। पर साहस करके मैंने पाँव बढ़ाया तो नीचे से बच्चा बिलबिला उठा। बेचारा दियासलाई की डिबिया ढूँढ़ रहा था।

कान्ता की आवाज़

—रमा! ओ रमा!!

रमा : *(कठिनता से हँसी रोककर)* आई, बड़ी भाभी! *(आशा से)* वह बोला कुछ नहीं?

आशा : बोला? वह तो चीख़ने लगा। जब उसने अपना पोपला मुँह हिला-हिलाकर माँ जी से शिकायत की तो मैं सुन रही थी। बेचारे का मुँह ऐसे हो रहा था जैसे सूखी नारंगी का छिलका।

दोनों हँसती हैं। कान्ता का प्रवेश।

कान्ता : क्या बात है रमा? हँसती ही है, या सुनती भी है कुछ?

रमा : सुन भी रही हूँ भाभी! छोटी भाभी कह रही थी कि बब्बा...

कान्ता : फिर उसी की बात? काम का भी तो कोई समय होता है। कभी डूबने भी दिया करो बब्बा को।

आशा : उस दिन की बात सुनो दीदी, वह चार आदमियों के सिर चढ़कर...

कान्ता : रहने दो यह नई-नई कहानियाँ।

आशा : कहानियाँ दीदी? तुम ही कहो तीन मन पानी उसके पेट में नहीं आता?

सब हँसती हैं।

कान्ता : *(शिकायत के स्वर में)* रमा! कल से इतना-सा भी तो नहीं बुना तूने।

रमा : रात को बत्ती जो नहीं जली, भाभी! अँधेरे में सिलाई चलाती तो तुम्हारा रेशमी डोरा बरबाद हो जाता। तुम्हारे पास तो ख़ैर लड़ाई से पहले का रखा है। आजकल इतना अच्छा डोरा मिलता कहाँ है?

कान्ता : पर तू—

रमा : मेरी अच्छी भाभी, आज सब पूरा कर दूँगी, अब कुछ मत कहो।

दरवाज़े पर खट्-खट्

आशा : देख रमा, कौन है।

रमा : बब्बा होगा और कौन?

आशा : वह अभी कहाँ। वह आएगा दो घंटे में।

कान्ता : जा रमा देख तो सही।

रमा दरवाज़ा खोलती है। बाहर बिजलीघर का चपरासी खड़ा है।

चपरासी : बाबू जी!

रमा : बड़े भैया सवेरे सात से नौ और सायंकाल पाँच के बाद घर पर और बाक़ी समय दफ़्तर में होते हैं।

चपरासी : जी, वह नहीं–

रमा : छोटे भैया यहाँ नहीं हैं, दिल्ली गए हैं।

चपरासी : जी नहीं *(थैला देखते हुए)* एक सौ दस, एक सौ ग्यारह, एक सौ बारह...

रमा : बता तो सही क्या है?

चपरासी : जी, ज़रा ठहरिए। *(फिर थैली में देखकर)* एक सौ तेरह, एक सौ चौदह और यह एक सौ पन्द्रह। यह लीजिए, अपना बिजली का बिल।

रमा : *(लेकर)* ओ! बिजली का बिल है! मैं समझी, डिप्टी बहादुर का प्यादा समन लेकर आया है।

पिउन बुक में हस्ताक्षर कर देती है, और दरवाज़ा बन्द करके आशा और कान्ता के पास आती है।

कान्ता : तू बहुत चंचल है रमा! बाहर के आदमी से कोई इस तरह मज़ाक करता है?

रमा : उसके खट्टे बेर जैसी नाक तो देखती भाभी! *(कृत्रिम रोष दिखाकर)* इस घर में तो छोटा होना ही अपराध है। कोई बात हो तो भाभी नाराज़। बिना बात के अम्मी नाराज़!

अन्दर से कल्याणी की आवाज़ आती है :

: –न कोई काम, न कोई धन्धा!

रमा : अम्मी, बिल आया है।

कल्याणी बरामदे में आ जाती है।

कल्याणी : गीली लकड़ियाँ जलती नहीं, तुम लोगों की बला से। मेरे लिए रात-दिन सब एक हैं। आग जलाऊँ तो मैं; आग बुझाऊँ तो मैं! रानियाँ, रोटी बनाई, और बैठ रहीं।

रमा : बिजली का बिल आया है अम्मी!

कल्याणी : भूचाल आया है। भेज दिया उस दिन बिल। वापस नहीं भाग आया।

आशा : माँ जी, बिजली का नया बिल आया है।

कल्याणी : नया आया है? निवास जो उस दिन देकर आया है, वह पुराना हो गया?...रोज़-रोज़ बिल भेजेंगे तो कौन बिजली जलाएगा? *(कुछ रुककर)* कितने का है बिल?

रमा : बिल है—बारह-बारह-बारह रुपये दस आने।

कल्याणी : क्या? बारह रुपये दस आने? मेरा सिर फिर गया है या तेरा?... बारह रुपये दस आने? ठीक से पढ़!

रमा : अब अम्मी, तुम आप पढ़ लो।

कल्याणी : मैं पढ़ना जानती तो लकड़ियाँ जलाती? तेरी तरह ऊपर से नीचे घूमती, सहेलियों के घर जाती, और काम होने पर सिरदर्द का बहाना करके पड़ रहती। कितने हैं—दस रुपये बारह आने?

रमा : बारह रुपये दस आने, अम्मी!

कल्याणी : बिजलीघर है कि अंधेर घर? सब चीज़ों को आग लगी सो लगी, बिजली को भी आग लग गई?

रमा : अम्मी! बड़े भैया कुछ दिनों के लिए रेडियो लाए थे न?

कान्ता : *(एकदम)* दो महीने की बात आज याद आ रही है?

रमा : नहीं, वह नहीं। हाँ छोई भैया के कमरे में बिजली का पंखा है न?...

आशा : *(बीच में ही)* वह तो उनके दिल्ली जाने के बाद एक दिन भी नहीं चला।

रमा : तब क्या कारण हो सकता है? एक बत्ती जलती है रसोईघर में, एक अम्मी के कमरे में...

कल्याणी : अम्मी बिजली से अपने हाड़ जलाती हैं न? आप नहीं आधी-आधी रात तक भूतनाथ प्रेतनाथ के क़िस्से पढ़ा करतीं?

रमा : अम्मी तुम्हारी कसम जो चार महीने से कोई किताब उठाकर देखी हो!

कल्याणी : किताब नहीं देखी, तो जालियाँ तो बुनती है, कसीदे तो काढ़ती है!

रमा : बस यही एक जाली बुनी है, वह भी बड़ी भाभी की।

कान्ता : तो मेरी जाली बुनने में ही सारी बिजली ख़र्च हो गई?

रमा : यह मतलब नहीं भाभी! बिजली तो सब लोग मिल-जुलकर जलाते हैं।

कल्याणी : जलाओ, या न जलाओ, वह तो काग़ज़ भेज देते हैं। अधेले का काग़ज़, ऊपर दमड़ी की स्याही, उनका लगता ही क्या है? मैं देखूँगी अब कैसे बिजली जलती है, घर में। *(भुनभुनाती हुई अन्दर चली जाती है। बाहर से आवाज़ आती है :)*

: –रमा!

रमा, आशा और कान्ता चौंककर देखती हैं।

रमा : *(देखकर)* मदन भइया। बिना बतलाए ही?

एक हाथ में चमड़े का सूटकेस तथा दूसरे में एक टोकरी लिए मदन का प्रवेश।

कान्ता : वाह! इस तरह अचानक कैसे? किस गाड़ी से आए?

मदन सूटकेस एक ओर रखता है। रमा टोकरी उसके हाथ से लेने लगती है।

रमा : दे दो, बीच में से कुछ निकालती नहीं–दे दो न...

मदन : रहने दे, बब्बा आएगा तो अन्दर ले जाएगा।

कान्ता : ख़ूब पसीना आ रहा है, कैसा सफर रहा?

मदन : बारह घंटे का सफर, ऊपर से गाड़ी पाँच घंटे लेट! गरमी में तो कहीं आना-जाना मौत है मौत।

कल्याणी अन्दर से आती है।

मदन : पैर छूता हूँ अम्मी!

कल्याणी : जुग-जुग जी; कैसा हाल है?

मदन : बिल्कुल बेहाल हो रहा हूँ अम्मी–आजकल के सफ़र से परमात्मा बचाए।

कल्याणी : आजकल की हर चीज़ से परमात्मा बचाए। बिजली का बिल देखा है।

मदन : बिजली का बिल भी कोई देखने की चीज़ है अम्मी? देखने की चीज़ें हैं–गवर्नमैंट हाउस, भूल-भुलैयाँ, जन्तर-मन्तर–*(आशा से)* मुँह क्या देख रही है, जा, जलपान के लिए कुछ ले आ। पति परमेश्वर घर में आए तो स्त्रियाँ शीरनी बाँटती हैं। उठ जल्दी कर। प्यास से जान निकल रही है।

आशा अन्दर चली जाती है।

कल्याणी : मेरी भी सुनते हो? इस बार बिजली का बिल आया है...

मदन : *(बीच में ही)* आया है तो चला भी जाएगा अम्मी! *(रमा से)* जा रमा, अन्दर से तौलिया ले आ। ज़रा नहा डालूँ।

रमा अन्दर चली जाती है।

कल्याणी : नहाना एक छोड़कर दस बार, पर ज़रा यह तो सोचो कि घर का ख़र्च किस तरह चलाना है?

मदन : अम्मी, घर का ख़र्च है, कोई बिना लायसैंस की मोटर तो नहीं, जिसे चलाने के लिए पेट्रोल के कूपन नहीं मिलते।

कल्याणी : तो आपस में मिल-जुलकर चला लो। मेरी जान को क्यों रोग लगा रखा है?

कुढ़ती हुई अन्दर चली जाती है।

कान्ता : माँ जो नाराज़ हो रही हैं।

मदन : नाराज़ रहने की तो अम्मी की आदत ही है। यह नहीं देखा कि गरमी में सफ़र से आ रहा हूँ। बस आते ही बिल की दुहाई दे दी जैसे वहाँ से बिल की चर्चा सुनते ही आया हूँ। *(आवाज़ देकर)* रमा लाई नहीं तौलिया?...अच्छा रहने दे, पानी पीकर ही नहाऊँगा। *(आशा को आवाज़ देकर)* रानी, वहीं बैठ रही जाकर? कुछ जलपान को मिलेगा, या नहीं?

आशा तश्तरी लिए आती है। रमा पानी का गिलास उठाए पीछे-पीछे आती है।

मदन : *(आशा से)* रख दे, रख दे, यहीं। अन्न-देवता से बड़ा कोई देवता नहीं। कुछ पेट में जाए तो करने को बात सूझे...*(कचौरी खाते हुए)* रमा, आस-पास किसी के यहाँ ब्याह तो नहीं हुआ?

रमा : क्यों?

मदन : मैं कहता हूँ यह कचौरी घर की तो हैं नहीं। ज़रूर आस-पास कहीं ब्याह हुआ है।

रमा : *(हँसकर)* ख़ूब अनुमान लगाया भइया। पास के घर वाली किरण का ब्याह था। वहीं की कचौरियाँ हैं।

मदन : शुद्ध विलायती घी इस्तेमाल किया गया है। दिल्ली में रहकर कम-से-कम विलायती घी की गन्ध का पता तो चल ही जाता है। *(रूमाल से पसीना पोंछते हुए)* ऐसी गरमी दस साल में नहीं पड़ी। रमा, जा, अन्दर से पंखा तो उठा ला।

रमा : भैया, अभी तो पहले ही बिजली के बिल को लेकर...

मदन : *(झिड़ककर)* मैं बिजली का बिल नहीं, पंखा लाने को कह रहा

हूँ। मैट्रिक पास कर लिया, पर समझ अभी प्राइमरी जितनी भी नहीं। जा, ले आ।

रमा चुपचाप अन्दर चली जाती है।

आशा : आज का दिन पंखा रहने दें तो...

मदन : हमारे यहाँ की स्त्रियों को पुरुष के आराम का ज़रा ध्यान नहीं होता। मैं कहता हूँ तुम दो-चार महीने दिल्ली रह लो, तो तुम्हारा हुलिया बदल जाए। *(आवाज़ देकर)* रमा! लाई नहीं??

कान्ता : *(धीरे-से)* अन्दर माँ जी झल्ला रही होंगी।

मदन : इस गरमी में ज़रा से काम के लिए स्वयं उठकर जाना पड़ेगा। अम्मी को तो बस हिसाब ही सूझते हैं। यहाँ चाहे किसी के प्राण निकल जाएँ। *(आशा से)* जा तू पंखा ले आ।

आशा : लाना हो तो आप ही ले लाइए।

मदन : *(हताश स्वर में)* हे जगदीश्वर!

उठकर अन्दर चला जाता है।

आशा : आज कुछ-न-कुछ होकर रहेगा।

कान्ता : बिजलीघर पर तो माँ जी पहले ही बरस रही थीं, अब हम लोगों की बारी आएगी।

मदन पंखा उठाए आता है। पंखे को मेज़ पर रखकर प्लग लगा देता है। पंखा पूरी गति से चल पड़ता है। मदन कुर्सी पर बैठकर कमीज़ का पसीना सुखाते हुए कचौरी खाता है।

मदन : अब जाकर जान में जान आई। गरमी में पंखे के बिना जीना उतना ही मुश्किल है जितना...

कल्याणी कुढ़ती हुई आती है! पीछे-पीछे रमा भी।

कल्याणी : यहाँ घर का चाहे सत्यानाश हो जाए, तुम्हें कुछ चिन्ता भी है?

मदन : अम्मी, ज़रा इधर आकर कुर्सी पर बैठो। पसीना आ रहा है।

कल्याणी : मैं पसीने से नहीं मरती। पर सुन लो, आज से घर का ख़र्च मुझसे नहीं चलेगा।

मदन : अम्मी, ज़रा बैठो तो सही। देखो सारा शरीर भीग रहा है। रमा, पंखा तेज़ कर दे।

रमा : पंखा तो पूरी स्पीड पर चल रहा है।

मदन : कितना नामुराद पंखा है। पूरी स्पीड पर चल रहा है और पसीना तक नहीं सूखता। दिल्ली में एक पंखा था...

कल्याणी : दिल्ली का पंखा रह गया दिल्ली। पहले मेरी बात सुनो।

मदन : *(पानी पीते हुए)* भाभी, आज वार क्या है?

कल्याणी : *(झल्लाकर अन्दर जाती हुई)* वार है सनीचर, रात को रोटी नहीं बनेगी।

मदन : रमा, पानी और ले आ। *(कान्ता से)* दिल्ली में अबके मैंने पंडित नेहरू और सारे लीडरों को देखा। उस दिन की बात है...

बाहर के दरवाज़े से निवास बरामदे में आता है। पीछे एक मजदूर छोटा रेडियो सेट उठाए आता है।

मदन : आइए बड़े भैया! दोपहर में कैसे चले आए?

निवास : तू अचानक कैसे आ गया? गाड़ी का तो पता दिया होता। *(मजदूर से)* रख दे भाई, यह ले दुअन्नी।

मजदूर रेडियो रखकर चला जाता है।

मदन : मेरी तो अचानक ही सलाह बन गई। यह रेडियो अपना लाए हैं क्या?

निवास : अपना कौन लेता है? ट्राई के लिए ले आया हूँ। तेरे पीछे तबीयत नहीं लग रही थी—सोचा कान-रस ही रहेगा। सात दिन सुनकर लौटा देंगे।

मदन : लगा रमा, सुनें तो सही।

रमा प्लग लगा देती है। मदन सूई घुमाता है! कल्याणी फिर अन्दर से आती है।

कल्याणी : एक बला पहले से चल रही है, यह एक और आ गई?

निवास : धीरे बोलो अम्मी, आवाज़ बाज़ार में जा रही है।

कल्याणी : मुझे तो सबने पागल कर दिया है। पूछा किसी ने, कितने का बिल आया है?

निवास : *(मदन से)* बात क्या है मदन?

मदन : *(सूई घुमाते हुए)* कोई ख़ास बात नहीं भैया! यह तो यह एक ही स्टेशन बोल रहा है—

रेडियो बज उठता है—
'दुनिया रंग-बिरंगी बाबा,
दुनिया रंग-बिरंगी।'

कल्याणी : *(चिढ़कर)* मेरी जान को रोग लगा है। गीली लकड़ियाँ जला-जलाकर मैं अन्धी हो गई...

निवास : *(बीच में)* वह तो बोल देंगे, आगे से लकड़ियाँ बिल्कुल सूखी आ जाया करेंगी।

कल्याणी : सूखी लकड़ियाँ आएँगी मेरी चिता के लिए। जो अनहोनी हो, वह इस घर में होती है।

निवास : आखिर बात क्या है?

कान्ता : असली बात यह है कि बिजली का बिल आया है।

निवास : तो उसमें झल्लाने की कौन-सी बात है?

कल्याणी : झल्लाने की बात नहीं तो बारह रुपये दस आने कौन देगा? पंखे और रेडियो छोड़कर कारखाने चलाओ, पर घर का ख़र्च चलाने की पहले सोच लो।

निवास : *(जरा फीका पड़कर)* बारह रुपये दस आने का बिल कैसे आ गया?

कल्याणी : आया कैसे?–बिजलीघर का चपरासी आया और दे गया। अब पंखे चलें–रेडियो चलें–*(काफ़ी ज़ोर से)* मैं कहती हूँ मुझसे नहीं चलेगा, नहीं चलेगा, नहीं चलेगा।

अन्दर चली जाती है।

निवास : रमा, रेडियो बन्द कर दे।

रमा प्लग उतार देती है।

निवास : पंखा भी बन्द कर दे।

रमा पंखा भी बन्द कर देती है।

निवास : यह कोई बात है–बारह रुपये दस आने! मैं इनकी शिकायत करूँगा। ये लोग ज़रूर बदमाशी करते हैं।

दरवाज़े पर खट्-खट्।

कान्ता : देख रमा, कौन है?

रमा : *(आवाज़ देकर)* कौन है?

बाहर से आवाज़ :

–जी मैं हूँ बिजलीघर का चपरासी।

रमा : *(दबी ज़बान से)* और बिल लाया है क्या?

निवास : ठहरो, मैं पूछता हूँ। यह क्या मज़ाक है? *(दरवाज़ा खोलकर)* क्यों भाई, यह क्या खेल है? एक बिल अभी देकर गया, और...

चपरासी : जी माफ़ कीजिए। साथ के घर का बिल भूल से यहाँ दे गया हूँ। वह वापस दे दीजिए। यह आपका बिल है–एक रुपया तीन आने।

मदन : *(झपटकर)* एक रुपया तीन आने? वाह! रमा, चला दे पंखा।

रमा पंखा चला देती है।

मदन : लगा दे रेडियो भी।

रमा रेडियो भी लगा देती है!

रेडियो ज़ोर से बज उठता है—

'यह दिल्ली है। अभी-अभी आप...'

[पर्दा गिरता है।]

स्वयंवर

पात्र

मधुकर : सर मुरलीधर का सेक्रेटरी
मिस रोज़ : सर मुरलीधर की बेटी करुणा की गवर्नेस
सर मुरलीधर : एक सनकी सरमायादार, जिसके मस्तिष्क में पूर्वी और पश्चिमी विचारों की खिचड़ी पका करती है।
दिवाकर : कवि
करुणा : सर मुरलीधर की बेटी
दत्ता : मनोवैज्ञानिक
मार्तंड : थानेदार
भुवनभास्कर पांडे : पत्र सम्पादक
कॉलेजों के विद्यार्थी
होटल का वेटर
होटल का मैनेजर

पहला दृश्य

पर्दा उठने पर मुरलीधर का ड्राइंगरूम दिखाई देता है। कमरे की सजावट आधुनिक है, पर दीवारों पर राम, कृष्ण, लक्ष्मी और हनुमान के चित्र भी टँगे हैं। कमरा ख़ाली है।
मधुकर का प्रवेश। उसके हाथ में अखबारों की फ़ाइल है।

मधुकर : *(फ़ाइल को मेज़ पर पटककर)* वाह जी सेठ सर मुरलीधर, धन्य तुम्हारी चाकरी! नौकरी करते ही हम तो मधुकर से मधुखर हो

गए। अब तीन साल में हमारा मधु भी निकल गया, और हम रह गए कोरे खर, वह भी बिना पूँछ के।

सोफे पर गिरकर घंटी बजाता है। मिस रोज़ का प्रवेश।

मिस रोज़ : ओ, मधुकर बाबू!

मधुकर : मधुकर नहीं, मधुखर बाबू!

मिस रोज़ : मैं समझी, डॉक्टर साहब आए हैं।

मधु. : क्यों, आज फिर डॉक्टर साहब को बुला भेजा है? सेठजी को गले में पानी ठंडा लगता है, या धूप में बैठने से पसीना आता है?

मिस रोज़ : *(मुस्कुराकर)* नहीं, बात यह है कि कल बिट्टी का दिल एक मिनट में अस्सी बार धड़कता था। आज एक मिनट में इक्यासी बार धड़क रहा है।

मधु. : अस्सी, इक्यासी, बयासी और फिस्। वहम्, डिलीरियम, हिस्टीरिया और हार्ट फेल!

मिस रोज़ : आप इन्हें समझाते क्यों नहीं, मधुकर बाबू?

मधु. : *(उठकर टहलते हुए)* मैं यहाँ पर नौकर हूँ मिस रोज़! और नौकर की कीमत है यह...

ज़ेब से निकालकर छेदवाला पैसा दिखाता है।

मिस रोज़ : *(रसपूर्वक)* आपकी बहुत कीमत है मधुकर बाबू! आप नौजवान हैं, ग्रेजुएट हैं।

मधु. : नो, नो, नो, नो। न मैं नौजवान हूँ, न ग्रेजुएट। चार साल कॉलेज में रहकर नौजवान का बन गया था एक पुर्जा, यानी ग्रेजुएट। अब नौकरी की मशीन में फिट होकर, वह पुर्जा भी घिसकर गोल हो गया है।

नेपथ्य में खाँसने की आवाज़।

मिस रोज़ : *(धीरे-से)* सेठजी!

खाँसते हुए सर मुरलीधर का प्रवेश।

सर मुरली. : मधुकर!

मधु. : जी, सेठजी!

सर मुरली. : *(बैठकर)* आज के अखबारों में अपना विज्ञापन निकल गया?

मधु. : जी, हाँ! मैं पूरी फ़ाइल साथ लेता आया हूँ।

सर मुरली. : *(मिस रोज़ को देखकर)* तुम यहाँ क्या कर रही हो?

मिस रोज़ : जी...जी...

सर मुरली. : अच्छा, अन्दर जाओ। थर्मामीटर और स्टेथेस्कोप लगाकर बिट्टी

का टेंपरेचर और पेल्पीटेशन देखो। अगर नॉर्मल हो, तो उसे घूमने चलने के लिए तैयार करो।

मिस रोज़ : जी। *(जाने लगती है)*

सर मुरली. : और देखो, उसे दो चम्मच ग्राइप वाटर पिलाकर ऊपर से तुलसी के दो पत्ते और थोड़ा-सा ठाकुरजी का चरणामृत दे दो।

मिस रोज़ : जी। *(जाने के लिए बढ़ती है)*

सर मुरधी. : मिस रोज़!

मिस रोज़ : *(रुककर)* जी!

सर मुरधी. : कुछ नहीं।

मिस रोज़ मुस्कुराहट दबाकर चली जाती है।

सर मुरधी. : *(मधुकर से)* आज हमारी बिट्टी करुणा पूरे पन्द्रह साल ग्यारह महीने और अट्ठारह दिन की हो गई। धर्मशास्त्र के अनुसार सोलह वर्ष की कन्या को घर में कुमारी रखनेवाला पिता कुंभीपाक नरक में जाता है। इधर तुम्हारा कानून कहता है कि सोलह बरस से कम की कन्या का विवाह किया ही नहीं जा सकता। अब हमें केवल एक मुहूर्त मिलता है। परसों सायंकाल आठ बजे, ज्यों ही बिट्टी पूरे सोलह बरस की हो, त्यों ही उसका वाग्दान कर दिया जाए। ठीक है न?

मधु. : जी, बिल्कुल ठीक है।

सर मुरधी. : और इसके लिए हमारे विज्ञापन के उत्तर में जो लोग आएँ, उनमें से कुछ को चुनकर एक होटल में बुला लिया जाए। वहीं पर शास्त्रोक्त-विधि से स्वयंवर हो। बिट्टी जिसके गले में वरमाला डाल दे, वही उसका पति और मेरा उत्तराधिकारी! ठीक है न?

मधु. : जी, बहुत सुन्दर विचार है।

सर मुरधी. : विज्ञापन में लिख दिया था कि वर की अवस्था बीस बरस से अधिक नहीं होनी चाहिए, क्योंकि लड़की की आयु में चार वर्ष का अन्तर हो तो हाइजिनिक दृष्टिकोण से—वह क्या लिखा है, अंग्रेज़ डॉक्टर ने—एक तरह का गड़बड़झाला हो जाता है?

मधु. : जी, लिख दिया है।

सर मुरधी. : यह भी लिख दिया है कि बीस वर्ष का युवक न मिलने पर पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचारी पर भी विचार किया जा सकता है, क्योंकि धर्मशास्त्र के अनुसार पच्चीस वर्ष का ब्रह्मचारी ब्रह्मा के तुल्य होता है।

मधु. : जी, यह भी लिख दिया है।

सर मुरधी. : और क्या-क्या लिखा है, ज़रा सुनाओ तो।

मधु. : जी लिखा है–*(अखबार उठाकर पढ़ता है।)* वह सुन्दर हो, सुयोग्य हो, सुशील हो तथा सुचतुर हो। पूर्वी तथा पश्चिमी साहित्य का पंडित हो। शेष सबकुछ समान होने पर गौरवर्ण के कुमार को विशेषता दी जाएगी! अपने कद, वजन और आकार का परिचय देते हुए अपने कुल, गोत्र, वेद, ब्राह्मण, मंत्र इत्यादि का विवरण दीजिए। प्रार्थनापत्र के साथ यूनिवर्सिटी सर्टिफिकेट, सदाचारपत्र तथा मेडिकल सर्टिफिकेट का आना आवश्यक है। पता–सेठ सर मुरलीधर साहित्यालंकार, कपड़े के व्यापारी, चंद्रकला बिल्ला, क्वीन्स रोड, बम्बई।

अखबार रख देता है।

सर मुरधी. : एक बात रह गई।

मधु. : क्या?

सर मुरधी. : यह कि वर अच्छा खिलाड़ी हो, इसके अतिरिक्त हो सके तो नृत्यकला, शिल्पकला तथा चित्रकला में निपुण हो। साथ ही...

दरवाज़े पर खटखट।

सर मुरधी. : कौन होगा?

मधु. : शायद कोई इंटरव्यू के लिए आया होगा। मैं देखता हूँ।

उठकर दरवाज़े की ओर जाता है। सर मुरली मेज़पोश को ज़रा सँवारते हैं। दरवाज़े से पोस्टमैन अन्दर आता है।

पोस्टमैन : ये कुछ रजिस्टरी चिट्ठियाँ हैं सरकार!

सर मुरधी. : *(पोस्टमैन के प्रति उपेक्षा दिखलाकर)* ले लो मधुकर।

मधुकर चिट्ठियाँ लेकर हस्ताक्षर कर देता है। पोस्टमैन सलाम करके चला जाता है। मधुकर चिट्ठियाँ सर मुरलीधर के पास लाता है।

मधु. : मुझे तो सब एप्लिकेशन ही लगते हैं।

सर मुरधी. : *(उत्सुकतापूर्वक)* खोलकर पढ़ो तो। *(एक वजनी चिट्ठी निकाल कर मधुकर के हाथ में देता है।)*

मधु. : *(चिट्ठी खोलकर)* बड़ा मजेदार काग़ज़ है। *(थोड़ा खाँसकर पढ़ता है :)*

मान्यवर,

मैं आपकी सुकुमारी कन्या के लिए वर के रूप में अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करता हूँ। मैं अधिक शिक्षित नहीं, रंग जरा साँवला है और मुख पर कुछ चेचक के दाग हैं। पर शेष सब गुण मुझमें हैं। मेरी आयु पच्चीस साल है। परिवार का ब्योरा इस प्रकार है : अपना नाम–कैलाश, पिता का नाम–गौरीशंकर, माता का नाम–कंचनजंघा, बहन का नाम–नंदादेवी हम सब हिमालय के रहनेवाले हैं। शेष बातों की जानकारी भी विस्तार से लिख रहा हूँ...

मधुकर पढ़ते-पढ़ते अचानक रुक जाता है।

सर मुरधी. : क्यों, रुक क्यों गए?

मधु. : जी, पढ़ता हूँ। आगे बहुत लम्बी सूची है :

जूते का साइज़–सात

मोजे का साइज़–दस

बनियाइन का साइज़–छत्तीस *(छत्तीस की बनियाइन ज़रा ढीली आती है।)*

हैट का साइज़–साढ़े सात

चश्मे का नम्बर–माइनस नौ *(यह नम्बर सन् पैंतालीस का है। इसके बाद फिर फ्रेम नहीं बदला।)*

सर मुरधी. : *(चिढ़कर)* छोड़ो-छोड़ो इसकी सूची। यह पढ़ो।

दूसरी चिट्ठी निकालकर मधुकर के हाथ में देता है।

मधु. : *(पहली चिट्ठी रखकर दूसरी चिट्ठी खोलते हुए)* काग़ज़ इसका भी अच्छा है। *(पढ़ता है :)*

मान्यवर,

मैं एक सिविल मिलिटरी टेलर हूँ। मेरी दुकान ख़ूब चलती है। मेरी दुकान चलने का कारण है, सस्ती सिलाई। हम कमीज़ का डेढ़ रुपया, पतलून के तीन रुपए और कोट के पाँच रुपए लेते हैं। जनाना कपड़ा सीने का विशेष प्रबन्ध है। आशा है, आप अपनी सुपुत्री का विवाह मेरे साथ करके मुझे अनुगृहीत करेंगे।

आपका–

मास्टर देवदत्त चंदूलिया

गली खक्खड़ावाली

गोरखपुर।

विशेष : यदि विवाह के लिए और कोई पात्र चुन लें, तो भी सारे कपड़े-लत्ते मेरे यहाँ से ही सिलवाइएगा। चाहें तो मैं और भी रियायत कर सकता हूँ।

मधुकर पत्र रखकर कन्धे सिकोड़ता है।

सर मुरधी. : *(नया पत्र देकर)* यह पढ़ो, किसी समझदार का लिखा लगता है।

मधु. : *(खोलते हुए)* काग़ज़ बहुत हल्का है। *(पढ़ता है :)*

श्री गोवर्द्धनजी की गोशाला

महाशय,

आपका विज्ञापन पढ़कर हृदय में वे हिलोरें उठीं कि क्या कहूँ। गो माता की सौगन्ध, मुझे तुरन्त लिखिए कि मैं किस गाड़ी से आऊँ, तथा पाणि-ग्रहण का मुहूर्त क्या होगा? मुझे आशा है कि इस शुभ अवसर पर हमारी गोशाला को सौ रुपए से कम चन्दा नहीं देंगे।

विनीत

भगवान दास जुनेजा

सेक्रेटरी

श्री गोवर्द्धनजी की गोशाला

दरवाज़े पर खट-खट।

सर मुरली. : रखो इन सब चिट्ठियों को। देखो, कौन आया है!

मधुकर उठकर दरवाज़े के पास जाता है। कवि दिवाकर अन्दर आता है।

दिवा. : यह सेठ सर मुरलीधर साहित्यालंकार का प्रासाद है न?

मधु. : जी हाँ। कहिए, क्या काम है?

दिवा. : आज उनके विज्ञापन ने कवि के हृदय की वीणा को छेड़ दिया है। *(चारों ओर देखकर)* अहा, कितना सुन्दर स्थान है! इसी के सम्बन्ध में कवि की कल्पना ने लिखा था :

उदित ज्योतिमय किरण पुंज,
पुष्पित सुरभित लता कुंज,
मधुमय बसन्त,
गा रहा पथिक पथ पर अनन्त
कोकिल कल-कल,
सरिता छल-छल,

जल-थल जल-थल,
हल-चल हल-चल।

मधु. : सेठजी, यह महाशय शायद इंटरव्यू के लिए आए हैं।

सर मुरली. : आइए कविराज, बैठिए।

दिवाकर कुर्सी को धोती के पल्ले से पोंछकर उस पर बैठ जाता है।

सर मुरली. : मैं आपका परिचय जान सकता हूँ?

दिवा. : मेरा परिचय? मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षण-भर जीवन मेरा परिचय। नाम से मैं कवि दिवाकर हूँ। दुनिया कहती है, कवि दिवाकर पागल है। मैं कहता हूँ सारा संसार पागल है, प्रेम रस में पागल। *(थोड़ा पिघलते हुए)* सेठजी, आज आपका विज्ञापन देखते ही, कवि के कोमल हृदय में शृंगार रस जाग उठा। कवि ने कहा :

जब होतीं तुम दूर, हृदय में उठते हैं तूफान बवंडर,
सौ-सौ उर के भाव निकलने को हो-हो जाते हैं आतुर,
सम्मुख तुमको देख, सभी कुछ...

मिस रोज़ का प्रवेश

मिस रोज़ : सेठजी, बिट्टी ने ग्राइप वाटर तो पी लिया है, पर वह तुलसी के पत्ते नहीं खाती। ठाकुरजी का चरणामृत भी नहीं पीती।

सर मुरली. : चरणामृत नहीं पीती? यह अपशकुन है। ठहरो, मैं जाकर पिलाता हूँ। *(दिवाकर से)* क्षमा कीजिए, मैं अभी आया।

उठकर तत्परता से अन्दर चले जाते हैं।

दिवा. : *(मिस रोज़ की ओर देखकर)* तो आप हैं कवि की कल्पना का आधार, कवि के स्वप्नों का चित्र—बैठिए, बैठिए!

मधुकर मिस रोज़ को आँख से इशारा करता है। मिस रोज़ इशारा समझकर बैठ जाती है।

दिवा. : वही रूप, वही रंग, वही लालित्य, वही सौष्ठव...

मैंने देखा था एक बार,
मधु में निर्झरिणी के तट पर
तू खेल रही थी लहरों से;
उठती थी झीनी-सी फुहार,
जैसे हो जल का तरल हास,
जैसे सरिता की नवल प्यास,
जैसे ताराओं का विहार—

मधु. : इसका छंद?

मिस रोज़ : इसका अर्थ?

मधु. : इसका शीर्षक?

दिवा. : छंद? अर्थ? शीर्षक? ये सब पुरानी बातें हैं। आज की कविता इन चीज़ों के पीछे नहीं चलती। इसमें केवल रस की अनुभूति वर्तमान है।

अन्दर से सर मुरलीधर और करुणा का प्रवेश।

सर मुरली. : अन्दर जाओ मिस रोज़, और बिट्टी के कपड़े ठीक करो।

मिस रोज़ : जी!

उठकर मुस्कुराती हुई चली जाती है।

दिवा. : तो आपका मतलब है...

सर मुरली. : वह है बिट्टी की गवर्नेस मिस रोज़। यह है मेरी बिट्टी करुणा।

दिवाकर हाथ जोड़ता है। करुणा भी हाथ जोड़ देती है।

दिवा. : करुणा–कितना सुन्दर नाम है। मुझे अपना छन्द याद आ रहा है : 'करुणा, तुम करुणा-सी दीन'।

करुणा : पिताजी, अभी आप यहीं बैठेंगे क्या?

सर मुरली. : हाँ बिट्टी, कुछ देर तो बैठना ही पड़ेगा।

करुणा : तो मैं घूमने अकेली जाऊँ? मधुकर बाबू, आप मेरे साथ चलिए।

सर मुरली. : मधुकर! मधुकर को तो बेटी...देखो, अभी मधुकर...

करुणा : मैं कहती हूँ, घर में बैठने से मेरी सेहत ख़राब हो जाएगी। आपको काम है तो मधुकर बाबू को मेरे साथ जाना पड़ेगा। चलिए, मधुकर बाबू!

मधुकर आदेश के लिए सर मुरलीधर की ओर देखता है।

सर मुरली. : *(अनिश्चयपूर्वक)* अच्छा, हो आओ। मेरी प्रतीक्षा करना। रहना चौपाटी के ही आसपास।

करुणा मधुकर के साथ जाने लगती है।

सर मुरली. : मधुकर!

मधु. : *(मुड़कर)* जी?

सर मुरली. : अच्छा, जाओ।

करुणा और मधुकर चले जाते हैं।

दिवा. : वह तो चली गई। मेरी कविता बीच में ही रह गई।

सर मुरली. : अब आप अपनी कविता पूरी कर लीजिए।

दिवा. : भावना के बिना शब्द और शब्दों के बिना छन्द कैसे बन सकते हैं, सेठ साहब?

सर मुरली. : *(कुछ उकताकर)* तो मुझे भी इजाज़त दीजिए...

दिवा. : नहीं, नहीं, नहीं। मेरा यह मतलब नहीं था। कविता में अभी तीन, हीन, मीन, ...बीन–बज उठी मेरे उर की बीन–लीन, पीन, मीन...*(ज़ेब से चारमीनार का सिगरेट निकालकर)* ज़रा यह सिगरेट सुलगा लूँ। *(माचिस निकालकर सुलगाता है। इसी समय करुणा क्रोध के आवेश में वापस आती है।)*

सर मुरली. : सैर के लिए नहीं गई, बिट्टी? तबियत ख़राब है क्या?

करुणा : सैर के लिए कैसे जाऊँ? बाहर जाने का तो रास्ता ही नहीं है।

सर मुरली. : रास्ता नहीं है? क्यों, कोई जलूस आ रहा है क्या?

मधुकर का प्रवेश।

मधु. : जी हाँ, यह जलूस आ रहा है। देखिए।

मधुकर के पीछे-पीछे कई युवक प्रवेश करते हैं। कइयों के हाथों में फूलों के गुलदस्ते हैं। सर मुरलीधर पास आते हैं।

मधु. : यह महाशय हैं साइकोलॉजिस्ट मिस्टर दत्ता।

दत्ता : *(सर मुरलीधर से हाथ मिलाकर, तपाक से)* हाऊ डू यू डू? हाऊ डू यू डू? *(सर मुरलीधर अपने हाथ को सहलाते हैं।)*

मधु. : और यह हैं कि मिस्टर मार्त्तंड, थानेदार, थ्री, टू, टू, सिक्स।

सर मुरलीधर फिर हाथ जोड़ देते हैं।

मधु. : यह हैं श्री भुवनभास्कर पांडे, पत्र-संपादक।

सर मुरलीधर फिर हाथ जोड़ते हैं।

मधु. : पीछे सब कॉलेजों के विद्यार्थी हैं।

सर मुरलीधर मधुकर को एक ओर ले जाकर कान में बात करते हैं। तब तक जिनके हाथों में गुलदस्ते हैं, वे अपने-अपने गुलदस्ते लाकर करुणा के सामने मेज़ पर रखते हैं। दिवाकर गुलदस्ते में से फूल निकालकर सूँघता है। मधुकर सर मुरलीधर से बात करके एकत्रित समुदाय के पास आता है।

मधु. : *(सबसे)* आप लोग अपनी-अपनी एप्लिकेशन छोड़ जाइए। जिन्हें सेठजी बुलाना चाहेंगे, उन्हें कल तक सूचित कर दिया जाएगा।

सब लोग एप्लिकेशन निकालकर देते हैं। साइकोलॉजिस्ट दत्ता, कोट में, फिर कमीज़ में टटोलकर अन्त में पतलून

की ज़ेब से एप्लिकेशन निकालकर देता है। एक-एक करके सब चले जाते हैं, कवि दिवाकर पूर्ववत् अपने स्थान पर बैठा रहता है।

मधु. : *(दिवाकर से)* कविराज, आप भी सिधारिए।

दिवा. : मैं भी? जाऊँ, सेठजी? जाऊँ, करुणा देवी? अच्छा, मैं घर जाकर करुणा महाकाव्य की रचना करूँगा। मैं आपको अमर कर दूँगा और स्वयं भी अमर हो जाऊँगा।

चला जाता है।

सर मुरली. : *(करुणा से)* चलो बिट्टी, अब हम घूमने चलें।

करुणा : *(सक्रोध उठकर)* आप घूम आइए। मेरे सिर में दर्द हो रहा है।

अन्दर की ओर चलती है।

सर मुरली. : सिर में दर्द हो रहा है? मैं तो पहले ही कहता था कि तबियत ठीक नहीं। मिस रोज़ डॉक्टर साहब को टेलिफ़ोन करो...

बोलते-बोलते करुणा के पीछे-पीछे अन्दर चले जाते हैं। मधुकर सोफे पर लेट जाता है।

दूसरा दृश्य

पर्दा उठने पर एक शहरी रेस्तराँ दिखाई देता है, जिसमें दाईं ओर की दीवार के पास काउंटर है। बीच में तीन मेज़ स्टेज के अग्रभाग की ओर रखी हैं, जिनके पीछे पाँच कुर्सियाँ अर्द्धचंद्राकार में पड़ी हैं। होटल का वेटर एक बड़ी प्लेट को पोंछ रहा है।

सर मुरलीधर और मधुकर का प्रवेश।

सर मुरली. : अभी बजे हैं साढ़े सात। मुहूर्त है आठ बजे का।

बीच की कुर्सी पर बैठ जाता है। मधुकर पास बैठता है। वेटर आकर मेज़ साफ़ करके आर्डर की प्रतीक्षा करता है।

सर मुरली. : *(वेटर से)* पीने को क्या है?

वेटर : चाय, कॉफी, विम्टो, सोडा, लेमन, औरेंज, मिल्कशेक।

सर मुरली. : अभी दो औरेंज ले आओ।

वेटर : यस सर! *(चला जाता है।)*

सर मुरली. : *(मधुकर से)* कवि दिवाकर को भी बुलाया है न?

मधु. : जी, चौथा नाम उसी का है। थानेदार मार्त्तंड, साइकोलॉजिस्ट दत्ता, पत्र-सम्पादक भु. भा. पांडे...

सर मुरली. : भु. भा. पांडे?

मधु. : जी, यह भुवनभास्कर पांडे का संक्षिप्त रूप है।

सर मुरली. : अभी तक उन लोगों को आ जाना चाहिए था। *(पुकारकर)* वेटर!

वेटर : *(औरेंज के गिलास रखते हुए)* यस सर!

सर मुरली. : *(इधर-उधर देखकर)* यहाँ कोई ठाकुरजी का चित्र नहीं है?

वेटर : यह कौन-सा ड्रिंक है साहब? अपने यहाँ तो लैमन, विम्टो, सोडा...

सर मुरली. : अरे लैमन, विम्टो, सोडा नहीं, ठाकुरजी का चित्र। वह होता है। न, *(हाथ बनाकर)* ठाकुरजी का चित्र।

वेटर : कुछ मालूम नहीं साहब, आप कौन-सी डिश बोलते हैं। *(उसी तरह हाथ बनाकर)* इतना ऊँचा डिश तो किसी होटल में नहीं देखा। वैसे अपने यहाँ कबाब, पेस्ट्री, भजिया, दोशा, इडली, समोसा, पेटीज़...

सर मुरली. : अरे यह सब नहीं। जा, काम कर।

वेटर : यस सर! *(चला जाता है।)*

सर मुरली. : *(औरेंज पीते हुए)* अब स्वयंवर के समय ठाकुरजी का चित्र पास न हो तो स्वयंवर कैसे होगा? *(मधुकर से)* तुम एक काम करो।

मधु. : जी!

सर मुरली. : घर चले जाओ। बिट्टी करुणा से मैंने तो कहा था कि पुश्तैनी गहने शरीर पर पहनकर आठ बजने में पाँच मिनट रहते मिस रोज़ के साथ यहाँ पहुँच जाए। सम्पत्ति के सब कागज़ात भी लाने को कह दिया था। पर यह सब मैं अपने उत्तराधिकारी को आनन्द-कंद प्रभु के सामने ही सौंपना चाहता हूँ। तुम जल्दी से श्रीनाथजी का बड़ा चित्र घर से उठवा लाओ।

मधु. : जी! *(चलने लगता है।)*

सर मुरली. : और देखो...

मधु. : अच्छा, जाओ।

निकलते समय मधुकर की दिवाकर से मुठभेड़ हो जाती है। मधुकर उसे मुँह बिचकाकर चला जाता है।

दिवा. : धन्य हो सेठजी! आज देवी करुणा के स्वयंवर के शुभ प्रस्ताव से मुझे देवी दमयंती की याद आ रही है।

सर मुरलीधर उठकर उसे पास बैठाते हैं।

सर मुरली. : *(बैठते हुए)* क्यों कविराज, देवी दमयंती की याद क्यों आ रही है?

दिवा. : सेठजी, देवी दमयंती के स्वयंवर में देवता लोग राजा नल का रूप धारण करके आए थे। सोचता हूँ, देवी करुणा के स्वयंवर में कहीं देवता लोग कवि दिवाकर का रूप धारण करके न आ जाएँ।

सर मुरली. : अच्छा, पहले बताइए पीजिएगा क्या?

दिवा. : जी, कवि तो केवल भावना का रस ही पीता है—वैसे एक लेमनेड ले लेंगे।

सर मुरली. : वेटर!

वेटर : *(पास आकर)* यस सर!

सर मुरली. : एक लेमन।

वेटर : यस सर! *(चला जाता है।)*

सर मुरली. : आपका वह छन्द पूरा हुआ?

दिवा. : जी, वह छन्द तो देवी करुणा के सामने ही पूरा होगा। कहें तो पिछले सप्ताह की 'राष्ट्रभाषा स्तुति' सुनाऊँ?

वेटर लेमन का गिलास लाकर रखता है। दिवाकर स्ट्रा से गिलास के पानी को घोलकर स्ट्रा निकाल देता है। फिर गिलास ऊँचा उठाकर एक घूँट गले में उँडेलता है।

सर मुरली. : इस प्रकार क्यों पी रहे हैं, कविराज?

दिवा. : क्षमा कीजिए सेठजी! कवि काँच के पात्र का मुख से स्पर्श नहीं करता। कवि के होंठों पर सरस्वती रहती है और देवी सरस्वती का पात्र है...वह क्या नाम...आप तो जानते ही हैं।

थानेदार मार्त्तंड, पत्र-संपादक भुवनभास्कर पांडे तथा साइकोलॉजिस्ट दत्ता एक-दूसरे के पीछे प्रवेश करते हैं। 'जय हिन्द', 'नमस्कार', 'हाऊ डू यू डू' के अनन्तर सब बैठ जाते हैं। अब सर मुरलीधर बीच में हैं। उनकी दाईं ओर क्रमशः दत्ता और मार्त्तंड हैं तथा बाईं ओर क्रमशः पांडे और दिवाकर हैं।

सर मुरली. : वेटर!

वेटर : यस सर!

सर मुरली. : खाने को क्या-क्या है?

वेटर : जी, कबाब, पैटीज, चिवड़ा, इडली, समोसा, दोशा, लड्डू।

सर मुरली. : जो-जो हो, ले आओ। साथ पीने के लिए औरेंज।

दिवा. : मेरे लिए लेमनेड।

सर मुरली. : एक लेमन।

वेटर : यस सर!

चला जाता है, और प्लेटें तथा गिलास ला-लाकर मेज़ पर सजाने लगता है। सब धीरे-धीरे खाना आरम्भ करते हैं।

सर मुरली. : बिट्टी अभी आठ बजते-बजते यहाँ पहुँच जाएगी। तब तक आप लोग अपना-अपना विशद परिचय देने की कृपा करें।

सबसे पहले वह दिवाकर की ओर देखते हैं।

दिवा. : *(उठकर)* जी, मेरा नाम कवि दिवाकर है। सात साल की अवस्था में मैंने पहला छन्द कहा था। *(अपनी चादर के अन्दर से फटा पुराना रजिस्टर निकालकर)* यह मेरी रचनाओं का संग्रह है। इसमें दो काव्य, तीन खंडकाव्य, पैंतीस कविताएँ और सैकड़ों शीर्ष पंक्तियाँ लिखी हैं। लोक-समाचार में मेरे दो गद्यगीत छपे हैं। पिछले वर्ष मुझे लक्स टॉयलेट सोप की प्रशस्ति पर तीन रुपये पुरस्कार भी मिला था।

बोलते समय वह औरों को खाते देखकर बीच-बीच में अपने लिए चीज़ें उठाकर हाथ में लेता जाता है, और अब बैठकर जल्दी-जल्दी खाने लगता है। सर मुरलीधर पांडे को संकेत करते हैं।

पांडे : *(उठकर)* मैं लोक-समाचार का संपादक हूँ। *(दिवाकर की ओर संकेत करके)* इनके गद्यगीत मैंने ही काट-छाँटकर लोक-समाचार में छापे थे। पहले मैं इलाहाबाद में क्लीनर था। दिल्ली में रहकर तीन साल प्रूफरीडिंग की। अब दो साल से बम्बई में प्रधान संपादक के रूप में काम कर रहा हूँ।

बैठ जाता है। सर मुरलीधर दत्ता को संकेत से बोलने के लिए कहते हैं।

दत्ता : हमारे लिए हिन्दुस्तानी बोलना ज़रा डिफिकल्ट है। फिर भी हम ट्राई करेगा। हम शाइकोलोजिस्ट है। हम यह जानता है कि हर हिन्दुस्तानी को सेक्सपर्वर्शन की बीमारी है। हमने एक यूनिवर्सल सोशल सेक्सोलोजी का इन्साइक्लोपीडिया तैयार किया है। क़ीमत सिर्फ़ चार आने है। आप सबको एक-एक कॉपी लेना

चाहिए। *(दो पृष्ठ का इन्साइक्लोपीडिया ज़ेब से निकालकर)* इसमें सेक्स का सेंस और नोनसेंस सब लिखा है।

बैठ जाता है। संकेत पाकर मार्त्तंड बोलने के लिए उठता है।

मार्त्तंड : मैं अपने बारे में केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि मैंने आज तक तीन सौ सत्तर मोटरों का चालान किया है, कई कवियों, एडिटरों और प्रोफेसरों को जेल में भेजा है। दो-एक को फाँसी भी लगवाई है। इसी वजह से अब मेरा प्रमोशन होनेवाला है।

दूर घड़ी में आठ बजते सुनाई देते हैं। कवि दिवाकर एक से आठ तक गिनता है।

दिवा. : सेठजी, आठ तो बज गए। स्वयंवर का मुहूर्त निकला जा रहा है।

सर मुरली. : *(उद्विग्नतापूर्वक)* आठ बज गए। करुणा अभी तक क्यों नहीं आई? *(बेचैनी से उठकर)* मधुकर भी नहीं आया *(सबको लक्षित करके)* आप लोग कृपया बैठिए, मैं अभी आया।

शीघ्रता से जाता है। वेटर बिल लेकर आता है। वह कवि दिवाकर के पास तश्तरी लेकर खड़ा होता है।

दिवा. : *(अनदेखी करके शेष लोगों से)* आप लोग तो व्यर्थ ही यहाँ समय नष्ट कर रहे हैं। कवि को छोड़कर कामिनी और किसी का वरण नहीं कर सकती।

वेटर तब तक बिल लेकर पांडे के पास आ जाता है।

पांडे : *(अनदेखी करके)* कामिनी कविता को क्या चाटेगी? उसे चाहिए देश-देश में घूमा हुआ अनुभवी पुरुष।

वेटर बिल लेकर दत्ता के पीछे खड़ा होता है।

दत्ता : *(अनदेखी करके)* नो नो नो। आप लोगों ने अभी साइकोलोजी नहीं पढ़ी। वोमन मैन के अन्दर सेक्स-अपील देखती है। उस पॉइंट-आफ-व्यू से तो आप लोग...

मुस्कुराकर अपनी दाढ़ी सहलाता है। वेटर बिल मार्त्तंड के पास मेज़ पर रखने लगता है, पर वह ख़ाली स्थान पर अपनी कुहनी टिकाकर जगह घेर लेता है।

मार्त्तंड : *(अनदेखी करके)* आप भी गलत कहते हैं। औरत उसे मानती है जो उसे अपने काबू में रख सके। और आपको मानना पड़ेगा कि काबू में रखना थानेदारी ही सिखाती है।

वेटर निराश होकर बिल रख जाता है, और मेज़ों पर से प्लेटें उठाने लगता है।

दिवा. : अब सब लोग चुप रहिए। श्रीमती मिस रोज़ आ रही हैं।

मिस रोज़ का प्रवेश।

दिवा. : आइए श्रीमती मिस रोज़!

मैं छन्द बनाऊँ रोज़ रोज़!
मैं गीत सुनाऊँ रोज़ रोज़!

वह सुकुमारी कुमारी करुणा देवी कहाँ हैं?

मिस रोज़ : मेसर्स, आइ एम वैरी सॉरी। डार्लिंग करुणा ने मधुकर बाबू के साथ ब्याह कर लिया।

सब पर पानी पड़ जाता है।

मार्त्तंड : *(सँभलकर)* मधुकर के साथ ब्याह कर लिया? और सेठजी?

मिस रोज़ : सेठजी यह खबर सुनकर बेहोश हो गए हैं। मैं डॉक्टर को बुलाने जा रही हूँ। आप लोगों को अब तकलीफ़ करने की ज़रूरत नहीं।

चली जाती है। वेटर बिल लाकर दिवाकर के सामने रखता है।

दिवा. : *(ज़ेब से इलायचियाँ निकालकर तश्तरी में डालकर तश्तरी पांडे की ओर बढ़ाते हुए)* बड़ी विचित्र समस्या है। आपका क्या विचार है, संपादकजी?

पांडे : *(एक इलायची लेकर तश्तरी दत्ता की ओर बढ़ाते हुए)* हमारी तो कुछ समझ में ही नहीं आता। आपकी साइकोलॉजी क्या कहती है, प्रोफेसर साहब?

दत्ता : यह ऐसा प्रॉब्लम है कि साइकोलॉजी भी पजल्ड हो गई है।

तश्तरी मार्त्तंड की ओर बढ़ाता है।

मार्त्तंड : *(हटाकर)* जी, क्षमा कीजिए, मैं इलायची नहीं खाता।

दत्ता : *(पांडे से)* तो आप एक और लीजिए।

तश्तरी उसके आगे रख देता है।

पांडे : *(दिवाकर से)* अपनी इलायची आप ही खाइए।

तश्तरी उठाकर उसके आगे रख देता है। वेटर इधर-उधर सबके पीछे घूमकर परेशान हो रहा है। अब वह दिवाकर की ओर घूरकर देखता है। दिवाकर एक प्लेट से हाथ में चटनी लगा लेता है, और तश्तरी से बिल उठाकर उससे हाथ की चटनी पोंछकर उसे फेंक देता है। होटल का मालिक क्रोध में उठकर आता है।

मालिक : यह क्या मज़ाक है मिस्टर! बिल अदा करना है या हवालात में जाने की सलाह है?

मार्त्तंड : *(एकदम उठकर)* मैं देख रहा हूँ कि इन सबको हवालात में ही ले जाना पड़ेगा। *(मालिक से)* मैं हूँ थानेदार मार्त्तंड—थ्री टू टू सिक्स—कहिए, मैं आपकी क्या सहायता कर सकता हूँ?

मालिक : जी...जी...

मार्त्तंड : *(शेष तीनों से)* बोलिए, आप लोगों के पास पैसे हैं?

दिवा. : कवि का धन तो कविता ही है।

पांडे : हमारे पास अपनी पदवी है, और कुछ नहीं।

मार्त्तंड उन तीनों को आँख के संकेत से चलने के लिए कहता है।

मार्त्तंड : तो मेरे साथ सब हवालात चलिए।

सब हटते झिझकते बाहर की ओर चलते हैं।

मार्त्तंड : *(जाते-जाते दो पेस्ट्री और खाकर मालिक से)* शाम को आप भी थाने में हाजिरी दीजिएगा।

मालिक : जी, मैं?

मार्त्तंड : हाँ, हाँ। और साथ इस वेटर को भी लाइएगा।

सबके साथ बाहर निकल जाता है। मालिक माथे पर हाथ धरकर बैठता है। वेटर उसका सिर दबाता है।

[पर्दा गिरता है।]

रिहर्सल

पात्र

जयराम : कॉलेज थियेट्रिकल क्लब का सेक्रेटरी

जगदीश
केशव
दयाल } : कॉलेज द्वारा खेले जानेवाले नाटक 'अंजना' के अभिनेता

सरला : जयराम की पत्नी

मुन्नी : जयराम की नन्हीं

स्थान : जयराम का ड्राइंगरूम। समय : जून की दोपहर। न बहुत बड़ा, न बहुत छोटा कमरा। कमरे में बिछी हुई दरी, कुर्सियाँ, एक टेबल। दो-एक तस्वीरें। एक जापानी कैलेंडर। मेज़ पर एक टाइमपीस। एक टेबलफैन। एक दरवाज़ा सामने की दीवार में घर के अन्दर खुलने के लिए। दूसरा दरवाज़ा बाईं ओर, बाहर से आने के लिए।

पर्दा उठने पर दूर से मुँह की सीटी बजने की आवाज़, जयराम सीटी बजाता हुआ बाईं ओर से आता है।

जयराम : ओह! मार डाला इस गरमी ने। थियेट्रिकल क्लब का सेक्रेटरी बनना भी क्या आफत है।...*(टेबलफैन का प्लग लगाता है, पर पंखा नहीं चलता। निराश हो, कमीज़ पतलून से बाहर निकालकर उसी से हवा करने लगता है।)*...एक पिउन तक नहीं। लोगों को खबर देते-देते बारह बज गए।

पीछे का दरवाज़ा 'खट्' से खोलकर सरला अन्दर आती है।

सरला : आ गए जी! आज भी होटल में खा लिया होगा खाना?

जयराम : नहीं-नहीं, आज किसी दोस्त का जन्मदिन थोड़े ही था! बात यह थी कि...

सरला : अमुक की सगाई हुई थी। बहुत मना किया पर खिलाए बिना नहीं माने—यही या और कुछ?

जयराम : बाबा बिल्कुल भूखे पेट हूँ। तुम तो आज ख़ूब गरम हो। हुआ क्या है?

सरला : हुआ क्या, दस बजे से इन्तज़ार करते-करते बारह बज गए, और खाना ठंडा हो गया सो अलग।

जयराम : कोई बात नहीं। तुम भी मिजाज ज़रा ठंडा करो। अब यह पंखा चलता नहीं, नहीं तो तुम्हें थोड़ी हवा दे देता।

सरला : बस बात ही करते हो। जिसे इस गरमी में चूल्हे के आगे बैठना पड़ता है, वह तो तुम्हारे जाने पशु है।

जयराम : कैसी बातें करती हो? तुम पशु हुईं तो मैं क्या हुआ, बोलो?...देखो आज बिजली चली गई, पंखा चलता नहीं, और अभी यहाँ होनी है रिहर्सल।

सरला : क्या होनी है?

जयराम : रिहर्सल, रिहर्सल! तुम नहीं समझतीं। तुम्हारे मतलब की बात भी नहीं। खाना लगाकर आवाज़ दो, दो कौर निगल लूँ। बारह बजे सब लोग आ जाएँगे।

सरला : क्या होगा, कौन आ जाएँगे, कुछ पता भी चले।

जयराम : कहा न, तुम्हारे मतलब की बात नहीं। अभी देखो...*(सीढ़ियों पर खट्-खट् की आवाज़)* लो कोई आ भी गया। तुम अन्दर जाकर बैठो।

सरला : *(माथे पर बल डालकर)* और खाना?

जयराम : खाना अब धरा रहने दो। समय मिला तो देख लूँगा, जाओ।

सरला मुँह लटकाकर अनमनी-सी अन्दर चली जाती है।
जगदीश आता है—सफ़ेद धोती और कुर्ते में।

जयराम : हल्लो जगदीश *(हाथ मिलाते हुए)* समय के बहुत पाबन्द हो।

जगदीश : *(कुर्सी पर बैठते हुए)* मैं तो डर रहा था कि कहीं देर न हो गई।

जयराम : नहीं, अभी बारह बजने में पाँच मिनट हैं।

जगदीश : तुम्हारी बात बिल्कुल ठीक थी। कॉलेज में आज जलसे के कारण इतना शोर है कि वहाँ रिहर्सल हो ही नहीं सकती थी।

जयराम : इसीलिए तो मैंने यहाँ बुला लिया सबको।...अच्छा, पहले बताओ, तुम खाओ-पियोगे क्या?

जगदीश : बस शुक्रिया। अभी-अभी मुर्गी और मटन के कोफ्ते खाकर चला आ रहा हूँ। *(पसीना पोंछते हुए)* दयाल और केशव नहीं आए?

जयराम : अभी आ जाएँगे। तुम थोड़ी देर अखबार देखो, और मैं जरा *(सीढ़ियों पर फिर खट्-खट् की आवाज़)*...लो, शायद वे आ गए।

जगदीश : वही दोनों हैं। मैं उनके पैरों की आवाज़ ख़ूब पहचानता हूँ।

केशव और दयाल दोनों हाथ में हाथ डाले आते हैं। केशव सफ़ेद पैन्ट और कमीज़ पहने है। दयाल चुस्त पायजामा और शेरवानी पहने है। सब परस्पर हाथ मिलाते हैं।

जगदीश : *(अँगूठा और उँगली मिलाकर अदा के साथ)* 'कहीं अल्लाह ने यह जोड़ी'—

केशव : *(हँसते हुए)* मालूम नहीं था कि श्रीमान पहले से ही उपस्थित हैं।

जगदीश : जी, स्वागत करना तो सेवक का फर्ज है। रास्ते में आँखें बिछा रखी थीं।

सब बैठ जाते हैं।

केशव : रास्ते में मत बिछाया करो, ज़रा मैली हो गई तो धुलाई भी नहीं होने की।

दयाल : *(नजाकत से पैर सहलाकर)* यह सेक्रेटरी साहब का मकान कम्बख़्त इतनी दूर है कि आते-आते साइकिल ने भी पाँव छील दिए।

जगदीश : क्या कहने हैं! बीमा करा लीजिए न पैरों का।

जयराम : अरे दोस्त, आखिर नायिका का पार्ट अदा करना कोई मज़ाक नहीं। यह नजाकत रंग लाएगी।

जगदीश : हमारे लिए खाक लाएगी। मुबारक हो केशव को जिसे नायक बनना है।

केशव : क्षमा हो। इसी नायकत्व के कारण आज जूते खाते-खाते रह गया।

जगदीश : बड़ा अफसोस है। किस क्वालिटी के जूते थे?

केशव : यह तो परमात्मा जानता है। तीसरे सीन में मेरे जो वाक्य हैं, उन्हें सबेरे बाग़ में बैठा दोहरा रहा था। जब मेरे मुँह से निकला—

'काश, तुम जानतीं कि किसी के दिल पर क्या गुजर रही है'—तो पीछे से एक देवीजी अचानक चमक पड़ीं। बोलीं, 'बदमाश! ईडियट!'

सब हँसते हैं।

केशव : ख़ैर यह हुई कि कोई आसपास था नहीं और हम दुम दबाए चले आए, नहीं तो टूटा बाज़ू और लंगड़ी टाँग लिए घूमते।

जयराम : देखो भाई, देर हो रही है। अब हमें काम शुरू कर देना चाहिए।

दयाल : पर मैं तो सीधा खाना खाकर ही चला आ रहा हूँ। कुछ देर सुस्ता लूँ, तभी काम हो सकेगा।

जयराम : हमने खाना नहीं खाया क्या? पर काम तो करना ही है। क्यों केशव?

केशव : सेक्रेटरी साहब, यह पंखा-पंखा नहीं चलता? कितनी तारीफ़ करते थे कि हमारा कमरा हवादार है, यह है, वह है। पर यहाँ तो मारे गरमी के मरे जा रहे हैं।

जगदीश : बेशक हवादार है। जब हम आए थे, तो बराबर हवा आ रही थी। पर मालूम होता है कि पुराने ज़माने का होने की वजह से कुछ हवादार भी है। इतने आदमियों को एकसाथ देखकर बेचारा गुमसुम-सा हो गया है।

जयराम : साहब, बिजली समय पर धोखा दे दे, तो मैं क्या करूँ, और बेचारा पंखा क्या करे? अब धैर्य से काम लीजिए। यहाँ यूँ ही एक बजा जा रहा है।

केशव : मेरा विचार है, पहले दिमाग़ थोड़ा ठंडा हो जाए।

जगदीश : भले आदमी, दिमाग़ की गरमी उतरते-उतरते ही उतरेगी।

जयराम : देखो, बात यह है कि आज मुझे थोड़ा और भी काम है। जहाँ तक हो सके, हमें जल्दी ही ख़ाली हो जाना चाहिए।

केशव : तो मना कौन करता है? शुरू कीजिए।

दयाल अब तक कुर्सी की पीठ से टेक लगाकर ऊँघने लगा है।

केशव : *(दयाल को हिलाकर)* दयाल! *(जयराम से)* यह तो सचमुच नींद का शिकार हुआ जा रहा है। *(शरारत भरी आवाज़ में दयाल से)* —उठो मिस अंजना! मेरी रानी अंजना।

दयाल : *(स्त्रियों जैसी आवाज़ में)* नहीं, आप पिताजी से पूछिए। मैं उनकी आज्ञा के बिना कुछ नहीं कर सकती।

सब हँसते हैं।

दयाल : *(अचकचाकर जागने का अभिनय करते हुए)* क्यों, क्या हुआ जी?

जगदीश : कुछ नहीं बेटी! ज़रा जागकर अभिनय करो।

जयराम : एक से चार तक दृश्यों की रिहर्सल तो कई बार हो चुकी। आज पाँचवें दृश्य से शुरू करेंगे।

ड्राअर खोलकर साड़ी निकालता है।

: *(दयाल से)* तुम यही साड़ी बाँध लो। *(केशव से)* तुम अपने इन्हीं कपड़ों में अभिनय कर सकते हो।

दयाल उठाकर साड़ी बाँधने लगता है। साड़ी शेरवानी में उलझ जाती है। वह कठिनता से शेरवानी उतारकर साड़ी ठीक करता है।

जगदीश : नर-नारी का भेद क्या, कह गए भगत कबीर!

जयराम : बस-बस, क्यों बेचारे कबीर की आत्मा को कष्ट देते हो? काम होने दो। *(रुककर)* अब शुरू करो। तुम कुर्सी ज़रा निकट कर लो केशव!—बस, ठीक है। तैयार।

केशव : *(कुछ खाँसकर)* 'चलो, अंजना! इस दुनिया से दूर—'

दयाल : *(बाँहें और टाँगें फैलाकर अंगड़ाई और जम्हाई लेते हुए)* अभी नींद का खुमार भी दूर नहीं हुआ।

जयराम : क्या करते हो दयाल?

दयाल : मेरे बस की बात नहीं साहब! यह तुम्हारी जल्दबाजी का फल है। ज़रा ऊँघ लेने देते!

जयराम : अब समय मत गँवाओ। तुम बोलो केशव!

केशव : *(फिर कुछ खाँसकर)*—जहाँ हमारे शरीर और मन हवा की हिलोरों और जल लहरियों में खो जाया करें। हम भावनाओं में तेरे, चन्द्रकिरणों के साथ मुसकुराएँ और ओस के साथ सिहरा करें।

दयाल : मु-मु-झे-ए-ए—

जयराम : अरे भई, सिसकियाँ भी तो लो साथ।

दयाल : यह किताब में कहाँ लिखा है? ख़ैर *(सिसकते हुए)* 'मु-मु-झे-ए-ए-भू-अ-ल-जा-ओ-ओ...'

केशव : 'भूल कैसे जाऊँ अंजना? आकाश और पृथ्वी में कितना अन्तर है? पर क्षितिज के पास जाकर भी आकाश को पा लेता है। क्या इसी तरह क्षितिज के किसी कोण में हम दोनों नहीं मिल सकते?'

दयाल : 'किशो-ओ-ओ' *(स्त्री की तरह रोने का अभिनय करता है। आवाज़ कुछ मोटी निकल पड़ती है।)*

केशव : धत्तेरे की। तुम्हें किसी ने रोना भी नहीं सिखाया?

दयाल : तुम्हीं ज़रा रोकर दिखा दो न।

जयराम : भई अभिनय करो, क्या करते हो?

केशव : *(जैसे मजबूर होकर)* '—क्या तुम यह सह लोगी अंजना कि तुम्हारा पिता उस शराबी देवदास के साथ तुम्हारा ब्याह कर दे? रो-रोकर जान न दो अंजना! *(दयाल की ठुड्डी को हाथ से ऊपर उठाते हुए)* तुम्हारे इन गोरे मुलायम गालों पर ये आँसू— *(एकदम चीख़कर हाथ खींचते हुए)* उफ्-अ!!'

जयराम : क्यों, क्या हुआ?

केशव : हाथों में काँटे गड़ गए, और क्या? कम्बख़्त चला है नायिका बनने। सात दिन से शायद शेव ही नहीं की।

दयाल : वाह! कल ही तो शेव की है।

केशव : खाक की है। ज़रा और हाथ रगड़ जाता तो लहू निकल आता। परमात्मा बचाए इस प्रेम से।

जयराम : क्या कर रहे हो केशव? काम जल्दी पूरा होना चाहिए। मैंने तो खाना—*(ज़बान काटकर)* ज़रा ज़्यादा ही खा लिया। *(हाथ से पेट को दबाता है।)*

केशव : अब तो मिस अंजना बोलेंगी।

दयाल : *(सिसकते हुए)* 'भूल जा-आ-आ-ओ कि-इ-शोर!'

केशव : 'अंजना, यदि हृदय चीरकर दिखाया जा सकता तो तुम देखतीं—' *(जयराम को फिर पेट दबाते देखकर)* सेक्रेटरी साहब! पेट में दर्द हो रहा है?

जयराम : कुछ भी तो नहीं। तुम काम मत बिगाड़ो।

केशव : '—तो तुम देखतीं कि तुम्हारे लिए—' *(जयराम से)* सेक्रेटरी साहब, थोड़ा-सा चूरन खा लो।

जयराम : केशव, मैं कहता हूँ दो बजे से पहले हमें ख़ाली हो जाना चाहिए।

जगदीश अब तक ऊँघकर खर्राटे लेने लगा है।

केशव : 'अंजना, अपना और मेरा जीवन मत बिगाड़ो। स्वयं आँखें खोलकर देखो—' *(जगदीश को ऊँघते देखकर)* लो तुम्हारे पिताजी को नींद आ गई। बाक़ी नाटक कल।

जयराम : छोड़ो केशव, तुम आज मूड में नहीं हो। हम अगले दृश्य की रिहर्सल करते हैं।

केशव : पर पहले जगदीश को तो जगा लो। वह तो दृश्य ही अंजना के पिता का है।

जयराम : जगदीश! *(कन्धा पकड़कर हिलाते हुए)* जगदीश!

जगदीश : *(हड़बड़ाकर)* अरे भूचाल आ गया क्या? इतना चीख़ क्यों रहे हो?

जयराम : महाशय, रिहर्सल करने आए हो या नींद लेने?

जगदीश : क्यों, रिहर्सल करनेवालों को नींद लेने की मनाही है क्या? यहाँ सपने में ब्याह होने जा रहा था, एक आवाज़ ने सारा खेल बिगाड़ दिया।

केशव : अरे, अपना ब्याह फिर करा लेना। पहले अपनी बेटी का ब्याह तो रोको।

केशव : *(कृत्रिम ठंडी साँस लेकर)* अच्छा भई, लाओ कहाँ है मूँछ-दाढ़ी?

जयराम उठकर ड्राअर से मूँछ-दाढ़ी इत्यादि निकालता है।

जयराम : यह लो! काम जल्दी-जल्दी होना चाहिए।

जगदीश : मिनटों में?

जयराम : हाँ, मिनटों में।

जगदीश दाढ़ी बाँधते हुए हँसता है। फिर किसी तरह हँसी दबाता है।

जगदीश : *(दयाल को लक्षित कर)* 'तुमने अपना विचार बदल लिया न बेटी?'

जगदीश : सबके सब एक ही रोग के शिकार हैं। अरे बाबा, तुम्हें तो बाहर से प्रवेश करना है।

जगदीश : फिर काम मिनटों में कैसे होगा? अब बोलने दो अंजना को।

दयाल : *(मुस्कुराहट दबाकर)* 'मुझे क्षमा कीजिए पिताजी! मैं–'

जगदीश : 'अब भी तेरा वही हठ है री? मेरी सफ़ेद दाढ़ी का तुझे कुछ भी विचार नहीं?'

हाथ से दाढ़ी को छूता है। वह सरक जाती है।

दयाल : इसे ठीक तरह से बाँधो, नहीं तो गिर पड़ेगी।

जगदीश : यहाँ कौन देखनेवाला है? 'हाँ, देखो बेटी, मैं देवदास को वचन', इत्यादि, इत्यादि।

जयराम : *(हताश होकर)* अब यह क्या है?

जगदीश : याद तो मुझे सारा है, पर मिनटों में समाप्त करना है न। चलो बोलो अंजना!

दयाल : *(फिर मुस्कुराहट दबाते हुए)* 'पिताजी, मैं देवदास को कभी नहीं' इत्यादि, इत्यादि।

जगदीश : *(ऊँची आवाज़ में)* 'मैं कहता हूँ, तुझे यह पता होना'–इत्यादि, इत्यादि।

दयाल : 'क्षमा कीजिए, मैं आपसे' इत्यादि, इत्यादि।

जगदीश : *(और भी गरजकर)* 'चुप रह पिता की आज्ञा...'

केशव : इत्यादि, इत्यादि–और समाप्त।

जगदीश : *(पसीना पोंछते हुए साधारण स्वर में जयराम से)* लो, क्या मैं और क्या मेरी सूझ! मिनटों में समाप्त करके रख दिया। ज़रा दाद तो दो।

केशव : *(हँसते हुए)* क्या बात है! मंच पर जहाँ भी कहीं कुछ भूला, वहीं मैं यह रामबाण 'इत्यादि-इत्यादि' जोड़ दूँगा। क्या सूझ है! अब सेक्रेटरी साहब, देवदास बनो।

जयराम : काम को मैं काम की तरह करना पसन्द करता हूँ। *(उठकर)* तुम बाहर जाओ दयाल!

दयाल बाहर चला जाता है।

: बस, ठीक है। अब मैं अभिनय करता हूँ! *(कुर्सी से उठकर इधर-उधर देखते हुए)* 'अरे कहाँ गई वह बन की चिड़िया? कित ढूँढूँ? कित जाऊँ? लो लो लो लो, वह तो इधर ही आ रही है! अटकती, मटकती, लटकती!'

जयराम : *(सामने आकर)* 'अंजना'।

पीछे का दरवाज़ा खुलता है। मुन्नी अन्दर से झाँकती है।

मुन्नी : बाबूजी!

जयराम आगे बढ़ता है। दयाल पीछे हटता है।

जयराम : 'आओ, अंजना! तुम नहीं जानतीं कि मैं तुम्हारी कब से प्रतीक्षा कर रहा हूँ–'

मुन्नी निकलकर बाहर आ जाती है और ताली बजाकर नाचने लगती है।

मुन्नी : बाबूजी! बीबीजी!!

जयराम मुन्नी को घूरता है।

जयराम : *(क्रोधवेश में मुन्नी से)* तू क्यों आ मरी? चल अन्दर!

अन्दर का दरवाज़ा खट से खुलता है। सरला घूँघट निकाले अन्दर से निकली है।

सरला : *(चमककर)* भेज दो अन्दर! जहाँ माँ मरेगी, वहाँ वह भी मर जाएगी।

जयराम : *(सटपटाकर)* हुआ क्या है?

सरला : *(रुँधे गले से)* रहा ही क्या है? घर में यही कुछ करना था, तो ब्याह करने की क्या ज़रूरत थी? खाना-पीना भूलकर यहाँ राँडसैल करते हो?

जगदीश और केशव परस्पर आँख से इशारा करते हैं। मुन्नी सिसकती हुई माँ के पास चली जाती है।

जगदीश : *(धीरे-से)* भूखे पेट राँडसैल!

सरला : *(मुन्नी को पीटती हुई रुआँसे स्वर में)* क्यों मरी तू यहाँ? किससे पूछकर आई?

जयराम : *(घबराकर)* कुछ समझती भी हो? अब यह तुम्हें क्या बताऊँ, क्या है?

सरला : बहाने की क्या ज़रूरत है? मैं आज ही चली जाऊँगी माँ के घर...

केशव : *(जयराम से)* देखो, मैं समझाता हूँ *(सरला से)* सुनो भाभी, ये जो देवीजी हैं न, ये मेरी—नहीं—जगदीश की—नहीं सेक्रेटरी साहब की।

जयराम : क्या बकते हो?

केशव : तो लीजिए, मैं चुप हो जाता हूँ।

सरला मुन्नी को खींचकर अन्दर ले चलती है। दयाल जल्दी से अपनी साड़ी उतारता है।

दयाल : भाभी, भाभी, इधर तो देखो।

सरला बिना देखे अन्दर चली जाती है। दयाल साड़ी और शेरवानी उठाकर जयराम को खींचता हुआ अन्दर चलता है।

दयाल : *(जाते-जाते)* ओ भाभी, ज़रा देखो तो सही!

दोनों अन्दर चले जाते हैं। जगदीश और केशव हँसते हैं।

[पर्दा गिरता है।]

एक घटना (कहानियाँ)

नन्ही*

माँ—वह उठ बैठी, माँ-माँ, बिस्तर से गिर चली वह। जब ले लिया बुआ ने गोद पता नहीं था उसको कि माँ ने आधी रात के समय उसी के लिए बाँहें बढ़ा दी थीं, उसका नाम लेना चाहा था, उसी को चूमना चाहा था, जब कंठ और कान दोनों ने साथ न दिया—माँ उनसे अलग हो गई। माँ उससे भी अलग हो गई, अपनी नन्ही से।

नन्ही बेखबर बिस्तर पर सोई, एक बार काँप उठी थी, बेखबर। फिर सो गई थी वह—यह सब हुआ घनी रात में, जहाँ हर रोज़ नन्ही सोया करती थी। माँ के वक्ष के साथ, पर जहाँ वह आज भी, कल भी, परसों भी, सोई थी अकेली, शायद ऐसा ही अभ्यास डालने के लिए। बुआ उसे सुला देती—जगा देतीं रवि की किरणें। वह उठकर कहती—माँ-माँ। पर माँ चली गई थी। चली गई थी मधु-समीरण छोड़कर, नवकलिका को लू के भरोसे...

दिन लगे नन्ही को यह जानते, समझते, मस्तिष्क में बिठाते कि माँ चली गई जहाँ कहीं भी, जिस किसी भी काम के लिए और जब कभी भी लौटने के लिए। नन्ही को लगता सारा घर मिट्टी का, रोटी आटे की, पानी पानी-सा, फीका-फीका। सब कुछ ऐसा पहले नहीं था। पहले इन सबमें माँ थी। दुलार-प्यार भी मिलता, ऐसा जैसा माँ का नहीं होता। ऐसा-वैसा लगता...लगता ही बस! यह भी न जान पाती, क्या लगता है, क्यों लगता है, कैसे लगता है। खिलौने लेती सामने, फिर पाती धुँधली-सी माँ—समझ न सकती क्या है, क्यों है, कैसे है।

औरों के लिए माँ मर गई थी—धीरे-धीरे नन्ही के लिए भी मर गई वह! जैसे वह कभी थी ही नहीं, यदि थी तो कुछ करती ही नहीं थी जैसे। सब कुछ ऐसा ही था जैसा अब था। बुआ थी, बाबू थे, नौकर थे। माँ यदि कभी थी तो बस रोटी

---

* यह राकेश जी की शायद प्रथम कहानी है। उन्हीं की हस्तलिपि में प्राप्त स्कूल की परीक्षाओं की लम्बी कापी के काग़ज़ों पर लिखी हुई। यह 7 मई, सन् '44 में लाहौर में लिखी गई। इसकी पांडुलिपि पर तरह-तरह से 'राकेश' लिखकर देखा गया है। सम्भवतः यह प्रक्रिया उपनाम चुनने की रही है जो बाद में उनका नाम ही हो गया।

खिलाती थी—और बस नन्ही खेलने लगती खिलौने से। कोई घर में कुछ कहता तो वह अन्दर भागकर चलती कुछ कहने। बुआ को देखती, ठिठकती क्षण-भर, सोचती—हाँ, बुआ के पास ही तो आई थी वह। वह दौड़कर पहुँच जाती बुआ की गोद में। बुआ उसे चूम लेती। नन्ही को लगता था यही—अच्छा-सा भला-सा। वह क्या था धुँधला-सा, मद्धम-सा कुछ भी नहीं।

और माँ सचमुच मर गई। नन्ही की नन्ही-सी स्मृति में रह गए खिलौने, वही उसका स्वत्व—प्यार-दुलार का आश्रय, बुआ। खेलती वह, खाती वह, गाती भी कभी—हँसती ख़ूब। टूट जाता कोई खिलौना अपने ही हाथ से गिरकर तो रो भी देती। बुआ मना लेती—पुचकारकर। नए के चाव में पुराने को खो देती वह। मिल भी जाता उसे नया। पुराने से सुन्दर लगता। दिन, दो दिन बीतते पुराना खिलौना याद भी न रहता। जैसा था ही नहीं कभी। बनते और बिगड़ते खेल—जैसे होता ही ऐसा हो। और सबमें उलझी रहती वह। एक-सी गति से बीतता समय।

एक दिन लगा, कुछ असाधारण-सा नन्ही को। बुआ ने उसे बुलाया, चूमा आँखों में आँसू भरकर और फिर जाने दिया। फिर एक बार उसे उठा लिया और थोड़ा-सा हँस दिया आँखों में आँसू लेकर। जैसे हँसना ही हो आँसू, आँसू हँसना। समझ न सकी वह खुद भी। बुआ के गले में बाँहें डाल-भर दीं।

रात को थपथपाकर सुलाते हुए उसे बुआ ने बताया। निंदियाई हुई-सी नन्ही ने सुना—उसके बाबू उसे ला देंगे नई माँ। चौंक-सी पड़ी एक बार...सोचा माँ, फिर एक अस्पष्ट-सी रेखा, उसने सोचना चाहा, कुछ समझ में आया नहीं। एक छाया-सी, वात्सल्य लिये। नन्ही नहीं समझी। अपनी बुआ से चिपट गई थी वह। फिर सोचा—सोचा माँ! एक अव्यक्त-सा अभाव घेरने लगा उसे। बुआ के और निकट हो गई वह। वह सोचना भी न चाहती, पर सोचा तो जाता ही है। अपनी ही तसल्ली के लिए उसने सोचा, जैसे कुछ याद हो आया। चमक-सी गई। नए माल जैछी नई माँ बू? बुआ ने प्रश्न का उत्तर न देकर उसे फिर थपथपा दिया। नन्ही समझी यही सब कुछ। जैसे उसने जान ही लिया हो, नई माँ क्या? नई माँ कैसी?

दूसरे दिन उठी भी वह बुआ के साथ ही। नन्ही भी नहा-धो ली। अपने सारे खिलौने कतार में रखते हुए उसे ख़याल आया, 'नई माँ'। फिर कुछ सोचने-सी लगी। कुछ बिखरे-से विचार बने तो बिखरे ही रहे। फिर अस्पष्ट स्पष्ट-सी मूर्ति, उसे गोद में लिये उसे खिलाती, हँसाती, चूमती, जगाती, सुलाती, कपड़े पहनाती, प्यार देती। उसे धुँधली-सी माँ याद हो आई। माँ की आकृति नहीं, माँ-भर। अपने खिलौने को अस्त-व्यस्त रखते हुए उसने न जाने क्या-क्या देखा। जब रोटी के लिए बुआ ने बुलाया तो नन्ही को लगा जैसे माँ ने...अन्दर झाँकी, बुआ को देखा। याद आया कोई चीज़ जो वहाँ होनी चाहिए, है नहीं वहाँ। क्या नहीं है? समझ में नहीं आया। रोटी

खाई जैसे खा ही ली। माँ उसे याद आ रही थी। वह सोचती बुआ ही माँ थी या—या वह तसवीर-सी। पर उसने अन्दर देखा, बुआ में माँ।

जब बुआ ने नन्ही के बाल सहेज दिए तो उसे सचमुच की माँ याद आ गई, वैसी ही जैसी वह थी। अनायास ही पूछा उसने—वो माँ आएगी बू?

बुआ हैरान-सी उसे देखने लगी और देखती रही, क्षण-भर—कौन माँ?

उसने पूछा। नन्ही क्या बताती—वो लोतीवाली माँ बू। उसने कुछ सोचकर कहा।

बुआ ने उसे चूम लिया—क्या सोचती है बच्ची! नई माँ आएगी तेरी। बुआ ने कहा जैसे अपने ही दिल पर धक्का-सा लगा हो। नन्ही चुप रह गई। सोचा उसने नए मोर पुराने मोर जैसा होता है। रंग उसका चमकता—इतना ही अन्तर। मोर सब एक ही तो हैं। माँ—माँ सब एक ही तो। एक को ही तो कहते हैं माँ! उसने सोचा जो माँ है माँ तो होगी। वही वैसी—नए कपड़े पहने हुए। शायद खुशी-सी झलकने लगी चेहरे पर—जैसे अब पुराना सपना फिर दिखाई देता। सुन्दर-सा, अद्‌भुत-सा।

नन्ही के दिन कटते जैसे कटते ही न। रोज़ सोचती, रोज़ पूछती—आ जाए माँ—माँ जैसी माँ।

और एक दिन ख़ूब चहल-पहल, खुशियाँ, बाजे—और उनके साथ आ ही गई नई माँ। नए ढंग के कपड़े पहने देखा नन्ही ने अपने बाबू को। सोचा बाबू भी नए हो गए शायद—और ऐसी ही तो नई माँ—माँ, नई कपड़ों में। वह उतावली हो उठी—माँ के पात दाऊँगी।

घर में आ गई थी नई माँ। अपने विचारों और सपनों में खोई-सी युवती। देखा था जिसने बचपन, यौवन से तो परिचय ही उसका नया था। कुछ दिन पहले वह खेला करती थी। पर आज? वह सोचती ही जा रही थी। भय, आशंका, दुख, शोक, हर्ष, उल्लास क्या था हृदय में? सब ही, एक भी नहीं। भावना व्यक्त भी अपने आपको छुपाए रहती है कभी-कभी। भावना के क्षण कितने पृथक्-पृथक् होते हुए भी मँजे-सधे-से रहते हैं। हम उनका विभाजन नहीं कर पाते।

और वह सोचती जाती। जानना चाहती, क्या परिवर्तन आ गया उसमें। बाहर से देखा—वस्त्र, आभूषण, जैसे वह वह नहीं थी। कोई खिलौना थी, जिसे ख़ूब सजा-भर दिया गया था खरीदार के हवाले करने को। अन्दर भी देखा उसने। वहाँ क्या? ऐसा ही लगता था जैसे पहले, पर ऐसा तो नहीं लगता था। चाह, उमंग—यह पहले इतने कहाँ थे। फिर भी, दिल अभी चाहता था, उसकी माँ उसे बुलाए—वह झुँझलाकर उत्तर दे—पढ़ रही हूँ मैं, अभी नहीं खाना खाना मुझे। और यहाँ...

—माँ, उसने शायद सुना भी नहीं। नहा-धोकर कपड़े पहनकर हाथ में नया मोर लिये नन्ही आ गई थी नई माँ के पास। माँ—और वह अपने सपने से चौंक उठी, जाग पड़ी जैसे। देखा वह घर भी नहीं, माँ भी नहीं—एक नन्ही-सी बच्ची उसी को कहती

माँ। कल तक 'बेटी' सुनने का अभ्यास था उसे। इतना परिचित था यह शब्द इतना कि उसे यह इतना बदला हुआ सम्बोधन अच्छा नहीं लगा। कितना अन्तर था, कल तक बेटी और आज माँ। धीरे से नन्ही को पीछे हटा दिया उसने।

नन्ही कुछ सहमी, कुछ झिझकी पर माँ से डरना क्या? वह फिर उसके हाथ को पकड़ते हुए बोली—माँ तुम तो—नई माँ ने उसकी तरफ़ देखा नहीं तो लगा यह माँ नहीं है। यह माँ-सी तो लगती ही न थी। वह चुप रह गई—माँ ऐसी तो नहीं होती।

युवती का दिल घबरा-सा गया—दिल कुछ भर-भर-सा आ रहा था। अपना हाथ खींच लिया उसने झटककर।

नन्ही कोशिश कर रही थी यह समझने की कि यही माँ है तभी उसका हाथ झटक दिया गया। वह रुआँसी-सी दो कदम पीछे और न जाने कैसे गिर गई। क्या मोर हाथ से गिरकर टूट गया? सुबक-सुबक रोने लगी नन्ही।

भोजन-गृह से दौड़ पड़ी बुआ। नन्ही को उठा लिया। पूछा—क्या हुआ? युवती ने तिरछी नज़र से देखा। नन्ही ने बुआ से चिपटकर ज़ोर से रोते हुए इतना-भर कहा—माँ, और और भी ज़ोर से रोने लगी।

बुआ उसे ले आई। नरम-से बिस्तर पर उसे लिटाते हुए उसकी आँखों में आँसू छलछला आए। सिर पर हाथ फेरते हुए कहा बुआ ने—रो मत, तुझे नया मोर ला देंगे, पर नन्ही ने सुना ही नहीं। वह सुबकती रही। बुआ रोटी बनाने चली गई। घर में नई दुलहिन आई थी। किसी तरह की कमी न रहनी चाहिए थी। दो-एक घंटे में जब ख़ाली हुई तो नन्ही को खाने के लिए बुलाने चली। बुआ पास गई। नन्ही सो रही थी। माथे पर हाथ रखा, काँप गई बुआ। आग की तरह जल रहा था माथा। नन्ही को ज्वर हो आया था।

नई दुलहिन के लिए खाना जा रहा था। बुआ ने अपने हाथ से सजाकर रखा था। मेहरी ने बुआ को बुलाया। बुआ चुपचाप वहीं बैठी रही। दुलहिन का खाना भेज दिया गया। बुआ उठी। बाहर निकली। मेहरी ने आवाज़ दी—बहू ऐसे क्या खाएगी? तुम ही न जाकर खिलाओ बीबी!

बुआ ने जैसे सुना ही नहीं। नौकर को आवाज़ दी उसने—रन्नू!

—रन्नू, जा वैद्यजी को बुला ला...नन्ही को बुख़ार हो आया है।

—बहू पहले ही दिन भूखी रहेगी बीबी?—मेहरी ने कहा।

बुआ ने कुछ नहीं सोचा—तुम्हीं जाकर खिला दो न। मुझे कौर तोड़कर तो नहीं डालने मुँह में उसके।—मुँह झुंझलाकर कहा बुआ ने और जा बैठी नन्ही के पास। नन्ही का बदन आग की तरह जल रहा था।

मेहरी के हज़ार कहने पर भी दुलहिन ने खाना नहीं खाया। वह सोचती थी कल तक की बात—जब तक वह खाने-पीने में स्वतन्त्र थी। माँ कुछ भी खिलातीं, कितना

अच्छा लगता था वह। आज कितनी ही चीज़ें थीं। आग्रह कर रही थी एक मेहरी—कितनी नीरसता। खाना खाने के ही लिए नहीं खाया जाता। जब मेहरी उठकर बाहर गई तो दुलहिन ने रूमाल से आँखें पोंछ लीं। धीरे से अपना सिर उसने टिका दिया और न जाने कितने-कितने विचार।

वैद्यजी आए—नन्ही का बुख़ार कम नहीं हुआ। डाक्टर बुलाए गए। डाक्टर ने एक हलका-सा इंजेक्शन दिया। एक बार नन्ही ने आँखें खोलीं। बुआ ने उमड़ते प्यार से बाल सहेजते हुए धीरे से कहा—क्यों मेरी मुन्नी, तेरे लिए देख कितने नए खिलौने मँगवाए हैं।—बुआ को एक बार देख-भर लिया नन्ही ने। आई थोड़ी-सी स्मिति रेखा पर—फिर घबरा उठी। फिर क्षीण-सी आवाज़ में वह चिल्लाई—नए नईं। नन्ही फिर बेहोश हो गई।

दो-तीन घंटे में उसने फिर आँख खोली। डाक्टर इंजेक्शन तैयार कर रहे थे। नन्ही ने बुआ को ताका, कहा—माँ।—बुआ की आँखों में आँसू छलछला आए।

डाक्टर ने धीरे से बुआ से कहा—यह बिस्तर बदल दीजिए, नए कपड़े मँगवाकर बिछा दीजिए।

दो-एक क्षण की निस्तब्धता के बाद नन्ही फिर चिल्ला उठी—नए नईं। और एक बार फिर उसने आँख मूँद ली।

मेहरी दौड़ती हुई आई, हाँफती-सी। बुआ से कहा उसने—जल्दी चलो बीबी, जल्दी। बहू को बुख़ार हो आया है। शरीर तप रहा है।

डाक्टर ने नन्ही की बाँह थाम ली तो नब्ज़ नहीं मिल रही थी।

भिक्षु*

विदिशा से विहार पाँच कोस पर था। इसकी भी एक कहानी है। जहाँ पर विहार था, विदिशा के आस-पास सबसे रमणीय स्थान यही था। पर दस वर्ष पहले लोग उधर जाने से डरते थे। श्रुति-परम्परा ऐसी थी कि जो अभागे कभी उधर गए, लौटकर नहीं आए। बड़े-बड़े साहसी उस ओर कदम बढ़ाते कतरा जाते थे। दस ही वर्ष पहले बौद्ध भिक्षुणी विपाला अन्यान्य भिक्षु-भिक्षुणियों के साथ विदिशा में आई थीं। उन्होंने इसी स्थान पर विहार-निर्माण करने का निश्चय किया। भिक्षुओं और भिक्षुणियों की विपाला माँ पर असीम श्रद्धा थी। जिस दिन वे सब उधर गए, लोगों को उनमें से एक के भी जीवित वापस आने में सन्देह था। पर दूसरे ही दिन अमित और अजित दो भिक्षु नगर में भिक्षा के लिए आए हुए थे। देखनेवालों ने समझा कि विपाला माँ कोई देवी हैं—योगिनी। कहनेवालों ने तो यहाँ तक कह डाला कि सभी सिद्धियाँ उनके वश में हैं।

विपाला माँ विहार की अधिष्ठात्री थीं। उस वर्ष वे विहार के अन्दर ही रहीं। अब वे बूढ़ी हो चली थीं। इन दस वर्षों में विदिशा का विहार विशेष ख्याति प्राप्त कर चुका था। विपाला माँ के प्रति श्रद्धा लिये हुए पाटलिपुत्र तथा अन्यान्य विहारों से भिक्षु-भिक्षुणियाँ वहाँ आते। कई बार बड़े-बड़े धर्माचार्यों के दर्शन करके विपाला माँ का हृदय गद्‌गद् हो उठता।

उपासना-मन्दिर में प्रवेश करते हुए मृत्युंजय ने देखी—एक देवी-प्रतिमा बिखरे-से पत्रों को समेटती हुई। भिक्षु की आँखें अपने-आप झुक गईं। वह शारदा विहार से आ रहा था। विहार में पहुँच, स्नान आदि से निवृत्त हो वह विपाला माँ के दर्शनों को चला। पूछने पर भिक्षुओं ने उपासना-मन्दिर की ओर संकेत कर दिया। पर वह उपासना-मन्दिर की देहली पर ही रुक गया। पत्रों को बटोरकर भिक्षुणी ने प्रश्न-भरी आँखों से उसकी ओर देखा। सरल निष्कपट दृष्टि ने भिक्षु के संकोच को बहुत कुछ

* राकेश जी की यह कहानी 'सरस्वती' के भाग 46 में प्रकाशित हुई थी। राकेश जी की डायरियों के अनुसार यह उनकी पहली प्रकाशित कहानी है।

दूर कर दिया। मृत्युंजय ने जलद गम्भीर कंठ से प्रश्न किया–विपाला माँ के दर्शन कहाँ होंगे, देवि?–सिर से पाँव तक मृत्युंजय को देखकर भिक्षणी ने पूछा–किस विहार से, भिक्षु?

–शारदा–कहकर उसने फिर चारों ओर देखा और कहा–उपासन-मन्दिर यही है, देवि?

–हाँ, माँ अभी आ जाएँगी बैठो।–अब भिक्षुणी ने एक आसन डाल दिया और धीरे-धीरे पीछे के पर्ण-द्वार से चली गई।

मृत्युंजय आसन के पास आकर खड़ा हो गया। एक उड़ती हुई दृष्टि उसने 'धम्मपद' के पात्रों पर डाली जिन्हें भिक्षुणी ने समेट दिया था।

–बैठ जाओ, भिक्षु–उसके कानों ने सुना। आँखें उठाकर विपाला माँ की सौम्य-गम्भीर मूर्ति को मृत्युंजय ने देखा। हृदय उमड़ पड़ा। दोनों हाथ जोड़कर उसने नमस्कार किया। विपाला माँ आकर चौकी पर बैठ गईं। संकेत पर मृत्युंजय ने भी आसन ग्रहण किया।

–शारदा विहार से?

भिक्षु ने सिर हिला दिया।

–यहाँ रहोगे?

–यदि माँ की अनुज्ञा हो–और उसका सिर झुक गया। कुछ देर मौन रहकर विपाला माँ ने गम्भीर कंठ से पूछा–आज अपने लिए भिक्षाटन कर चुके?

मृत्युंजय चौंक उठा। उसे जैसे कर्त्तव्य का बोध हुआ। वह उठा और माँ को प्रणाम करते हुए बोला–जा रहा हूँ माँ।–वह चला गया।

पर्णद्वार से भिक्षुणी फिर अन्दर आ गई। विपाला माँ ने स्नेहपूर्ण दृष्टि उस पर डालते हुए बैठने के लिए संकेत किया और पूछा–तुम्हारे मुख पर चिन्ता की रेखाएँ क्यों बनती जा रही हैं, तारा?–तारा ने बैठते हुए माँ की ओर देखा। माँ ने फिर कहा–कई दिनों से मैंने तुम्हें देखा है, तारा! भिक्षुणी के हृदय पर कैसा बोझ?

आँखें नीची करके तारा ने उत्तर दिया–तुम तो सब जानती हो, माँ!

–इन गहरी स्पष्ट रेखाओं को तो कोई भी पढ़ सकता है, तारा!–माँ ने उसके सिर पर हाथ फेरा।

–माँ!–तारा ने एक गहरी साँस ली?

–कहो न बेटी! माँ से छिपाकर क्या रखोगी?–माँ ने तारा का मुँह ऊपर उठाया। तारा रो पड़ी। उसका सिर माँ की छाती से जा लगा। किसी तरह अपने को सँभालकर धीरे से उसने कहा–मुझे किसी दूसरे विहार में भेज दो माँ, यद्यपि तुम्हारे चरणों से पृथक् होना मेरे लिए मृत्यु से कम नहीं।

विपाला माँ चौंक उठी। उन्होंने कहा–स्पष्ट कहो तारा!

कुछ रुककर तारा ने कहा—माँ, तुम्हारे औरस पुत्र संघ मित्र—जिन्होंने बचपन से तारा को छोटी बहन की तरह प्यार किया—अपनी दृष्टि में अन्तर ला रहे हैं। उन्होंने एक-आध बार जो कुछ कहा, वह तारा के हृदय को मसल देने के लिए पर्याप्त था। कभी-कभी मैं रात्रि को अपनी कुटी के पास पैरों की आवाज़ सुनती हूँ तो सिहर उठती हूँ। मुझे उनसे डर लगता है, माँ!—तारा की आँखों में आँसू फिर छलछला आए।

विपाला माँ की आकृति गम्भीर से गम्भीरतर होती जाती थी। अन्त में उन्होंने कहा—तुझे भ्रम है तारा। संघमित्र मेरे पेट से पैदा हुआ है। उससे किसी प्रकार की दुराशा तुम्हें न होनी चाहिए। फिर भी तुम्हारे कथन को मैं निराधार नहीं कहना चाहती। संघमित्र की उचित परीक्षा हो जाएगी। तुम्हें विहार छोड़ने की आवश्यकता नहीं।

तारा सिर झुकाए बैठी रही। विपाला माँ ने 'धम्मपद' के पृष्ठों को पलटना शुरू किया।

तारा के शब्दों ने विपाला माँ की नैसर्गिक शान्ति को भंग कर दिया। संघमित्र के लिए उनके हृदय में मातृ-स्नेह या वात्सल्य ही हो, ऐसी बात नहीं। विहार के सब भिक्षुओं में संघमित्र धम्म और संघ के सिद्धान्तों में सर्वाधिक प्रवीण था। यही नहीं, उसकी वक्तृता-शक्ति—सरल भाषा में निज सिद्धान्तों को समझाने की क्षमता—अद्वितीय थी। विपाला माँ के हृदय में उसके लिए सम्मान भी था। पर उसका तारा पर स्नेह कम नहीं था और न उस पर अविश्वास करने का कोई कारण था। विपाला माँ की अपनी धारणा थी कि तारा को किसी बात से भ्रम हो गया है। फिर भी संघमित्र पर दृष्टि रखना आवश्यक था। अपने हृदय के भाव को उन्होंने संघमित्र पर प्रकट न होने देने की पूर्ण चेष्टा की।

मृत्युंजय को विहार में आए कई सप्ताह हो चले थे। इतने ही समय में सब भिक्षु-भिक्षुणियों के हृदय में उसके प्रति सहज-सौहार्द पैदा हो चला था। वह जितना ही नम्र-हँसमुख था उतना ही प्रतिभासम्पन्न और विचारवान। अभिमान तो उसमें नाममात्र को न था। तारा का अधिक समय विपाला माँ के पास ही व्यतीत होता था। भिक्षु-भिक्षुणियों में वह रहती ही कम थी। मृत्युंजय को उसने कई बार देखा, उसकी प्रशंसा भी सुनी। पर विशेषतया उसे व्यक्तिगत रूप से जानने का न तो उसे अवसर मिला न आवश्यकता ही हुई।

मृत्युंजय विपाला माँ पर अटूट आस्था रखता। उनके बाद वह सम्मान करता था, भिक्षु संघमित्र का। भिक्षुओं में चर्चा थी कि विपाला माँ के उपरान्त विहार का अधिष्ठातृत्व भिक्षु संघमित्र को ही सौंपा जाएगा। पर मृत्युंजय के विनम्र होते हुए भी भिक्षु संघमित्र न जाने क्यों उससे चिढ़ने लगा था। वह बात-बात पर उसे अल्पज्ञ प्रमाणित कर उसकी हँसी उड़ा देना चाहता। एक दिन तो उसने कुछ ऐसे शब्द कह

दिए जिनसे मृत्युंजय के आत्माभिमान को काफ़ी ठेस लगी। धम्म की परिभाषा पर विवाद था। व्यक्तिगत आक्षेप को मृत्युंजय सहन न कर सका। वह विचलित हो उठा।

बात विपाला माँ के कानों तक पहुँची। यह संघमित्र की दूसरी शिकायत थी। आज भी उन्होंने संघमित्र को कुछ नहीं कहा। पर उसकी कठिन परीक्षा का निश्चय मन-ही-मन कर लिया।

मृत्युंजय को जीवन में पहली बार अपमान सहन करना पड़ा था। उसने शीघ्र ही वहाँ से चल देने का निश्चय किया। विहार की कुछ चीज़ों के प्रति उसका विशेष आकर्षण हो गया था। विहार के सब जड़-चेतन उसे अपने सगे-से लगते थे। उसे डर था कि प्रत्यक्ष रूप से कई अन्य भिक्षु उसके साथ न हो लें। इस प्रकार विपाला माँ के हृदय को चोट लगने की सम्भावना थी। अतः उसने अर्द्धरात्रि को चल देने का निश्चय किया।

रात्रि को जब सब सो चुके, मृत्युंजय धीरे से उठा। मन-ही-मन विपाला माँ को प्रणाम कर वह निकल पड़ा। मृत्युंजय के पैर आगे चलते थे तो हृदय पीछे खींच ले जाना चाहता, हृदय आगे बढ़ने को उत्साह देता तो पाँव रुक-रुक जाते। वह चलता तो रुकने के लिए, रुकता तो चलने के लिए। इसी असमंजस में वह कुछ ही कदम बढ़ा था कि पत्तों की खड़खड़ाहट ने उसके पाँव बाँध दिए। इस भय से कि कोई देख न ले, वह मूर्तिवत् खड़ा हो गया। उसने इधर-उधर देखा। फिर पत्तों में खड़खड़ाहट हुई। साथ ही स्त्रीकंठ की क्षीण अस्पष्ट-सी आवाज़ सुनाई दी। मृत्युंजय चौकन्ना हो गया। उसने ध्यान से सुना। इस बार शब्द स्पष्ट थे—माँ की अस्वस्थता का बहाना करके तुमने मुझे क्यों बुलाया? तारा तुम्हारी बहन है, उसे जाने दो, संघमित्र!—स्वर तारा का ही था। मृत्युंजय को खड़ा रहना भारी हो गया। पत्रों की ओट में दो मूर्तियों को हिलते उसने देखा। उसने देखा पुरुष-मूर्ति ने तारा के दोनों हाथ पकड़ लिये। तारा के मुँह से हलकी-सी चीख़ निकली जिसमें रुदन का करुण स्वर मिश्रित था। मृत्युंजय के गम्भीर कंठ से निकला—ठहरो।—संघमित्र चौंक उठा। तारा के हाथ उसके हाथों से छूट गए। मृत्युंजय ने उसे देख लिया। अतः भागने से कोई लाभ न था। मृत्युंजय की ओर उसने घूमकर देखा और दाँत पीसकर कहा—तू यहाँ!—एकदम उसने मृत्युंजय की कनपटी पर मुष्टि-प्रहार किया। मृत्युंजय ने वार बचा लिया। दोनों परस्पर गुँथ गए।

तारा ने दूर से उस मुष्टि-युद्ध को देखा। उसने यह भी देखा कि लड़ते-लड़ते दोनों गिरे, संघमित्र भी मृत्युंजय भी। वह विपाला माँ की कुटी को भाग चली।

विपाला माँ ने सब कुछ सुना। आधी रात को मृत्युंजय के निकल पड़ने के कारण का अनुमान भी बहुत कुछ उन्होंने कर लिया। वे धैर्य के साथ उठीं पर साथ ही अचेत होकर गिर पड़ीं। तारा ने भिक्षु-भिक्षुणियों को जगा दिया। झाड़ियों से संघमित्र एवं

मृत्युंजय को चिकित्सा-शाला में पहुँचाया गया। सबने इस घटना को दोनों के परस्पर मनमुटाव का ही फल समझा। संघमित्र का सिर बुरी तरह फट गया था। मृत्युंजय को भी गहरी चोट लगी थी। विपाला माँ की शुश्रूषा उनकी कुटी में होने लगी।

शारीरिक एवं मानसिक आघात से प्रातःकाल से पहले ही संघमित्र के प्राण निकल गए। मृत्युंजय अभी तक बेहोश था। विपाला माँ एक बार होश में आ, संघमित्र की मृत्यु का समाचार सुन फिर बेहोश हो गई थीं। पर सबका ध्यान विशेष रूप से मृत्युंजय की ओर लगा था, क्योंकि उसके प्राण किसी भी समय निकल सकते थे। तारा ने उसकी शुश्रूषा अपने हाथ में ले ली थी।

सायंकाल होने तक संघमित्र का शव जलाया जा चुका था। विपाला माँ काँपते पैरों से आ, एक बार मृत्युंजय की अवस्था देख गई थीं। वह अभी तक बिलकुल निश्चेष्ट पड़ा था। जीवन का कोई लक्षण था तो रुक-रुककर चलता हुआ श्वास-निश्वास। तारा निरन्तर उसके पास रही। सबके कहने पर भी न उसने कुछ खाया न विश्राम किया। आधी रात को मृत्युंजय ने आँखें खोलीं। उसका सिर तारा की गोद में था। तारा ने आँखों में आँसू भरकर उसकी ओर देखा। मृत्युंजय ने फिर आँखें मूँद लीं। अब तारा ने पहली बार कुछ विश्राम करने की सोची, उसका शरीर शिथिल पड़ रहा था। वह धीरे से उठकर चली गई।

मृत्युंजय ने अपनी चेतना में पहली बार किसी युवती के अंग-स्पर्श का अनुभव किया था। उसके हृदय में न जाने क्यों एक भावना-सी उठी जो अन्तराल को बेध गई। उसका शरीर दर्द कर रहा था। फिर भी बिना चाहे ही वह तारा के विषय में सोचता जा रहा था। वह चिन्तन उसे अपनी पीड़ा के लिए लेपन-सा लग रहा था। मस्तिष्क पर अधिक दबाव डालने से वह फिर बेहोश हो गया।

तारा को वहाँ से जाकर भी विश्राम नहीं मिला। विपाला माँ की दशा बिगड़ रही थी। सूचना पा, तारा सीधी उनके पास पहुँची। पर वे अन्तिम श्वासों पर थीं। तारा ने उनके पैरों में सिर रख दिया। विपाला माँ ने कठिनता से कहा—क्षमा करना तारा बेटी! मैंने समयानुसार तुम्हारी बातों पर ध्यान नहीं दिया, नहीं तो...और उनका गला रुँध गया। तारा माँ के पैरों में मुँह छिपाए रोती रही। कुछ ही देर बाद धम्मं शरणं गच्छामि की ध्वनि ने जैसे उसे जगा दिया। विपाला माँ जा चुकी थीं।

विपाला माँ का अंत्येष्टि संस्कार हो जाने के अनन्तर तारा ख़ूब जी भरकर रोई। रो चुकने पर वह उठ बैठी। उसका कर्त्तव्य उसके सामने था। वह मृत्युंजय की ओर चली जो अभी तक बेहोश था। तारा आँखें पोंछकर उसके पास बैठ गई।

शोक की घड़ियाँ एकाकीपन में इतनी लम्बी हो जाती हैं, इसका तारा को अब अनुभव हुआ। इस बार मृत्युंजय दो दिन और दो रात बेहोश ही रहा। तारा के लिए जैसे दो वर्ष बीत गए। आँखें भर आतीं तो वह पोंछ लेती। हृदय भारी होने लगता

तो 'धम्मपद' के पृष्ठ उठा लेती। दो दिन के बाद मृत्युंजय की आँख जिस समय खुली, उसका सिर तारा की गोद में ही था। बेहोशी की अवस्था में संजीवनी की जो मात्राएँ उसके अन्दर ढाली गई थीं, उनसे उसका मुख अभी तक कड़ुआ था। तारा ने उसके सिर पर हाथ फेरना शुरू किया। मृत्युंजय को गत घटनाएँ याद आने लगीं। उसने तारा की ओर देखा। तारा की आँखें रो-रोकर लाल हो गई थीं। चेहरा पीला पड़ गया था। पर मृत्युंजय को लगा, तारा सुन्दरी है, बहुत सुन्दरी। वह नहीं जानता था कि, ऐसे विचार उसके हृदय में क्यों उठ रहे थे। आज तक किसी स्त्री के विषय में उसने ऐसा नहीं सोचा था। आज उसका सिर तारा की गोद में था, उसके अपने ही विचार वश से बाहर होते जा रहे थे। शरीर भारी और शिथिल था। अन्दर से उसे एक धिक्कारपूर्ण-सा स्वर निकलता सुन पड़ता था—मृत्युंजय! यह रास्ता मृत्यु का है।—पर वह इस मीठे अनुभव में ही विलीन हो जाता था। मृत्युंजय ने काँपते स्वर से कहा—तारा!

तारा के आवेग जैसे आश्वासन पाकर फूट पड़ा। आँसुओं से रुँधे कंठ से उसने कहा—भैया!

मृत्युंजय के शिथिल शरीर एवं शिथिल हृदय को जैसे धक्का लगा। शरीर में सिर से लेकर पाँव तक झनझनाहट हुई। उसने फिर धीरे-से कंपित स्वर में कहा—नहीं तारा!

तारा ने आँसू पोंछ लिए थे। मृत्युंजय ने क्या कहा, वह नहीं समझी। उसने भोलेपन से प्रश्न किया—क्या नहीं भैया?

मृत्युंजय ने तारा की आँखों में देखा। तारा ने उन आँखों में वासना की विभीषिका को पढ़ा। ऐसे ही एक दिन उसने संघमित्र की आँखों में देखा था। वह डर गई। वह मुँह फेरकर उठी और वहाँ से चली गई। मृत्युंजय को लगा जैसे किसी ने उसे गहरे अतल में ढकेल दिया हो। उसकी आँखों में आँसू आ गए! वह फिर बेहोश हो गया।

मृत्युंजय में अब शिथिलता ही बाक़ी थी। इस बार ज़ब उसकी आँख खुली, रात बहुत जा चुकी थी। तारा उसके पास नहीं थी। थोड़ी ही दूर एक भिक्षु ऊँघ रहा था। उसे तारा के वहाँ न रहने का कारण समझते देर नहीं लगी। उसका हृदय क्षोभ और ग्लानि से भर आया। उसे अपने-आपसे ही घृणा होने लगी। इन्हीं विचारों में प्रातःकाल हो गया। वह पश्चात्ताप की आग से जल रहा था। उसका हृदय विपाला माँ के चरणों पर सिर रखकर रो देने के लिए उतावला हो उठा। इतने दिनों के बाद पहली बार वह पैरों पर खड़ा हुआ। सिर चकराने लगा। भिक्षु अभी तक सो रहा था। उसने कठिनता से मृत-संजीवनी की एक मात्रा ढालकर पी और उपासना-मन्दिर की ओर चला। उपासना-मन्दिर तक उसे कोई नहीं मिला। मार्ग में दो-तीन बार उसने विश्राम

किया। कठिनता से वह उपासना-मन्दिर की देहली तक पहुँचा। उसका सिर चकरा रहा था तथा आँखों में अँधेरा छा रहा था। अन्दर चौकी पर विपाला माँ की अस्पष्ट-सी मूर्ति उसने देखी। बाहर से ही उसने झुककर प्रणाम किया। माथे को देहली से छुलाते हुए उसने रुँधे स्वर में कहा—मुझे क्षमा कर दो, माँ, मैंने पाप किया है—इतना कह मृत्युंजय ने सिर उठाया। सामने विपाला माँ की चौकी पर तारा गम्भीर मुद्रा में बैठी थी। वह अब सर्वसम्मति से मठ की अधिष्ठात्री बना दी गई थी। मृत्युंजय के उठते ही उसने गम्भीर पर सौम्य वाणी में कहा—विपाला माँ का निर्वाण हो चुका। उनकी समाधि पर फूल चढ़ा आओ, भिक्षु!

मृत्युंजय ने आँखें नहीं उठाईं, आँसू झरझर गिर रहे थे। उसने काँपते हाथों को जोड़कर प्रणाम किया और विपाला माँ की समाधि की ओर काँपते पैरों से चल पड़ा।

मन्दिर-मन्दिर की देवी*

मेहर कौर मुस्कराई। मुस्कराने से उसके मुख की झुर्रियाँ दूर हो गईं, उसकी भवें फैल गईं और उसने होंठों को सिकोड़कर मुस्कराहट को रोका तो मुस्कराहट उसकी नासिकाओं में से फूट निकली।

माया भी मुस्कराई। या ठीक से कहें तो उसने बड़ी बहन की मुस्कराहट का अनुमोदन किया। उसके चेचक-भरे चेहरे पर जो विषाद की कालिमा सदा घिरी रहती थी, वह पल-भर के लिए दूर हुई और तुरन्त ही फिर लौट आई।

पुरुषोत्तमदास के मन्दिर का पुजारी भी इन दोनों को मुस्कराते देखकर मुस्कराया। उसने घंटा-भर पहले चिरे हुए अमरूद की दो फाँकें दोनों बहनों को प्रसाद के रूप में दीं और उनकी चढ़ाई हुई चवन्नी के लिए भगवान की ओर से कृतज्ञता प्रकट की।

अमरूद की दो फाँकें, जो एक सिरे से दूसरे सिरे तक काली पड़ चुकी थीं, दोनों बहनों ने अपने-अपने आँचलों में बाँध लीं, जिससे न केवल उनका, बल्कि और भी कइयों का कल्याण हो सके। घंटे-भर बाद जब उन फाँकों के टुकड़े बाँटे गए, तो अमरूद की गन्ध उतनी नहीं थी, जितनी आँचलों के पसीने की।

पुरुषोत्तम के मन्दिर से निकलकर मेहर कौर और माया श्री महावीरजी के मन्दिर की ओर आईं। मन्दिर के बाहर के कुएँ पर रामू साईं बैठा था, जो अपने पागलपन के कारण सिद्ध पुरुष की पदवी पाए हुए था। रामू साईं चारों ओर मैले-कुचैले चीथड़े बिखेरकर 'आ—बा आ बा' करता बैठा रहता था और उसके मुँह से टपकता हुआ लार धाराप्रवाह से उसके मुनिवेश तथा योगासन को गीला करता रहता था। रामू साईं की विशेष सिद्धि यह थी कि वह मनुष्यों की भाषा में नहीं बोलता था और कुएँ के पास से निकलनेवाली आकृतियों को देखकर वह जो चेष्टाएँ करता था, उसका स्थूल अर्थ समझ में आ जाने पर भी सूक्ष्म अर्थ किसी की समझ में नहीं आता था। जिस

---

* हस्तलिखित पांडुलिपि से यह कहानी राकेश जी की आरम्भिक कहानियों में से जान पड़ती है। इस पर पेंसिल से उन्हीं के हाथों अंग्रेजी में लिखा है—'रिवाइज्ड कापी, बाई राकेश' और नीचे पता इस प्रकार दिया है—'प्रेषक : श्री मोहन राकेश, बी.सी.एस. शिमला-2'। इससे जान पड़ता है कि यह किसी पत्र-पत्रिका को प्रकाशनार्थ भेजी गई है।

कुएँ पर बैठता था, उस कुएँ का जल नाना रोगों की सिद्ध औषधि समझा जाता था और उस औषधि पर विश्वास रखनेवाले उसमें से सड़े हुए फूल-पत्ते निकाले बिना ही उसका सेवन कर जाते थे।

माया और मेहर कौर ने रामू साईं को देखकर सिर नवाए। रामू साईं जो केला खा रहा था, उसका शेष भाग उसने छिलके समेत माया के सिर पर फेंक दिया। माया के सिर का जो भाग चिपचिपा हो गया, उसे आँचल से पोंछती हुई मेहर कौर बोली– साईंजी की कृपा हुई है। देखो इससे क्या फल निकलता है।

और वे दोनों मन्दिर के अन्दर चली गईं। महावीरजी का बूढ़ा पुजारी जिसकी हुँकती हुई खाँसी उसके घुन-खाए शरीर के खोखलेपन को विज्ञप्त कर रही थी, मेहर कौर को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और आनेवाली 'हनुमान जयन्ती' का स्मरण करके उसने उसे बहुत-सा गेरू भेंट किया।

महावीरजी के मन्दिर से वे दोनों श्री गोबर्द्धननाथजी के ठाकुरद्वारे की ओर आईं। ठाकुरद्वारे की गोशाला में से पुराने गोबर की गन्ध सारे वातावरण में फैल रही थी। पिछले अन्नकूट में जो लम्बे-लम्बे पत्ते द्वार पर सजाए गए थे, वे महीना-भर सूखकर भी भक्तों के स्वागत-कर्त्तव्य से मुक्त नहीं हुए थे, और अपनी तपस्या से कृष्णवर्ण होकर भी रस्सी के साथ मरे हुए चिमगादड़ों की तरह लटक रहे थे। मन्दिर की दीवार पर बनी श्री चरणों की केसरिया छाप को प्रणाम करके माया और मेहर कौर ने अन्दर प्रवेश किया। श्री गोबर्द्धननाथजी का बड़ा पुजारी शुकदेव स्वामी, जिसकी पली हुई देह में एक अश्व की शक्ति थी, नाभि को खुजलाता हुआ, मेहर कौर को देखकर गद्गद हो गया। उसके इस भाव को देखकर मेहर कौर भी गद्गद हो गई। शुकदेव स्वामी ने दोनों को पंचगव्य का चरणामृत दिया और सत्ययुग की देवी माता मेहर कौर के हृदय की विशालता और दानशीलता की प्रशंसा करके समय की महिमा और भगवान श्री गोबर्द्धननाथजी के पास सब समुचित वस्त्रों के अभाव की चर्चा करने लगा।

वहाँ पर वस्त्रदान का वचन देकर मेहर कौर माया के साथ लल्लू भगत के मन्दिर में गई और वहाँ के राधाकृष्ण को अँधेरी कोठरी में विराजमान देखकर उसने उनके कक्ष में दीया जलाने के लिए सवा रुपया प्रदान किया।

वहाँ से लौटते हुए रास्ते में श्री राधागोविन्दजी का मन्दिर आया। वहाँ के गोविन्द जी की मुरलीवाली भुजा टूट गई थी। राधेजी की अनन्य लावण्यमयी मूर्ति के पास टूटी हुई भुजावाले गोविन्दजी मेहर कौर को अच्छे नहीं लगे। उसने उनके स्थान पर नए गोविन्दजी की स्थापना के लिए दस रुपए अर्पण करने की कामना की और समय अधिक हो जाने के कारण बल्लभदेवजी के मन्दिर में न जाकर सीधी घर लौट आई।

घर आकर मेहर कौर ने माया को तीर्थयात्रा का माहात्म्य सुनाया और उसे अवगत कराया कि उसे अपना परलोक सँवारना है तो उसे कुछ दिनों के लिए अवश्य

वृन्दावन जाकर रहना चाहिए। वृन्दावन के सेठों के मन्दिर का दर्शन मुक्ति का अन्यतम मार्ग है, यह विश्वास दिलाकर उसने उसे प्रेरणा दी कि मुक्ति के उस पथ तक पहुँचने के लिए यदि उसे अपने वैधव्य का एकमात्र आश्रय अपना घर भी बेचना पड़े, तो उसमें संकोच नहीं करना चाहिए। उसने स्वयं अपने वैधव्य की पूँजी तीर्थों में ही समाप्त की थी और गोकुल से लेकर बद्रिकाश्रम तक की भगवन्मंडली में उसकी ख्याति थी। माया के नए वैधव्य ने उसके लिए भी यह अलभ्य अवसर ला दिया था कि वह बहन की पद-परम्परा पर चलकर अपने जीवन को सार्थक बना ले।

माया अपनी बहन के उपदेशों से वहीं कृतार्थ हुई जा रही थी, पर घर बेचकर वृन्दावन जाने की कल्पना उसे कुछ अखर रही थी। वह मन-ही-मन धागे उलझा रही थी और 'जो करें ठाकुरजी' कहकर बहन की बातों का अनुमोदन करती जा रही थी।

वृन्दावन का विस्तार और यात्रा का माहात्म्य सुनकर जिस समय माया मेहर कौर के घर से निकली, उस समय दिन के आठ बज रहे थे। पंडित बेलीराम अपनी तम्बाकू की दुकान खोलने से पूर्व दुकान के चौंतरे को नमस्कार कर रहा था। वैद्यराज राजाराम की रोगिणियाँ उसके आने की प्रतीक्षा में शीशियाँ लिये दुकान के बाहर उसके हाथों की शफा का गुणगान कर रही थीं। पर माया को न उनकी पीली आकृतियों से मतलब था, न अर्जुनसिंह की कहाड़ी में पड़ी पूरियों की गन्ध से। वह चलती हुई भी मुक्ति तथा परलोक की ही बात सोच रही थी।

माया के चले जाने के बाद मेहर कौर ने खाना बनाकर खाया और चटाई पर लेटकर धूप की उस किरण को देखने लगी जो धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ रही थी।

धूप की किरण जिस समय कमरे के अन्त तक होकर पुनः लौटने लगी और कोने की ओर आधी दीवार से भी ऊपर चली गई, उस समय मेहर कौन ने अपनी चादर ओढ़ी, और शीतला मन्दिर चलने के लिए तैयार हो गई।

उसी समय सीढ़ियों के नीचे से किसी ने पुकारा—माई जी।

मेहर कौर ठिठककर रह गई। आवाज़ उस सर्राफ की थी, जिससे सोने का हार लेकर उसने चार महीने पहले श्री गोबर्द्धननाथजी के पुजारी को कन्या के विवाह पर दिया था। दो चूड़ियाँ पहले भी उसी से लेकर वर्षायज्ञ के समय श्री गोस्वामीजी महाराज को अर्पण की थीं। सर्राफ के कुल उसे पाँच सौ रुपए देने थे जो उसने तीन महीने में दे देने का वचन दे रखा था। मेहर कौर का हृदय उछलने लगा क्योंकि निचली मंज़िल के क़िरायेदारों का छोटा बेटा जग्गू जिसे वह लेनदारों को सीढ़ियों में से टालने के लिए प्रतिदिन एक पैसा पुरस्कार दिया करती थी, सर्राफ की पुकार का उत्तर देने सीढ़ियों में नहीं पहुँचा। सर्राफ सीढ़ियाँ चढ़ने लगा।

मेहर कौर ने आनन्द कन्द प्रभु को स्मरण किया। और प्रभु की कृपा से सर्राफ ने आधी सीढ़ियाँ चढ़कर ही पुनः आवाज़ दी—माई जी।

अब के जग्गू अपनी कोठरी में से दौड़ता हुआ आया और उसने चिल्लाकर कहा—माई जी बिंदराबन गई हैं।

—कब गई हैं बिंदराबन? लौटकर कब आएगी?—सर्राफ ने अनुपस्थिति में उसके लिए बहुवचन का प्रयोग अनावश्यक समझा।

—महीने दो महीने तक।—जग्गू ने अपनी प्रतिभा से केवल दूसरे ही प्रश्न का उत्तर दिया।

—वह मरेगी बिंदराबन में ही।—कहता हुआ सर्राफ सीढ़ियों से नीचे उतर गया।

मेहर कौर का रोम-रोम जल उठा। वह सर्राफ के लिए उस समय वृन्दावन न गई रहती तो वहीं उसका कलेजा नोंच डालती।

सर्राफ के चले जाने पर जग्गू भागता हुआ ऊपर आया। पर आज प्रतिदिन की तरह न तो मेहर कौर ने उसे प्यार दिया, न पैसा। वह अपनी गीता खोलकर बैठ गई और आँखें गड़ा-गड़ाकर पढ़ने लगी—भगवानुवाच...हे कुन्तीनन्दन अर्जुन...

जग्गू कुछ देर तो चुपचाप खड़ा रहा। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या भूल हो गई है, जो उसे पैसा नहीं मिल रहा। जब मेहर कौर ने क्षण-भर के लिए भी गीता से आँख नहीं उठाई तो उसने साहस करके अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा दिया और कहा—पैसा।

—जा, आज नहीं है पैसा।—मेहर कौर ने उसे झिड़क दिया और पढ़ने लगी। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का उत्थान होता, हे भारत...

जग्गू हाथ खुजलाता हुआ नीचे उतर आया।

रात को नौ बजते-बजते अमृतसर के बाज़ार बन्द हो जाते हैं और दुकानदार घरों में आकर पत्नियों को सवेरे के समाचार, नगर की अफवाहें और सट्टा मार्केट के भाव सुनाया करते हैं। नौ बजे के बाद किसी के घर जाना अपशगुन समझा जाता है क्योंकि नागरिकों का विश्वास है कि अँधेरा और मृत्यु दोनों भगवान शिव की सन्तान हैं, और नौ बजे का अशुभ समय आ जाने पर किसी के घर जाना उसकी मृत्यु की कामना करना है। परन्तु मेहर कौर का यह विश्वास किंचित् बदल गया, क्योंकि माया नौ बजे के बाद उसके पास आई और उसके चेहरे के लक्षणों से मेहर कौर को निश्चय हो गया कि उस रात के ग्रह बुरे नहीं।

माया ने आते ही अपने आँचल की गाँठ खोलकर एक हरा काग़ज़ निकाला और उसमें से एक सोने की चूड़ी निकालकर मेहर कौर के आगे रख दी।

—मकान का सौदा तो होते ही होगा; अभी मैं यह देवरानी से माँग लाई हूँ। इसके सौ रुपए मिल जाएँ तो मैं कल ही चलती हूँ वृन्दावन।—वह बोली।

क्योंकि चूड़ी वास्तव में उसकी अपनी थी और यह बात कि उसके पास सोना भी है, वह अपनी बहन से छिपाकर रखना चाहती थी, माया ने चेहरे को इस तरह से गम्भीर बनाया कि उसके शब्दों की सत्यता पर सन्देह न किया जा सके।

मेहर कौर कई क्षण चुप रहकर कुछ सोचती रही। जिस बात को माया छिपा रही थी, वह उससे छिपी नहीं रही। उसने गम्भीरतापूर्वक चूड़ी हाथ में उठाई और उसे हथेली पर तौलते हुए पारखी के ढंग से कहा—सौ पूरे तो शायद ही मिलें।

—नब्बे-पिचानबे ही सही।—माया उत्सुकतापूर्वक बोली।

—कल बाज़ार में पूछकर पता चलेगा। कहकर मेहर कौर ने चूड़ी को हरे काग़ज़ में लपेट लिया और वृन्दावन में होनेवाले 'लट्ठ' के मेले की बात सुनाने लगी।

घंटे-भर बाद जब माया सीढ़ियाँ उतरी तो जग्गू सीढ़ियों में प्रतीक्षा कर रहा था। कभी मेहर कौर के पास टूटा हुआ पैसा नहीं रहता था तो वह माया से उसे पैसा देने के लिए कह दिया करती थी। पर आज माया भी जब अपने पारलौकिक उत्साह में बिना उसकी ओर देखे ही पास से निकल गई, तो आँखें निंदियाई रहने पर भी जग्गू को सोचना पड़ा कि भूल कहाँ हुई है जो अब की उसे पैसा नहीं मिल रहा।

उस रात माया पूरी तरह सो नहीं सकी। जब-जब भी उसकी आँख लगी, उसने कोई-न-कोई स्वप्न देखा। एक स्वप्न में श्रीनाथजी ने प्रकट होकर अपने हाथों से उसे अपना चरणामृत पिलाया। दूसरे स्वप्न में गरुड़ भगवान उसे अपने पंखों पर बैठाकर बैकुंठ धाम में ले गए। तीसरे स्वप्न में साक्षात् नारायण ने चतुर्भुज होकर उसके सिर के सारे सफ़ेद बालों को काला कर दिया। चौथे स्वप्न में देवी लक्ष्मी ने कमलासन से उस पर रुपए-रुपए वाले नोटों की वर्षा की।

सवेरे नहा-धोकर माया ने श्री गोबर्द्धननाथजी के दर्शन किए और शीघ्रता से भोजन बना-खाकर, दस बजते-बजते मेहर कौर को रात के स्वप्न सुनाने उसके घर पहुँच गई। आधी सीढ़ियाँ चढ़कर उसने अभ्यास के अनुसार आवाज़ दी—ज़ीजी।

पर विपरीत इसके कि मेहर कौर ऊपर से प्रतिदिन की तरह कहती—आ जा माया।—नन्हा जग्गू अपनी कोठरी से भागता हुआ आया और उत्साह के साथ बोला—मौसी, वह तो बिंदराबन चली गई है।

—जा निकम्मा,—कहकर माया ऊपर चढ़ी पर मेहर कौर के कमरे के बाहर बड़ा-सा ताला देखकर ठिठक गई। सीढ़ियाँ उतरते हुए उसने अविश्वास के स्वर में पूछा—बिंदराबन गई है?

—हाँ, मौसी, सवेरे आठ बजे की गाड़ी से गई है।—जग्गू ने विश्वास दिलाने के स्वर में उत्तर दिया।

और माया जब अँधेरे ज़ीने में बँधी हुई रस्सी को पकड़-पकड़कर नीचे उतरी तो जग्गू ने उसके आगे हाथ तो फैलाया, पर मुँह से नहीं कहा—पैसा।—पर जब माया मुँह में कुछ बड़बड़ाती हुई बिना उसकी ओर ध्यान दिए दूसरा ज़ीना भी उतर गई तो जग्गू को विश्वास हो गया कि अवश्य कहीं-न-कहीं भूल हो गई है जो अब के उसे पैसा नहीं मिल रहा।

सतयुग के लोग*

ग्यारह सौ ग्यारह नम्बर की जीप गली के बाहर रुकती है। ताली घुमाकर हज़ारासिंह ड्राइवर जीप से उतरता है, तो नन्दू हलवाई के तीनों कुत्ते कर्मभूमि में उतर आए हैं और उसके गली में कदम रखते ही बेतहाशा भूँकने लगे हैं। पहलवान, उपनाम पलटा, सामने से उसकी तरफ़ लपकता है और डब्बू और कालू दो तरफ़ से उसकी टाँगों के गिर्द हो लिए हैं। नन्दू ने पैतृक गर्व से कुत्तों के कर्त्तव्य-पालन को देखा है और ढीले हाथ से दूध हिलाता हुआ बोला है—निकल जाइए, निकल जाइए, सरदार साहब! ये कुत्ते भूँकते ही हैं, काटते नहीं। बहुत असील कुत्ते हैं।—और रस्सी के सहारे आगे को उचककर वह कुत्तों को पुचकारने लगता है—चल इधर डब्बू! आ कालू! चलो इधर...।

डब्बू और कालू उसकी आवाज़ सुनकर लौटने को होते हैं, परन्तु यह देखकर कि उनका लीडर पलटा आगन्तुक को आगे तक पहुँचाने जा रहा है, वे भी भूँकते हुए उसके साथ-साथ कुएँ तक चले गए हैं। वहाँ से बाल कौर की घुड़की खाकर वे लौट पड़े हैं और आकर नन्दू की गद्दी के नीचे जूठी बाटियों के ढेर में दुबककर बैठ गए हैं।

मक्खनसिंह अपनी गौएँ लिये हुए अभी नहीं पहुँचा है, परन्तु उससे दूध लेनेवाले लोग निहाल के चौतरे के पास जमा होने लगे हैं। अभी बाल कौर ब्राह्मणी पल्ले से चौतरे की धूल झाड़ ही रही है कि शाहनी राम कौर हाँफती हुई आ पहुँची है और केवल मलमल की एक धोती में लिपटे हुए अपने शरीर को उसने चौतरे के अधिक-से-अधिक भाग में फैल जाने दिया है। बाल कौर के अन्दर से विद्रोह की साँस उठी है, परन्तु शाहनी की कलह-शक्ति का स्मरण करके वह चुप रह गई है। उसने माथे का पसीना पोंछकर होंठों पर ज़बान फेरी है और एक ओर कोने में बैठकर स्तोत्र-पाठ करने लगी है :

---

* कहानी और रिपोर्ताज़ का मिला-जुला रूप राकेश जी की इस रचना में मिलता है। इसकी पांडुलिपि भी टाइप की हुई है।

शिरी रामजी के कमल नेतर कटि पीताम्बर अधर मुरली, धीरज धरम्
मुकुट कुंडल कर लकुटिया, साँवरे राधे वरम्।

—अच्छा, अच्छा, शाहनीजी पहले ही आई हुई है? वाह-वाह! वाह-वाह! जय गोपाल! जय गोपाल!—कुएँ के पीछे की गली से लाला राम दिगमल खन्ना की आकृति प्रकट हुई है। शाहनी को अभी भी साँस ठीक से नहीं आ रही है, इसलिए उत्तर में उसके होंठ थोड़ा हिलकर रह गए हैं। खन्नाजी गद्‌गद् भाव से चारों ओर दृष्टि डालकर नम्रता की मूर्ति बने, और जैसे अपने अस्तित्व के लिए संसार-भर से क्षमा-याचना करते हुए एक ओर खड़े हो गए हैं। जीतो दाई उनके सामने ही बैठी है और लाखा सिंह दलाल, जिसकी कुहनियाँ कमीज़ से तथा घुटने पाजामे से बाहर निकले पड़ रहे हैं, घूर-घूरकर उसकी ओर देख रहा है। खन्नाजी की आँखें झुकीं, उठीं और फिर झुक गई हैं। अपनी भूरी खादी की टोपी उतारकर उन्होंने सिर पर हाथ फेरा है और एक लम्बी साँस ली है। पैंतीसवें साल में पहुँचकर भी जीतो के छरहरे शरीर की रेखाएँ अभी वैसी ही हैं। उसके चेहरे का तिल अब भी उतना ही सुन्दर लगता है, जितना बीस साल पहले। वह अपनी तीखी आँखों से एक बार देख लेती है, तो शरीर में दूर तक कुछ चुभता चला जाता है। खन्नाजी ने पैर के अँगूठों को दो-एक बार हिलाया है।

—श्री हरि, श्री हरि, श्री हरि!—और उनके चेहरे पर क्षमा-याचना का भाव और गहरा हो गया है।

भगतरामजी दास को आते देखकर नन्दू ने दूध हिलाना छोड़कर फिर रस्सी को पकड़ लिया है। भगत कन्धे झुकाए हुए इस तरह राम नाम का उच्चारण करता आ रहा है, जैसे दर्द से कराह रहा हो। उसकी रूखी पीली आँखें जैसे आस-पास कुछ खोज रही हैं। क्यों रामजी...? उसके सामने आने पर नन्दू की दोनों आँखें हिली हैं और चेहरे पर लम्बी मुस्कराहट फैल गई है। भगत ने कराहना बन्द कर दिया है और उसके पीले दाँत बाहर निकल आए हैं।

आ गया पुष्पक विमान?—उसने एक बार जीप की ओर देख लिया है—दुनिया तरक्की कर गई है रामजी।—नन्दू फिर दूध हिलाने लगा है। तुम्हारी तरह नहीं कि जो राम का नाम पचास साल पहले लेते थे, वही आज भी लेते हो।

भगत के होंठ फैल गए हैं और आँखें रसपूर्ण हो उठी हैं—सब प्रभु की अपरम्पार माया है, नन्दू शाह! देख, क्या-क्या खेल खेल रहा है।

नन्दू ने एक बार दाएँ-बाएँ देखा है। फिर थोड़ा आगे को झुक गया है—मैंने तो सुना है कि बंसी इसके सख़्त खिलाफ है।

भगत फिर चुंधी आँखों से जीप की ओर देख रहा है। उधर से आँखें हटाकर उसने अपना ख़ाली गिलास दुकान के तख्ते पर रख दिया है और थोड़ा और नन्दू के नज़दीक हो गया है।

—कल इसी बात को लेकर घर में बहुत लड़ाई हुई है। चंचला देई ने कल वो-वो कही हैं, वो-वो कही हैं कि बस...।

—अच्छा?—नन्दू का हाथ क्षण-भर के लिए रुका है और फिर अनासक्त भाव से दूध को हिलाने लगा है—चंचला देई कह देती है। वह नहीं दिल में रखती। क्या-क्या कही उसने।

—यही कही कि लड़की को ऐसी नौकरी करानी है, तो कम्पनी बाग़ में कोठी ले लो।

नन्दू का फूला हुआ पेट हँसी से थलथलाया है और उसकी मूँछें फैल गई हैं। भगत ने अन्दर से उमड़कर आती हुई हँसी को दो बार रोका है। और फिर खिलखिला उठा है।

—शाहजी, मावा हो गया है।—नन्दू का नौकर परमा कड़ाही लिये हुए पास आ गया है। उसकी जाँघों तक स्याही चढ़ी है और आधी कमीज़ स्याह हो रही है। तौलिए की जिन टाकियों से वह कड़ाही पकड़े है, वे भी स्याह हैं। उसने कड़ाही छोटी अँगीठी पर रख दी है।

—रामजी, अभी जाना नहीं।—और हाथ से भी उसे रुकने का संकेत करके नन्दू मावा देखने लगा है। तीन-चार बार अच्छी तरह खुरपे से हिलाकर उसने आग उगलती आँखों से परमे की ओर देखा है—मेरी माँ का सिर हुआ है! ले जा, अभी और हिला!

परमा क्षण-भर चुप खड़ा रहा है। उसकी चुप्पी ऐसी है, जैसे गाली दे रहा हो। फिर वह झटके से कड़ाही उठाकर अन्दर ले गया है। दूसरा नौकर नरोत्तम बर्तन मलता हुआ बिल्ली की-सी हँसी हँसा है।

—चुप रह वे बिल्ली के बच्चे!—नन्दू उसकी ओर देखकर गरजा है। दही के कूँडे निकालकर बाहर रख और बर्फ़ वाले को देख अभी लस्सी के ग्राहक आने लगेंगे।—फिर हाथ से माथे का पसीना पोंछकर हाथ को पैसों वाली सन्दूकची पर मलता हुआ वह भगत की ओर देखकर बोला है—हाँ, फिर?

भगत इस बीच गिलास उठाकर चलने के लिए तैयार हो गया है।

—बहुत कहा-सुनी हुई।—वह अपनी चार दिन की सफ़ेद दाढ़ी को खुजलाने लगा है।

—अच्छा।

—प्रकाश कौर ने कहा कि तू अपनी लड़की को सँभाल, जिसके चरित्र की सारी गली में धूम मची है।

नन्दू का मुँह पल-भर के लिए खुला रह गया है—

—कह दिया?

—एक बात कही उसने? उसने भी आगे-पीछे की सारी कसर निकाल दी!

—मतलब, ख़ूब गर्मागर्मी हुई?

भगत ने गम्भीर जानकार के रूप में सिर हिलाया है।

—बंसी नहर में डूबने जा रहा था।

—हाँ?

—चंचला देई ने बड़ी मुश्किल से बाँह पकड़कर रोका। उसने कहा कि तुम सीढ़ियाँ उतरोगे, तो मैं खिड़की से छलाँग लगा दूँगी। बंसी आधी रात तक सिर पर हाथ मारकर पीटता रहा।

—वाह रे माँ के बंसीलाल!—नन्दू का पेट फिर थलथलाया है और मुँह से हँसी का फव्वारा फूट निकला है—रामजी, तुम भी पूरे सी.आई.डी. हो!

इस प्रशंसा से भगत का चेहरा खिल उठा है और उसने पहरेदार रघपतसिंह के तख़्त की ओर रुख कर लिया है—सब अपरम्पार की माया है, नन्दू शाह! जितनी दिखा देता है, देख लेते हैं।

हज़ारासिंह ड्राइवर को आते देखकर भगत का बढ़ा हुआ कदम रुक गया है। हज़ारासिंह बगल में लोहे की ट्रे सँभाले है और कैलाश उसके पीछे-पीछे आ रही है। भगत कैलाश के लाल दोपट्टे और आगे पड़ी हुई चोटियों को देखता रहा है। कुछ ही क्षणों में कैलाश हज़ारासिंह के बराबर जीप में बैठ गई है और जीप स्टार्ट हो गई है।

भगत नन्दू की ओर देखकर मुस्कराया है। परन्तु नन्दू उसकी ओर न देखकर जाती हुई जीप की ओर देख रहा है। भगत चलकर रघपतसिंह के तख़्त के पास पहुँच गया है।

भगत को आते देखकर रघपतसिंह पहले ही तख़्त से उठ खड़ा हुआ है। उसने अपना आसन अर्थात् टाट नीचे गली में बिछा लिया है और चूल्हे में सिकड़ी लगाकर तीन चौथाई टूटे हुए पंखे से उसे सुलगाने लगा है। भगत निहाल के चौतरे के पास एकत्र समुदाय पर एक दृष्टि डालकर तख़्त पर बैठ गया है। उसके पालथी मारकर बैठने से बुड्ढे तख़्त की चूलें हिल गई हैं। खन्नाजी हाथ जोड़कर 'जय गोपाल जय गोपाल' कहते हुए उसके निकट आ गए हैं। लाखासिंह ने एक बार वितृष्णा की दृष्टि से भगत की ओर देखा है और उसकी आँखें फिर जीतो की ओर घूम गई हैं, जो शाहनी राम कौर के साथ अपनी ज्ञानचर्चा में संलग्न है।

—घोर कलिकाल है, खन्नाजी!—भगत ने लाखासिंह की ओर देखकर खन्नाजी को आँख मारी है। खन्नाजी ऐसे गम्भीर रहे हैं, जैसे उन्होंने भगत की आँख के अर्थ को न समझा हो। परन्तु उनके चेहरे पर एक खिसियाना-सा भाव आ गया है।

—इसमें क्या सन्देह है—उन्होंने कहा है, जैसे भगत की बात का एक और ही अर्थ रहा हो—जिन बातों की कल्पना भी नहीं करते थे, वे सब बातें आज अपनी आँखों से देखते हैं। ऐसा समय भी आना था कि लरकियाँ कमाएँ और घड़ वाले बैठकर खाएँ।

भगत का ध्यान भी लाखासिंह से हट गया है और उसके मस्तिष्क में जीप के पहिए घूम गए हैं—देख लो तुम्हारी स्त्री-शिक्षा क्या कर रही है?—वह अँगोछे से गले का पसीना पोंछने लगा है—शास्त्रों में कहा है कि कलजुग में धर्म एक पैर पर खड़ा रहता है, अब वह भी नहीं रहेगा। आजकल स्कूल-कालेजों में इन लड़के-लड़कियों को क्या साहित्य पढ़ाया जाता है! वह साहित्य, जो भ्रष्टाचार की शिक्षा देता है। उस दिन एक पुस्तक पढ़ रहे थे। क्या पढ़ा उस पुस्तक में?

भगत ने आँखों में प्रश्नात्मक भाव लिये हुए आसपास खड़े दो-एक और व्यक्तियों की ओर भी देखा है, जो थोड़ा-थोड़ा तख़्त के निकट आ गए हैं। भगत ने अँगोछे से गले का पसीना पोंछते हुए क्षण-भर के लिए एक नाटकीय विराम दिया है और बोला है—पढ़ा कि एक पुरुष स्वयं...महाराज स्वयं...स्वयं अपनी पत्नी को अपने मित्र के लिए छोड़कर घर से चला गया। पीछे वह पति के उस मित्र के साथ जंगल में चली गई। और वहाँ? वहाँ जाकर क्या हुआ? वहाँ जाकर उसने पति के मित्र के सामने अपने सब वस्त्र उतार दिए...। हे जानकी वल्लभ रघुनाथ स्वामी...। तो बोलो। यह आजकल का साहित्य है! कभी रामायण-महाभारत साहित्य था, आजकल यह साहित्य है। द्वापर में दुःशासन ने द्रौपदी का चीर-हरण किया तो महाभारत हो गया और आज? स्कूलों-कालेजों में इस सबकी शिक्षा दी जाती है। यह इस देश की स्वतन्त्रता है! आज जिनके हाथों में इस देश का राज-काज है, उनकी भी गाथा सुन लीजिए...क्यों महाराज, सुनाएँ उनकी गाथा?

भगत के आसपास लोगों का घेरा खड़ा हो रहा है। भगत के चेहरे पर चमक आ गई है। उसने टोपी उतारकर तख़्त पर रख दी है और टाँगें नीचे लटकाकर थोड़ा आगे को झुक गया है।

—जब भगवान रामचन्द्र वनों को चले, तो अजुध्यावासी उनके साथ हो लिये... ध्यान से सुनो खन्ना जी, पते की बात सुना रहे हैं। यह मत समझना कि रामायण सुनाने लगे हैं। तो आगे-आगे भगवान चल रहे हैं और पीछे-पीछे सब अजुध्यावासी। कहते हैं कि भगवन, हम भी आपके साथ ही वनों में जाकर रहेंगे। जब अजुध्या से निकल आए, तो भगवान को बहुत चिन्ता हुई। चिन्ता यह हुई कि यह सारी जनता यदि साथ चली तो वनों में जाकर निर्वाह कैसे होगा? हाँ महाराज, इतनी जनता कि एक समय भी खाए तो सौ योजन के कन्द-मूल-फल खा जाए। तो भगवान मर्यादा-पुरुषोत्तम ने उन्हें मर्यादा का उपदेश दिया और अजुध्या लौट जाने को कहा। कहा कि मेरे चरणों में तुम्हें तनिक भी अनुराग है, तो सब नर-नारी यहाँ से लौट जाओ। तो महाराज, भगवान का आदेश सिर-आँखों पर धरकर सब नर-नारी यहाँ से लौट जाते हैं और भगवान वनों को चले जाते हैं।

भगत ने लक्षित किया कि उसके प्रवचन में लोगों की रुचि लगभग समाप्त हो चली है। उसने तख्त पर हाथ मारा है और थोड़ा और आगे को सरक गया है।

—एक-एक कर चौदह बरस बीत जाते हैं। भगवान राक्षसों का दमन करके लक्ष्मण और भगवती सीता के साथ वनों से लौटकर आते हैं तो क्या देखते हैं?

भगत ने फिर क्षण-भर का विराम दिया है और श्रोताओं की ओर देखकर मुस्कराया है।

—देखते हैं कि जहाँ से उन्होंने अजुध्यावासियों को लौटने को कहा था, वहाँ पर बहुत-से हिजड़े एकत्र हैं। भगवान ने समझा कि वे लोग उनके स्वागत के लिए आए हैं, सो बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु निकट जाकर उनसे पूछते हैं, तो क्या पता चलता है? पता चलता है कि वे पन्द्रह बरस से वहीं पर बैठे हैं। भगवान सुनकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं और पूछते हैं कि वे पन्द्रह बरस से वहाँ किसलिए बैठे हैं। इस पर उनका मुखिया हाथ जोड़े हुए कहता है, क्या कहता है? कहता है कि हे प्रभु, दीनबन्धु, अन्तर्यामी, आपने आदेश दिया था कि सब नर-नारी लौटकर अजुध्या चले जाएँ। परन्तु हमारे लिए प्रभु, आपने कोई आदेश नहीं दिया था। सो हम आपके सेवक, दासानुदास, तब से आदेश की प्रतीक्षा में यहीं बैठे हैं। भगवान ने सुना, तो चित्त प्रेम से गद्गद हो गया। प्रसन्न होकर कहते हैं कि भक्तो, तुम्हारी इस भावना ने मेरा हृदय और तन-मन-प्राण सब कुछ जीत लिया है, माँगो, क्या माँगते हो? भगवान ने कहा, माँगो, क्या माँगते हो, तो उनमें आपस में कलह छिड़ गया। किसी को धन चाहिए, किसी को पद चाहिए, किसी को पुत्र-कलत्र चाहिए। बहुत समय व्यतीत हो गया, परन्तु कोई निश्चय नहीं कर सके कि क्या माँगें, क्या नहीं माँगें। एक कहता है, यह दो, तो दूसरा कहता है कि यह नहीं, यह दो। जब कलह शान्त करने का कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता, तो भगवान अन्तर्यामी उनसे कहते हैं—क्या कहते हैं...? कहते हैं, जाओ भक्तो, तुम्हें मैं यह वरदान देता हूँ कि कलजुग में एक समय आएगा, तब सम्पूर्ण भारतवर्ष में तुम्हारा राज होगा और तुममें से प्रत्येक की मनोकामना पूरी होगी। तो महाराज, भगवान का वरदान वृथा नहीं जाता। अब देख लो, कलिकाल में आकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में उनका राज़ हो गया है और प्रत्येक की मनोकामना पूरी हो रही है। क्यों लाखासिंह, हो रही है कि नहीं?

लाखासिंह को सम्बोधित करते हुए भगत का स्वर ऊँचा हो गया है। बाईं आँख को ज़रा-सा दबाकर उसने श्रोताओं को देखा है और सीधा हो गया है। लोग खिलखिला उठे हैं। अपनी बात के प्रभाव को लक्षित करते हुए भगत के होंठों पर हँसी की रेखा धीरे-धीरे फैली है। दो-एक बार उसने उसे फैलने से रोका है, फिर अपेक्षित प्रभाव का विश्वास हो जाने पर पूरी तरह फैल जाने दिया है। श्रोताओं की आँखों में तथा नासिकाओं के अग्रभाग पर देर तक हँसी की थिरकन बनी रहती है। भगत टोपी से गले को हवा करने लगा है।

—तो महाराज, इसीलिए इस राज को रामराज कहते हैं। इस राज में स्त्रियों के कर्म पुरुषों ने ले लिये हैं। और पुरुषों के कर्म स्त्रियों ने। इसलिए न स्त्रियों में स्त्रीत्व रहा है, न पुरुषों में पुरुषत्व। सतजुग में क्या स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी? परन्तु उस काल की शिक्षा क्या होती थी...? क्या होती थी उस काल की शिक्षा...?

—तत् तत्! तत् तत्!—गौओं को रस्सी से सहलाता हुआ मक्खनसिंह गली में आ पहुँचा है। उसे देखते ही भगत के आस-पास से श्रोताओं का जमघट सहसा बिखर गया है। भगत कई पल इधर-उधर देखता रहा है कि कोई एक-आध श्रोता भी हो, तो वह अपनी बात जारी रखे, परन्तु किसी के भी आँख न मिलाने पर उसने क्षोभ और निराशा की लम्बी साँस लेकर टोपी सिर पर रख ली है। अँगोछा कन्धे पर डाल लिया है। और रूखी आँखों से शून्य में देखता हुआ राम-नाम का उच्चारण करने लगा है। बाल कौर ब्राह्मणी इस समय उसके प्रवचन पर टिप्पणी कर रही है।

भगवान सरब अन्तर्यामी थे। उन्हें नहीं पता चला कि हिजड़े वहाँ पर क्यों बैठे हैं...निरा झूठ! भगवान के नाम पर झूठ बोलते लोगों को शर्म नहीं आती। भगत बने फिरते हैं।

भगत ने क्रोधपूर्ण दृष्टि से बाल कौर को देखा है और आँखें दूसरी ओर फेर ली हैं। पहले एक बार 'विधिहूँ न नारि हृदय गति जानी' की व्याख्या करते हुए उसकी बाल कौर से लड़ाई हो चुकी है। प्रभु कृपा से भगत की एक आँख कुछ भैंगी है जिससे कई बार यह पता नहीं चलता कि वह किसे लक्षित करके बात कर रहा है। बाल कौर का कहना है कि भगत की आँख उस समय जीतो के चेहरे पर टिकी थी और हृदय-गति के सम्बन्ध में वह अपनी पत्नी कुन्ती की बात सोच रहा था।

सपरेटा दूध की बटलोई सिर पर रखे तनकर चलता हुआ मक्खनसिंह निहाल के चौतरे पर पहुँच गया है। छाती उभरी होने से उसके कन्धे पीछे को हटे-से लगते हैं।

—शाहनी, बटलोई के लिए तो जगह छोड़ दिया कर—उसने बटलोई सिर से उतारते हुए कहा।

—मुए पोस्ती, इतनी देर क्यों कर देता है?—शाहनी थोड़ा एक ओर को हट गई है।

—मैं देर नहीं करता, शाहनी माता, तू जल्दी आ जाती है। तू आप न आया कर, शाह को भेजा कर।

—मुए, शाह तुझे खरे पैसे देता है, मैं खोटे देती हूँ?—शाहनी के माथे पर क्रोध की रेखा भी है और होठों पर मुस्कराहट भी। यह निश्चय नहीं कर पाई है कि उसे क्रोध करना चाहिए, या प्रसन्न होना चाहिए।

मक्खनसिंह शाहनी के भाव को देखकर मुस्कराया है, और उसने दो बार मूँछों पर हाथ फेरा है। नहीं शाहनी माता, तेरा रुपया तो सत्रह आने का होता है। मगर

शाह को आध सेर का डेढ़ पाव भी दे दो, तो वह ले जाता है और तू आध सेर का अढ़ाई पाव लेती है। तू उसे ही भेजा कर।

इस निश्चय पर पहुँचकर कि उसकी प्रशंसा हो रही है, शाहनी प्रसन्न हो गई है। और उसके मुँह के चारों दाँत दिखाई दे गए हैं—यह मुआ मुझे आध सेर का अढ़ाई पाव दूध देता है।—वह जीतो की ओर देखकर बोली है—यह नहीं कहता कि रोज़ मुझे ठग लेता है।

—शाहनी माता, तू तो ब्रह्मा को ठगकर धरती पर आई है, तुझे कौन ठगेगा?

—शाहनी को लगा कि इस बार उसकी प्रशंसा नहीं निंदा की गई है। उसने मक्खनसिंह की धूर्ततापूर्ण मुस्कराहट को भी देखा है। उसके मुँह से अमृत वर्षा होने लगी—मुए, ज़बान खींच लूँगी। छोटी जात, जो मुँह में आए, बकता जाता है। मैं तेरे बाप का दिया खाती हूँ, जो तेरी जान पर भारी हूँ? तेरी माँ चुड़ैल आई होगी ब्रह्मा को ठगकर। नीच जात। जितना मुँह लगाओ, उतना ही खुलते जाते हैं। तुझे नहीं पुजता, तो न दिया कर दूध। इतना बढ़-बढ़कर बातें क्यों करता है?

—छिमा कर माता, छिमा कर।—मक्खनसिंह ने अपनी ढीली पगड़ी उतारकर चौतरे पर रख दी है—तू आध सेर का तीन पाव दूध लिया कर, मगर इस तरह गुस्सा न कर। तेरी तो सारी बरकत है। तू न आएगी, तो बरकत कहाँ रहेगी?

—मुआ कमजात। शाहनी फिर प्रसन्न हो गई है और उसके चारों दाँत बाहर निकल आए हैं।

मक्खनसिंह ने कमीज़ भी उतारकर एक ओर रख दी है और बटलोई धोने के लिए कुएँ की ओर चला गया है। वहाँ से लौटकर उसने भूरी गाय के थन सहलाने शुरू किए, तो आधे लोग जाकर उसके इर्द-गिर्द खड़े हो गए हैं।

—मक्खनसिंह, मुझे पहली गाय का दूध दे देना।—रोशन सराफ ने उसके सिर पर पहुँचकर ऐसे स्वर में कहा है, जैसे वही उनका एकमात्र आत्मीय हो। वह रोज़ की तरह नया पाजामा-कुरता पहनकर दूध लेने आया है और मक्खनसिंह के ऊपर झुके हुए भी उसकी आँखें कहीं और देख रही हैं। पालसिंह दर्जी की दुकान के पास खड़ी निर्मला के चेहरे पर हलकी-सी लाली फैल गई है।

—सबसे पहले तुम्हें दूँगा—मक्खनसिंह बटलोई में धारें निकालने लगा।

—और हम जो तड़के से खड़े हैं? लाखासिंह बैठे हुए गले से चिल्लाया है। उसका चेहरा ऐसे हो गया है जैसे कोई मरने-मारने की समस्या खड़ी हो गई हो।

—इससे पहले तुम्हारी बारी है।

बटलोई में झाग बनने लगा है।

—और हमारी? —भगत भी राम नाम का उच्चारण छोड़कर आगे आ गया है।

—पहले तुम्हारी, फिर लाखासिंह की।

—मैं सबसे पहले आकर बैठी हूँ, मक्खनसिंह।—बाल कौर ब्राह्मणी ने दूर से फरियाद की है।

—तेरा नाम भी रजिस्टर में लिखा है, कौरा। बैठी रह, फिक्र न कर।

मक्खनसिंह के दूध दुहकर उठने पर आस-पास खड़े लोगों में कन्धेबाज़ी आरम्भ हो गई है। मक्खनसिंह ने गाय की रस्सी खोलकर कन्धे पर डाल ली है और उस जमघट से निकलकर चौतरे पर आ गया है। उसके वहाँ पहुँचते-न-पहुँचते उसके चारों ओर बाँहों का घेरा बन गया है। मक्खनसिंह ने दूध का पौवा भरकर पल-भर सबको सन्देह में रखा है, फिर शाहनी राम कौर के गिलास में डाल दिया है। दूध लेकर भी शाहनी का हाथ पीछे नहीं हटा है।

—मुए, यह दूध है? सारा झाग-ही-झाग है।—वह अन्य हाथों से अपना हाथ आगे रखने के लिए संघर्ष करती रही है।

रोशन सराफ का हाथ घेरे में होते हुए भी आगे नहीं बढ़ रहा है। उसकी बाँह निर्मला की बाँह से छू रही है और उस संगति ने धीरे-धीरे और भी कोमल और पुलकमय स्पर्श का अवकाश प्रस्तुत कर दिया है।

दूध चुक जाने पर मक्खनसिंह ने पगड़ी से मुँह और गले का पसीना पोंछा है और सेर-सवा सेर सपरेटा दूध बटलोई में डालकर झाग बैठाकर और दूध माँगनेवाले ग्राहकों को निपटाने लगा है। लगातार गिलास हिलाने से शाहनी राम कौर की धोती यथास्थान नहीं रही है। और उसके हिलते हुए मांस-पिंड बाहर दिखाई दे रहे हैं। मक्खनसिंह ने एक घूँट दूध उसके गिलास में डाला और चिल्लाया है—ले, खुले भंडारों वाली माता, तेरे भंडार भरे रहें।

मुए, अभी झाग ही झाग है। शाहनी फिर भी गिलास हिलाकर झाग बैठाती रही है।

—ले माता, और ले। मक्खनसिंह ने आधा घूँट दूध और डाल दिया है।—कहे, तो बटलोई ही तेरे घर पर छोड़ आऊँ।

—मुआ, कमजात।—और शाहनी दूध हिलाती रही है।

लाखासिंह को दूध नहीं मिला है, इसीलिए वह उसका दूध छोड़ देने की धमकी दे रहा था।

—तेरे आसरे हैं, लाखासिंह छोड़ जाएगा, तो हम भी गली छोड़ देंगे। कल से साइकिल पर दो टीन लगाकर बेच लिया करेंगे। हम यहाँ दूध बेचने के लिए थोड़े आते हैं। हम इसीलिए आते हैं कि यहाँ तुम लोगों के दर्शन-पर्शन हो जाते हैं। बस दो मिनट ठहर जा, अभी दुहकर देता हूँ। और लाखासिंह की दाढ़ी को हाथ लगाकर मक्खनसिंह काली गाय के थन सहलाने लगा है और आँख दबाकर इधर-उधर देखते हुए जैसे जाप करता जा रहा है—ऐ खुले भंडारों वाली माता, तेरे भंडार भरे रहें...।

चाँदनी और स्याह दाग*

मेहर के बाल बिखरकर उसके घुटनों पर आ गए थे। हवा के स्पर्श से सफ़ेदा की दूर तक की पंक्तियाँ काँप रही थीं। पीछे बेंत का झुरमुट था, जिसके साये चाँदनी में जालियाँ बुन रहे थे। मेहर का चेहरा उन जालियों में लिपटा था। समदू हाथ पीछे किए घास पर बैठा था। घास के ठंडे स्पर्श से उसकी हथेलियों में चुनचुनाहट् हो रही थी। वातावरण में तिगलियों की सोंधी गन्ध व्याप्त थी, और मेहर के शरीर की भीनी गन्ध जिसे कई बार उसने बहुत पास से सूँघा था।

तेरहीं की रात थी और चाँदनी ख़ूब निखरकर फैली थी। जेहलम के उस पार अखरोट, बादाम, बेंत और सफ़ेदा के झुंड दूर तक फैले थे, धुँधले-धुँधले, प्रेत छायाओं जैसे। उधर का गीला कगार चाँदी की तरह चमक रहा था। दरिया में कभी-कभी कोई मछली उछल जाती थी...चिलुक्-चिल्क् चिलुक। बल खाती हुई लहरें किनारे के पत्थरों पर आ टूटती थीं।

सायों के जाल में मेहर का चेहरा बहुत पीला लग रहा था। चेहरे की नीली नसें त्वचा के नीचे से झलक जाती थीं। समदू एकटक देख रहा था। मेहर के चेहरे की हलकी नामालूम रेखाओं से वह अच्छी तरह परिचित था। गर्दन के नीचे मांस की गोलाइयों के पास वे रेखाएँ अधिक गहरी हो गई थीं। वे रेखाएँ वैसी ही थीं, जैसे संगमरमर के रेशे, जो संगमरमर की चिकनाहट को व्यक्त करते हैं। समदू देख रहा था—वह पीलापन, वे नीली-धारियाँ और दो बड़ी-बड़ी काली आँखें...।

वह पास को सरक गया—मेहर के शरीर की गन्ध के उस घेरे में, जहाँ घास और मक्की की गन्ध लुप्त हो गई।

—मेहर।

मेहर का चेहरा झुककर बाँहों में छिप गया।

—मेहर तू मुझसे शादी करेगी। करेगी न? तू क्यों मुझसे दूर-दूर रहती है? क्यों

---

* इस कहानी की पांडुलिपि टाइप की हुई है और शीर्षक 'कौड़ियों वाले साँप' को पेंसिल से काटकर प्रस्तुत नया शीर्षक दिया हुआ है।

मुझसे आँखें बचाकर निकल जाती है? मैं तुझे अपने पास रखना चाहता हूँ मेहर, हमेशा-हमेशा के लिए। मैं तुझे हरगिज़-हरगिज़ अपने से दूर नहीं होने दूँगा। देख मेहर, मेरी तरफ़ देख।

उसने मेहर का चेहरा ऊपर उठाने की चेष्टा की, परन्तु मेहर उसी तरह कसी रही। समदू ने उसे अपने निकट खींच लिया। मेहर उसके सीने में मुँह छिपाकर सिसकने लगी।

—मेहर।—समदू का दायाँ गाल मेहर के कोमल बालों पर टिक गया। उसने क्षण-भर के लिए आँखें मूँद लीं। उस क्षण के लिए उसे महसूस हुआ कि वह दरिया के किनारे पर नहीं, धार के बीच में है, और धार का शब्द उसे आगे, और आगे धकेल रहा है।

—मेहर।

हवा तेज़ थी। हर झोंके के साथ दूर तक झुरमुटों में सरसराहट फैल जाती थी। धार पर चाँद का सीधा प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, इसलिए वहाँ सोने की जालियाँ बिछी थीं। किनारे के पास धुँधले-धुँधले प्रतिबिम्ब हिल रहे थे। बहुत नीचे एक डूँगे की लालटेन की लौ दिखाई दे रही थी। वातावरण के स्पन्दन से लगता था रात अपने एकान्त में गुनगुना रही है।

—मेहर।

समदू ने फिर आँखें मूँद लीं और जैसे दरिया में बहने लगा। बहुत दिन पहले ऐसी ही एक रात मेहर के साथ डूँगे में बिताकर वह वहाँ से मैदान में मज़दूरी करने के लिए गया था। तीन साल की मेहनत के बाद वह इस लायक हुआ था कि शादी के लिए पाँच सौ रुपया जमा करके घर ला सके। कुछ रुपया उसने और भी जोड़ा था, जिससे घर की मरम्मत हो जाए और वह अपने बाप के लिए दस्तार और मेहर के लिए नए कनवाज़ खरीद सके।

परन्तु उसके लौटकर आने तक ज़िन्दगी बदल गई थी।

जुम्मन, खालका और कादिरा माँझी से काश्तकार हो गए थे। कादिरा फिरन की बजाय सलवार-कमीज़ पहनने लगा था। गाँव के एक ओर के सब घर जल गए थे। उनके साथ वे दोनों चिनार भी जल गए थे, जिनके नीचे बैठकर वह और उसके दोस्त मक्की भूना करते थे। मुहम्मद यार लँगड़ाकर चलने लगा था। उसके पैर में गोली लगी थी। उन दिनों वह कुश्ती लड़ने में अपना सानी नहीं रखता था, परन्तु अब उसका शरीर ढीला पड़ गया था और आधे बाल सफ़ेद हो गए थे।

उसके पीछे गाँव पर कबाइलियों का आक्रमण हुआ था।

अब्दुल गनी को लकवा मार गया था। उसके घर का सारा सोना कबाइलियों ने लूट लिया था। उसकी बीवी के पीतल के कड़े भी सोना समझकर ले गए थे।

गाँव के कई घरों में कबाइली चार-चार, पाँच-पाँच दिन तक टिके रहे थे। उन घरों की लड़कियों की आँखें बदल गई थीं। उनमें एक अस्वाभाविक पीलापन आ गया था। वे उसी तरह लकड़ियाँ काटती थीं, जेहलम से पानी भरती थीं और सिंघाड़े बीनने के लिए जाती थीं, मगर...।

उन लड़कियों में उसकी महबूबा मेहर भी थी। उनके घर में सात-आठ कबाइलियों का एक गिरोह कई दिनों तक रहा था।

मेहर अब उससे दूर-दूर रहती थी। वह कई बार चेष्टा करके भी उसकी ख़ामोशी को नहीं तोड़ पाया। उसकी अपनी ज़बान मेहर से बात करते लड़खड़ा जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे उसका मन निश्चिन्त हो गया। जले हुए घरों की जगह नए घरों की नीवें खुद गई थीं। मस्जिद के इर्द-गिर्द नई दीवार खड़ी हो रही थी। उस साल फसल पिछले कई सालों से अच्छी हुई थी। पुराने दाग एक-एक करके मिट रहे थे। एक दिन जब वह ज़फरू के डूँगे में बैठा था ज़फरू कुलचे पकाता हुआ सुना रहा था कि किस तरह उसकी बुढ़िया उसके कुलचों पर कुर्बान होकर उससे शादी करने के लिए लालायित हो उठी थी। बुढ़िया ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रही थी कि वह सारा मन-घड़न्त क़िस्सा है, ज़फरू के सौ खुशामद करने पर उसके बाप ने उनकी शादी की हामी भरी थी। विवाहित जीवन के उस रूप को देखकर अनायास उसने मन में निर्णय कर लिया था कि कुछ भी हुआ हो, वह मेहर से शादी ज़रूर करेगा। समय के दाग समय के साथ मिट जाएँगे। कबाइलियों के वहाँ रह जाने से मेहर की मासूमियत में क्या अन्तर आया था? पीलेपन के बावजूद उसकी आँखों में वही कोमलता थी और उसके नन्हे-नन्हे दाँत उसी तरह चमकते थे। मेहर आज भी गाँव की सबसे हसीन लड़की थी।

मेहर के कोमल शरीर के स्पर्श से समदू का सारा शरीर रोमांचित हो रहा था। जैसे वह चिकनाहट उसके शरीर में ढलती जा रही थी। उसके होंठ कई क्षण मेहर के बालों से खेलते रहे। सहसा उसने पकड़कर मेहर का चेहरा अपनी ओर कर लिया और उसके होंठों पर झुक गया। मेहर तड़पकर उससे अलग हो गई।

एक कौड़ियों वाला भूरा साँप रेंगता हुआ पास से निकल गया। समदू ने पाँव समेट लिए। साँप बहुत बलिष्ठ और लचकीला था।

कुछ क्षणों की चुप्पी में वे एक-दूसरे की आँखों में देखते रहे, समदू छिले हुए भाव से, मेहर व्यथापूर्ण ममता से।

—घास से उठ जा समदू, यहाँ बहुत साँप हैं।—मेहर की दृष्टि का भाव शब्दों में उतर आया।

—मैं साँप से नहीं डरता।—समदू घास पर पीछे को फैलता हुआ बोला—साँप काट ही तो लेगा! क्या होगा साँप के काटने से?

मेहर की आँखों की व्यथा गहरी हो गई।

—क्या होगा साँप के काटने से? मौत ही तो होगी।—समदू फिर बोला—यह ज़िन्दगी जीने से तो अच्छा है कि...।

मेहर ने हाथ से उसका मुँह बन्द कर दिया।

—तू जानता है समदू—वह बोली—मैं दिलोजान से तुझसे मुहब्बत करती हूँ। तेरे साथ ज़िन्दगी बिताने की कितनी हसरत मेरे दिल में है! लेकिन समदू...।

—लेकिन-एकिन कुछ नहीं।—समदू एक विश्वास के साथ उसके और निकट सरक गया—जो कुछ तेरे साथ हुआ है, उसमें तेरा क्या दोष है? ज़िन्दगी इस तरह बर्बाद कर देने की चीज़ नहीं है। कबाइलियों को यहाँ से गए अर्सा हो गया। दिनों के दाग धीरे-धीरे मिट रहे हैं। मेरी नज़रों में तू आज भी इस चाँदनी की तरह पाक और हसीन है।

उसने मेहर के चेहरे को दोनों हाथों में ले लिया। मेहर ने उन हाथों के खिंचाव को रोकने के लिए उसकी कलाइयाँ पकड़ लीं।

—नहीं समदू,—उसने हाँफते हुए कहा—यह नहीं होगा, कभी नहीं।

—क्यों? समदू के हाथ उसका हठ तोड़ने के लिए सख्त हो गए—क्यों नहीं होगा? ज़रूर होगा।

—नहीं होगा।—मेहर की कलाइयों की पकड़ भी सख्त हो गई। —तू समझता क्यों नहीं है, समदू? मैं तेरी जान की दुश्मन नहीं हूँ...मेरे होंठों में साँप से कम ज़हर नहीं है।

उसके चेहरे पर समदू के हाथों का दवाब कम हो गया। वह विमूढ़-सा उसकी ओर देखता रहा।

—तू मुझे क्यों अपनी तरफ़ खींचता है?—मेहर कहती रही—मैं वह मेहर नहीं हूँ, जिसे तू पाना चाहता है, इस ज़िन्दगी में। अब मैं वह मेहर हो भी नहीं सकती। मैं एक गला हुआ बीमार जिस्म हूँ और कुछ नहीं, जिसमें अब ज़हर ही ज़हर है...।

समदू के हाथ मेहर के चेहरे से हट गए। मेहर के हाथों की पकड़ भी क्षण-भर के लिए और मज़बूत होकर ढीली पड़ गई। समदू को महसूस हुआ जैसे बड़े-बड़े फ़ौजी बूटों से कोई उसके माथे पर ठोकरें लगा रहा है, बन्दूक का कुन्दा उसके सिर में जड़ रहा है, और कौड़ियों वाला साँप उसकी जाँघों से लिपटकर उसे लगातार डंक मार रहा है। उसने पेड़ के तने से टेक लगा ली।

चाँदनी में चमकती हुई सफ़ेदा की पंक्तियाँ दूर तक जंगल के पहरेदारों की तरह खड़ी थीं। चाँद ऊँचा उठ आने पर दरिया की सतह बिल्लौर की तरह चमक रही थी। कुछ घास के लोंदे दूर से दरिया में तैरते आ रहे थे। शायद उनमें कोई मरा हुआ पशु उलझा था।

बेंत के वृक्षों का झुरमुट हिल रहा था, और उसमें से गुजरती हुई हवा एक डरावनी गूँज पैदा कर रही थी।

समदू स्थिर दृष्टि से मेहर के चेहरे को देखता रहा। उसके चेहरे की रेखाओं में ज़रा भी तो अन्तर नहीं आया था। त्वचा का कसाव वैसा ही था और भौंहें तथा आँखें उतनी ही गहरी थीं।

क्या उसकी बात सच हो सकती थी? और हो भी तो...।

समदू ने आसमान की ओर देखा। तेरहीं का कोने से टूटा हुआ चाँद अभी पूरी आभा बरसा रहा था। वह सीधा हो गया। मेहर की गहरी काली आँखें उसी व्यथा और ममता के साथ उसे देख रही थीं। समदू का हारा हुआ विश्वास लौटने लगा।

—मुझे किसी ज़हर की परवाह नहीं,—उसने धीमे मगर निश्चित स्वर में कहा और मेहर का चेहरा अपने पास लाकर उसके होंठ चूम लिए—ज़हर-भरे।

एक घटना*

लुधियाने के पास वह छोटी-सी बस्ती है। रिटायर होने के बाद डाक्टर हरिवंश वहीं बस्ती में ही जा बसे थे, क्योंकि उनका जन्म स्थान वही था, और पुरातत्त्व के विद्वान होते हुए भी उनके हृदय में इतनी भावुकता थी ही कि जीवन के अन्तिम दिन उसी वातावरण में रहकर बिताएँ, जिस वातावरण के साथ उनके जीवन की पहली स्मृतियाँ सम्बद्ध थीं। वहाँ जाने के चौथे वर्ष ही उनका देहान्त हो गया, हृदय की गति रुक जाने से, और उनके हितचिन्तकों तक यह समाचार, एक-एक करके, दिनों-महीनों में ही पहुँच पाया। जब वह समाचार मुझे मिला, उन्हें गुज़रे चार महीने हो चुके थे। मुझे सहसा झटका लगा। केवल इसलिए ही नहीं कि डॉक्टर हरिवंश मेरे अच्छे मित्र थे, बल्कि इसलिए भी कि एक इतना बड़ा विद्वान उठ गया और कहीं कोई चर्चा नहीं; यहाँ तक कि उनके निकट परिचय के व्यक्तियों ने भी जाना नहीं। वे नगर में रहते तो शोकसभाएँ होतीं, सहानुभूति के सन्देश भेजे जाते, परन्तु...

मैंने एक बार उनके परिवार से मिल आने का निश्चय किया। उनका परिवार केवल दो प्राणियों का था। एक उनकी स्त्री, और दूसरी कन्या, जो उनके नगर छोड़कर बस्ती में जाने के समय लगभग बारह वर्ष की थी। उस आयु में भी वह बालिका चतुराई के साथ तर्क करना सीख गई थी और जब-तब गम्भीर विषयों में अपनी सम्मति दिए बिना नहीं मानती थी। नीलिमा आगे चलकर एक बहुत बड़ी विदुषी होगी—यह एक बार मैंने ही कहा था। फिर तो वह कभी भी अपनी बात को पुष्ट करने के लिए कह दिया करती—जानते नहीं, नीलिमा आगे चलकर एक बहुत बड़ी विदुषी होगी।

---

* यह कहानी से ज़्यादा एक जीवन्त लेखक की 'चिन्ता' है कि वह किस तरह की चिन्ताओं में एक वक़्त घिरा रहा है। यह कहानी राकेश की हस्तलिपि में प्राप्त हुई, पर लेखन काल का कोई संकेत पांडुलिपि पर नहीं है। राकेश की हस्तलिपि बदलती रही है। उनकी डायरियों की तिथिबद्ध हस्तलिपि से मिलाने पर यह सन् 50 के आस-पास की या उससे दो वर्ष पहले की कहानी साबित होती है।

जिस दिन मैं सहसा बिना सूचना दिए बस्ती में उनके जर्जर घर के द्वार पर जा खड़ा हुआ, मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस धृष्ट बालिका के स्थान पर एक शालीन नवयुवती ने विस्मय-भरी आँखें उठाकर मुझे देखा और अत्यन्त संयत स्वर में कहा—आ जाइए, चाचाजी। माँ अन्दर रसोईघर में हैं। अभी बुलाती हूँ।—वह नीलिमा थी, नाम और देह से; स्वभाव में वह कोई और ही लगी; बिलकुल अपरिचित।

उसकी माँ अन्दर से आ गईं। उनकी वेशभूषा सदैव साधारण ही रही थी, पर इस समय की वेश-भूषा पर दैन्य और मलिनता की स्पष्ट छाप थी। उन्होंने ऐसे आग्रह से, जिसमें आत्मीयता का शायद विश्वास नहीं था, मुझे बैठने को कहा और मेरे बैठ जाने पर भी स्वयं अनिश्चित भाव से खड़ी रहीं। मुझे क्षण-भर के लिए तो लगा कि मैं सचमुच उनके लिए अपरिचित हो गया हूँ, परन्तु उस अनुभूति को वश में करके मैंने पुराने ही सौहार्द के साथ उन्हें पास बैठाया और स्नेह के साथ नीलिमा के सिर पर हाथ फेरा। इससे पहले कि मैं कुछ कहता, नीलिमा की आँखें अश्रुपूर्ण हो आईं और उसकी माँ ने रुलाई रोकने के लिए आँखें दूसरी ओर फेर लीं। उनकी करुणा इतनी पास से देखकर मेरा भी हृदय अस्थिर हो उठा। मेरी आँखों में जो आँसू आए, उनसे पुरानी आत्मीयता समय का व्यवधान तोड़कर जाग्रत हो उठी और नीलिमा मेरे घुटनों पर सिर रखकर बुरी तरह रो उठी।

—चाचाजी!—उसके रोते हुए कंठ से निकले ये शब्द मेरे लहू की बूँद-बूँद में अपनी प्रतिध्वनि भर गए।

वह देर तक इसी तरह रोती रही और मैं उसके सिर पर हाथ फेरता रहा। उसकी माँ ने सजल नेत्रों से मेरी ओर देखकर कहा—उनके बाद यह आज इस तरह रोई है।

मैं कल्पना कर पाया कि उसका जीवन कितना संवेदनाहीन रहा होगा।

जब नीलिमा रो-रोकर शान्त हो गई तो उसने शीघ्रता से अपनी आँखें पोंछ लीं, स्वाभाविक रूप में आने की उसने अस्वाभाविक चेष्टा की, और थोड़ी देर चुप रहकर बोली—चाचाजी, आप समझ रहे होंगे कि आपकी बिटिया पागल हो गई है।

—पागल हो नहीं गई, पागल करने जा रही है,—मैंने वात्सल्य के आक्षेप के साथ कहा।

वह चुप रही।

—बोल विदुषी, चुप क्यों हो गई?—मैंने फिर दुलारा।

वह फिर चुप रही।

—नीलिमा आगे चलकर एक बहुत बड़ी विदुषी होगी, है न?

—अब नीलिमा अनपढ़ ही रहेगी, चाचाजी?—यह बात जैसे असावधानी से उसके मुँह से निकल गई। विषयान्तर में अपने को डालने के लिए झटपट कहा—माँ, मैं चाचाजी के लिए चाय तो बना दूँ,—और चली गई।

मैं जितनी देर उसकी माँ से बातें करता रहा, मेरे हृदय में रह-रहकर वह बात खटकती रही—अब नीलिमा अनपढ़ ही रहेगी। वह, जो एक बहुत बड़ी विदुषी हो सकती थी, शायद अब कुछ भी नहीं होगी। बात उतनी महत्त्वपूर्ण न होती, यदि वह स्वयं उसे न जानती। ट्रैजेडी यही थी कि वह जानती थी। वह बहुत छोटी आयु में ही अपने को पहचानना सीख गई थी, और आज वह पहचान ही उसके जीवन की कसम बन रही थी।

वह चाय ले आई।

मैंने चाय की प्याली को गौर से देखा। फिर नीलिमा के चेहरे को देखा। उन दोनों में एक साम्य था। दोनों की उज्ज्वलता धुँधली हो रही थी, असमय ही। चाय की प्याली शायद दिनों के बाद उपयोग में लाई जा रही थी।

—तू भी तो मेरे साथ पिएगी, बिटिया,—मैंने प्याला उसके हाथ से लेते हुए कहा।

वह क्षण-भर मौन रही। फिर बोली—आप पी लीजिए, मैं बाद में पियूँगी।

—साथ ही क्यों नहीं?

वह फिर क्षण-भर मौन रही। फिर बोली—इसी प्याली को धोकर इसमें लूँगी।

मेरा हाथ थोड़ा-सा काँप गया। उसके घर में दूसरी प्याली नहीं थी।

—हम साथ ही साथ पिएँगे, मैंने कहा—और आधी चाय सॉसर में डालकर अपने लिए रख ली, और प्याली उसकी ओर बढ़ा दी।

—नहीं, आप यह लीजिए,—कहकर नीलिमा ने सॉसर मेरे हाथ से ले ली और एक घूँट पी भी लिया।

घर की दशा शोचनीय हो रही थी। एक दीवार में दरार पड़ गई थी और उस ओर से घन की कड़ियाँ यूँ ही हलका-हलका चिरमिराती रहती थीं। बाहर का आँगन ही घर में रहने का एकमात्र सुरक्षित स्थान दिखाई देता था। वहाँ भी चिड़ियों और कबूतरों ने अपने रैन-बसेरे की डौल कर रखी थी। नीलिमा की माँ, प्राणिदया के वशीभूत, उन्हें वहाँ से हटा देने के पक्ष में न थीं। वैसे शायद अपने जीवन के एकान्त में, उन्हें उन पक्षियों में ही निजत्व का परितोष मिल जाता था।

धीरे-धीरे उनकी अवस्था खुलकर मेरे सामने आ गई। डाक्टर हरिवंश ने अपने जीवन-काल में कुछ भी धन संचित नहीं किया था। उनका विचार था कि वे अपनी बेटी को इतना योग्य बना जाएँगे कि वह हर तरह से स्वावलम्बिनी बन सके। उन्होंने यह नहीं सोचा कि पैंतीस वर्ष की आयु में विवाह करने वाले व्यक्ति की सन्तान इस देश में पिता की छत्रछाया में थोड़ा ही जीवन-काल बिता पाती है।

—चाचाजी, पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ कहीं बिक सकते हैं?—सहसा नीलिमा ने कहा।

मुझे याद आया कि डाक्टर हरिवंश ने अपने जीवन-काल में देश के विभिन्न भागों से बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्रित किए थे और उन्हें वे अपनी एक अमूल्य

सम्पत्ति समझा करते थे। यदि उनकी मृत्यु आकस्मिक न होती तो निःसन्देह वे ये ग्रन्थ किसी पुस्तकालय को भेंट कर जाते। पर अब परिस्थिति भिन्न थी, और उस परिवार को रूखे गौरव की अपेक्षा धन की अधिक आवश्यकता थी।

—चेष्टा की जा सकती है, मैं पुस्तकालयों में पता करूँगा,—मैंने कहा।

—माँ उन्हें रद्दी में बेचने जा रही थीं, पर मैंने बेचने नहीं दिया।

—रद्दी में?—मेरे हृदय पर सहसा एक और आघात लगा। उनकी अवस्था की वास्तविकता और भी उघड़कर सामने खड़ी हो गई।

—रद्दी में इनका क्या मिल जाता, भला?—मैंने कहा—इन पन्नों में तो पुड़ियाँ भी नहीं बँध सकतीं।

—रद्दीवाला एक मन के तीन रुपए दे रहा था। कुल मिलाकर सवा मन के लगभग हैं।

इस कल्पना से मेरा अन्तर काँप उठा कि शताब्दियों का परिश्रम और शताब्दियों की प्रतिभा, जिसके संचय में भी कई वर्ष लगे, केवल साढ़े तीन रुपए में बेच दिए जाते।

—और किसी से नहीं पूछा?

—मन्दिर के पुजारीजी को एक दिन सब ग्रन्थ दिखलाए थे। वे श्रीमद्भागवत दो रुपए में ले गए, और ग्रन्थ उन्होंने कहा, उनके काम के नहीं। पर उन्होंने यह भी कहा था कि कोई खरीदनेवाला मिल जाए तो पूरी किताबों के पचास-साठ रुपए दे देगा।

—इतने मिल जाएँगे?—नीलिमा की माँ ने पूछा। उनकी ध्वनि में निराश उत्सुकता झलक आई।

—इतने ही नहीं, इससे कहीं अधिक मिल जाने चाहिए। यदि ग्रन्थ किसी पुस्तकालय ने ले लिए—मैंने कहा। नीलिमा की माँ की आँखों में एक हलकी-सी किरण चमककर रह गई।

संध्या हो रही थी और मुझे आख़िरी बस से लौटना था। जब मैंने उनसे विदा ली, उन दोनों की आँखें पुनः अश्रुपूर्ण हो आईं। मैंने बार-बार चाहा कि नीलिमा से कहूँ कि बेटी चल, मैं तुझे पढ़ाऊँगा, तुझे वैसी ही विदुषी बनाऊँगा, जैसी तेरे पिता की कामना थी, पर तुरन्त अंकुश के रूप में भविष्य के चित्र खड़े हो जाते—उसे पढ़ाना ही नहीं, उसके विवाह का भी प्रबन्ध करना होगा, और अभी मुझ पर अपनी बेटी के विवाह का ऋण बाक़ी है, जिसे चुकाने में कई वर्ष लगेंगे, और मैं भी बूढ़ा हो रहा हूँ, और मेरी पत्नी चिड़चिड़े स्वभाव की है, और मेरी पेंशन कुल साठ रुपए है।

—बेटी, मुझे ग्रन्थ की सूची बनाकर भेज देना। मैं पता करके तुम्हें लिखूँगा। मैंने चलते हुए कहा।—मेरी आँखों में जो आँसू आए, उन्हें मैंने ढुलकने दिया।

मैं जालन्धर आ गया। लगभग एक सप्ताह बाद नीलिमा का पत्र मिला, जिसमें साथ उसने हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची भी भेजी थी। उस सूची में लगभग दो सौ ग्रन्थ थे। मैंने वह सूची एक संस्कृत के विद्वान को दिखलाई। उन्होंने बताया कि उस संग्रह में कई अमूल्य पुस्तकें हैं और आठ-दस तो ऐसी हैं जिनकी कोई एक भी प्रति अन्यत्र प्राप्य नहीं।

मेरा हृदय उल्लसित हो उठा। यदि उस संग्रह के पाँच-छह सौ रुपए प्राप्त हों तो उस परिवार के लिए यह ठोस आय होगी। मैंने उस संस्कृतज्ञ के आदेश से देश के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में पत्र लिखे। ग्रन्थ-सूची की प्रतिलिपियाँ भी तैयार करके साथ भेज दीं।

दो-तीन सप्ताह तक कोई उत्तर नहीं आया। मैं निराश होने लगा।

एक दिन एक प्रान्तीय पब्लिक लाइब्रेरी से पत्र आ गया। वे पूरे संग्रह को (यदि वह खंडितं न हो तो) दो हज़ार रुपये में खरीदने को तैयार थे।

दो हज़ार रुपये नीलिमा की शिक्षा, उसका विदुषी के रूप में चमकना, उसका विवाह, उसका सुखी जीवन...

पहले तो मन में आया कि तुरन्त ही स्वीकृति लिख दूँ पर फिर सोचा कि शायद और भी कहीं से उत्तर आ जाए; शायद इससे भी अधिक धन-राशि प्राप्त हो सके।

मैंने बड़े-बड़े पुस्तकालयों को दूसरी बार पत्र लिखे। दो-एक के उत्तर आए कि उन्हें आवश्यकता नहीं। पर बम्बई के एक पुस्तकालय ने चुने हुए सौ ग्रन्थों की सूची भेजी और लिखा कि वे केवल उतने ही ग्रन्थ लेने के लिए तैयार हैं, और उनके लिए सात-आठ सौ रुपए दे सकते हैं। उसके अनन्तर कोई पत्र नहीं आया। मैंने निश्चय किया कि पूरा संग्रह दो हज़ार रुपए में दे दिया जाए।

जिस दिन मैंने उस पुस्तकालय को पत्र लिखा, उसके दो या तीन रोज़ बाद मुझे नीलिमा का पत्र मिला। हस्तलिखित ग्रन्थ उन्होंने बेच दिए थे...पुजारीजी अपने साथ किसी धार्मिक विद्वान को लेकर आए थे, जिसने पहले तो सौ रुपए देने को कहे, पर धीरे-धीरे दो सौ रुपए तक आ गया। उसने यह भी कहा कि वह उतनी रकम उनके परिवार के प्रति सहानुभूति के कारण ही दिए जा रहा है।

—इससे अधिक तो नहीं मिल सकता था न, चाचाजी?—नीलिमा ने पत्र में लिखा था। मैं देर तक सिर पर हाथ रखकर सोचता रहा कि उसे उत्तर में क्या लिखूँ?

दूसरे दिन जो मैंने उसे पत्र लिखा, उसमें संकेत तक नहीं किया कि उन ग्रन्थों के लिए उन्हें दो हज़ार रुपए प्राप्त हो सकते थे। उनकी उस नन्ही-सी खुशी को, जो उनके उदास जीवन में आई थी, यूँ मसल देने का साहस नहीं हुआ।

एक बार उबाल उठा कि नीलिमा की क्षतिपूर्ति मुझे करनी चाहिए। मुझे उसको अपने पास ले आना चाहिए, क्षण, बुढ़ापे, और अपनी पत्नी के बावजूद...

परन्तु वह भी नहीं हो सका।

बनिया बनाम इश्क*

रात के साढ़े ग्यारह बजे, किसी भले आदमी का किसी भले आदमी के यहाँ आने-जाने का वक़्त नहीं। मगर मेरे मेहरबान, इन्द्रदेव, जात सिन्धी, का ध्यान इन छोटी-छोटी चीज़ों की तरफ़ नहीं जाता था। अपनी दोस्ती और बेतकल्लुफ़ी का सबूत देने के लिए इससे अच्छा और कौन-सा वक़्त हो सकता था?

इसलिए उसे देखकर मुस्कराना और बैठने के लिए कुर्सी की तरफ़ इशारा करना लाज़िमी था।

मगर वह बैठने के लिए नहीं, मुझे अपने साथ बाहर ले जाने के लिए आया था।

जोधपुर जैसे शहर में जब रात के ग्यारह बज चुकते हैं, तो लगता है कि धरती अपनी आकाश-यात्रा के किसी नए मोड़ पर पहुँच गई है, क्योंकि जीवन की गति बिलकुल थम जाती है और ठंडी रेत सारे वातावरण को निर्जीव बना देती है। उस समय आस-पास कुछ ऐसी निःस्तब्धता थी कि बाहर निकलना तो क्या, दो ज़िन्दा इंसानों की तरह बातचीत करना भी विचित्र लग रहा था।

मगर मुझे क्या कैसा लगता है, इससे मेरे मेहरबान को कतई कोई वास्ता नहीं था।

वह इस विश्वास के साथ कमरे में टहल रहा था कि मैं अभी तैयार हुआ जाता हूँ और इस आशा के साथ बाँहें सिकोड़े बैठा था कि अब वह भी तरस खाकर मुझे छोड़ जाएगा, मगर उसका विश्वास पक्का था और मेरी आशा कमज़ोर थी।

यूँ मेरा उससे परिचय पूरे पाँच दिन का भी नहीं था। मगर अपनी जान की एक कमज़ोरी थी। इन्द्र के पास एक बहुत बढ़िया ताँगा था। इस अरसे में उसने मुझे जोधपुर के आस-पास के सभी इलाकों की सैर करा दी और कई दूर-दराज़ के इलाकों में ले जाने के वायदे कर रखे थे। इसलिए इंसानी फितरत की कमज़ोरी की वजह से मुझे उसकी हर बेतकल्लुफ़ी बर्दाश्त करनी पड़ती थी और इस बात की भी हामी भरनी पड़ती थी कि हम दोनों बहुत जल्दी एक-दूसरे के बहुत नज़दीक आ गए हैं।

---

* यह कहानी जनवरी 1951 में इलाहाबाद में लिखी गई। इसका पूर्व शीर्षक 'अन्धा देवता' था।

इन्द्र तीन कमानेवाले चाचाओं का एकमात्र ख़र्च करनेवाला भतीजा था और कुछ न करता हुआ भी कुछ भी करना अपने लिए असम्भव नहीं समझता था। उसे बात करने और कुछ अपनी की हुई बात सुनाने का बहुत शौक था। हर चौबीस घंटे में मुझे उससे कम-से-कम चौरासी हज़ार शब्द सुनने पड़ते थे। अभी संध्या को ही उसने बालसमन्द की सुन्दरता पर एक लम्बी कविता सुनाई थी और राजा जसवन्तसिंह की छतरी के सम्बन्ध में इतिहासकार क्या नहीं जानते, इस विषय पर एक बड़ा-सा भाषण दिया था।

और अब वह फिर से तरोताज़ा होकर आया था।

दो-तीन बार आँखों से थकान, नींद और परेशानी व्यक्त करने के बाद मैं चुपचाप तैयार होने लगा। इन्द्र खिड़की से कूदकर बाहर चला गया। मेरे भी खिड़की से कूदने पर उसने आगे बढ़कर खिड़की के किवाड़ मिला दिए।

फाटक के पास ताँगे की बत्तियाँ दिखाई दीं, जो अँधेरे की आरती उतारती हुई एक दिशा से दूसरी दिशा की तरफ़ घूम गईं। हमारे बैठ जाने पर ताँगा सरपट दौड़ने लगा।

मगर एक माजरा मेरी समझ में नहीं आ रहा था। इन्द्र आज रहस्यमय रूप से ख़ामोश था। वह पिछली सीट पर आँखें मूँदकर लेट गया था, जैसे किसी साधना में लीन हो। मैंने उसके घुटने को थोड़ा हिलाया। उसने आँखें खोल लीं।

—क्या माजरा है भाई?—मैंने पूछा।

वह व्यथा की मुस्कराहट, जो अकसर हताश बुद्धिवादियों के चेहरों पर दिखाई देती है, प्रकट हुई और विलीन हो गई। साथ ही आँखें भी बन्द हो गईं।

कोलतार की सड़क, घोड़ों की टप-टप और पहियों की घुरड़...घुरड़...उचटी हुई नींद और मन में बढ़ती हुई खीज...मैंने फिर उसका घुटना हिलाया। उसने फिर आँखें खोलीं।

—यह तो बता दो कि चल कहाँ रहे हैं?—मैंने पूछा।

आँखें आधी मुँद गईं।

—जहाँ मैंने तुमसे कहा था।—उसने उत्तर दिया और आँखें पूरी मुँद गईं।

मैंने सहनशीलता के सम्बन्ध में पुस्तकों में जितने उपदेश पढ़े थे, उन्हें मन में दोहराने लगा। मगर उन उपदेशों का कोई असर नहीं हुआ।

अलग-अलग अवसरों पर उसने मुझे न जाने कहाँ-कहाँ ले जाने के वायदे किए थे। अगर मुझे पहले बताया गया होता कि कोई ऐसी भी जगह है, जहाँ रात के बारह बजे ही जाया जा सकता है, तो मैंने जाने का उत्साह प्रकट करने में कोताही की होती। मगर बेबसी थी और गर्दन झुकाकर ऊँघने के सिवा कोई चारा नहीं था।

सहसा ताँगे के रुक जाने पर मैंने आँखें खोलीं।

दूर तक इंसान के रहने की कोई जगह नज़र नहीं आ रही थी। सुनसान सड़क की रेखा भी कुछ दूर जाकर अँधेरे में डूब गई थी, मैंने घूमकर इन्द्र की तरफ़ देखा।

—थोड़ी देर यहाँ ठहरेंगे।—कहकर वह एक छोटी-सी पोटली लिये हुए ताँगे से उतर पड़ा। शराफत के तकाज़े से मुझे भी साथ उतरना पड़ा।

फरलांग-भर उसके पीछे जाकर काले पत्थर की एक छोटी-सी पहाड़ी दिखाई दी। पहाड़ी पर एक शिवालय था, जो डरावने भूत जैसा दिखाई दे रहा था। एक तरफ़ एक छप्पर या तालाब या उनका एक जात भाई-सा था। इन्द्र एक पत्थर पर बैठ गया और उसने मुझे दूसरे पत्थर पर बैठने का इशारा किया। पत्थर का सिरा नुकीला था, इसलिए मुझे पत्थर बदलना पड़ा।

किसी अज्ञात कोने में एक मेढक मरी हुई आवाज़ में टर्रा रहा था। तालाब की सतह पर अनेक सूख पत्ते तैर रहे थे।

मैंने इन्द्र की तरफ़ देखकर आँखों से हताशा का भाव व्यक्त किया, जो इन्द्र को अँधेरे में दिखाई नहीं दिया। वह कई क्षण भावपूर्ण आँखों से मेरी तरफ़ देखता रहा। फिर उसने मुँह हाथों में छिपा लिया और कहा—आज मैं तुमसे एक जिगर की बात कहना चाहता हूँ।

मेरी आँखों का भाव सवालिया हो गया। मगर वह चुप रहा।

—कहो!—मैंने कहा।

—मुझे एक लड़की से मुहब्बत है।—उसने उसी तरह मुँह छिपाए हुए कहा।

मैंने अपनी ज़बान पर आए हुए एक्सक्लेमेशन मार्क को वहीं रोक लिया। उस समय मुझे लगा कि मैं एक अच्छा संपादक हो सकता हूँ।

—बड़ी हैरानी की बात है...!—मैंने कहा।

उसने हैरानी से मेरी तरफ़ देखा।

—क्यों?

—कि तुमने यह चीज़ अब तक मुझसे पोशीदा रखी!

वह फिर भावुक हो गया।

और भावुक होकर उसने बताया कि उसे किसी आम लड़की से नहीं, बाज़ार की एक वेश्या की लड़की से मुहब्बत है। और वह वेश्या की लड़की भी आम वेश्याओं की लड़कियों जैसी नहीं, राजस्थानी सौन्दर्य का एक अछूता उदाहरण है। और फिर उसने उसका वही नख-शिख वर्णन किया, जो कवि लोग एक ज़माने से करते आए हैं और बताया कि वह आज रावलों की गोठ पर मुजरा करने आ रही है और मुझे उसके साथ वहीं चलना है।

रावलों की गोठ का ज़िक्र पहले भी हुआ था और मुझे याद आया कि मैंने वहाँ चलने का इश्तियाक भी प्रकट किया था।

इन्द्र एक-एक कपड़े उतारने लगा, तो उसके वहाँ आने का मकसद मेरी समझ में आ गया। कपड़े उतारकर वह पानी में उतर गया। पानी की सतह पर जमी हुई काई छितरा गई और कुछ मच्छर उड़कर आस-पास मँडराने लगे।

नहाकर इन्द्र ने नया रेशमी पाजामा-कुर्ता पहना और इत्र की शीशी निकालकर बहुत-सा इत्र कपड़ों पर मल लिया। जब लौटकर ताँगे में आए, तो उसने अगली सीट पर बैठते हुए कहा कि अब मैं अपने को पिछली सीट पर फैला लूँ, अभी हमें पाँच मील और जाना है।

मैं सोचने लगा कि ज़िन्दगी में हर स्थिति का एक दार्शनिक पहलू भी होता है।

जल्दी ही कोलतार की सड़क समाप्त हो गई और ताँगा कच्चे रास्ते पर चलने लगा। ऊपर दोनों तरफ़ वृक्ष आपस में गुँथे हुए थे। कहीं-कहीं ही कोई तारा झिलमिलाता दिखाई दे जाता था। कई जगह वृक्ष बहुत नीचे तक झुके हुए थे और ताँगे का टब पत्तियों और टहनियों में उलझ जाता था। कई जगह पत्ते सिर, मुँह, आँखों से छेड़खानी कर जाते थे। एक जगह एक टहनी टूटकर साथ चली आई।

मुझे अहसास हुआ कि दार्शनिकता से मनुष्य को कितना सन्तोष मिलता है।

—आज मैं उससे एक फैसला करने जा रहा हूँ।—इन्द्र सहसा मेरी तरफ़ मुँह कर बोला—मुझे यह बर्दाश्त नहीं कि वह हर आम-ख़ास जगह पर आए-जाए और सबके सामने मुजरा करे। मैं उसे अपनी रखैल बनाकर रखना चाहता हूँ। मैं शहर बाहर उसे एक जगह ले दूँगा और उसके आराम का इन्तज़ाम कर दूँगा। उसे किसी पर मोहताज रहने की ज़रूरत नहीं।

वह उस शहीद की तरह मेरी तरफ़ देख रहा था, जो अपने धर्म के लिए सूली पर चढ़ने जा रहा हो। मैंने आँखों से उसकी बात का समर्थन किया।

ताँगा अब कीचड़ और पानी में चल रहा था। ऊपर से काँटेदार झाड़ियों में उलझता और नीचे से किसी गड्ढे में हिचकोला खा जाता। उड़ते हुए कीड़ों और कीचड़ के जीवों के स्वर एक जान होकर नए विश्वमय स्वर की सृष्टि कर रहे थे। गाहे-बगाहे कीचड़ के छींटे माथे पर आ पड़ते थे।

सामने एक लोहे का फाटक आ रहा था। उस पर रखी हुई लालटेन की लौ इतनी मद्धम थी कि लौ की स्थिरता से ही उसके लालटेन होने का अनुमान लगाया जा सकता था। हम लोग अपनी मंज़िल पर पहुँच गए थे।

कुत्ते और जूठी पत्तलों के ढेर में से गुज़रकर हम लोग जिस आँगन में पहुँचे, वहाँ अभी तक खाना-पीना चल रहा था। ऊपर एक कमरे में गैस जल रहे थे और घुँघरू छनक रहे थे। मुझे एक पत्तल के पास बैठाकर और दो मिनट में आने के लिए कहकर इन्द्र कहीं गायब हो गया।

बाहर जूठी पत्तलों का माल चुक गया था, इसलिए कुछ कुत्ते अन्दर चले आए थे। वे जीभें निकाले हुए दूर खड़े लम्बी साँसें खींच रहे थे। मैं कुछ देर उनका मनोरंजन करता रहा। गृहपतियों को मेरा यह समवितरण का सिद्धान्त पसन्द नहीं आया, इसलिए उन्होंने कुत्तों को बाहर खदेड़ दिया।

इन्द्र कोई आध घंटे के बाद लौटकर आया। उसके कदम लड़खड़ा रहे थे। उसके कुर्ते पर दो-तीन जगह शराब गिर जाने से बड़े-बड़े दाग बन गए थे। मेरा हाथ पकड़कर ज़ीने की ओर बढ़ते हुए उसने कहा—मैंने उससे...हुक्...साफ़ कह दिया है...आज के बाद...हुक्...वह किसी गोठ पर मुजरा नहीं करेगी! मैं यह...हुक़्...

और वाक्य पूरा होने तक हम गैसों की चकाचौंध में पहुँच गए।

मुजरा चल रहा था। कितनी ही बाइयाँ एक कोने में बैठी पान चबा रही थीं। आस-पास बैठे हुए लोग चुहल कर रहे थे। एक बाई का दोपट्टा खींच लिया गया। उधर से 'हाय-ऊई' की आवाज़ सुनाई देने लगी। मुजरा करने वाली बाई को औरों से की जानेवाली छेड़छाड़ पंसन्द नहीं थी। उसने शिकायत-भरी नज़र से उधर देखा, तो चुहल करने वालों का रुख उसकी तरफ़ हो गया। उधर से एक नोट दिखाया गया और वह लेने के लिए गई, तो उसका हाथ वहीं जकड़ लिया गया। क्षण-भर की हाय-हाय सी-सी के बाद मुजरा फिर आरम्भ हो गया। एक बुड्ढा रावल आनन्द-विह्वल होकर नीचे को झूल गया।

—वाह, बाईजी वाह! क्या लोच है! क्या अदा है! वाह!

बाई गोल थुलथुल बाँहों से भाव-मुद्रा बनाए हुए स्वर को और लोच देने लगी... पीं-ई-या मीलन को जा-आ-ने-दे बैरन माँ!

तबले की थाप तेज़ हो गई। पैर जल्दी-जल्दी थिरकने लगे...बैरन माँ! बैरन माँ! बैरन माँ!

चुहलबाजों ने एक ज़ोर का नारा लगा दिया—जियो छिम्मियाँ, वाह!

जब इन्द्र की महबूबा मुजरा करने के लिए उठी, तो इन्द्र ने चिकुटी काटकर मुझे सचेत कर दिया। मैंने आँखों से उसे विश्वास दिलाया कि मैं पहले से सचेत हूँ।

मुजरा आरम्भ हुआ।

साथ तान उठाई गई...एरी मैं तो प्रेम दीवानी मेरो दरद न जाने कोय!

मैं प्रोफेशनल अन्दाज़ से उसकी तरफ़ देखने लगा।

मैंने पहले उसके शरीर का नीचे से ऊपर तक अध्ययन किया और इन्द्र को इशारा किया कि मैं उसके चॉयस की प्रशंसा करता हूँ।

इन्द्र ने इशारा किया कि वह मेरी पारखी नज़र पर कुर्बान है।

वह भाव के साथ भौंहें नचा रही थी। उसकी आँखें तेज़ी के साथ कमरे के हर भाग की तरफ़ घूम रही थीं। उसे जैसे उस समय आँखों से कइयों की साख रखनी थी।

उसकी कलाइयों के पास हल्के-हल्के रोएँ थे और उसकी चोली की बाँहें पूरी कसी हुई नहीं थीं। उसकी भौंहें हिल रही थीं, जैसे चील हवा में पंख मारती है। और आँखें...तह-दर-तह उन आँखों की न जाने कितनी सतहें थीं। हर सतह पर उनका एक अलग भाव था।

मुझे अपनी तरफ़ घूरते देखकर उसकी आँख हल्के से कटाक्ष के साथ फैल गई। किसी का फेंका हुआ फूल उसके वक्ष के साथ टकराया। एक साथ तड़प, तर्जना, शिकायत और कृतज्ञता की मुस्कराहट...घुँघरुओं की तेज़-तेज़ छनक...

...किस विध मिलणो होय?

ए री मैं तो प्रेम दीवानी मेरो दरद न जाने कोय!

ए री मैं तो...

—तेरे दरद मन्ने मालम सो...ही ही ही...मन्ने मालम सो तेरे दरद!

कटाक्ष, तर्जना और एक मदिर संकेत।

इन्द्र उठकर वहाँ से चला गया। मेरी समझ में नहीं आया कि मुझे पारखी का फर्ज अदा करना चाहिए, या जाकर उसे दिलासा देना चाहिए।

मेरे विवेक ने फैसला दिया कि फर्ज़ पहले पूरा करना चाहिए। इसलिए मैं बैठा रहा। उसका मुजरा समाप्त होने पर दूसरा फर्ज़ पूरा करने की ज़रूरत ही नहीं रही, क्योंकि उस काम के लिए वह आप उठकर चली गई।

मैं रसमग्न होकर दूसरी बाई का नृत्याभिनय देखने लगा।

प्रभात होने के कुछ ही देर पहले मजलिस बरख़ास्त हुई। ताँगा इन्तज़ार कर रहा था। इंन्द्र पर ख़ासा डिप्रेशन आ रहा था, इसलिए मैंने उसे पिछली सीट पर लेट जाने दिया। ताँगा टहनियों में उलझता हुआ फिर कीचड़-भरा रास्ता पार करने लगा।

हवा पहले से बहुत ठंडी हो गई थी, जिससे कीड़ों की आवाज़ें भी मन्द पड़ गई थीं। मैंने सीट पर घुटने सिकोड़ लिए और बाँहें बगलों में दबा लीं।

इन्द्र गम्भीर योगमुद्रा में आकाश की तरफ़ देख रहा था।

—औरत जात प्यार की कद्र नहीं कर सकती!—उसने कहा।

—क्यों?

त्रिकाल सिद्ध विराम। मैंने मन-ही-मन कुढ़कर अपना 'क्यों' वापस ले लिया।

अब इन्द्र ने आँखों से पुनः 'क्यों' की याचना की। मैंने आँखों से 'क्यों' की स्वीकृति दे दी।

—रुपया बड़ी चीज़ है!—उसने ठंडी साँस लेकर कहा। ध्वनि ऐसी थी, जैसे एक गम्भीर सत्य की तह को छू लिया गया हो।

—कैसे?—पूछा, जैसे अरस्तू—प्लेटो से सवाल कर रहा हो।

—वह कहती है कि उसे कम-से-कम एक हज़ार रुपया महीना चाहिए! इतने से कम में उसका गुज़ारा नहीं हो सकता!

गम्भीर होने का मुकाम समझकर मैं भी गम्भीर हो गया।

—हज़ार रुपया महीना तो बहुत ज़्यादा है!

इन्द्र ने पल-भर के लिए आँखें मूँद लीं। फिर आँखें खोलकर बोला—दो-सौ-चार सौ-पाँच सौ तक हो, तो इंसान ख़र्च कर सकता है, मगर हज़ार रुपया...

—बहुत ज़्यादा है!—मैंने फिर अनुमोदन किया।

—मानता हूँ, ख़ूबसूरत है।—वह बोला—मगर इतनी ख़ूबसूरत नहीं है कि...

मैंने उसकी प्रशंसा के सारे वाक्य दिमाग़ से निकाल दिए और सिर हिलाकर इन्द्र की बात का समर्थन किया।

इन्द्र ने आँखें मूँद लीं। मैं हिचकोला खाकर सीधा हो गया।

अभी छह-सात मील का सफर बाक़ी था।

कटी हुई पतंगें*

लाल पतंग आकाश में कट गई थी। हवा की लहरों में डगमगाती और चक्कर खाती हुई वह नीचे की ओर आ रही थी। बहुत-से बच्चे इधर-उधर से भागकर सड़क के बीचोबीच जमा हो गए थे और इस आशा में थे कि पतंग गिरे और उसे दबोचें। एक बच्चा, जिसके कपड़े औरों की अपेक्षा अधिक साफ़ थे, सड़क के किनारे ही आकर रुक गया था और वहीं से बाँहें उठा-उठाकर चिल्ला रहा था—छीपो! मेरा ई माल! छीपो! मेरा ई माल! (पंजाब में कटी हुई पतंगों को देखकर बच्चे इस तरह चिल्लाने लगते हैं और उनका विश्वास रहता है कि इस तरह कहने से कटी हुई पतंग उनके ही हाथ आ जाएगी!)

पतंग अभी धरती से कई फुट ऊपर ही थी कि लूटनेवालों के हाथों ने उसे एक साथ दबोचा और निमिष-भर में ही उसकी धज्जियाँ करके उसके मसले हुए कलेवर को कीच में फेंककर भाग गए।

उनके चले जाने पर वह बच्चा, जो सड़क के किनारे खड़ा था, मसली हुई पतंग के पास आया। नीचे झुककर उसने पतंग को ध्यान से देखा, फिर उस पर अपने पैरों की छाप लगाकर नाचता-डगमगाता वापस लौट गया।

रवि मुस्कराया। जब बच्चा आँखों से अदृश्य हो गया, तो उसने पुनः उड़ती हुई पतंगों की ओर देखा। नीली और जामुनी पतंगों का पेच लड़ रहा था। वे पतंगें जिस दिशा में बढ़ रही थीं, उसी दिशा में कुछ और ऊपर जनवरी महीने के ऊदे बादल अपने-आपको कई-कई तरह के चित्रों में बदल रहे थे। वे हलके और प्रसन्न थे, क्योंकि वे बूँदें बरसा चुके थे। उनके पीछे कुछ और भी गहरे-गहरे बादल थे, जो अभी बरसे नहीं थे। उन पर से हटकर रवि की आँखें उस दिशा में घूम गईं, जिधर से उसकी बस आने वाली थी। समय हो चुका था, पर बस अभी भी आ नहीं रही थी।

---

* यह कहानी अक्तूबर 1951 में शिमला में राकेश ने लिखी थी। इसका पहला ड्राफ्ट उन्हीं की हस्तलिपि में उपलब्ध है। शीर्षक उसी से लिया गया है। इसकी संशोधित प्रति उन्होंने स्वयं प्रारूप के आधार पर तैयार की थी।

उस दिन जनवरी सन् '51 की 26 तारीख़ थी। भारत के गणराज्य घोषित होने के दूसरे वर्ष दिन के उपलक्ष्य में जो उत्सव मनाया जा रहा था, वह उसके बीच से ही उठकर चला आया था, क्योंकि उसे भूख लग आई थी। आते समय रास्ते में उस पर बूँदें उतर आई थीं, जिससे उसका कोट, जो गहरा भूरा होने के कारण कभी मैला नहीं होता, पूरा भीग गया था। कोट की ज़ेब के अन्दर रुपए वाला वह नोट भी भीग गया था, जिसकी खाल कई जगह से उधड़ रही थी। भीगकर नोट की अवस्था विचित्र हो गई थी, परन्तु उस अवस्था में भी उसमें भूख मिटाने की सामर्थ्य तो थी ही।

प्रोफेसर सत्यमूर्ति विद्यालंकार ने रवि के कन्धे पर हाथ रखा। दोनों बाँहों में पुस्तकें, एक हाथ में परचे और एक हाथ में छाता लिये प्रोफेसर सत्यमूर्ति विद्यालंकार सचमुच ही विद्या के अलंकार लग रहे थे।

—पैदल नहीं चलते?—प्रोफेसर विद्यालंकार ने अपने गोल और चिकने चेहरे को प्रश्नसूचक बनाकर पूछा।

रवि बस की प्रतीक्षा करते-करते दो पतंगों के पेच देख चुका था। वह तुरन्त प्रोफेसर विद्यालंकार का साथ देने के लिए तैयार हो गया। मन-ही-मन उसने रास्ते को मंज़िलों में बाँट लिया—गाँधी कैंप, पटेल चौक, अड्डा कपूरथला और रैनक बाज़ार। एक ही लम्बा रास्ता तय करने की अपेक्षा वह पाँच-छह छोटे-छोटे रास्ते तय किया करता था। इससे थकान कुछ कम महसूस होती थी। चलते-चलते वह अपने कदम गिनने लगा।

सहसा एक बूँद उसके सिर पर गिरी। फिर दो बूँदें उसके कॉलर पर गिरीं। फिर कितनी ही मोटी-मोटी बूँदें चारों ओर गिरने लगीं।

प्रोफेसर सत्यमूर्ति विद्यालंकार ने जल्दी से अपनी पुस्तकें और परचे उस पर लादकर छाता खोलने की चेष्टा की। छाता खोलने में उन्होंने सत्य और मूर्ति, दोनों का ज़ोर लगा दिया पर छाता नहीं खुला। छाता वास्तव में जंग खाए हुए था और मनुष्य न होने के कारण विवश नहीं था कि जैसे भी हो सके, अपने स्वामी की इच्छा का पालन करे।

छाता दबाने, झटकने और ठोकरें मारने पर भी नहीं खुला, तो हारकर वे दोनों पक्की ईंटों के बने गांधी गेट की ओर भागे, जिसके न इस ओर कोई दीवार है, न उस ओर, और जो गांधी कैम्प के तम्बुओं के आगे दिन-रात मन मारे खड़ा रहता है। जब कड़ी धूप पड़ती है, या तेज़ आँधी आती है, मूसलाधार वर्षा होती है, तब गांधी गेट उन सबके सामने सत्याग्रह करके कहता है कि हे आकाश की शक्तियो, स्वतन्त्र भारत के इन स्वतन्त्र शरणार्थियों पर आक्रमण करने के पहले तुम मुझ पर वार करो, क्योंकि मेरा नाम गांधी गेट है और मैं महात्मा गांधी का स्मारक हूँ।

गांधी गेट के नीचे आकर रवि ने सिर के बालों को निचोड़ा। गेट की छाया में उस समय और भी बहुत-से लोग थे। परन्तु उन्हें देखकर यह नहीं लगता था कि वे वर्षा के कारण भागकर वहाँ आए हैं। वे वहाँ थे, जैसे कंकड़-पत्थर और काग़ज़ वहाँ थे। रवि की दृष्टि पुरुषों वाली पंक्ति के पीछे एक किवाड़ के ऊपर लगे हुए टीन के बोर्ड से टकराई, जिस पर लिखा था—आटे का डिपो।

आटे का डिपो—ईश्वर और शैतान, दोनों की भाईचारे की दुकान। रवि को अपनी भूख याद हो आई। वर्षा तेज़ होती जा रही थी। बहुत-से लोग तम्बुओं में से निकलकर गांधी गेट की शरण में आते जा रहे थे। थोड़ी ही देर में रवि के चारों ओर इतने व्यक्ति एकत्र हो गए कि वह दूसरों की साँसें सूँघने के लिए विवश हो गया। जब दबाव कुछ और भी बढ़ा, तो उसने देखा कि न जाने कैसे प्रोफेसर विद्यालंकार ने अपना छाता खोल लिया है और टूटे हुए जूते को घसीटते हुए सड़क की सीध में चले जा रहे हैं।

जब उसकी आँखें प्रोफेसर विद्यालंकार के ऊँचे तंग पायजामे, नीले कोट और काली टोपी से हटकर समूह की ओर आई, तो वहाँ उसने एक युवती की आँखों को अपनी ओर देखते पाया।

युवती की त्वचा भूरे रंग की थी। भूरा रंग उसके कोट जितना भूरा तो नहीं, हाँ, इतना भूरा अवश्य था कि उससे चेहरे का मैल सहसा दिखाई न दे। वह उसकी ओर ऐसी दृष्टि से देख रही थी, जैसे आकाश में उड़ती हुई किसी चील को देख रही हो।

पहले तो रवि को लगा कि उस युवती की आकृति किसी परिचित, पर भूली हुई आकृति से मिलती-जुलती है, फिर सहसा ही वह उसे पहचान गया। वह राजकरनी थी—वही राजकरनी, जो आदत न होने पर भी उसे देखकर सकुचाने की चेष्टा करती थी। लाहौर कृष्णानगर के जिस कबूतरखाने में वह किरायेदार था, उसी कबूतरखाने की बीच वाली कोठरी में धाया लज्जावती रहती थी, जिसकी वह लड़की थी। वह उसे जानता था, पर उसका परिचित नहीं था। कबूतरखाने की सीढ़ियाँ चढ़ते-उतरते वे कई बार आमने-सामने पड़ जाया करते थे। वह एक ओर को हट जाती और वह निकल जाता, या वह एक ओर हट जाता और वह निकल जाती। दो साल तक वे इस तरह सीढ़ियों में एक-दूसरे को रास्ता देते रहे, परन्तु उसकी ओर वह एक विचित्र संकोच के साथ देखा करती थी। राजकरनी का वह संकोच उसे बहुत मीठा लगा करता था।

परन्तु आज वह जिस दृष्टि से देख रही थी, उसमें न वह संकोच था और न वह मिठास। उसका शरीर स्त्री-पुरुषों की भीड़ में भिंचा जा रहा था। उसे इसकी चिन्ता नहीं थी। शरीर को दूसरों के स्पर्श से बचाकर रखना है, ऐसा कोई भाव उसके

चेहरे पर नहीं था। वह उसकी ओर केवल देखने ही के लिए देख रही थी, यद्यपि उसकी आँखों में एक घायल इतिहास झाँक रहा था। तेज़ नाखून, विकराल पंजे, मांस की बोटियाँ, लहू की लकीरें, उबली हुई हवा, उबली हुई ज़मीन, उबला हुआ आकाश, चीत्कार-चीत्कार और शेष दो टिमटिमाती हुई मौन आँखें।

वह उसे उन्हीं टिमटिमाती हुई आँखों से देख रही थी। रवि के मन में आया कि वह उसके पास जाकर उससे बातें करे। परन्तु...

वह सड़क पर भीगते हुए गधों को देखने लगा। आठ-दस गधे थे, जो एक-दूसरे के अस्तित्व से उदासीन वर्षा की ठंडी मार खा रहे थे। उसने महसूस किया कि जिस भीड़ में वह खड़ा है, वह भीड़ भी कुछ ऐसी ही है और वह स्वयं भी उसी भीड़ की एक इकाई है।

सड़क पर बस छींटें उड़ाती हुई आ रही थी। बस के हॉर्न की आवाज़ सुनकर गधे सहसा बिदक उठे और किसी राष्ट्रीय अन्तःप्रेरणा से सीधे गांधी गेट की ओर भागे। गेट के नीचे एकत्र भीड़, जो अपनी इकाइयों से उदासीन थी, इन नई इकाइयों के समावेश से बौखला उठी और उन्हें रास्ता देने के लिए दो भागों में बँट गई।

दो-तीन गधे अपने इस सम्मान को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करके सधी हुई चाल से चलते हुए गेट के दूसरे ओर निकल गए। उनके पीछे तीन-चार गधे दोनों ओर की भीड़ को देखकर प्रसन्नतापूर्वक सिर हिलाते हुए ऐसे निकलकर गए, जैसे किसी अभिनन्दन-पत्र का उत्तर दे रहे हों। एक गधा, जो स्वयं बाहर ठहरकर दूसरों को पहले निकलने का अवसर दे रहा था, सबके अन्त में पुलिस-इंस्पेक्टर की तरह प्रविष्ट हुआ और एक बार अपने शरीर को चारों ओर घुमाकर, रुककर और जाते हुए गर्दन ऐंठकर नथूने फुलाता हुआ यह व्यक्त कर गया कि उसे इस तरह के डिसिप्लिन से तनिक भी सन्तोष नहीं। उस गधे के निकल जाने पर बीच की दरार फिर से मिल गई। परन्तु उस दरार के मिलते न मिलते एक कर्कश स्वर उभरकर सुनाई देने लगा। यह स्वर किसी अभ्यस्त स्त्री-कंठ से निकलने का था—रंडी! कुत्ती! खसमाँ नूँ खानी!

रवि ने देखा कि गालियाँ देने वाली की बुझी हुई आँखें राजकरनी को घूरकर देख रही हैं। वे आँखें, जो लाल होने की असफल चेष्टा कर रही थीं, वास्तव में इतनी बुझी हुई थीं कि उनमें कोई भी भावना अपनी झलक नहीं दिखा सकती थी। गालियाँ देने वाली की आयु तीस-बत्तीस से अधिक नहीं थी, परन्तु उसके सूखे और काले होंठों में जीवन नाममात्र को भी नहीं था। फिर भी वह इतने आवेश में आकर गालियाँ दे रही थी, मानो उन गालियों पर ही उसके जीवन की विजय या पराजय निर्भर करती हो।

—अन्धी हो गई है रंडी! बहुत मस्ती चढ़ी है, तो जाकर अपने यारों को दिखा!

परन्तु राजकरनी चुपचाप थी, वह लड़की, जिसे कृष्णानगर के उस मोहल्ले की लड़कियाँ 'बिल्ली', 'बाघन', 'रीछनी', कहा करती थीं, आज मरे हुए शिकार की तरह न कुछ सुन रही थी, न समझ रही थी।

राजकरनी की चुप्पी से गालियाँ देने वाली और भी उत्तेजित होती जा रही थी– माँ रंडी मर गई सौदे करती...!

सहसा राजकरनी भड़क उठी–माँ को गाली मत दे री, नहीं तो यहीं पर भुरता कर डालूँगी!

उत्तेजना में उसका जो स्वर रवि ने सुना, वह वही था, जो वह लाहौर में सुना करता था। रवि ने महसूस किया कि उसके अन्दर आज भी वही लहू है, जीवन है और जीने की शक्ति है–वह क्रोध में उबलकर फिर से वही हो गई है, जो पाँच साल पहले थी।

–कर दे भुरता, तुझे जवानी की मार! कुछ आज़ादी ने किया है, कुछ तू कर दे!–और गालियाँ देने वाली रोने लगी।

राजकरनी फिर मुरझा गई। क्षण-भर के लिए जो लाली उसके चेहरे पर आई थी, वह अदृश्य हो गई, और उसके स्थान पर वही निर्जीविता फैल गई, जो पाँच साल से उसकी कोमलता को, उसके शरीर की चिकनाहट को, उसके कपड़ों की सफ़ेदी को और उसकी रोटियों के स्वाद को खा रही थी। परन्तु उस क्षण-भर की लाली ने जिन-जिन आँखों को अपनी ओर खींचा, वे आँखें उसके चेहरे पर जमीं रह गईं। रवि ने देखा कि उन आँखों में वही लूटने वाला भाव है, जो पतंग लूटने वाले बच्चों की आँखों में था। उसने चाहा कि वह उसे बाँह से पकड़कर उन आँखों से परे ले जाए, परन्तु...फिर वही प्रश्न सामने आया कि किस सम्बन्ध से? और सम्बन्ध से नहीं, तो किस उद्देश्य से?

वर्षा थम जाने पर जब रवि सड़क पर आया, तो उसने महसूस किया कि वह उसे एक कटी हुई पतंग को लूटने वालों की भीड़ में छोड़ आया है, परन्तु जब वह उस भीड़ से दूर पहुँच गया, तो उसे महसूस हुआ कि उसकी अपनी स्थिति भी उस बालक जैसी है, जो सड़क के किनारे खड़ा होकर पुकार रहा था–छीपो! मेरा ई माल! छीपो! मेरा ई माल!

लड़ाई*

उसका बायाँ पैर लंगड़ा रहा था और वह कितनी ही आस्थाएँ और कितने ही विश्वास पीछे छोड़कर स्टेशन की ओर चल रहा था।

वह कहीं जाना चाहता था। कहीं, जहाँ वह अपने चारों ओर मँडराती हुई कड़वी अनुभूतियों से दूर पहुँच जाए, जहाँ उसके भटके हुए हृदय को शरण मिल जाए। वह अपने मानसिक सन्ताप से परे भागना चाहता था और उसके लिए ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उसे किसी भी दिशा में चलते जाना चाहिए—किसी ऐसी दिशा में, जहाँ से और भी कहीं आगे जाया जा सकता हो। और वह बिना किसी निश्चय के स्टेशन की ओर चलता जा रहा था।

ताँगे, बसें, मोटरें पास से निकल रही थीं। उसे लग रहा था कि ज़िन्दगी उसका मज़ाक उड़ा रही है। उसके बायें पैर के टखने की हड्डी, जो दो सप्ताह पहले टूट गई थी, अब चलते समय बुरी तरह से दर्द कर रही थी। फिर भी पैर घसीटता हुआ वह चला जा रहा था क्योंकि चलने से बैठे रहना उस समय उसके लिए असह्य था। बैठ जाने का मतलब था हार जाना, मान लेना और परिस्थितियों के सामने आत्मसमर्पण कर देना। वह अभी इसके लिए तैयार नहीं था।

स्टेशन पर पहुँचकर उसने पल-भर के लिए विमर्श किया कि कहाँ का टिकट ले। वह किसी ऐसे घर में जाना चाहता था, जहाँ का वातावरण उसके लिए नवीन हो। अपने अधिकतर मित्रों से वह कई-कई बार मिल चुका था और जानता था कि वे वर्तमान परिस्थिति में उससे किस-किस तरह मिलेंगे और कौन-कौन-सी बातें कहेंगे। वह ऐसा कुछ नहीं चाहता था, जिसकी वह कल्पना कर सकता हो। शायद इसलिए कि उनमें से किसी भी कल्पना में उसे शरण दिखाई नहीं देती थी। इसलिए वह कहीं ऐसी जगह जाना चाहता था, जहाँ जाकर उसे यह अनुभव न हो कि वही

---

* यह कहानी भी राकेश की हस्तलिपि में उनकी फ़ाइलों से ही मिली है। यह शायद उन दिनों लिखी गई है, जब वह जालन्धर में पहली बार प्राध्यापक होकर डी.ए.वी. कालेज में पहुँचे थे और 'टीचर्ज़ यूनियन' के गठन को लेकर सक्रिय हुए थे, और इसी कारण उन्हें वहाँ से इस्तीफ़ा देना पड़ा था।

हुआ, जिसकी उसे आशा थी। उसका एक मित्र था, जिससे मिले उसे वर्षों हो गए थे। इन वर्षों में वह एक पति और फिर एक पिता भी बन चुका था। उस मित्र का विचार आते ही उसने उसी के वहाँ चलने का निश्चय कर लिया और थर्ड क्लास के टिकटघर की खिड़की के पास जाकर उसने कहा—एक लुधियाना।

टिकट लेकर वह प्लेटफार्म पर आ गया। गाड़ी आने में अभी देर थी। वह एक बेंच पर बैठकर रेल की पटरियों और उनके साथ-साथ चलते हुए जंगलों और तारों को देखने लगा। एक इंजिन शंटिंग कर रहा था। उसकी विकराल चीख़ जैसे रात्रि के अन्तर में दूर तक चुभती चली जाती थी। फिर कुछ नाचते हुए शोले, कुछ फफकता हुआ धुआँ, एक ड्राइवर और एक मज़दूर के शरीर, घूमते हुए पहिए और गति—केवल गति के अतिरिक्त उसके चलने का कोई उद्‌देश्य ही नहीं था।

सहसा उसकी आँखों के सामने 'अन्ना करेनिना' का वह दृश्य आ गया, जिसमें अन्ना अपने जीवन की चरम निराशा में अपने-आपको भूलकर इंजिन के घूमते हुए पहियों के नीचे कुचली जाती है। इंजिन के लहू से लथपथ पहियों का स्मरण करके उसने एक ऐसी दृष्टि से शंटिंग करते हुए इंजिन की ओर देखा, जैसे वह वही इंजिन हो, जिसने अन्ना करेनिना को कुचल दिया था, जैसे आज वह उसे भी एक तरह का निमन्त्रण दे रहा हो।

वह उठकर प्लेटफार्म पर टहलने लगा। यह उसके जीवन में पाँचवाँ अवसर था कि उसे बेकारी का सामना करना पड़ रहा था। पहले वह एक दैनिक पत्र का सहायक सम्पादक था। वह पत्र घाटे में चला गया और उसे वहाँ से अलग कर दिया गया। फिर दो बार दूसरे पत्रों में उसे स्थान मिला, परन्तु एक जगह से अपने 'उग्र विचारों' के कारण और दूसरी जगह से निःशुल्क लेख न ला पाने के कारण उसे निकाल दिया गया। फिर पत्रकारिता से उकताकर उसने एक स्कूल में नौकरी कर ली। परन्तु शीघ्र ही उसे पता चल गया कि स्कूल में पढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि वह मनुष्य के रूप में अपनी हत्या करके शब्दों के अर्थ और उच्चारण बतलाने वाली मशीन में बदल जाए। वह बत्तीस रुपए मासिक की नौकरी उसने अपने-आप छोड़ दी, और उस बार उसे गर्व हुआ कि वह अपनी ओर से भी कोई नौकरी छोड़ सकता है। स्वाभिमान की इस प्रेरणा में उसने दो वर्ष लगाकर एम.ए. कर लिया और अधिक दबाव के कारण इसी बीच में उसकी छोटी बहन, जो अकेली ही उसका परिवार थी, मर गई। फिर भी जिस दिन उसे एक अच्छे कालेज़ में लेक्चरार के रूप में नियुक्ति मिली, उस दिन उसने समझा कि आखिर वह अपने जीवन-संघर्ष की मंज़िल पर पहुँच गया है, और आगे उसके रास्ते में शिखर ही आ सकते हैं, खाइयाँ नहीं।

परन्तु यह भ्रान्ति थी, जो शीघ्र ही दूर हो गई। पहले उसका जीवन और संघर्ष केवल अपने-आप तक ही सीमित था, परन्तु कालेज में आकर उसने पाया कि वह

एक समुदाय के सामूहिक संघर्ष में आ गया है, जहाँ व्याकुलता अधिक स्पष्ट है और असन्तोष अधिक मुखरित। उसने देखा कि वहाँ यह असम्भव है कि मौन रहकर अपने-आपको एक पृथक् व्यक्ति के रूप में देखा जाए। वहाँ वह कइयों के एक समूह का अंश था, जहाँ उसे प्रभावित करना भी था और प्रभावित होना भी था। उसने उत्साह के साथ इस स्थिति को स्वीकार किया और शीघ्र ही टीचर्ज़ यूनियन के कार्यक्रमों में प्रमुख रूप से भाग लेने लगा। टीचर्ज़ यूनियन के अधिकांश कार्यकर्त्ता नौजवान थे और वे जिस तरह की बातें किया करते थे, उनसे यह आभास होता था कि शीघ्र ही शिक्षापद्धति और शिक्षकों की अवस्था में एक क्रान्ति हो जाएगी और वह इस क्रान्ति के अग्रदूतों में से एक होना चाहता था। दो व्यक्ति थे, जिनका लहू सबसे अधिक गर्म था—बलदेव और जगदीश। वे दोनों प्रान्तीय यूनियन में कालेज के प्रतिनिधि होकर जाना चाहते थे। वह उनके लिए वोट एकत्र करने के लिए सरगर्मी के साथ काम करने लगा। उसके अपने विभाग के अध्यक्ष भी प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने की चेष्टा कर रहे थे। उन्होंने उसे आदेश देकर उस सरगर्मी से रोकना चाहा, परन्तु उसने महत्त्व नहीं दिया। वह जानता था कि वह अधिकारी वर्ग के पिट्ठू हैं और अधिकारी वर्ग चाहता है कि किसी भी तरह टीचर्ज़ यूनियन पर उसका प्रभाव बना रहे। वह उन्हें शान्ति, त्याग और सन्तोष की बातें कहते सुन चुका था। जब उन्होंने उससे स्पष्ट पूछा कि वह उन्हें वोट देगा या नहीं, तो उसने स्पष्ट ही उत्तर दिया—नहीं।

निर्वाचन हो गया, बलदेव और जगदीश प्रान्तीय यूनियन के लिए प्रतिनिधि चुन लिए गए। परन्तु निर्वाचन के दो ही सप्ताह के अन्दर उसे कालेज से नोटिस मिल गया।

उस दिन उन्हीं के कालेज में प्रान्तीय यूनियन का अधिवेशन होने वाला था। वह बाहर से आने वाले प्रतिनिधियों को लाने के लिए स्टेशन की बस पर चढ़ने लगा, जब झटके से बस चल पड़ी और वह पीछे गिर गया। उसके बायें पैर के टखने की हड्डी टूट गई। जब वह कठिनता से टूटे हुए पैर को घसीटता, दो व्यक्तियों का सहारा लेकर कालेज में वापस आया, तो उसे प्रिंसिपल का चपरासी साहब के सलाम के साथ एक चिट्ठी दे गया, जिसमें लिखा था कि उसी दिन से उसकी नौकरी समाप्त की जा रही है और एक महीने का अतिरिक्त वेतन उसे साथ दिया जा रहा है।

पीड़ा के कारण उससे बोला नहीं जा रहा था, अतः चिट्ठी उसने बलदेव को बुलाकर उसके हाथ में दे दी। बलदेव पढ़ते ही उत्तेजित होकर अधिकारियों को गालियाँ देने लगा। उसने उसे विश्वास दिलाया कि विषय अवश्य टीचर्ज़ यूनियन के अधिवेशन में लाया जाएगा। पीड़ा असह्य हो रही थी, अतः वह ताँगा लेकर घर चला आया। दो दिन तक उसकी चिकित्सा होती रही।

दो दिन बाद उसे पता चला कि वह विषय स्थानीय यूनियन के अधिकार-क्षेत्र का होने के कारण प्रान्तीय यूनियन में नहीं रखा जा सका, और स्थानीय यूनियन की मीटिंग में यह निर्णय किया गया है कि जो चीज़ सामूहिक रूप में सभी इकाइयों को प्रभावित नहीं करती और केवल एक व्यक्ति की ही समस्या है, उसके सम्बन्ध में कोई सामूहिक कदम नहीं उठाया जा सकता। परन्तु सहानुभूति के रूप में वहाँ एक प्रस्ताव पास किया गया, जिसमें प्रिंसिपल तथा अधिकारियों की इस अनुचित कार्य के लिए निन्दा की गई।

गुमशुदा*

दरम्याने क़द का आदमी था वह, कुछ दुबला, मगर बहुत दुबला नहीं। बाल ठीक ढंग से कटे हुए थे, मगर कुछ इस तरह उलझे हुए थे कि लगता था, जैसे ज़रूरत से ज़्यादा बढ़ गए हों। आँखें बहुत पैनी थीं, और बहुत ही अस्थिर। किसी एक जगह वे दस सेकेंड से ज़्यादा टिक ही नहीं पाती थीं। एकाध बार मैंने उसे पहले भी देखा था, कनाट प्लेस के किसी बरामदे में से गुज़रते हुए। यूँ हज़ारों आदमी उन बरामदों में पास से निकल जाते हैं, मगर मन पर उनकी कोई छाप ही नहीं रहती। उन्हें देखना एक दरिया की लहरें देखने की तरह होता है। मगर इसकी बात अलग थी। तब भी, जब मैंने इसे देखा था, तो मुझे लगा था, जैसे कोई चीज़ मुझसे कन्धा छीलकर निकल गई हो, या गर्द का कोई ज़र्रा आकर आँख में अटक गया हो और हज़ार कोशिश करने पर भी निकल न रहा हो।

और इस बार वह मेरे बिलकुल पास ही बैठा था। बीच में एक शीशे की मेज़ थी और उसके एक तरफ़ वह था और दूसरी तरफ़ मैं। उसके हाथ में शाम का अखबार था, जिसे वह पढ़ नहीं रहा था। कॉफी हाऊस में उस समय काफ़ी भीड़ थी, शोर था और कहकहे लग रहे थे। हम दोनों अपनी-अपनी कॉफी पी चुके थे और मैं वहाँ से उठने की बात सोच रहा था। वह आदमी मेरे लिए अजनबी था और किसी अजनबी के साथ ज़्यादा देर एक मेज़ पर बैठे रहना बहुत अजीब लगता है। और मैं उठ भी गया होता, अगर अचानक ही उसने बात शुरू न कर दी होती।

—काफ़ी गर्मी हो गई है,—उसने एक नज़र छत पर डालकर कहा—अब तो इन लोगों को यहाँ पंखे चला देने चाहिए।—और उसके स्वर से मुझे ऐसा लगा कि अगर पंखे चल रहे होते, तो भी वह छत पर नज़र डालकर कहता—अभी इतनी गर्मी कहाँ हुई है? और इन कम्बख़्तों ने अभी से पंखे चला दिए हैं।

बात का जाल ऐसा होता है कि एक बार ऊपर आ पड़े, तो उसमें से अपने को निकाल लेना बहुत कठिन हो जाता है। मैंने उसकी बात के उत्तर में कहा—जी हाँ,

---

* यह कहानी भी राकेश की फ़ाइलों में से प्राप्त हुई है। कहानी टाइप की हुई है और इसमें राकेश की ही हस्तलिपि में कुछ संशोधन किए हुए हैं। शीर्षक भी उन्हीं का दिया हुआ है।

गर्मी तो इस साल काफ़ी जल्दी ही उतर आई है, और उसने झट से मुझे अपनी बातों के जाल में ले लिया। दो मिनट मौसम की बात करके वह राजनीति की बात करने लगा और फिर साहित्य के रास्ते से होता हुआ रंगमंच की बात पर आ गया। वह बहुत तेज़ी से बात कर रहा था, जैसे उसे डर हो कि कहीं उसका जाल ढीला न पड़ जाए और मैं उसमें से निकलकर चल न दूँ।

मुझे भी कोई काम नहीं था, इसलिए मैं उससे बात करता बैठा रहा। मगर आध-पौन घंटे के बाद जब मैंने फिर चलने के इरादे से अपनी कमर सीधी की, तो वह बोला—आप शायद बहुत जल्दी में हैं।

—नहीं, जल्दी में तो नहीं हूँ,—मैंने कहा—मगर अब यहाँ बैठे काफ़ी देर हो गई, इसलिए सोचता हूँ कि अब यहाँ से चलना चाहिए।

—मैं भी अब यहाँ से उठने की सोच रहा हूँ,—वह बोला—आपको फुर्सत हो, तो चलिए, चलकर कोई पिक्चर देखी जाए। मुझे अकेले पिक्चर देखना कभी अच्छा नहीं लगता। वैसे तो पिक्चर-इक्चर सब ऐसी ही होती हैं, मगर दो-अढ़ाई घंटे तो बीत ही जाते हैं, फुर्सत हो, तो चलिए। मुझे कहने का हक नहीं है, फिर भी मैं कह रहा हूँ। चल सकते हों, तो ज़रूर चलिए।

—देखिए, इस समय..., मैं टालने की कोशिश करने लगा।

—आप टालिए, नहीं,—वह झट से बोला—मुझे अकेले जाना अच्छा नहीं लगता और कोई बात नहीं। यही समझिएगा कि दो-तीन घंटे किसी के लिए ज़ाया कर दिए। हाँ तो, जहाँ तक हमारे रंगमंच की तकनीक का सवाल है...

और उसने इस तरह आगे बात शुरू कर दी, जैसे मेरे साथ चलने की बात तय हो ही गई। मुझे उस समय फुर्सत ही फुर्सत थी और मैं पिक्चर देखने न जाता, तो घर जाकर कोई किताब पढ़ता। मैं उसके साथ पिक्चर देखने चला गया। मगर हाल में बैठे हुए मुझे लगता रहा कि वह सामने पर्दे पर जो कुछ हो रहा है, उसे नहीं देख रहा, अपने ही अन्दर के पर्दे की किन्हीं तसवीरों में उलझा हुआ है। सारे समय वहाँ भी वह इतना अस्थिर लग रहा था कि लगता था किसी भी समय वहाँ से उठकर बाहर चल देगा। जब हम सिनेमाघर से बाहर निकले; तो वह हठ करने लगा कि मैं खाना भी उसके साथ खाऊँ और घंटे-भर में जब हम एक रेस्तराँ से खाना खाकर बाहर आए, तो वह अनुरोध करने लगा कि थोड़ी देर लॉन में बैठकर कुछ बातचीत की जाए। मुझे सचमुच उसके साथ रहना भारी था, मगर उसके साथ सिनेमा देखने और खाना खाने के बाद मैं एकदम से दामन छुड़ाकर जा भी नहीं सकता था।

—मैंने आज आपका बहुत समय बर्बाद किया है,—कनाट प्लेस के बीच के लॉन में बैठकर उसने बाँहें पीछे को फैलाए हुए कहा। उन कुछ घंटों में मुझे इस तरह लगने लगा था जैसे वह गर्द का जर्रा इस बुरी तरह मेरी आँख में गड़ रहा हो कि मेरी आँख

फूलने को आ गई हो। एक तो उसका हुलिया ही ऐसा था, फिर उसने कपड़े बहुत ढीले-ढाले पहन रखे थे और सबसे चुभने वाली बात यह थी कि वह बात करते हुए चारों तरफ़ इस तरह देखता रहता था, जैसे उसकी कोई चीज़ वहाँ पर खो गई और उसे हर आदमी पर चोर होने का सन्देह हो—सचमुच मैंने आपका बहुत ही समय बर्बाद किया है, वह कहता रहा—मगर मैं सोचता हूँ कि हम ज़िन्दगी में कुछ भी करें, उसमें समय बर्बाद ही तो होता है। समय का उपयोग क्या है? और इंसान की ज़िन्दगी का ही उपयोग क्या है?

अच्छा खाना खा चुकने के बाद बहुत-से लोगों पर निराशावाद का भूत सवार हो जाता है, मगर मुझे यह भरे हुए पेट का निराशावाद न लगकर उससे कहीं गहरी चीज़ लग रही थी। वह अचानक सीधा होकर बैठ गया और कहने लगा—मैं अपनी ज़िन्दगी को ही देखता हूँ। मेरी कुछ समझ में नहीं आता कि मैं क्यों जी रहा हूँ। मेरे पास अच्छी नौकरी है, अच्छा सजा हुआ घर है, सुन्दर पत्नी है जो मुझसे काफ़ी प्रेम करती है, काम करने के लिए नौकर हैं, सब कुछ है, मगर फिर भी मुझे ज़िन्दगी फीकी-फीकी और अर्थहीन-सी लगती है। मेरी कुछ समझ में ही नहीं आता कि मैं क्यों जी रहा हूँ? मैंने अपनी ज़िन्दगी में कई तरह के काम करके देखे हैं। एक ज़माना था, जब मुझे कला का शौक था और मैं अपने को रंगमंच और चित्रकला में खो देना चाहता था। मगर थोड़े दिनों ही बाद मुझे वह सब निरर्थक लगने लगा और मैंने एक बीमा कम्पनी में नौकरी कर ली। उसके बाद मैं विदेश चला गया और कुछ दिन वहाँ एक पत्र का संवाददाता रहा। यहाँ लौटकर और कुछ करने को नहीं मिला, तो एक होटल में मैनेजर लग गया। आजकल मैं एक इम्पोर्ट और एक्सपोर्ट के दफ़्तर में नौकर हूँ और मुझे बारह सौ के लगभग तनखाह मिलती है। मगर फिर भी मुझे हर चीज़ बेकार लगती है और पाँच बजे जब मैं दफ़्तर से निकलता हूँ, तो मुझे कुछ समझ में नहीं आता कि मुझे क्या करना चाहिए। क्लब मुझे बकवास लगते हैं, घर में बन्द होकर मुझसे नहीं बैठा जाता, कहीं जाना-आना मुझे अच्छा नहीं लगता। समय बिताना मुझे इतनी बड़ी समस्या लगती है कि मैं आपको बता नहीं सकता।

एक तो मुझे उससे सहानुभूति हो रही थी और दूसरे उसने मेरे ऊपर इतना ख़र्च किया था, इसलिए मैं भी बदले में उसके लिए कुछ करना चाहता था। मैं उससे इस विषय में बात करने लगा कि इंसान का ज़िन्दगी को देखने का नज़रिया ठीक हो, तो ज़िन्दगी कभी उसे निरर्थक नहीं लग सकती क्योंकि व्यक्ति या समय की परिस्थितियाँ कितनी भी ख़राब क्यों न हों, जीवन अपने में निरर्थक नहीं है। और अपनी बात उसके दिमाग़ में बैठाने के लिए मैं अपना आज तक का पढ़ा-सुना-सोचा हुआ सब कुछ काम में ले आया।

वह बाँहें पीछे फैलाए और आँखें बन्द किए हुए चुपचाप मेरी बातें सुनता रहा। बीच-बीच में वह कभी कह देता—मगर क्यों? मगर कैसे?—और फिर चुप होकर सुनता रहता। यह सोचकर कि मैं एक व्यक्ति के जीवन से निराशावाद को निकालने में सहायक हो रहा हूँ, मैं बहुत उत्साह से अपनी बात स्पष्ट करने का प्रयत्न करता रहा, यहाँ तक कि बोलते-बोलते मेरा गला थक गया। शायद मैं डेढ़ घंटे से ज़्यादा बोल गया था।

जब मैंने अपनी बात समाप्त की, तो उसने आँखें खोलीं, और थोड़ा मुस्कराया।

—मैं आपसे एक बात कहूँ?—वह बोला—इस तरह की जितनी भी बातें लोग कहते हैं, या कह सकते हैं, मैं उन्हें भी बिलकुल निरर्थक समझता हूँ। ये बातें भी समय काटने का एक बहाना ही है...आइए, अब चला जाए।

और वह उठा, तो मैं भी खिसियाना-सा उसके साथ ही उठ खड़ा हुआ। लॉन से बाहर फुटपाथ पर आकर उसने अपना हाथ मेरी तरफ़ बढ़ा दिया—मैं आपका बहुत ही शुक्रगुज़ार हूँ,—उसने कहा—आज मेरी बीवी भी घर में नहीं है और मेरे लिए समय काटना सचमुच बहुत ही कठिन हो रहा था। आपकी वजह से इतना अच्छा समय बीत गया। अब मैं समझता हूँ कि घर जाकर मुझे ठीक से नींद आ जाएगी। अच्छा...

और उसके चले जाने के बाद काफ़ी देर मैं सड़क पार करके सामने के फुटपाथ तक भी नहीं जा सका। रात के बारह बज रहे थे, इक्का-दुक्का गाड़ियाँ सड़क से गुज़र रही थीं और मैं अनायास ही हाथ से अपने थके हुए गले को सहला रहा था...

अर्द्ध विराम*

जब हम तीनों साथ-साथ होते हैं, तो ठीक से कोई बात नहीं होती। होती है, ऐसे ही छिटपुट। मदन कहता है—इस साल कितनी बारिश हुई है! मैं बारिश की ओट में होनेवाली चोरियों की बात करता हूँ, तारा बातचीत से बाहर न रहने के लिए सड़कों में पड़े गड्ढों का ज़िक्र कर देती है। फिर हम तीनों आगे बात कर सकने के लिए किसी नए विषय की खोज में लग जाते हैं। थोड़ी देर तारा उठकर किचन में चली जाती है। मदन अपने बुझे पाइप को फिर से सुलगाने के लिए तीलियाँ बर्बाद करने लगता है। मैं अपनी ज़ेबें टटोलता हूँ, जैसे कोई ज़रूरी काग़ज़ खोजना हो। बीच-बीच में मदन की आँखें मुझसे मिल जाती हैं। हर समय एक धुआँ-सा घुला रहता है, उसकी आँखों में। फिर भी, वह उन्हें सहज रखने की कोशिश करता है—मैं सोचता हूँ, सन्दीप को अब होस्टल से घर ले आएँ। यह अकेली परेशान होती रहती है यहाँ। कोशिश करनी है कि दो-एक महीने में मेरी बदली यहीं हो जाए।

—अच्छा ही है, वह घर पर रहे तो।—मैं कोशिश करता हूँ, मेरा स्वर एक अजनबी का लगे...ज़्यादा से ज़्यादा परिवार के एक मित्र का। ज़ेब से निकाले काग़ज़ मैं वापस ज़ेब में भर लेता हूँ, जैसे उनसे अन्दाज़ा लगाया हो कि अभी कितनी देर और वहाँ बैठ सकता हूँ। खिड़की से आती ठंडी हवा मुझे अपने कालरों से नीचे उतरती महसूस होती है। सड़क से गुज़रती किसी गाड़ी की आवाज़ किवाड़ों को झनझना जाती है। मुझे हर बार लगता है कि अगली बार झनझनाहट होने पर एकाध काँच ज़रूर टूट जाएगा। मन होता है, उठकर चटखनी लगा दूँ। मगर यह अपनी हद से आगे जाने की बात लगती है। मदन के बाहर रहने पर उस घर में जो सहूलियत महसूस होती है, वह उसके वहाँ रहने पर नहीं होती। वही खिड़कियाँ-पर्दे, जो उसकी ग़ैर हाज़िरी में अपने जान पड़ते हैं, उसकी मौजूदगी में बेगाने महसूस होते हैं।

---

* राकेश की फाइलों में ही प्राप्त हुई यह कहानी लगता है, उनके उपन्यास 'अँधेरे बन्द कमरे' से पहले लिखी गई थी—सम्भवतः सन् '61 में। 'अँधेरे बन्द कमरे' से पहले की मनः स्थिति इस कहानी से स्पष्टतः लक्षित है। इस कहानी को भी थोड़ा-सा संवर्धित किया गया है।

तारा के किचन से लौट आने पर फिर थोड़ी सुविधा हो जाती है। वह जैसे हम दोनों से उदासीन बीच की एक कुर्सी पर बैठकर सिर पीछे को डाल लेती है–वह सितम्बर है।–यह मन-ही-मन किसी चीज़ का हिसाब लगाती कहती है–इसके बाद अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्बर...तीन महीने।

–दिसम्बर में क्या होगा?–मदन अपने बुझे पाइप से किसी तरह कश खींच लेने की कोशिश करता है।

–होगा कुछ नहीं। ऐसे ही सोच रही थी। सुमित्रा ने लिखा था, दिसम्बर में वे लोग बाहर चले जाएँगे।

–इसमें नई बात क्या है? बाहर तो वे लोग हर साल जाते हैं।

–हाँ...जाते तो हर साल ही हैं। इस साल दिसम्बर में जाएँगे।

–तो तुम क्या दिसम्बर से पहले कुछ दिनों के लिए जाना चाहती हो उनके पास?

–नहीं। पिछले साल गई थी। इस साल नहीं जाऊँगी।

उनके इस तरह बात करने से मुझे उतावली-सी महसूस होने लगती है...वहाँ से उठकर चल देने की। उनकी ज़िन्दगी में बहुत कुछ ऐसा है, जिनमें मैं नहीं आता। बहुत-से लोग हैं, जिन्हें वे पहले से जानते हैं...उनकी ज़िन्दगी के उस दौर के साझीदार, जिसमें मैं नहीं था। तारा मेरी उतावली भाँपकर मुस्करा देती है। उसके पीले चेहरे पर हलका-सा रंग उभर आता है–तुम्हें फिर कोई काम याद आ रहा है अपना?–इस तरह पकड़ लिए जाने से मैं थोड़ा झेंप जाता हूँ। क्षण-भर के लिए मेरी आँखें उससे मिली रहती हैं। तब मदन अपने को हम दोनों से बाहर महसूस करता हैं, उसके माथे पर एक शिकन पड़ने लगती है, जिसे वह अपनी व्यस्तता से ढाँप लेता है–मैं माचिस लेकर आता हूँ, उधर से,–कहकर वह कमरे से चला जाता है। थोड़ी देर में वापस आता है, तो तारा सिर पर बाँह रखे कुछ सोच रही होती है। मैं मुँह में अधजला सिगरेट लिये इस तरह उसे आते देखता हूँ, जैसे इस बीच उसके माचिस लेकर आने का इन्तज़ार ही करता रहा होऊँ। मदन आकर पहले मेरा सिगरेट सुलगवाता है, फिर अपने पाइप के लिए तीलियाँ घिसने लगता है।

–तुमसे पाइप सुलगता तो है नहीं ठीक से!–तारा हलकी खीज के साथ कहती है–फिर भी, पता नहीं क्यों तुम हर वक़्त तीलियाँ घिसते रहते हो! क्यों इसे छोड़कर फिर से सिगरेट पीने लगते?

मदन के कन्धे ऐसे हिलते हैं, जैसे वह इस बात का कोई तीखा जवाब देने जा रहा हो। मगर उसका जवाब उसकी आँखों में ही बुझ जाता है। वह तीली को दोनों हाथों की ओट दे एक लम्बे कश के साथ पाइप सुलगा लेता है। फिर आँखों में पाइप के जल जाने का सन्तोष लिए कहता है–सिगरेट क्या है, फुसफुसी चीज़! कश खींचने

का मज़ा है पाइप में! इसे आदमी हड्डी की तरह दाँतों में भी लिये रह सकता है। सिगरेट मुँह में लिये हुए तो ऐसे लगता है जैसे...

—जैसे? —तारा आँखों के अलावा स्वर से भी उपहास उड़ाती है। मदन हम दोनों की तरफ़ देखता हुआ जब अपने को पहले से भी अकेला महसूस करता है—मुझे पाइप पीना पसन्द है।—वह अपनी दाँतों तक आई झुँझलाहट को पाइप पर निकालता हुआ कहता है—मेरे लिए इतना ही काफ़ी है।

तारा उसकी झुँझलाहट के उत्तर में बहुत दूर हो जाती है। मुझसे पूछती है—अच्छा, तुम बताओ, इसके चेहरे के साथ पाइप मेल खाता है?

मैं पल-भर का वकफा लेता हूँ। ऐसे मदन की तरफ़ देखता हूँ, जैसे सचमुच मुझे फैसला करना हो। अपने दिमाग़ को ऐसे शब्दों के लिए कुरेदता हूँ, जिनसे दोनों का मन रखा जा सके—सवाल पाइप का नहीं, ख़ास तरह के पाइप का है। मैं कहता हूँ... अगर पाइप दूसरी तरह का हो...रोमन लिखाई की 'बी' जैसा...तो शायद...

—मुझे उस तरह के पाइप से नफरत है!—अब मदन अपने को रोक नहीं पाता। मेरा चेहरा अन्दर की सकपकाहट से सुर्ख हो जाता है, तारा के उमड़ते गुस्से से—तुम्हें हर ऐसी चीज़ से नफरत है, जिसे कोई दूसरा अच्छी समझता हो!—वह कहती है—तुम्हारे लिए अपनेपन का बस इतना ही तो मतलब है!

मदन पाइप मुँह से निकालकर हाथ में ले लेता है। पल-भर निश्चय नहीं कर पाता कि उसे इसके जवाब में कोई सख्त बात कहनी चाहिए, या चुप रहकर बात को टाल देना चाहिए। फिर वह दबे स्वर में 'अच्छा, छोड़ो' कहकर पाइप मुँह में डाल लेता है। तारा भी अपने गुस्से के लिए अपराधी महसूस करती हुई पल-भर आँखें मूँदे रहती है। फिर अपने को झटककर ज़बरदस्ती की मुस्कराहट के साथ कहती है—हाँ, छोड़ो...अब कोई और बात करनी चाहिए।

मुझे लगता है कि कोई और बात शुरू करने की ज़िम्मेदारी अब मेरे ऊपर है। मैं दिमाग़ में बातचीत के विषयों की फ़ाइल पलटता हूँ। ऐसा कोई विषय नहीं मिलता, जिस पर हम तीनों आदमी, बिना किसी उलझन के आगे बढ़ें, बात कर सकें। आखिर वही एक विषय, जो बातचीत के और हर विषय को पीछे डाल देता है, मेरी ज़बान पर आ जाता है—क्या ख्याल है...क्यों न डिनर के लिए कहीं बाहर चला जाए?

तारा मदन की तरफ़ देखती है। मदन हाथ और होंठ हिलाकर अपनी तटस्थता ज़ाहिर करता है। उसे अच्छा खाने का शौक है, यह तारा और मैं, दोनों जानते हैं। तारा उठकर अन्दर कपड़े बदलने चली जाती है। मदन अपने बुझे पाइप को फिर से जलाने की कोशिश करने लगता है। मैं अपनी घड़ी उतारकर उसे चाबी देने लगता हूँ।

जब मदन और मैं अकेले होते हैं, तो कम-से-कम बात न कर सकने की उलझन नहीं होती है। वह और कुछ नहीं, तो अपने कामकाज के बारे में ही मुझे बताने लगता

है। अपने पोर्टफोलियो से कुछ काग़ज़ निकालकर सामने रख लेता है और उन पर लिखे आँकड़ों की बारीकियाँ समझाने लगता है। मुझे वे बारीकियाँ समझ नहीं आतीं, पर मैं 'हूँ-हाँ' करता हुआ उसे पन्ने पलटते देखता रहता हूँ। कुछ देर में जब वह खुद ही अपने आँकड़ों से थक जाता है, तो पोर्टफोलियो बन्द कर लेता है—मैं चाहता हूँ कि मेरी बदली किसी तरह हेड आफिस में हो जाए।—वह कहता है—दो साल से इन्होंने मुझे बाहर पटक रखा है! अगर मैं वहाँ रहूँ, तो इससे कहीं ज़्यादा काम कर सकता हूँ।

मुझे लगता है, वह मुझे किसी चीज़ का विश्वास दिलाना चाहता है, अपना काम वह मेहनत से करता है, यह बताकर मुझसे सहानुभूति पाना चाहता है। पर मुझे उससे सहानुभूति नहीं होती। सिर्फ़ यह अपना फर्ज़ लगता है कि उसकी बातों में थोड़ी दिलचस्पी दिखाता हूँ। मन में मैं उस वक़्त उसे और अपने को कोसता रहता हूँ। क्यों वह अपना दफ़्तर मेरे सामने खोलकर बैठ जाता है? क्यों मैं उसके दफ़्तर में से उसके साथ गुज़रने के लिए अपने को मज़बूर पाता हूँ? क्यों वह मुझसे अतिरिक्त कोमलता के साथ बात करता है? क्यों मैं उस कोमलता का उत्तर उसी भाषा में देने कीं यन्त्रणा सहता हूँ? क्यों नहीं हम साफ़-साफ़ एक-दूसरे के दुश्मन हो जाते और चुनौतियों की भाषा में बात करते? जब उसकी उँगलियाँ अपने काग़ज़ों पर घूम रही होती हैं, तो मैं उनके पोरों पर उगे रोयों को देखता रहता हूँ। उनमें से कुछ ही रोएँ अब तक सफ़ेद हुए हैं, वे सबके सब कब तक सफ़ेद हो जाएँगे? उसकी और मेरी उम्र में आठ साल का फ़र्क है...इसका मतलब है, आठ साल का हैंडीकैप तो उसे है ही। पर क्या वह भी मेरी तरह अपनी उम्र के साल गिनता और इस हैंडीकैप की बात सोचता है?

मैं देखता हूँ कि उसकी आँखें अपने काग़ज़ों में व्यस्त रहकर भी मेरी आँखों में कुछ पढ़ने-तलाशने की कोशिश करती रहती हैं। उसके साथ अकेले बैठने में मुझे सबसे ज़्यादा असुविधा होती है, तो इसी से। सारा वक़्त लगता रहता है कि वह मुझसे कुछ चीज़ चाहता है, जिसके लिए मुझे अन्दर-बाहर से टटोलता रहता है। हेड आफिस में अपनी बदली करा लेने की बात वह इतनी बार करता है कि उसका भी सम्बन्ध मुझे, अपने से ही जान पड़ता है। अपनी अनुपस्थिति में मेरा अपने यहाँ आना उसे गवारा नहीं, इसीलिए वह चाहता है कि हर समय यहाँ मौजूद रह सके। यह बात कहते हुए क़भी-कभी वह बहुत उत्तेजित भी हो उठता है—आज सुबह सेक्रेटरी ने मुझे बुलाया था। मैंने साफ़ कह दिया उससे कि आपको मेरी रिपोर्ट तैयार करा के अगर तहखाने में ही डालनी है, तो क्यों ख़ामख़ाह मुझे घर से इतनी दूर डाल रखा है? मेरी सारी मेहनत का अन्त में यही नतीजा निकलना है, तो क्यों न मैं त्यागपत्र देकर अभी से इस झंझट से छुटकारा पा लूँ?

उसकी त्यागपत्र देने की बात भी मुझे घर में मौजूद रहने की इच्छा का ही एक विकृत रूप लगती है। वह जो काम करता है, उसकी सार्थकता के सम्बन्ध में अपने अधिकारियों को विश्वास न दिला पाने का तनाव भी हर समय उसके अन्दर बना रहता है—या तो मेरी बात इनकी समझ में नहीं आती, या वे जानबूझकर समझना नहीं चाहते, इनका ख़याल है कि मैं करता-धरता कुछ नहीं, ऐसे ही आठ-दस काग़ज़ हर बार काले करके ले आता हूँ!

हर बार उसके मुँह से वही-वही बातें सुनते हुए, कभी-कभी मुझे भी ऐसा ही लगता है, पर यह बात मेरे भाव से ज़ाहिर न हो, इसीलिए मैं कहता हूँ—तो तुम क्यों नहीं कोशिश करते अपनी बदली यहाँ कराने की? मैं जानता हूँ कि यह बात ख़ामख़ाह की है, उसकी बदली अभी कम-से-कम दो साल और यहाँ नहीं हो सकती। ज़्यादा से ज़्यादा उसे नागपुर से आसनसोल भेजा जा सकता है। पर वह मेरी बात को गम्भीरतापूर्वक लेकर थोड़ी देर के लिए उत्साहित हो उठता है। कहता है—कोशिश तो मैं कर ही रहा हूँ, मगर जो काम मैंने वहाँ शुरू कर रखा है, उसे मेरे सिवा कोई पूरा नहीं कर सकता। इन्हें इसके लिए दूसरा आदमी मिल जाए, तो ये कल ले आएँ मुझे यहाँ। लेकिन दूसरा आदमी कोई है ही नहीं—और वह अपने पाइप को सुलगाने के लिए फिर तीलियाँ जला-जलाकर फेंकना शुरू कर देता है, बीच-बीच में मुझे देखता जाता है...कि मैं उसकी बात को किस तरह ले रहा हूँ! उसकी वे टटोलती हुई निगाहें कभी मुझे देखती हैं, कभी उधर कमरे की तरफ़ और कभी धीरे से सुलगकर फिर बुझ जानेवाले पाइप की तरफ़।

मुझे लगता है कि तारा तैयार होकर आ जाए, तो डिनर के लिए जल्दी निकल जाना बेहतर होगा। शायद तब कोई और बात शुरू की जा सके।

लेकिन इस तरह[*]...

रवि को इस एहसास से चोट-सी लग रही थी कि हर चीज़ ज्यों की त्यों है। ईंटें, सीखचे और किवाड़ सब अपनी जगह पर हैं, दीवार पर चींटियों की पंक्तियाँ उसी तरह रेंग रही हैं, सिल-बट्टा वैसी ही आवाज़ कर रहा है और चौक में दौलत इक्केवाला अपनी मरियल घोड़ी की लगाम पकड़े रोज़ की तरह ही फटी हुई आवाज़ में सवारियों को बुला रहा है।

—चाली नियामी हाड़ियाँ आले कोई इकला सबार, आ जाओ भई, चाली नियामी हाड़ियाँ आले—हालाँकि राजकरनी मर गई है।

माँ मसाला पीस रही थी। कुन्तल दीदी चारपाई पर ख़ामोश बैठी थीं और स्कूल की माई जीतो पास फ़र्श पर बैठी हाथ मल रही थी—बहनजी, आपको क्या-क्या बताऊँ यह तो वहाँ रोज़-रोज़ की बात थी। रात को इनके घर जाओ तो भी वह वहीं पर होता, दिन में जाओ तो भीं। आज मास्टरजी के लिए हलुआ बना रहा है तो आज उनके लिए मालपुए बन रहे हैं। मैं तो अचरज से देखती रह जाती थी। कोई किसी सगे-सम्बन्धी की क्या खातिरदारी करेगा जो इनके घर में मास्टरजी की होती थी! मगर हम छोटे लोग हैं, छोटों का मुँह अपना नहीं होता है। मैं दाँतों से ज़बान काट लेती थी! मैंने आज तक किसी से बात नहीं की। मैं कहती थी कि किसी तरह उसके कान तक बात पहुँच गई कि माई बाहर जाकर बातें करती है तो मेरी रोज़ी पर लात पड़ सकती है। मेरी अपनी ब्याहने लायक जवान लड़की है, मैं उसे लेकर कहाँ जाऊँगी?

सिल और बट्टे के बीच में कच्चे प्याज़ किच-किच कर रहे थे। माँ के माथे से बहती हुई पसीने की धारें उसके गले तक उतर आई थीं। उसके चेहरे पर ऐसे गहरी लकीरें खिंच गई थीं जैसे वह कई दिनों से अस्वस्थ हो। बीच-बीच में उसकी पीली आँखें रवि की ओर उठ जाती थीं जैसे उसका महत्त्व और दिनों की अपेक्षा आज बढ़

---

[*] यह कहानी भी राकेश की पांडुलिपियों में प्राप्त हुई है। कहानी टाइप की हुई है। इस कहानी को थोड़ा संवर्धित किया गया है, क्योंकि लगता है राकेश स्वयं भी इसका परिमार्जन करने के लिए इसे अप्रकाशित रखे हुए थे।

गया हो, जैसे वह छोटे से एकदम बड़ा हो गया हो और वह उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहना चाहती हो कि हमारे घर में तू मर्द है, तेरे रहते हमें कोई ख़तरा नहीं। रवि इस तरह निःसंग भाव से खिड़की के पास बैठा था जैसे उसके लिए इसमें विशेष अन्तर न हो कि राजकरनी की मृत्यु हुई है या सामने के पनवाड़ी की जो वर्षों से दमा से पीड़ित था। माँ उसकी ओर देखती तो वह या तो बाहर की ओर देखने लगता या पुस्तक के पन्ने पलटने लगता।

—और उससे पूछो,—जीतो कह रही थी।—तू ब्याहा हुआ आदमी है, तू सारा-सारा दिन उसके घर क्यों बैठा रहता था? सारा मुहल्ला मुँह में उँगली डालता था कि इसकी माँ अन्धी है जो उसे दिखाई नहीं देता कि घर में क्या हो रहा है?

—इसीलिए मैं उसका घर में आना पसन्द नहीं करती थी,—कहते हुए कुन्तल ने रवि की ओर देखा। रवि ने पुस्तक का पन्ना ऐसे पलट दिया जैसे पहले का पन्ना पूरा पढ़ लिया हो। उसकी कनपटियों की नसें फड़कने लगीं।

—स्कूल में भी दिन-भर भाईजी की ही चर्चा रहती थी,—कुन्तल कहती रही।—सत्याजी के सामने तो ख़ास तौर से और नवीं-दसवीं की लड़कियों में इस तरह घुल-मिल जाती थी जैसे अध्यापिका न होकर उन्हीं में से एक हो। मैं तो डर रही थी कि इस तरह स्कूल का डिसिप्लिन बिगड़ जाएगा और बाद में दोष मुझ पर आएगा कि हेड मिस्ट्रेस ठीक से कंट्रोल नहीं करती। हम लोग सादगी की दुहाई देते मर जाते हैं, और यह रोज़ जूड़े में फूल लगा आती थी...!

—ना कुन्तल, मरे हुए की निन्दा नहीं करते,—माँ ने हाथ रोककर उसे टोका और बाँह से माथे का पसीना पोंछकर आकाश की ओर हाथ जोड़ दिए कि हे प्रभु, लड़की से कोई ऐसी-वैसी बात कही गई हो तो क्षमा करना, त्रुटियाँ किसमें नहीं होतीं, हम सब त्रुटियों के भंडार हैं, तू हमारे अपराधों को क्षमा कर और मृत आत्मा को शान्ति दे। और पसीने के कारण शरीर से चिपकी हुई धोती से ही शरीर का पसीना पोंछकर वह फिर सिल-बट्टे के साथ व्यस्त हो गई।

कुन्तल के गोल चेहरे पर धार्मिक गम्भीरता छा गई और वह क्षति-पूर्ति के रूप में राजकरनी के गुणों की चर्चा करने लगी—वैसे काम में अच्छी थी, मेहनत से पढ़ाती थी, सफ़ाई की देखभाल भी ठीक से कर लेती थी मगर किसी की आदत होती है न...

रवि जैसे सुनता हुआ भी नहीं सुन रहा था और जैसे न सुनता हुआ ही उठ खड़ा हुआ और पिछले कमरे में चला गया। उस कमरे में दिन-भर अँधेरा रहता था। वहाँ एक ओर माँ के ठाकुरजी का सिंहासन था और दूसरी ओर बिन्दु की गुड़िया का घर।

उसे पिछले साल के वे दिन याद हो आए जब वह इसी तरह गर्मी की छुट्टी में घर अया था और इसी तरह कमरे में बैठकर बिन्दु और उसकी गुड़िया के साथ

खेला करता था। कुन्तल स्कूल चली जाती थी और दिन भर घर में कुछ भी करने को नहीं होता था। वह गुड़िया से नहीं खेलता तो चारपाई पर लेटा छत के शहतीरों और उनके बीच से दिखाई देती लाल ईंटों को देखता रहता या बिन्दु का घोड़ा बनकर उसे सवारी कराता। माँ बीच-बीच में पूछ लेती कि क्या बजा है, अभी खाने का समय हुआ या नहीं। वही सिल-बट्टे की घरड़-घरड़ और दौलत इक्केवाले की आवाज़... चाली नियामी हाड़ियाँवाले आले, कोई इकल्ला सवार, आ जाओ भई, चाली नियामी हाड़ियाँ आले...सफ़ेद दीवारें, नीली खिड़कियाँ और नीचे धूल भरी वीरान सड़क जिसका नाम तो था रावी रोड मगर जो जाती थी एक पतली-सी नहर तक जिसमें एक बार नहा लिया जाए तो दो बार घर आकर नहाना पड़ता था। उससे दिन काटे नहीं कटते थे।

और उन्हीं दिनों बड़े आकस्मिक ढंग से उसका राजकरनी से निहायत छोटा-सा परिचय हुआ था।

कुन्तल की प्रेरणा से स्कूल की कमेटी के सदस्यों ने वहाँ एक साहित्य सम्मेलन का आयोजन किया था। दिल्ली से गंगादेवी उसके अन्तर्गत महिला सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए आ रही थीं। दिनों से कुन्तल का उनके साथ पत्र-व्यवहार था और वह बहुत प्रसन्न थी कि उसके अनुरोध पर गंगादेवी ने उस साधारण कस्बे में आना स्वीकार कर लिया है। उनका बड़ा लड़का, जो एक कपड़े की मिल में चीफ इंजीनियर था, साथ आ रहा था। उन दोनों के ठहरने का प्रबन्ध अलग बँगले में किया गया था जो अभी पूरा नहीं बना था परन्तु उस अवसर के लिए ठीक कर लिया गया था। स्कूल की कमेटी के मन्त्री भाई रूड़मल सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने कुन्तल से कहकर रवि को यह भार सौंपा था कि वह सम्मेलन के दिनों में उन दो अतिथियों के पास रहे। उनके भोजन इत्यादि का प्रबन्ध भाईजी के घर से होना था।

उन लोगों को चार बजे की मेल से आना था। स्टेशन पर रवि को पता चला कि वहाँ से भाईजी की कार उन्हें बँगले पर ले जाएगी। उसके बँगले पर पहुँचने से पहले ही वे लोग वहाँ पहुँच गए।

दरवाज़े से अन्दर पाँव रखते ही उसका राजकरनी के तमतमाए हुए चेहरे से सामना हुआ। वह ठिठक गया। राजकरनी तेज़ी से बढ़कर उसके निकट आ गई।

—आप लोगों ने यह जगह उनके लिए ठीक की है?

—क्यों, रवि ने पूछा।

—उन्हें मुँह-हाथ धोने का पानी चाहिए और यहाँ नल ही नहीं है। उन्हें चाय चाहिए और यहाँ न आग है, न दूध-पत्ती है और न कोई आदमी है।

रवि वहीं से लौट पड़ा।

—ठहरिए, मैं भाईजी के घर से पता करता हूँ,—उसने कहा।

—आप अभी पता करेंगे! किसी को पहले यह ख्याल नहीं आया कि जो लोग आ रहे हैं, उनके लिए हर चीज़ का प्रबन्ध होना चाहिए? अब वे लोग घंटा-भर मुँह देखते बैठे रहेंगे?

रवि जल्दी-जल्दी चलकर भाईजी के घर पहुँचा। वहाँ पर बीस-बाईस मेहमान ठहरे हुए थे और सब लोग उन्हें चाय पहुँचाने के लिए दौड़-धूप कर रहे थे। मन्दिर के मुखिया विश्वम्भरदास अपने पोपले मुँह से एक साथ कई-कई आदेश दे रहे थे। वहाँ लगता था कि हर आदमी भाग रहा है। फिर भी कोई काम नहीं हो रहा। भाईजी वहाँ नहीं थे। रवि के तीन-चार बार कहने पर उसकी बात मुखियाजी की समझ में आई तो वे झल्लाकर बोलने लगे—मेरे पास नहीं है आदमी। मैं कहाँ से दूँ? बोलिए कहाँ से लाऊँ आदमी? बताइए। ज़मीन खोदकर निकलते हों आदमी तो निकाल लूँ। यहाँ मेरे पास कोई नहीं है। उन्हें कहिए यहीं पर आ जाएँ। यहीं नल पर हाथ-मुँह धो लें और एक-एक प्याली चाय की पी लें।

काफ़ी देर मुखिया के इर्द-गिर्द घूमकर रवि ज्यों का त्यों लौट आया। राजकरनी उसे गेट के पास ही मिल गई।

—देखिए, मैं आपसे माफ़ी चाहती हूँ,—उसने उसे देखते ही कहा।

—क्यों?—रवि ने आश्चर्य के साथ उसकी ओर देखा।

—मैंने उस समय गुस्से में कुछ कह दिया था। मुझे नहीं पता था आप कुन्तलजी के भाई हैं।

—आपने कोई ऐसी बात तो नहीं कही।

—फिर भी आपको बुरा तो लगा ही होगा। उस समय एक लड़की अन्दर थी। उसने मुझे बाद में बताया कि आप कुन्तलजी के भाई...

रवि को लगा कि उसकी आँखों में क्षमा-याचना के अतिरिक्त एक और भी भाव है।

—मेरी चार दिन यहाँ पर ड्यूटी है,—उसने कहा।—परन्तु अब तक मुझे यह नहीं बताया गया कि मुझे करना क्या है।

—आपकी चारों दिन यहाँ पर ड्यूटी है?

रवि ने सिर हिलाया।

—मेरी भी चारों दिन ड्यूटी है। आपकी यहाँ है, मेरी पता नहीं यहाँ है या कहाँ है?

कहकर वह फीकी-सी हँसी हँसी और एक क्षण के लिए उसे गौर से देखती रही।

—चाय का प्रबन्ध नहीं हुआ?—राजकरनी ने क्षण-भर के उस मौन विराम को जैसे तोड़ते हुए पूछा।

रवि ने उसे मुखिया का क़िस्सा सुना दिया।

—अजब मुसीबत है,—वह बोली—इंजीनियर साहब अभी बड़बड़ाते हुए भाईजी को ढूँढ़ने गए हैं। वे कहते हैं कि वे सात बजे की मेल से वापस चले जाएँगे।

—सफर से आकर इंसान को पानी तक न मिले तो वह और क्या करे?

कई क्षण वे लोग ख़ामोश रहे।

—आप सम्भवतः मुझे नहीं जानते,—सहसा राजकरनी की आँखें उससे मिल गईं। मैं कुन्तलजी के स्कूल में ही पढ़ाती हूँ। सम्भव है आपने कुन्तलजी से नाम सुना हो। राजकरनी।

और जैसे तभी उनका परिचय हुआ ऐसे उन्होंने एक-दूसरे को हाथ जोड़ दिए।

—आप शायद इसी वर्ष आई हैं?

राजकरनी ने सिर हिलाया।

—कैसी लगी, यह जगह आपको?

—नौकरी करनी हो तो बुरी जगह भी अच्छी है और अच्छी जगह भी अच्छी नहीं।—साथ ही उसके गले से मीठी हँसी का स्वर उत्पन्न हुआ। उसके दाँत बहुत सफ़ेद और छोटे-छोटे थे।

—यह तो टालने की बात है।—वह भी मुस्कराया। जैसे शब्दों और भाव-भंगिमाओं में वे अलग-अलग बातें कर रहे हों।

—कुन्तलजी तो चार साल से पढ़ाती हैं। उनसे आपने नहीं पूछा?

रवि ने महसूस किया कि उस 'तो' में कहीं व्यंग्य की भी रेखा है।

—दीदी तो अब अभ्यस्त हो गई हैं,—उसने कहा।—और यूँ भी वे जहाँ कहीं भी रह सकती हैं।

—हाँ, उनका स्वभाव बहुत सीधा है।

—लगता है, आपका दिल नहीं लगा।

—नहीं, जगह ऐसी बुरी भी नहीं है।

सहसा वे लोग चौंक गए। चीफ इंजीनियर साहब, भाईजी और सत्याजी गली का मोड़ मुड़कर आ रहे थे।

—आप लोगों की यहाँ बातें करने के लिए ड्यूटी लगाई गई थी?—निकट आते हुए भाईजी ने क्रोध से काँपते हुए स्वर में पूछा।

रवि के होंठ क्रोध से काँपे परन्तु इससे पहले कि वह कुछ कहता, राजकरनी भाईजी के सामने चली गई।

—देखिए, यहाँ न नल में पानी है और न चाय का सामान है।

—तो सामान आप घर से नहीं ला सकती थीं? —सत्याजी बैठे हुए स्वर में बोल उठीं,—ऐसे अवसर पर आदमी कुछ काम अपनी समझ से भी कर लेता है। ये घंटे-भर से आए बैठे हैं। इतनी देर में तो नया सामान खरीदकर चाय बनाई जा सकती है।

खादी के सलवार-कमीज़ और दोपट्टे में सत्याजी का दुबला शरीर और भी दुबला लग रहा था। स्वर में अधिकार-भावना के अतिरिक्त तिरस्कार करने की भावना भी थी। उनकी आँखें जैसे राजकरनी की आँखों में चुभ जाना चाहती थीं।

—आप अन्दर चलकर बैठिए, मैं अभी सब प्रबन्ध करता हूँ।—भाईजी ने इंजीनियर साहब से कहा। मेरी लड़की दस मिनट में आपके लिए चाय बना देती है। अभी मैं घर से सब सामान भेजता हूँ। यहाँ वही काम होता है जो अपने हाथों से किया जाए। यह लोग तो समझते हैं कि बस...

और उन्हें पिटे हुए मोहरों की तरह छोड़कर वे घर की ओर चले गए। सत्याजी इंजीनियर साहब के साथ अन्दर चली गईं। रवि ने राजकरनी की ओर देखा। वह कठिनता से अपनी रुलाई रोके हुए थी।

—चलिए, अब हम लोगों की यहाँ से छुट्टी हो गई—उसने रूखी-सी मुस्कराहट के साथ कहा।

राजकरनी ने अपना निचला होंठ काटकर, आँखें झपका लीं।

—यहाँ ऐसे छुट्टी नहीं होती, लेकिन इस तरह...उसने कहा और सिर को एक बार झटककर अन्दर चली गई।

फिर जब तक वह छुट्टियों में रहा, राजकरनी से मिलना नहीं हुआ था। और इस बार आते ही पता चल गया था कि अब उससे मिलना नहीं होगा। कुछ हो गया था जो उसे पता नहीं था। अँधेरे कमरे में चुपचाप उसी चारपाई पर लेटे हुए वह देख रहा था—राजकरनी कुछ कहते हुए बीच-बीच में एक क्षण के लिए उसे गौर से देखती रह जाती थी और फिर खुद ही क्षणिक मौन-विराम को तोड़कर कुछ ऐसी बात शुरू कर देती थी, जिसका कोई सन्दर्भ नहीं होता था। वह शायद चाहती तो कुछ भी नहीं थी, सिर्फ़ कुछ कहना चाहती थी...कि यों तो यहाँ या कहीं भी सब कुछ ठीक है, लेकिन इस तरह...

पम्प*

पहले-पहल पुष्पा को मैंने घर के सामने पम्प पर पानी भरते देखा था। उसकी आँखें मोटी कौड़ियों जैसी थीं। उसने दो-तीन बार आँख भरकर मुझे देखा तो मुझे लगा था कि या तो मेरे बाल बहुत अधिक सफ़ेद हो गए हैं या मैं अपनी उम्र से चार-पाँच साल छोटा लगता हूँ। नहीं तो कोई कारण नहीं था कि वह सहज विश्वास भरी दृष्टि से मुझे देखती मानो कह रही हो चलो, आँखमिचौनी खेलते हो?

पुष्पा की उम्र तेरह साल होगी। अधिक-से-अधिक चौदह साल होगी। उसका रंग गोरा पंजाबी था। उसके शरीर को पूरा खिलने में अभी दो-तीन साल रहते थे, फिर भी उसकी आँखों में वह विस्मय भर गया था जो यौवन का अर्थ पहले-पहल समझने पर कुछ दिनों के लिए रहता है। उसे जैसे आश्चर्य था, कि क्या वह अकेली ही जानती है कि गुलाब का रंग गुलाबी क्यों है?

—पानी ले लीजिए, पुष्पा ने अपनी बालटी हटाकर मुझसे कहा।

—नहीं, तू भर ले, मैंने यह सोचकर कहा था कि शायद वह मेरे सफ़ेद बालों का सम्मान कर रही है।

—आपको दफ़्तर जाना है, आप भर लीजिए, उसने फिर कहा। मुझे खुशी हुई कि उसे मेरे अस्तित्व का पता है, कामकाज का पता है और उसका लिहाज मेरे सफ़ेद बालों तक ही सीमित नहीं।

—तेरा नाम क्या है? मैंने अपनी बालटी में पानी भरते हुए पूछा।

—पुष्पा, उसने संकोच के साथ उत्तर दिया।

—किस क्लास में पढ़ती हो?

वह और भी संकुचित हो गई। बिना मेरी ओर देखे बोली—मैं स्कूल नहीं जाती।

—क्यों? मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी अच्छी आँखोंवाली लड़की स्कूल क्यों नहीं जाती? वैसे मैं किसी लड़की से ज़्यादा सवाल नहीं पूछा करता क्योंकि वे जरा-से

---

* यह कहानी भी राकेश की फाइलों में मिली है। कहानी टाइप की हुई है, पर उस पर कोई शीर्षक नहीं दिया हुआ है।

परिचय को घनिष्ठता समझने लगती हैं, पर पुष्पा अभी उस रेखा से दूर थी जहाँ जाकर एक लड़की मेरे लिए लड़की बन जाती है।

—मैं यहाँ नहीं रहती, पुष्पा ने कुछ इस तरह कहा जैसे मेरा प्रश्न बिलकुल असंगत रहा हो। मैं बापू के साथ गाँव से आई हूँ। बापू को यहाँ काम है। उसका काम हो जाएगा तो हम फिर अपने गाँव चले जाएँगे।

मैंने देखा कि उसकी आँखों ने अभी लजाना नहीं सीखा। उसके अन्दर अभी वही ताज़गी थी जो नई बहार की कलियों में होती है। वह गाँव से आई थी और गाँव चली जाएगी। वहाँ जाकर वह सरसों के पीले-पीले फूलों से खेलेगी और मीठा नरम-नरम साग खाएगी। किसी रात को आग के पास हीर गाएगा तो वह विभोर होकर सुनेगी। नहीं तो सरसराती हवा का संगीत ही सही। वह उसके रोम-रोम को लोरी देकर सुला देगा।

सवेरे उठकर वह पशुओं को चारा देगी। प्रभात के स्वर उसे फुसलाएँगे तो वह नंगे पैरों नदी की ओर भाग जाएगी। जब तक मन में आएगा, तैरती रहेगी। लौटती हुई वह धान के खेत से मूलियाँ और शलजम उखाड़ लाएगी। उसके गीले बाल रूखे ही सूख जाएँगे, पर उसे चिन्ता नहीं होगी। उसके फूटते हुए वक्ष उसकी गीली कमीज़ में कटोरियाँ-सी निकाल देंगे, पर उसे उसकी होश नहीं होगी। वह कभी गणित के प्रश्नों से नहीं उलझेगी। भूगोल की रेखाएँ नहीं याद करेगी। कोश लेकर कविताओं के अर्थ नहीं ढूँढ़ेगी। पर वह जिधर देखेगी, उधर कविताएँ फूटने लगेंगी।

अचानक मैंने देखा कि मैं पम्प चलाए जा रहा हूँ, हालाँकि बालटी भर चुकी है और पानी इधर-उधर बिखर रहा है। अपनी अन्यमनस्कता छिपाने और पुष्पा के सौजन्य का बदला चुकाने के लिए मैंने अपनी बालटी उठाई और उसका सारा पानी पुष्पा की बालटी में डाल दिया।

—ऊई! मैंने उसे कहते सुना, मेरी बालटी छू गई।

—छू क्यों गई? मैंने कुछ लज्जित और अपमानित होकर पूछा।

पुष्पा ने शायद मेरे छिले हुए भाव को, भाँप लिया। उसने क्षमा माँगने के ढंग से कहा—जी, मैं बालटी माँजकर लाई थी। आपकी बालटी मंजी हुई नहीं थी।

यह सुनकर मेरी आत्मा फिर उदार हो गई। मैंने अपने को याद दिलाया कि बालटी को राख से मला जाए, तभी जाकर वह पवित्र होती है। फिर चाहे गलीज फ़र्श पर रखकर उसमें पानी भरो, चाहे चबाई हुई दातूनों के ढेर पर।

—मेरी बालटी भी मंजी हुई थी। मैंने सवेरे माँजी थी, मैं झूठ बोला। झूठ बोलना मेरी आदत है। बिना कारण के झूठ बोलता हूँ। दिन में कई-कई बार बोलता हूँ। यह मुझे अच्छा भी लगता है, मैं सच कहता हूँ।

जो मुँह से झूठ नहीं बोलता, वह मन में झूठ बोलता है। जो मन में झूठ बोलता है, वह मुझसे ज़्यादा ख़तरनाक है। क्योंकि वह सच का दावेदार है, इसलिए वह और भी झूठा है।

पुष्पा ने मुसकराकर बालटी का पानी गिरा दिया और जमीन से मिट्टी उखाड़कर बालटी में मलने लगी। मैं अपनी बालटी में फिर से पानी भरने लगा।

किसी ने दूर से पुष्पा को पुकारा—पप्पी!

—आई बापू! उसने पुकारकर उत्तर दिया।

—अभी पानी नहीं भरा? आवाज़ आई।

—नहीं बापू! उसने उत्तर दिया।

—जल्दी कर, सिरमुंडी!

मैंने उधर देखा। एक लम्बा, बूढ़ा जाट सामने की कोठी के बरामदे में खड़ा सिर पर पगड़ी लपेट रहा था। एक तो उसकी आवाज़ कर्कश थी, दूसरे उसकी दाढ़ी ऐसी नोकदार थी, जैसे उसी से वह मुर्गियाँ झटकता रहा हो। उसकी आँखों का रंग बतलाता था कि उसने रात को ख़ूब शराब पी थी, पगड़ी लपेटकर उसने दाढ़ी पर हाथ फेरा और फिर पुष्पा को आवाज़ दी—जल्दी कर, लाड़ की बच्ची, नहीं तेरा झोंटा सेकूँ।

यह देखकर कि मेरी बालटी अभी आधी भरी है, मैं जल्दी-जल्दी पम्प चलाने लगा। जाट ने पीठ मोड़ ली। पुष्पा मेरी ओर दो कौड़ियों का एक दाँव फेंककर मुसकराई। उसकी मुसकराहट ने मुझसे कहा, तुम बेवकूफ़ हो। बापू की गालियाँ बेटी को नहीं लगा करतीं।

उसके बाद दो-तीन बार मैंने पुष्पा को देखा। न जाने क्यों उसे देखकर हर बार मुझे गहरे लाल रंग के मखमली फूल याद आ जाते। बचपन में मैं वे फूल अपने कोट पर लगाया करता था।

दो-तीन बार पुष्पा के बापू को भी मैंने देखा—दातून करते, जूड़ा बाँधते या गालियाँ बकते। उसकी मुझ पर कुछ ऐसी छाप पड़ी जैसे बरसात होकर हटी हो और पुराने गले हुए टीन के छप्पर पर से महीनों का सूखा बीट पानी के साथ गल-गलकर टपक रहा हो।

उस दिन दफ़्तर से लौटते हुए मैं अड्डा नकोदर से फरलांग भर ही आया था, कि मैंने देखा कि सफ़ेद दाढ़ी वाला वह जाट मुझसे दो कदम हटकर साथ-साथ चल रहा है। मैं ज़रा तेज़ चलने लगा। वह भी तेज़ चलने लगा। मैंने चाल धीमी कर दी।

मुझे यह कभी मंजूर नहीं कि मैं सड़क पर किसी के साथ-साथ चलूँ, क्योंकि मैं जिसके साथ चलता हूँ, वह अपेक्षा करता है कि मैं उसी की तरह चलूँ और उसी की तरह सोचूँ। पर कोई मेरे साथ-साथ चले तो यह मुझे बहुत अच्छा लगता है।

—कहाँ चल रहे हो, बाबूजी? पुष्पा के बापू ने अपनी ओर खींचने के लिए पूछा।

—मॉडल टाउन, मैंने इस अन्दाज़ में कहा कि वह जान ले कि मैं एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूँ, और सिर्फ़ इसलिए पैदल चल रहा हूँ कि मुझे सन्ध्या के समय पैदल घूमने का शौक है।

—हम भी वहीं चल रहे हैं। डॉक्टर गुरबख्श सिंह मदान को जानते हैं? वे हमारे ही गाँव के हैं। शहर में आकर उन्हीं के घर हमारा डेरा होता है...चलो, राह चलते एक से दो भले।

मैंने कहना तो चाहा कि मेरे साथ चलने में उसे लाभ हो, उसके साथ चलने में मुझे कोई लाभ नहीं, पर इसलिए नहीं कहा कि कहीं दोआबा का जाट जोश में आकर मेरे सिर का पंजाब न बना दे।

—आप इधर के ही हैं? जाट ने परिचय बढ़ाने की चेष्टा की।

—नहीं, मैंने उत्तर दिया।

—तो जालन्धर में कब से हैं? मैंने उचित समझा कि वह जितने सवाल पूछ सकता है, उन सबका उत्तर एक साथ ही उसे दे दूँ, जिससे उसकी जिज्ञासा पूरी शान्त हो जाए। इसलिए मैंने कहा कि मैं दो महीने से यहाँ हूँ। सेक्रेटेरियट में असिस्टेंट सुपरवाइजर हूँ। वेतन एक सौ बीस रुपया है। ऊपरी आमदनी हो जाने की आशा है। अभी ब्याह नहीं हुआ। लड़की देख रहा हूँ। पढ़ाई की चौदह जमातें पास की हैं। तरकारियों में मुझे गोभी पसन्द है। फलों में मैं आम पसन्द करता हूँ। हर इतवार को शरीर पर कड़वे तेल की मालिश करता हूँ। मेरी रोटी एक गढ़वाली पकाती है। उसकी उमर बीस साल है। यह सब उसे सुनाकर मैंने मन में कहा कि पूछ ताऊ, अब क्या पूछता है?

पर जाट ने फिर भी पूछा—क्यों जी, गढ़वाली ने अभी तक लड़की का ब्याह नहीं किया?

यह हद थी! मगर मैंने धैर्य नहीं छोड़ा। सन्तोष-असन्तोष अपने घर की चीज़ है, पर पीठ का दर्द जाकर डॉक्टर को दिखलाना पड़ता है। मुझे अपनी आत्मा पर इस बात का गर्व है कि वह हवा का रुख देखकर फौरन तिरछी से सीधी हो जाती है। मैंने जाट का प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक समझकर उसका स्वाभाविक-सा उत्तर दिया—उसकी लड़की विधवा है।

—अच्छा! फिर तो वह उसे दूसरी जगह बिठाएगा?

मैं आधुनिक इतिहास का विद्यार्थी होता तो गढ़वाली से पूछ रखता कि वह अपनी लड़की को दूसरी जगह बिठाएगा या नहीं? पर इतिहास में मेरी रुचि तैमूरलंग

की लड़ाई तक ही रही है, उससे आगे नहीं। फिर भी, जाट को उत्तर देना आवश्यक था। उसकी मूँछों के बाल अँगड़ाइयाँ लेने लगे थे। मैंने रास्ता काटने की नीयत से कहा—देखभाल तो कर रहा है। आगे लड़की की तकदीर है।

—लड़की देखने में अच्छी है? जाट ने पूछा।

—देखने में अच्छी है और स्वभाव की भी बहुत मीठी है, मैंने यह इसलिए कहा कि कम-से-कम बात में तो थोड़ा रोमांस रहे।

—अच्छा जी! जाट बोला, सच पूछो तो सबसे बड़ा गुण यही है। काम अच्छा करती है?

—काम में वह सुस्त है। हाँ, बातें बहुत करती है।

—अच्छा जी? रगों में जवानी हो तो काम नहीं सुहाता।

उसकी टिप्पणी का मज़ा लेते हुए मैंने उसकी ओर देखा तो उसकी आँखों में भूखी बिल्ली की-सी जलन दिखाई दी। उसके होंठ बूढ़ी वासना की लार से गीले हो रहे थे। उसका रस-भंग करने के लिए मैंने रुककर जूतों को झाड़ा और कहा—इन कच्चे रास्तों पर सरदारजी, जूतों का तो कचूमर निकल जाता है।

जाट ने मेरे अभिनय और शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपनी ही धुन में कहा—बाबूजी, आज आपकी गढ़वाली से मुलाक़ात हो सकती है?

—क्यों? मैंने उसकी ओर देखकर पूछा।

—मुझे एक जमींदारनी की ज़रूरत है। बाबूजी, जाट ने कहा, मैं जमींदार हूँ। पास के गाँव में मेरी चार एकड़ जमीन है। पाँच एकड़ जमीन जिला करनाल में है। उसका मैं यहाँ के गाँव का लम्बरदार हूँ। घरवाली मर गई है। एक जवान लड़की है। उसका ब्याह कर दूँ तो मेरी देखभाल करनेवाला कोई नहीं है। घर में एक गाय और दो भैंसें हैं। घरवाली आ जाए तो उनका चारा-पानी हो जाएगा और मेरी भी दो रोटियाँ हो जाएँगी। उसने मिन्नत के लहजे में कहा—आपके गुण गाऊँगा सरकार, मेरा यह काम ज़रूर करा दीजिए।

वह बोल रहा था, उसके शब्दों की गूँज अपना अर्थ मुझे और तरह समझा रही थी। वह कह रहा था, मुझे औरत के गर्म मांस की ज़रूरत है, बाबूजी। मैं चाहे बूढ़ा हूँ, पर अकेले के पास नौ एकड़ जमीन है। घर में गाय, भैंस और सबकुछ है, सिर्फ़ औरत ही नहीं है। मेरी अपनी हड्डियों पर गर्म मांस नहीं रहा, पर बूढ़ी हड्डियाँ गर्म मांस का चारा अब भी माँगती हैं। इनके लिए चारा चाहिए, सरकार, जैसे भी हो सके, इनके चारे का प्रबन्ध कर दीजिए।

किसी तरह गला छुड़ाने के लिए मैंने कहा—गढ़वाली पंजाबियों के साथ ब्याह नहीं करते, सरदार जी। उसका बाप उसे किसी गढ़वाली के घर ही बिठाएगा। मेरी बात सुनकर जाट ढीला हो गया। उसकी मूँछों के बाल, जो अब तक अँगड़ाइयाँ ले रहे

थे, सुस्त होकर बैठ गए। वह ठंडी साँस लेकर बोला—कहीं भी कामयाबी नज़र नहीं आती। लोग कहते थे कि रिफ्यूजी के कैम्पों से मिल जाती हैं। पर मैं सवा साल चक्कर लगाकर हार गया, कोई नहीं मिली। डॉक्टर साहब ने एक पहाड़िन चार सौ में ठीक की थी, पर वह भी मेरा दाढ़ा देखकर मुकर गई।

—पर तुमको तो घर की देखभाल के लिए ही ज़रूरत है न, सरदारजी? मैंने कहा, एक नौकर क्यों नहीं रख लेते?

—नौकर इतना काम नहीं दे सकता, बाबूजी! जमींदार का घर है। चार आनेवाले, चार जानेवाले, फिर सेवा के लिए एक गाय, दो भैसें। इतना कुछ तो घरवाली ही सँभाल सकती है।

—तो तुम चाहते हो कि जवान लड़की आकर तुम्हारे गुर्दे भी दुरुस्त करे और तुम्हारी गाय-भैंसों का दूध भी दुहे?

—वह क्यों दुहे सरकार, वह आराम से घर में बैठे। दूध दुहने को हम क्या मर गए हैं?

यह आज़माने के लिए कि वह अपने को कहाँ तक सौदे में डालता है, मैंने उपदेश के रूप में कहा—इस उम्र में कोई मिलेगी भी तो ऐसी ही मिलेगी सरदार जी, जो पहले कई घरों में घूम चुकी हो और जिसे दूसरा ठौर-ठिकाना न हो। ऐसी को घर में डाल लोगे?

मैंने देखा जाट की मूँछों के बाल फिर अँगड़ाइयाँ लेने लगे हैं। उसने आगे बढ़कर मेरी बाँह पकड़ ली और बोला—आपके पास है, बाबूजी? ज़रूर आपके पास कोई है!

मैंने नहीं सोचा था कि मेरे शब्दों का यह अर्थ भी निकाल सकता है। मैंने स्पष्ट करने के लिए कहा—यह मतलब नहीं सरदारजी, कि मेरे पास कोई है। मैं तो सिर्फ़ बात के लिए बात कर रहा हूँ।

—नहीं बाबूजी, आपके पास ज़रूर कोई है, जाट ने विनय और अनुरोध के साथ कहा। मेरी पगड़ी अपने पैरों पर समझो और मेरा काम करा दो। दो-चार सौ मैं आपके लिए सिर से वार दूँगा...

मैंने जाट को फिर सिर से पैर तक देखा। उसकी भौंहें सफ़ेद हो रही थीं। आँखें छोटी होकर केवल दाग भर रह गई थीं। गालों का मांस लटक आया था। दाँत आधे टूट चुके थे। जो दाँत शेष थे, उनकी जड़ों में लहू रिसरिसा रहा था। बोलते-बोलते उसका थूक दाढ़ी के सफ़ेद बालों में फैल गया था। और वह मुझसे विश्वास माँग रहा था कि मैं कह दूँ कि है—एक औरत है जो उसके लिए चारा बन सकती है, जो अपना शरीर राँधकर उसे खिला सकती है। क्योंकि वह जमींदार है...

—बोले नहीं बाबूजी? जाट व्याकुल उत्सुकता के साथ बोला।

—मैं किसी को नहीं जानता, सरदारजी, मैंने धीरे से कहा।

मॉडल टाउन अब सामने ही था। पक्की सड़क पर आकर मेरी नज़र पुष्पा पर पड़ी जो बरामदे में खड़ी बापू की प्रतीक्षा कर रही थी।

मुझे फिर लाल फूल याद हो आए। मैंने जाट की ओर देखकर पूछा—तुम अभी कुछ दिन तो हमारे पड़ोसी हो न, सरदारजी?

—नहीं जी, हम कल अपने गाँव जा रहे हैं, जाट ने कहा, यहाँ अब किसके भरोसे बैठे रहें? कहीं चलकर देखभाल करेंगे। और नहीं तो बदले में ही कोई लड़की देखेंगे।

—बदले में? मैंने हैरान होकर पूछा।

—हमारे में यह रिवाज है, बाबूजी। बराबर की उमर के वर हों, तो दो घर आपस में लड़कियाँ बदल लेते हैं। मैं जाकर अपने जैसा ही कोई घर देखूँगा।

मैंने देखा, पुष्पा प्रतीक्षा कर रही है। बापू जो गाली देता है, वह गाली उसे नहीं लगती। पर जो गाली नहीं देता, वह गाली उसे लग रही है।

फ़िल्म पटकथा

दिन ढले

1

पानी में बहते हुए फूल

Background

"इंसानी ज़िंदगियाँ दरिया में बहते हुए फूल हैं, जिन्हें पानी की लहरें जिधर चाहें, जैसे चाहें, बहा ले जाती हैं। दो फूल कभी मिलकर इकट्ठे बहने लगते हैं, पर किसी अनजान चीज़ से ठोकर खा, झटका लगने से बहुत दूर-दूर हो जाते हैं। बहाव कभी उन्हें फिर से मिला भी देता है और कभी नहीं भी। इसी को जिंदगी का बनना-बिगड़ना कहते हैं।"

[दो फूल मिलकर बहते हुए, फिर एक लकड़ी के टुकड़े से टकरा अलग-अलग होते हुए, और फिर लहरों के थपेड़ों में इधर-उधर होते हुए दिखाई देते हैं।]

Special–शुरू से ही बंसी की तान साथ चल रही है।

Dissolve the flowers and waves.

2

[Place Hillock along the stream, against the background of farms. Time : Dawn]

[उगते सूरज की किरणें पानी पर चमक रही हैं। टीले पर बैठा प्रेम बड़े मजे से बंसी बजा रहा है। पंछियों के गिरोह घरौंदों से निकल, इधर-उधर को जा रहे हैं।

रूपी और नीली बाँह में बाँह डाले आती हुई टीले के पास रुकती हैं। हवा में उनकी चुनरियाँ पीछे की तरफ़ उड़-उड़ जाती हैं। अपनी बेपरवाही में उन्हें चुनरियाँ समेटने की चिंता नहीं। दोनों प्रेम को निहारकर फिर–एक दूसरी का हाथ दबाकर मुसकराती हैं।]

रूपी : *(धीरे से)* नीली, तू यहीं ठहर मैं जरा...

[आँख से इशारा करके टीले के ऊपर जाने लगती है। नीली एक बार उसकी ओढ़नी पीछे से खींचती है। रूपी मुश्किल से सँभलकर नीली के गाल पर एक हल्की-सी चपत लगा, टीले पर चढ़ जाती है और प्रेम के पीछे जा खड़ी होती है। नीली एक जगह कुछ ईंटें रखी हुई देखकर उन पर आराम से बैठ जाती है। रूपी एक हाथ से टीले पर उगे हुए दरख्त का सहारा लेती है। वह शरारत से मुसकराकर धीरे-धीरे अपने गले की कोमल आवाज़ प्रेम की बंसी के सुर के साथ मिलाने लगती है। प्रेम बंसी होंठों से अलग करके पीछे मुड़कर देखता है। रूपी उसके सामने आ जाती है।]

रूपी : सचमुच तुम्हारी बंसी में जादू है। यह मुझे मीठी नींद से जगाकर यहाँ तक खींच लाई।...बजाते रहो न।

प्रेम : ऊँ हूँ!

रूपी : ऊँ हूँ क्यों?

प्रेम : इस बार तो तुम चली आईं। अबकी बार बजाऊँगा तो गाँव भर की गाय-भैंसें यहीं जमा हो जाएँगी। *(नीली मुसकराती है।)*

रूपी : *(ज़रा नाराज़गी ज़ाहिर करते हुए)* जाओ जी। किसी का दिल रखना भी नहीं जानते।

प्रेम : दिल रखना तो ख़ूब जानते हैं। नहीं तो तू दिल दे के देख ले।

[उठकर रूपी के दोनों हाथ अपने हाथों में पकड़ लेता है। अचानक रूपी की आँखें नीचे बैठी नीली से मिल जाती हैं। नीली शरारत से मुसकराकर अपनी आँखें दोनों हाथों से ढक लेती है। रूपी अपने हाथ छुड़ाने लगती है, पर प्रेम उसकी आँखों में आँखें डाल देता है। रूपी पल भर उसकी आँखों में देखकर बेसुध-सी हो जाती है। नीली एक बार हाथों की अँगुलियाँ फैलाकर उन दोनों को देखकर फिर आँखों से हाथ हटा लेती है।]

रूपी : *(धीरे से)* जादूगर!

प्रेम : *(रूपी का एक हाथ छोड़कर)* जादूगर! कहाँ है जादूगर?...

रूपी : मेरी आँखों में समा गया है।

प्रेम : ओ...समझ गया।

रूपी : क्या समझ गए?

प्रेम : यही कि कोई जादूगर तुम्हारी आँखों में समा गया है जो हम पर जादू भरे तीर छोड़ता है।

[रूपी की आँखों की मदभरी चितवन]

रूपी : *(बनावटी क्रोध से अपना हाथ छुड़ाकर)* हम तुमसे बात भी नहीं करेंगे।

प्रेम : न सही, पर बंसी तो सुनोगी?

रूपी : नहीं।

प्रेम : तो कान बन्द कर लो। हम बंसी बजाएँगे।

[रूपी लापरवाही दिखाती हुई टीले से नीचे उतरने लगती है। प्रेम बंसी छेड़ देता है। रूपी के पैर रुक जाते हैं। वह मुड़कर प्रेम के पास आ जाती है। नीली भी दो-चार कदम टीले पर चढ़कर एक झुके हुए तने से टेक लगा लेती है। रूपी गाने लगती है :]

जादूगर बालमा...

3

[Place : Interior of Prem's house
Time : Day]

मुंशी बाहर से आता है। कोट उतारकर चौकी पर बैठ बही खोलता है। एक अँगुली से माथे का पसीना पोंछता है, फिर उसी को ज़बान से लगा पन्ना पलटता है।

मुंशी : *(अपने आप)* आजकल तो दयानतदार होना गुनाह है। दुनिया उसको मानती है जो हो पक्का बेईमान!

[प्रेम सीटी बजाता हुआ और कुर्ते के बटन खोलता हुआ बाहर से आता है।]

प्रेम : क्यों काका, किसको गालियाँ निकाली जा रही हैं? *(कमीज़ उतारते हुए)*

इस साल तो अभी से इतनी गरमी पड़ने लगी।

[रुमाल से पसीना पोंछता है। मुंशी उठकर पास आ जाता है।]

मुंशी : राजा, तुम कहते हो किसी को लगान के लिए तंग न करो। पर आज तक एक भी किसान ने लगान नहीं दिया। बग़ैर सख्ती किए यह लोग ढीले नहीं होने के।

प्रेम : *(कुर्ते के दो बटन खोलकर फिर बन्द करता है। सुराही से गिलास में पानी उँडेलते हुए)* सख्ती? *(जरा हँसकर)* एक इंसान को दूसरे पर सख्ती करने का अख्तियार किसने दिया है, काका?...हल चलाने और फसल काटनेवाले का पैदावार पर पूरा हक है। और...

मुंशी : *(बात काटकर)* नहीं राजा! तुम्हारी जवानी की भोली उमंग तुम्हें भुलावे में डाल रही है।

[प्रेम मुसकराता हुआ गिलास से दो घूँट पानी पीता है।]

आखिर यह लोग हमारी ही जमीन पर तो हल चलाते हैं। हमारी जमीन...

प्रेम : *(गिलास मुँह से हटाते हुए)* नहीं काका, नहीं। जमीन हमारी कैसे हो सकती है? हमने इसे नहीं बनाया, जमीन का मालिक तो वह है जो हम सबका मालिक है। और जो उसमें बीज बोता है, वही पैदावार का असली हकदार है। (गिलास को धोकर उसमें फिर से पानी भरते हुए) पानी पियो काका, होंठ सूख रहे हैं।

[पानी का गिलास मुंशी के हाथ में देकर खुद सीटी बजाता हुआ निकल जाता है। मुंशी हाथ का गिलास रखकर उसी को जाते हुए देखता है, फिर एक ठंडी साँस लेता है।]

मुंशी : मेरी तो जान सूख रही है बेटा!—यह देखकर कि तुम कितनी मेहनत किया करते हो! दिन-दिनभर किसानों में किसान बने रहना!—

[Super impose]

[प्रेम खेत में और किसानों की तरह ही हल चला रहा है। बाक़ी लोग कुछ अलसाए से है, पर प्रेम का चेहरा खिला-सा है। वह साथ-साथ गुनगुनाता भी है।]

: ख़ाली वक़्त में सबको नसीहतें देते रहना!

[Super impose]

[एक जगह खेतों में प्रेम खड़ा है। उसे चारों तरफ़ से किसान घेरे हुए हैं।]

प्रेम : समझ रहे हो न अच्छी खाद किस तरह तैयार होती है?

[किसान सिर हिलाते हैं।]

प्रेम : इसी तरह...

[फिर आधी-आधी रात तक खेतीबाड़ी और किसानों के बारे में किताबें पढ़ते रहना।]

[Super impose]

[प्रेम एक मामूली-सी कुर्सी पर बैठा, अपनी छोटी-सी मेज़ पर रखी हुई किताब के वरक उलट रहा है। किताब का title है 'हमारे किसान।' कुछ और किताबें आसपास पड़ी हैं, जिनके titles हैं, 'ज़मीन और पैदावार', 'आज की खेती', 'बीज और अनाज', वग़ैरह। दीये में तेल चुक जाने से दीया बुझने लगता है तो प्रेम किताब बन्द करता है।]

—बस थोड़ी-बहुत फुर्सत मिलती है तो दिन ढले...

4

[Place : A Shady tree along the stream—
Time : The setting Sun]

[रूपी दरख़्त के तने का सहारा लिए, एक बाँह से झुकी हुई डाल को पकड़े, इन्तज़ार भरी आँखें रास्ते पर बिछाए हुए भूली-सी खड़ी है। उसके अध-रूखे केश कुछ उसके मुँह और आँखों पर आ रहे हैं। कमर तने के साथ टिकाए रहने से रूपी की छाती का उभार पूरी तरह झलक रहा है। रूपी कुछ रुककर फिर आलाप उठाती है :]

गीत :

दिन ढले, दिन. ढले।
आशा के उज्ज्वल दीप जले।
पच्छिम में छिप रहा उजेला, छल-छल बहता पानी
इनके ऊपर मस्त हवा से सुन-सुन नई कंहानी,
मुख में ले नन्हे-से तिनके–
कहाँ बसेरा नया बसाने, यह दो पंछी साथ चले?
दिन ढले, दिन ढले।
यह भी दिन, वह भी दिन होगा, जब हम जा मँझधार
ढलते सूरज की लाली में खो सारा संसार,
लहरों में पतवार छोड़कर...
उस घाटी में जा पहुँचेंगे, जिसमें सुन्दर स्वप्न पले।
दिन ढले, दिन ढले।

[वह रुक जाती है और अस्ताचलगामी सूर्य की सिमटती हुई किरणों की ओर देखने लगती है। अँधेरा गहरा होता जा रहा है। दूर से एक घटा भी उठने लगी है, जिसमें चमकती हुई बिजली भी बीच-बीच में दिखाई दे जाती है। रूपी तन्मय होकर उसी ओर देखती रहती है। इसी बीच में सीतल उसी दरख़्त की सबसे ऊपरवाली शाखा से चिपटा हुआ दिखाई देता है। वह भूखी आँखों से रूपी को देख-देखकर कुनमुनाता हुआ, अपने होंठों पर ज़बान फेरता है। रूपी को उसका कोई पता नहीं। रूपी की call खत्म होने पर प्रेम दबे पैरों उसके पीछे से आकर उसकी आँखें बन्द कर लेता है। रूपी के चेहरे पर मुसकराहट और लाली दोनों खेल जाती हैं। उधर सीतल दोनों हाथों के बल डाली पर उचककर उन दोनों को बेतरह घूरता हुआ मुँह बिचकाता है। उसके उचकने से डाली ज़रा चरमरा जाती है, और वह डरकर फिर उससे बेतरह चिपक जाता है। नीचे रूपी प्रेम के हाथों से अपनी आँखें छुड़ाने की कोशिश करती है।]

रूपी : (जरा क्रोध दिखलाते हुए) छोड़ो जी! हम तुमको नहीं जानते!
प्रेम : जी हाँ! इसीलिए हम यह जान-पहचान बना रहे हैं।
रूपी : छोड़ो, छोड़ो! *(प्रेम के हाथों पर चुटकियाँ काट देती है।)*

[प्रेम जल्दी से अपने दोनों हाथ खींच लेता है।]

प्रेम : *(एक हाथ से दूसरे हाथ को सहलाते हुए)* हाय, हाय, हाय! नागिन ने किस बुरी तरह काटा है?
रूपी : *(प्रेम का हाथ हाथ में लेकर गड़े हुए नाख़ून के निशान को देखते*

हुए) राम रे! निगोड़ी ने ज़रा भी तो तरस नहीं खाया। मेरे सामने पड़ जाए तो उस नागिन को बाँधकर रस्सी तुम्हारे हाथ में दे दूँ।

प्रेम : जिससे वह हमेशा इसी तरह डसती रहे। क्यों? आई बड़ी हमदर्द! यह नहीं पूछा कि कोई मरहम ही लगा दूँ?

रूपी : क्यों, हम क्यों मरहम लगाएँ?

प्रेम : घाव तुम करती हो तो मरहम लगाने कोई दूसरी आएगी?

रूपी : हम क्या जानें! *(चल पड़ती है)* तुम ही तो किसानों की मरहम-पट्टी किया करते हो, अपने लिए भी कोई मरहम बना लो! *(शिकारे पर बैठ जाती है)*

प्रेम : *(ठंडी साँस लेकर)* कैसे बना लें। अपने जख़्मों की मरहम के लिए एक ख़ास क़िस्म के जहर की ज़रूरत है।

रूपी : कौन-सा जहर?

प्रेम : वह जो तुम्हारी आँखों में है। *(रूपी की रोषभरी आँखें)*

[प्रेम झटके से शिकारे को पानी में धकेल देता है। रूपी के मुँह से हल्की-सी चीख़ निकलती है। प्रेम झट पानी में उतरकर शिकारे को और भी धकेल देता है। रूपी के मुँह से फिर चीख़ निकलती है। उधर सीतल बेतरह से घबराकर ऐसे उछलता है जैसे अभी छलाँग ही लगा देगा। बूढ़ी डाली बुरी तरह से चिरकती है। सीतल घबराहट में हाथ-पैर मारकर एक दूसरी डाली से पैर फँसाकर सँभलता है और दोनों हाथों से एक ऊपरवाली डाली को पकड़ लेता है।

प्रेम पानी से उचककर खुद भी शिकारे में आ जाता है। शिकारा लहरों में बहने लगता है। प्रेम रूपी के कन्धे पर हाथ रख देता है। दोनों के होंठों पर मुसकराहट खेल जाती है।]

प्रेम : *(उसकी आँखों में देखकर)* नागिन!

रूपी : *(प्रेम की आँखों में देखते हुए)* जादूगर!

[प्रेम अपनी बंसी निकालकर होंठों से लगा लेता है। झाड़ियों के बीच से सीतल सिर निकालकर नाव की तरफ़ देखता है। एक अधछिली छड़ी उसके हाथ में है। वह मुँह ज़रा और आगे को बढ़ाता है, तो एक हाथ उसका कान पकड़कर खींचता है। नीली एक हाथ कमर पर रखे, सीतल को कान से पकड़कर खड़ा कर देती है।]

नीली : क्यों क्या झाँकता है रे? शरम नहीं आती?

सीतल : *(दर्द के मारे मुँह बिगाड़ते हुए)* नहीं...नहीं समझ गया! तू मेरी बहन! नहीं नहीं...तू मेरी माँ।

नीली : *(उसकी छड़ी बगल से निकालकर उसके पैर में चुभोते हुए)* फिर वही बात?

सीतल : नहीं-नहीं, तू नहीं। तू मेरी बहन नहीं। तू मेरी माँ नहीं। तू मेरी...तू मेरी...तू मेरी बहू...तू..मेरी बेटी! *(सिर खुजलाकर सोचने लगता है!)*

नीली : *(उसकी छड़ी फेंककर) बेशरम कहीं का! (मटकती हुई चलती है।)*

[सीतल को सिर खुजलाते हुए जैसे कुछ याद आ जाता है। वह आँख मूँदकर शुरू करता है।]

सीतल : मेरी जान! तुझ पर कुर्बान।

[एक कुतिया आकर सीतल के सामने खड़ी हो जाती है।]

सीतल : तेरा गोरा मुखड़ा...तेरे काले नयन...

[कुतिया ज़ोर से भौंक उठती है। सीतल अचकचाकर आँखें खोलता है, कुतिया चुप कर जाती है। दूर से मूँगफली का दाना आकर सीतल को लगता है। राजा और रानी गलबहियाँ डाले खड़े हैं।]

राजा : क्यों सीतल, गरम-गरम मूँगफली दूँ?
Repeat expresion

5

[Place : A pool
Time : Day]

[रूपी और प्रेम चश्मे के किनारे कुहनियों के बल लेटकर पानी में झाँक रहे हैं। पास ही ख़ाली गिलास और कटोरी रखी है। पानी में मछलियाँ बहुत हैं। प्रेम पानी में हाथ डालता है। कोई मछली हाथ नहीं लगती।]

रूपी : क्यों, नहीं आई न।

प्रेम : मछलियाँ तेरी तरह भोली नहीं हैं। बड़ी मुश्किल से बस में आती हैं।

[रूपी हाथ डालती है। एक मछली हाथ में आकर निकल जाती है।]

प्रेम : क्यों, नहीं आई न?

रूपी : अरे, यह तो तुम्हारी तरह चालाक हैं। एक बार हाथ में आकर फिर चली जाती हैं।

[दोनों हँसते हैं। फिर प्रेम ज़रा गम्भीर होकर सीधा हो जाता है।]

प्रेम : रूप, मैं अब सचमुच यहाँ से जाने की सोच रहा हूँ।

[रूपी का चेहरा फक-सा हो जाता है।]

रूपी : क्यों?

प्रेम : पगली, उम्र भर एक ही जगह रहकर तो काम नहीं किया जाता है। मेरे कर्तव्य की रस्सी मुझे यहाँ से खींचकर दूर ले जाना चाहती है।

रूपी : हुँ! पर मेरे प्यार की रेशमी डोर तुम्हें बाँधकर यहीं रखना चाहती है।

प्रेम : कर्तव्य की रस्सी बहुत मजबूत है, पगली! कोई तोड़ नहीं सकता!

रूपी : और प्यार की रेशमी डोर मुलायम होते हुए भी कमज़ोर नहीं होती। उसे कोई झटक नहीं सकता।

प्रेम : हमें अपने कर्तव्य पर भरोसा है।

रूपी : हमें अपने प्यार पर मान है। हम तुम्हें कभी नहीं जाने देंगे।

प्रेम : अगर मैं आधी रात को चुपके से गाँव छोड़कर चला जाऊँ तो?

रूपी : मैं रास्ते में अपनी पलकें बिछा दूँगी। वह तुम्हें लौटा लाएँगी और रात भर अपने अन्दर बन्द रखेंगी।

प्रेम : रूप! मैं जहाँ भी जाऊँ, तू मेरे साथ चलना!

रूपी : नहीं बाबा! आना-जाना कहीं नहीं। हम तो अपना गाँव छोड़कर कभी भी कहीं नहीं जाएँगे।

प्रेम : सच?

रूपी : हाँ, हा, बिलकुल सच!

प्रेम : तो हमें तुझे छोड़कर ही जाना पड़ेगा! (उठ पड़ता है)

रूपी : झूठ!

प्रेम : नहीं, नहीं, सच।

रूपी : देखो जी, हमें ऐसे छोड़ न जाना।

प्रेम : अगर तू हमारे साथ न चलेगी, तो हम ज़रूर छोड़ जाएँगे।

रूपी : ऊँ हूँ!

गीत :

हमें छोड़ न जाना जी!

6

Place :

Time :

[नन्हा राजा दोनों हाथों में मूँगफली भरे हुए दौड़ा हुआ आता है। वह एक जगह रुककर पुकारता है :]

राजा : रानी! ओ रानी!

[नन्ही रानी एक तरफ़ से भागी हुई आती है।]

रानी : *(आती हुई)* आई राजा, आई। *(पास पहुँचकर उसके कन्धों पर हाथ रख देती है।)*

राजा : रानी! देख तेरे लिए मूँगफली लाया हूँ। ले खा। *(रानी उसके हाथों से कुछ मूँगफली ले लेती है। दोनों मूँगफली छीलने लगते हैं।)*

रानी : *(मूँगफली खाते हुए)* तेरी मूँगफली बड़ी मीठी है।...आज मेरी फूफी कहती थी कि तू राजा से न खेला कर।

राजा : क्यों?

रानी : वह कहती थी कि तू अब सयानी हो गई है। सयानी लड़कियाँ लड़कों से नहीं खेलतीं।

राजा : नहीं खेलती? हुँ! आई बड़ी मना करनेवाली। तूने क्या कहा?

रानी : *(राजा की बाँह पकड़कर)* मैंने कहा, खेलूँगी, ज़रूर खेलूँगी।

[राजा की नज़रें बीच में ही एक तरफ़ को लग जाती हैं।]

राजा : *(रानी का कन्धा पकड़कर)* रानी, वह देख, आया लाल चौधरी का भाई सीतल, सड़ा हुआ पीतल!

[सीतल एक छड़ी छीलता हुआ आता दिखाई देता है। वह ज़रा आँखें फिराकर इधर-उधर देखता है, फिर उलटे दस्ते से छड़ी छीलने की बेसूद कोशिश करता है। राजा और रानी उसको देखकर आपस में इशारा करते हैं। फिर राजा एक मूँगफली का दाना हाथ में लेकर तानता है।]

राजा : *(धीरे से)* एक-दो तीन...

[दाना सीतल पर फेंकता है। सीतल हड़बड़ाकर चौंकता है। एक बार क्रोध से मुँह बिगाड़कर राजा और रानी की तरफ़ देखता है जो हँस देते हैं। फिर उसकी नज़र मूँगफली के दाने पर पड़ती है। चेहरे पर मुसकराहट खेल जाती है। वह छड़ी बगल में दबाकर मूँगफली के दाने को उठाता है, और फूँक मारकर फिर हाथ से उसकी धूल झाड़ता है। वह दाना छीलकर मुँह में डालने लगता है कि राजा दौड़ता हुआ आकर दाना उसके हाथ से छीन लेता है। रानी भी हँसती हुई पास आती है।]

राजा : क्यों बे, पराई चीज़ मुँह में डालता है? शरम नहीं आती?

[सीतल अचकचाकर ज़रा मुँह बिगाड़ता है।]

सीतल : वह मेरी है। पहले मैंने उठाई है।
(रानी की तरफ़ देखने लगता है।)

रानी : *(क्रोध से)* क्यों बे मेरी तरफ़ क्यों घूर-घूर के देखता है? शरम नहीं आती? *(सीतल एक ठंडी साँस भरता है।)*

सीतल : शरम तो आती है, पर कोई शरमवाली नहीं आती। जिसकी तरफ़ आँखें फेरो, वही दो-चार सुना देती है।

राजा : है भी तो सूखा हुआ संतरा! अरे कबूतर, पहले प्यार करना सीख फिर किसी की तरफ़ आँख फेरना! समझा?

सीतल : *(जरा कुछ सोचते हुए)* प्यार? प्यार करना तो अम्मा ने मुझे सिखाया ही नहीं।

रानी : *(अँगुली होंठों से लगाकर)* तुझे प्यार करना नहीं आता? तूने किसी से प्यार नहीं किया?

सीतल : *(उसकी ठुड्डी को छूकर)* नहीं रानी! तेरे सिवाय आज तक किसी को छूकर भी नहीं देखा!

रानी : *(झटके से उसका हाथ हटाकर)* दूर! हट पत्थर! प्यार करना नहीं आता!

सीतल : बता दे रानी! तू ही बता दे! कैसे प्यार करूँ?

रानी : *(जरा मटककर)* हुँ! बताऊँ? पहले आँखें मूँदकर दो लम्बी-लम्बी साँसें ले। यूँ! *(करके दिखाती है।)*

[सीतल भी साथ ही ज़रा नकल करने की कोशिश करता है।]

रानी : फिर यूँ एक हाथ दिल पर रखकर, एक हाथ आगे बढ़ाकर कह, 'मेरी जान, तुझ पर कुर्बान! दिल के घाव गहरे!'

सीतल : *(वैसे करते हुए)* मेरी जान (छड़ी बगल से गिरने लगती है। उसे मुश्किल से सँभालता है।)
मेरी जान, तुझ पर कुर्बान!...*(एक बार आँखें ज़रा खोलकर फिर मूँदकर)* दिल के घाव गहरे! *(आँखें खोलकर)* आगे?

रानी : 'तोरा गोरा मुखड़ा, तोरे काले नयन,
मोरा जिया धक धक करे!'

[नीली मटका लिए आती हुई दिखाई देती है। सीतल आँखें मूँदकर शुरू करता है।]

सीतल : तोरा गोरा मुखड़ा...*(जरा खुश होता है।)*

[सीतल बोलता हुआ मूड में दो-चार कदम चलता भी है। नीली उसके सामने जाती है। सीतल कहता जा रहा है।]

तोरा गोरा मुखड़ा तोरे काले नयन...
मोरा जिया धक धक करे!

[नीली सीतल की बगल की छड़ी झटके से खींचकर उसके पेट में चुभोती है। सीतल एकदम कुलबुला जाता है।]

नीली : क्यों मरदूद, शरम नहीं आती? गाँव भर की बहू-बेटियाँ तेरी माँ-बहनें लगती हैं। आया समझ कि नहीं?

सीतल : (घबराया-सा) समझ गया!

नीली : (तैश में) क्या समझ गया?

सीतल : *(जरा सोचता-सा)* समझ गया कि...तू मेरी माँ...*(रानी की तरफ़ इशारा करके)* वह मेरी बहन!

[राजा और रानी दोनों आँखें मिलाकर मुसकराते हैं]

नीली : *(छड़ी फिर उसे चुभोकर)* क्यों मरदूद, मैं तेरी माँ की उमर की हूँ? *(सीतल बहुत सटपटा जाता है।)*

सीतल : नहीं नहीं। तू नहीं...तू नहीं...*(रानी की तरफ़ इशारा करके)* वह मेरी माँ।...तू मेरी बहन! नहीं नहीं...*(सोचता है राजा और रानी हँसते हैं। राजा एक मूँगफली का दाना ताककर सीतल पर फेंकता है।)*

राजा : क्यों सीतल गरम-गरम मूँगफली दूँ? *(सीतल क्रोध से उसकी तरफ़ देखता है। फिर मूँगफली के दाने को देखकर ज़रा मुसकराता है, और उसे उठाने लगता है।)*

7

[Place :

Time :]

रूपी बिस्तर पर लेटी हुई है। आँखें बन्द हैं। उसकी माँ उसका माथा छू रही है।

रूपी की माँ: हाय राम! बुख़ार बढ़ता ही जा रहा है।

रूपी : *(बेहोशी में बड़बड़ाती है)* जाने दे माँ, जाने दे! दिन ढल गया है।

[Scene : दिन ढल रहा है। प्रेम नदी किनारे नाव पर अकेला बैठा, इन्तज़ार भरी आँखों से शिकारे की तरफ़ देख रहा है। शिकारा पानी में हिलता है। रूपी का सिर हिलता है।]

रूपी : पानी की लहरें! पानी की लहरें!

[Scene : पानी की लहरें। शिकारा हिल रहा है। रूपी का सिर हिल रहा है।]

रूपी : माँ! दिन ढल गया है!

[रूपी की माँ व्याकुल-सी, अपनी टूटी अलमारी के पास जा पैसोंवाली डिब्बी निकालती है। उसमें दो रुपए पाँच आने हैं। वह दो रुपए निकालकर डिब्बी बन्द कर देती है। मुँह पर बेबसी की करुणा खेल उठती है।]

[वैद्यजी रूपी की नाड़ी देख रहे हैं! रूपी की माँ आशा भरी आँखों से वैद्यजी के मुँह की तरफ़ देख रही है।]

वैद्यजी : *(सिर हिलाते हुए)* कुछ समझ में नहीं आया। नए ज़माने में बीमारियाँ भी नई लगने लगीं।

रूपी की माँ : वैद्यजी!...

वैद्य : डॉक्टरों के बस का रोग है। अपने चरम सुश्रुत में ऐसा बुख़ार कहीं नहीं लिखा! *(हैरानी से सिर हिलाता है।)* डॉक्टर को दिखा देखो!

[रूपी की माँ पर जैसे पत्थर गिरता है। उसकी आँखों के आगे अपनी डिब्बी की तसवीर खिंच जाती है, जिसमें पाँच आने बाक़ी हैं। रूपी का चेहरा दिखाई देता है। होंठ धीरे-धीरे हिल रहे हैं।]

रूपी : दिन ढल गया है, माँ! माँ!...

●●●

[डॉक्टर सेठी सिगार का धुआँ छोड़ रहे हैं। बाहर खटखट!]

डॉक्टर : ओहो! देहात में हस्पताल बनाकर डॉक्टरी करना भी खालाजी का घर नहीं। बेवकूफ़ों को इतना नहीं पता कि दरवाज़ा नहीं खटखटाया जाता, बेल बजाई जाती है। गजाती!

नौकर : *(झट आकर)* हुजूर!

डॉक्टर : देख कौन है बाहर!

[बाहर जाता है। फिर रूपी की माँ दरवाज़े से अन्दर दाखिल होती है।]

डॉक्टर : *(उसे सिर से पैर तक देखकर)* क्या चाहती है?

रू. माँ : *(जरा हिचकते हुए)* आपकी मेहरबानी चाहती हूँ सरकार! मेरी बच्ची बीमार है। उसे चलकर देख लीजिए!

डॉक्टर : रात के वक़्त किसी मरीज को देखने की फीस बत्तीस रुपए हैं। पता है?

रू. माँ : बत्तीस रुपए! डॉक्टर साहब! मेरी बच्ची की जान को चाँदी से न तोलो! हर तड़पते हुए बेबस इंसान की रूह तुम्हारी मदद की हकदार है। मैं गरीब हूँ। मेरी झोली में मेरी बेटी की जान की भीख डाल दो डॉक्टर साहब! *(झोली फैलाती है।)*

डॉक्टर : गजाती!

गजाती : *(आकर)* हुजूर!

डॉक्टर : माई को बाहर छोड़ आओ!

[गजाती दरवाज़ा खोल देता है। रूपी की माँ बढ़कर डॉक्टर के पैर पकड़ लेती है।]

रू. माँ : बेवा की असीस में बहुत असर होता है, डॉक्टर साहब! मैं तुमको सौ-सौ असीस दूँगी। परमात्मा ने तुमको लोगों की जान बचाने का काम सौंपा है। उस परमात्मा के काम की कीमतें न लगाओ। उसकी बनाई हुई चीज़ की इतनी बेकदरी न करो! मेरे साथ चले चलो!

डॉक्टर : *(क्रोध से)* गजाती! चुपचाप क्या देख रहा है! ले जा बाहर! आराम करने दे। *(गजाती रूपी की माँ को बाँह पकड़कर उठाता है।)*

रूपी की माँ : *(उठते हुए)* बत्तीस रुपए! डॉक्टर! तुम्हारे आराम की कीमत एक गरीब की जान से ज़्यादा है। अपनी इस चकाचौंध की दुनिया में तुम बुझते हुए दीपक की कदर भला क्या समझ सकोगे? अपनी इस मजबूत छत के नीचे से तुमने टूटते हुए सितारे भला क्यों देखे होंगे? डॉक्टर! डॉक्टर! एक छटपटाते हुए गरीब इंसान का दिल चन्द पैसों के अन्दर नहीं धड़कता! गले तक आकर अटकी हुई जान सोने-चाँदी के अन्दर नहीं टटोली जाती!

डॉक्टर : गजाती! मैंने क्या कहा है?

रूपी की माँ : *(जाते हुए)* मैं चली जाती हूँ डॉक्टर! तुम्हारी आँखों के आगे सोना चमकता है। तुम्हारे कानों में चाँदी खनखनाती है। तुम्हारे दिमाग में शोहरत नाचती है। तुम देख नहीं सकते। तुम सुन नहीं सकते... तुम समझ नहीं सकते!

8

[Place :

Time :]

[लाल चौधरी और रूपी की माँ]

चौधरी : *(जम्हाई लेते हुए)* मैं सब समझ चुका हूँ जानकी! आजकल के डॉक्टरों से राम बचाए! तुम रुपया ले जाओ! सौ-पचास, जितना चाहो। *(रुपया तिजोरी से निकालता है।)* एक बात बताऊँ? एक फैसला मैंने कर लिया है। तुम्हारी रूपी का ब्याह अपने सीतल से करूँगा।

रूपी की माँ : पर चौधरीजी...

चौधरी : पर-वर कुछ नहीं। वह ज़रा भोला है, पर है होनहार!

[सीतल आँखें मलता हुआ ज़रा दरवाज़े से झाँकता है। चौधरी से ज़रा आँख मिलते ही दरवाज़ा बन्द कर देता है।]

: और तुम्हारी बेटी मेरी भी तो कुछ लगती है। राजी हो जाए बेचारी–बस फिर!...*(चुटकी बजाता है। नोट गिनकर देते हुए)* यह पचास रुपए गिन लो! *(रूपी की माँ मुरझाई-सी रुपए उठाती है।)*

चौधरी : ऐसा घर-वर दीया लेकर ढूँढ़ने से नहीं मिलेगा!

[सीतल फिर ज़रा सिर निकालता है। चौधरी तिरछी आँख से देखता है। वह झट पीछे हट जाता है।]

9

[Place :

Time :]

[डॉक्टर स्टेथेस्कोप से रूपी को देख रहा है। रूपी की माँ बौखलाई-सी पास खड़ी है। डॉक्टर धीरे से सिर हिलाता है।]

रूपी की माँ : मेरी बच्ची ठीक हो जाएगी न डॉक्टर?

डॉक्टर : *(सिर उठाकर)* इसे सैंडफ्लाई फीवर है।

रूपी की माँ : *(हैरानी से)* सांडफलाही! वह बड़ा बुख़ार है? वह ज़्यादा रुपए से ठीक होता है? मैं और दे दूँगी डॉक्टर! मैं और दे दूँगी।

डॉक्टर : *(चिढ़कर)* दवाई वक़्त पर दो। एक-दो दिन में ठीक हो जाएगी।

रू. माँ : *(एकदम उठकर)* एक-दो दिन में? इतनी जल्दी? पर वलायती बुख़ार तो बड़ी देर से उतरता है।

डॉक्टर : *(थर्मामीटर को छिटकते हुए)* जाहिल!

[रूपी की माँ खिली-सी, रूपी का माथा चूम लेती है। फिर रूपी दीवार से टेक लगाए बैठी है। माँ उसी तरह उसके माथे से होंठ उठाती है।]

जानकी : दो दिन में चेहरा कितना उतर गया है! *(सिर पर हाथ फेरते हुए)* दिन ढल रहा है। जा ज़रा घूम आ।

●●●

[रूपी धीरे-धीरे आकर उसी पेड़ से हाथ का सहारा लेकर धीरे से गुनगुनाती है।]

रूपी : दिन ढले...दिन ढले...दिन ढले।

[प्रेम पीछे से आकर तने पर हाथ रखे, उसके पास ही खड़ा हो जाता है।]

प्रेम : रूपी?

रूपी : *(जरा देखकर)* क्यों, खेतों में काम पूरा हो गया?

प्रेम : तूने जरा-सी बात को इतनी बड़ी बना दिया! रूपी मेरी ही वजह से तू बीमार हो गई थी। है न?

रूपी : किसान इन्तज़ार नहीं कर रहे?

प्रेम : ताना न दे रूपी!...मुंशी काका कल तेरी माँ के पास जाएँगे।

रूपी : क्यों?

प्रेम : उसकी रूपी को माँगने के लिए।

[रूपी तिरछी नज़र से प्रेम को देखकर हट चलती है। और एक-दो बार मुड़कर देखकर भाग जाती है। आगे सीतल अपना अभ्यास कर रहा है।]

सीतल : *(आँख मूँदकर दिल पर हाथ रखे हुए)* मेरी जान! मेरी जान!...तुझ पर कुर्बान!

[रूपी माथे पर बल डालती हुई पास से निकल जाती है। एक बुढ़िया नहाकर आती हुई सीतल के सामने पड़ जाती है।]

सीतल : *आँख मूँदे, हाथ फैलाए चलते हुए, बुढ़िया के बहुत नज़दीक से* तोरा गोरा मुखड़ा! तोरे काले नयन!

बुढ़िया : *(बचती हुई)* निगोड़े! शरम नहीं आती?

सीतल : *(अचकचाकर आँख खोलते हुए)* हाँ! तू मेरी बहन... *(बुढ़िया को देखकर मुँह खुला रह जाता है। राजा और रानी हँसते हैं। राजा मूँगफली फेंकता है।)*

राजा : क्यों सीतल? गरम-गरम मूँगफली दूँ?

Repeat expressions

10

[रूपी की माँ दीया जला रही है। मुंशी बाहर से आवाज़ देता हुआ दरवाज़ा खोलकर आता है।]

मुंशी : जानकी!

रू. माँ : आओ, आओ मुंशीजी! अन्दर आकर बैठो।

[रूपी की माँ मुंशी को बैठाती है, अन्दर चटाई पर खुद भी बैठ जाती है।]

रू. माँ : कैसे किरपा की? *(लाल चौधरी आता है, और दरवाज़े पर ठिठक जाता है।)*

मुंशी : कुछ माँगने आया हूँ, तुमसे।

रू. माँ : मुझसे?

मुंशी : हाँ! छोटे मालिक के लिए तुम्हारी रूपी को माँगने आया हूँ! तुम तो जानती ही हो, इन दोनों में कितना छुटपन से ही प्यार है।

रू. माँ : जानती तो हूँ, मुंशीजी! पर... *(सिर झुकाकर)*

मुंशी : पर क्या? तुम्हें कोई एतराज़ है?

रू. माँ : एतराज़? कौन अभागी माँ होगी, जिसे ऐसी बात से एतराज़ हो।...मगर...

मुंशी : हाँ-हाँ, कहो...

[रूपी की माँ चुप रहती है।]

मुंशी : चुप क्यों हो गई? बोलो...

[लाल चौधरी दरवाज़ा धकेलकर अन्दर आता है।]

चौधरी : यह क्या बोलेगी? मुझसे पूछो जिसके भाई के साथ बेटी ब्याहने का इसने इकरार किया है।

[रूपी की माँ फटी-फटी आँखों से चौधरी की तरफ़ देखती है।]

मुंशी : क्यों भूल गई वह दिन, जब रुपए उधार लिए थे। मैंने भी पाँच सौ रुपए किसी बात पर दिए थे।

रू. माँ : *(एकदम चौंककर)* पाँच सौ रुपए! चौधरीजी! आँख मूँदे हुए कबूतर का शिकार करना ही जानते हो? पचास के पाँच सौ बनाना ही चौधरियों का काम है?

चौधरी : अभी तो काग़ज़ रखा है। या तो अभी रुपए गिन दे, या अपनी बात पर रह।

मुंशी : वाह चौधरी, वाह! मुर्गी हलाल भी हो और अंडा भी दे। ख़ूब रही! गरीबों के ख़ून का निचोड़ पी-पीकर मुटयाए जाते हो। ज़रा देखूँ तुम्हारा काग़ज़?

[चौधरी काग़ज़ निकालकर पकड़ाता है।]

चौधरी : देख लो, अँगूठा लगा है।

[मुंशी काग़ज़ लेकर गौर से देखता है।]

मुंशी : रूपी की माँ! ज़रा दीया पास करना। अँधेरे में साफ़ पढ़ा नहीं जाता।

[रूपी की माँ दीया उठाकर मुंशी के पास कर देती है। मुंशी काग़ज़ को बिलकुल दीये के पास ले जाता है, और धीरे से लौ से छुला देता है। काग़ज़ जल उठता है। मुंशी काग़ज़ फेंककर अँगुली मुँह में डालता है।]

मुंशी : अ ल ल ल ल। हाथ जलता-जलता रह गया।

चौधरी : मुंशी!

मुंशी : चौधरी! हो पक्के उस्ताद! काग़ज़ में कौन-सा बारूद भर रखा था?

चौधरी : *(कुढ़कर)* मुंशी! जेल भिजवा दूँगा। समझता क्या है?

मुंशी : *(तैश में)* रहने दो चौधरी! तुम्हारी जालसाजियाँ ख़ूब समझता हूँ। रंडी की करतूत पड़ोसिन से नहीं छिपी रहती! मुझे एक बार जेल भिजवाने से पहले सात बार जेल हो आओगे। *(कुर्ते से पचास के नोट निकालकर)* यह लो पचास रुपए, और रास्ता नापो!

[चौधरी रुपया उठाकर लाठी पटकता हुआ चलता है।]

चौधरी : *(जाता हुआ)* सब समझ लूँगा। लाल चौधरी से उलझने चला है। समझता क्या है?

[बाहर निकलकर नोट गिनने लगता है।]

[अन्दर]

मुंशी : बिटिया की जन्मपत्री मुझे दे देना जानकी, अगले हफ्ते शहर में पंडित विद्यानाथ के पास जाकर ब्याह का मुहूर्त निकलवा लाऊँगा।

[लाल चौधरी भवें तानकर सिर हिलाता है। और चलता है।]

11

[प्रेम एक चिट्ठी को पढ़कर मुसकरा रहा है। मुंशी आता है। प्रेम चिट्ठी रख देता है।]

मुंशी : किसकी चिट्ठी है राजा?

प्रेम : मेरा दोस्त है मोहन। उसकी। मुझे बहुत चाहता है। शहर आने को बहुत लिखा है। बुलाया है। मैं ब्याह के बाद रूपी को लेकर शहर जाऊँगा काका, और कुछ दिन इसी के यहाँ रहूँगा।

मुंशी : *(हँसकर)* उसे ब्याह पर नहीं बुलाओगे, भोले राजा?

प्रेम : अरे हाँ!

मुंशी : ...हाँ, तो मैं बृहस्पतिवार को शहर पंडितजी के पास जाऊँगा और जैसा तुम कहते हो, ब्याह के लिए खादी के कपड़े ही लेता आऊँगा!

प्रेम : सारा दिन काम में लगे रहते हो काका! आराम भी करो।

मुंशी : अच्छा-अच्छा! तुम्हारा भी सोने का वक़्त हो रहा है। *(चला जाता है।)*

प्रेम : *(तकिए के सहारे बिस्तर पर लेटकर अपने आप—रूपी मेरी होगी! मेरे साथ काम करेगी! मन में कितनी उमंगें हैं! कितनी आशाएँ हैं।)*

बूढ़े का गीत :

बेबस मन जो आस लगाए!

12

[पंडित की लड़की मुन्नो दौड़ी हुई आती है।]

मुन्नो : बाबा, बाबा, हमें चार पैसे दो।

पंडित : जा बेटी, बाहर खेल। तंग नहीं किया करते। जा, बाहर खेल!

मुन्नो : बाबा, हम इमरती खाएँगे। कई दिन से मिठाई नहीं खाई। हमें चार पैसे दो।

पंडित : *(घुड़ककर)* पैसे नहीं हैं। जा, सिर न खा!

[मुन्नो सहमकर सिसकियों में रोने लगती है। लाल चौधरी मिठाई और फलों की दो टोकरियाँ लिए अन्दर आता है।]

चौधरी : पा लागन गुरुजी!

पंडित : खुश रहो सेठजी! आओ, बिराजो!

[चौधरी मिठाई वग़ैरह रखकर बैठ जाता है। लड़की एक कोने में दुबककर ललचाई नज़रों से टोकरियों की तरफ़ देखती है।]

पंडित : कहिए, किसी की जन्मपत्री बनवानी है, किसी के मुंडन संस्कार का मुहूर्त निकलवाना है, या...

चौधरी : नहीं पंडितजी! बच्चे तो अपना मुंडन संस्कार करने लायक हो गए! आपके लिए तो और ही काम है।

पंडित : कहिए!

[लाल चौधरी पंडित के कान के पास मुँह ले जाता है।]

Shade

[फिर लाल चौधरी अंटी से रुपए निकालता हुआ]

चौधरी : सौ रुपए तो रहे यह! और सौ काम हो जाने के बाद! दुनिया जानती है कि लाल चौधरी ज़बान से नहीं हटता!

पंडित : नहीं सेठजी! मेरे लिए यह काम...

[नज़र लड़की पर जाकर अटक जाती है जो भूखी नज़रों से मिठाइयों की तरफ़ देख रही है।]

पंडित : अच्छा, अच्छा! आपका काम हो जाएगा! आप फिकर न करें।

चौधरी : *(खिलकर)* बस हो जाए, तो नकद सौ रुपए और हाजिर कर दूँगा।

(उठता है। पंडित भी उठता है।)

चौधरी : अच्छा, पा लागन!

पंडित : *(ठंडी साँस लेकर)* सुखी रहो!

[लाल चौधरी निकल जाता है। लड़की भूखी-सी मिठाइयों पर झपट पड़ती है।]

13

प्रेम : रूप सच-सच बता, तू आज इतनी खुश क्यों है?

रूपी : खुश इसलिए कि आखिर प्यार जीत गया!

प्रेम : नहीं, प्यार नहीं, रूपी जीत गई!

रूपी : नहीं, नहीं, नहीं। रेशम की डोर ने मजबूत रस्सी को बाँध लिया!

प्रेम : और खुद भी उसी रस्सी का एक हिस्सा बन गई!

रूपी : वह इसलिए कि जब रस्सी कभी चुभने लगेगी तो रेशम की डोर उसे चुभने न देगी!

प्रेम : *(उसका सिर छाती से लगाकर)* मेरी रूप!

रूपी : अच्छा, अब मुझे बंसी सुनाओ।

प्रेम : न, अब नहीं।

रूपी : क्यों, अब क्यों नहीं?

प्रेम : अब ब्याह के बाद, इसी तरह दिन ढले, शिकारे में बैठकर, तुम्हारा सिर इस तरह मेरी छाती से आ लगेगा, तब मैं बंसी सुनाऊँगा, कितना अच्छा होगा वह दिन रूपी?

रूपी : सचमुच कितना अच्छा! जब हम दोनों बिलकुल मिल जाएँगे!

प्रेम : वह देख रूप, यह दो नन्हे पंछी भी मुँह में तिनके लिए, हमारी तरह मिलकर अपना नया बसेरा बनाने जा रहे हैं।

रूपी : *(विभोर होकर)* हाँ हाँ हाँ हाँ, हाँ, हाँ, हाँ, हाँ, हाँ!
कहाँ बसेरा नया बसाने, यह दो पंछी साथ चले?
दिन ढले, दिन ढले, दिन ढले।

बूढ़े का गीत :

दिन ढलने के बाद बावरे!

[घोड़े की टापों की आवाज़ : रूपी और प्रेम चौंककर देखते हैं। मुंशी उनके पास आकर घोड़े से उतरता है। चेहरा मुरझाया है।]

प्रेम : *(उतावला-सा)* इतनी जल्दी लौट आए काका? पंडितजी के यहाँ नहीं गए?

मुंशी : *(धीरे से)* वहीं से आ रहा हूँ। पंडितजी ने कहा है कि यह ब्याह नहीं हो सकता।

[रूपी और प्रेम के आगे दुनिया घूम जाती है। रूपी गिरने लगती है। प्रेम उसे सँभालता है।]

प्रेम : नहीं हो सकता? क्यों?

मुंशी : लड़की की छाया मनहूस है। यह छाया पाँच साल तक लड़के पर न पड़े तो ब्याह हो सकता है। नहीं तो लड़के की जान जाने का ख़तरा है।

[घटा पूरी तरह घिर चुकी है। प्रेम रूपी को साथ सटाए रखता है।]

प्रेम : ऐसा क्यों है काका?

मुंशी : सितारे ही ऐसे हैं। उन्हें कोई बदल नहीं सकता।

[आसमान में गड़गड़ाहट! रूपी फटी-सी आँखों से एक बार प्रेम को देखती है।]

प्रेम : रूप! हम ब्याह करेंगे। *(गम्भीर होकर)* ऊँचे आकाश में रहनेवाले सितारे हमारे भाग्य से खेलते हैं? वह सब कुछ कर सकते हैं,

हम कुछ नहीं कर सकते? रूपी, ब्याह दो दिलों के प्यार का होता है, उन सितारों का नहीं।

रूपी : *(सामने देखते हुए)*...प्यार! प्यार चोट सह लेता है, चोट करता नहीं।

प्रेम : रूपी! रूपी!

रूपी : प्यार सिर्फ़ पाकर ही नहीं, खोकर भी जीता है।

प्रेम : रूपी! रूपी! हमारा ब्याह होगा।

रूपी : *(पूरी तरह सँभलकर दृढ़ता से)* नहीं होगा। मेरा प्यार पाँच बरस क्या, उम्र भर इन्तज़ार कर सकता है, पर तुम्हारा बाल बाँका होते नहीं देख सकता।...*(आँख में आँसू)* मुझे जाने दो! अँधेरा हो गया है। *(आँखों पर आँचल रखकर चल पड़ती है।)*

[घनी घटा में एक बार बिजली चमकती है।]

प्रेम : रूप! *(उसकी तरफ़ बढ़ता है।)*

रूपी : *(मुड़कर)* नहीं, नहीं। तुम मुझे दूर रहने दो। मेरे प्यार की कसम! मेरी छाया को दूर रहने दो!

[प्रेम रुक जाता है। उसका चेहरा! मुंशी धीरे से उसकी पीठ पर हाथ रखता है। बादल ज़ोर से कड़कता है।]

14

[Place :
Time :]

[रूपी माँ की छाती से सिर टिकाए सिसकियाँ ले रही है।]

जानकी : *(उसे थपथपाते हुए रुँधे गले से)* चुप रह बेटी! तू जो कहती है, वही करूँगी। *(अपने पल्ले से उसकी आँखें पोंछते हुए)* पाँच बरस कहीं, यहाँ से दूर जाकर रहेंगी।

रूपी : *(सिसकते हुए)* माँ! माँ!

जानकी : चुप कर जा, मेरी रानी बेटी!

●●●

[आधी रात—घटा घिरी है—हवा ज़ोर से चल रही है। अँधेरे में एक-एक गठरी लिए दो स्त्रियाँ बढ़ती दिखाई देती हैं। एक

है रूपी, दूसरी रूपी की माँ! रूपी स्थिर दृष्टि से सामने की ओर देखती हुई चल रही है। जानकी बीच-बीच में रूपी की तरफ़ देख लेती है। एक तेज़ झोंके से रूपी के सिर की ओढ़नी उड़ जाती है और दरिया के किनारे आ गिरती है। रूपी ध्यान तक नहीं देती। रूपी और जानकी दूर-दूर होती हुई आँखों से ओझल हो जाती हैं।]

15

[Place :
Time :]

[किसानों में चहमगोइयाँ]

एक : अरे, राम रे! बेचारी जान पर खेल गई! नदी किनारे पड़ी हुई ओढ़नी एक निशानी रह गई!

दूसरा : सचमुच यह शहरवाले होते ही बदचलन हैं। हम तो 'प्रेम भैया हमारे देवता हैं' यह कहते नहीं थकते थे, पर उसने छुपे-छुपे ऐसी करतूत की?

तीसरा : चुप रहो। यह सब झूठ है। ऐसा कभी नहीं हो सकता!

दूसरा : मैं कहता हूँ यही हुआ है। अरे कल रूपी के सांथ उसकी तकरार लाल चौधरी ने अपने कानों सुनी थी। चौधरी झूठ थोड़े ही बोलेगा? उसे क्या लेना-देना है। छोरी अपना मुँह काला करा चुकी थी, सो अपनी लाज बचाने को डूब मरी! नहीं तो डूबकर मरने को क्या था?

चौथा : सच है जी, आदमी के दिल का खोट, या वह आप जाने, या जाने भगवान!

एक : चुप-चुप! वह आ रहा है।

[प्रेम उदास-सा आ रहा है। किसान लोग तितर-बितर हो जाते हैं। प्रेम कल्लू मियाँ के पास आता है।]

प्रेम : *(अपने-आपको सँभालते हुए)* क्यों कल्लू मियाँ! आज दोपहर को सब लोग इकट्ठे नहीं हुए?

कल्लू : मालूम नहीं।

प्रेम : तुम भी तो नहीं आए?

कल्लू : जरा काम था।

[प्रेम आगे बढ़ता है।]

प्रेम : *(आवाज़ देकर)* नन्दू!

[नन्दू अनसुनी किए हल चलाता रहता है।

प्रेम पीछे मुड़ता है : दो किसान उसकी तरफ़ इशारा करके कानाफूसी कर रहे हैं। उसके मुड़ते ही वे चुप कर जाते हैं। प्रेम सिर गिराकर वापस लौट पड़ता है। लाल चौधरी शरारत से मुसकराता हुआ मूँछों को ज़रा ताव देता हुआ हुक्का गुड़गुड़ाता है।]

16

[एक अँगीठी में लकड़ियों की छोटी में आग जल रही है। प्रेम एक किताब उठाकर उस आग में डालता है। फिर दूसरी। आग ज़रा भभकती है। मुंशी आता है।]

मुंशी : *(पास आकर)* क्यों राजा, मेरे मरते वक़्त की शांति की चिता जला रहे हो? पहले इस बुड्ढे मुर्दे को तो लकड़ियों में डाल दिया होता।

प्रेम : क्यों, क्या बात है काका?

मुंशी : इन्हीं किताबों को तुम अपने प्राण कहते थे न! यह अपने प्राणों की होली कर रहे हो?

प्रेम : मैं दुनिया की आँख से गिर चुका हूँ काका! आँसू जब तक आँख में चमकता है, मोती भी उससे शरमाते हैं। पर एक बार आँख से गिरकर वह मिट्टी में ही मिल जाता है।

मुंशी : क्यों राजा! ज़िन्दगी की पहली हार से ही घबरा गए? पासे कभी उलटे भी पड़ जाते हैं वक़्त पड़ने पर आकाश के तारों को भी नीचे उतरना पड़ जाता है।

प्रेम : नहीं, काका, नहीं। आकाश के तारे मिट्टी की जमीन तक आने से पहले टूट जाते हैं।...मुझे मत रोको काका! *(कुछ और किताबें फेंकते हुए।)* आज इस चिता को जलने दो!
आज इस चिता को अच्छी तरह जलने दो!

मुंशी : इतना क्यों घबराते हो बेटा! तुमने हमेशा अपना फर्ज पूरा किया है। लाल चौधरी के झूठे बहकावे में आकर यह बेसमझ किसान तुम्हारी सेवा को भूल गए हैं। तुमने कोई भूल नहीं की!

प्रेम : काका, मैंने हमेशा फर्ज को दुनिया की हर चीज़ पर तरजीह दी है। यहाँ तक कि अपने दिल के प्यार पर भी! फर्ज पर निसार होकर भी मैं किसी को अपना न बना सका! और प्यार के एक नन्हे से इशारे पर रूपी हमेशा के लिए मेरी हो गई थी!

मुंशी : प्यार की ताकत बहुत बड़ी है। राजा! प्यार पाकर ही नहीं, खोकर भी जीता है! प्यार बड़ी से बड़ी चोट सह लेता है, पर चोट करता नहीं। प्यार के आँचल में इंसान का हर तरह का फर्ज पल सकता है।

प्रेम : आज रूपी को खोकर मैं इस बात को समझ पा रहा हूँ काका! लाल चौधरी ने फैला दिया है कि वह डूब मरी। पर मेरा दिल जानता है कि वह मेरे ही लिए पाँच साल मुझसे दूर रहने कहीं चली गई! हमारे समाज में कितना अंधविश्वास भरा हुआ है!...मैं उसे ढूँढूँगा काका—उसके दूर-नज़दीक के सम्बन्धियों का पता लगाकर सब जगह उसे ढूँढूँगा!

17

[Place :

Time :]

[दो हाथ चीनी के बर्तन धोते हुए : फिर रूपी बर्तनों को साफ़ करती हुई दिखाई देती है। वह ध्यानमग्न-सी हो जाती है। फिर जैसे सजग होकर जल्दी से हाथ चलाने लगती है। एक छोटा नौकर दौड़ता हुआ आकर किचन के अंदर झाँकता है।

लड़का : रूपी! रूपी! तेरी माँ का बुख़ार बहुत तेज़ हो गया है।*]*

[रूपी हाथ की प्लेट को वहीं रखकर हाथ पोंछते हुए बाहर को चलने लगती है।]

राधा की अ. : रूपी!

[रूपी ठिठक जाती है। राधा आती है।]

राधा : क्यों री, चाय कब तक तैयार होगी?

रूपी : अभी दस मिनट में लेकर आती हूँ बीवी!

राधा : *(क्रोध से)* उधर मेहमान बैठे हैं और तेरे दर मिनट ही नहीं खत्म होते। अभी तैयार कर जल्दी।

रूपी : जी!

राधा : *(जाते हुए)* चाय देकर, सीधी मेरे कमरे में आकर मुझे कपड़े पहना। मुझे सैर के लिए जाना है।

रूपी : जी! *(चुपचाप जाकर टी पॉट में चाय डालने लगती है।)*

●●●

[प्रेम ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर चलता दिखाई देता है। एक जगह ग्रामीण इकट्ठे हैं। ताश खेले जा रहे हैं। बुझे-बुझे गंदे-से ताश हैं। प्रेम पास जा खड़ा होता है। बाजी खत्म होती है।]

एक : *(प्रेम से)* क्यों भई, क्या बात है? खेलोगे?

प्रेम : नहीं! मैं फत्ता पहलवान के घर जाना चाहता हूँ।

[मोटा-सा फत्ता पहलवान बीच में ही बैठा है।]

फत्ता : *(हँसते हुए)* अरे, फत्ता पहलवान के घर जाना चाहते हो, और फत्ता पहलवान को पहचानते ही नहीं? कहो क्या बात है? मैं हूँ फत्ता।

प्रेम : आपकी छोटी साली की ननद जानकी का कोई समाचार आपके पास है?

फत्ता : अरे कहाँ समाचार भाई? दूर के रिश्तों का क्या पता रहता है? मालूम नहीं जीती भी है या मर गई। क्यों, कुछ लेना-देना निकलता है?

प्रेम : जी, नहीं-नहीं। मुआफ कीजिएगा! *(चल पड़ता है।)*

फत्ता : *(मुँह बनाकर)* अजीब आदमी है। ह ह ह ह! अच्छा भई, बाँटो, बाँटो!

●●●

[रूपी राधा की साड़ी को पिन लगा रही है। पिन उससे ठीक नहीं लग रहा।]

राधा : *(जरा झुँझलाकर)* इतने दिन से अभी तक तुझे पिन लगाना भी नहीं आया? गँवारन कहीं की।

[उसका हाथ झटक देती है। रूपी की आँखों में आँसू छलछला आते हैं।]

राधा : जा, उधर छोटी मेज़ से लैटरपैड उठा ला। मुझे चिट्ठी लिखनी है।

[छोटी मेज़ पर लैटरपैड और स्वैन इंक की शीशी खुली रखी है। रूपी ज़रा हिचककर सोचती है। फिर स्वैन इंक की शीशी उठाकर ले जाती है।]

रूपी : *(राधा के हाथ में देते हुए)* यह, बीबी!

राधा : *(क्रोध से)* यह लैटरपैड लाई है? मनहूस कहीं की!

[क्रोध से दवात उस पर फेंक देती है। दवात रूपी की छाती से लगती है। छींटे उड़कर उसके चेहरे पर पड़ जाते हैं। और स्याही बिखर जाती है कपड़ों पर। रूपी दवात को सँभाल लेती है।]

राधा : जा चली जा, अपना काम कर।

[रूपी की आँखों के आँसू गालों पर पड़े हुए स्याही के छींटों से मिलते हुए दिखाई देते हैं।]

●●●

[प्रेम एक तेज़ घोड़े पर जा रहा है। एक कच्ची ईंटों की दीवार के पास घोड़े को रोकता है, और नीचे उछलता है। सामने से एक दस-बारह साल की लड़की बासी खील चबाती हुई आ रही है। लड़की हैरानी से प्रेम को देखती है।]

प्रेम : क्यों मुन्नी, यहाँ राजी नाम की जो माई रहती है, कपड़े वग़ैरह सीती है, उसका घर कौन-सा है?

लड़की : अरे राजी चाची! राजी चाची को माता निकली थी। वह तो मर गई। दो-तीन महीने, नहीं...पता नहीं साल हो गया!

प्रेम : *(ठंडी साँस लेकर)* तो वह है ही नहीं।

[घोड़े की रास पकड़कर चल पड़ता है।]

18

[Place :

Time :]

[रूपी अपनी माँ पर झुकी हुई उसका माथा छू रही है। रूपी की सूरत स्याही की वजह से बिगड़ी हुई-सी है।]

जानकी : *(उसकी बाँह को सहलाने की कोशिश करते हुए)* रूपी! रूपी बेटी! तेरे गोरे...तेरे गोरे मुँह को यह क्या हो रहा है? *(रूपी पल्ले से मुँह पोंछ डालने की कोशिश करती है, पर सिमसिमाए आँसुओं से मिलकर स्याही चेहरे पर और भी फैल जाती है।)*

रूपी : कुछ नहीं माँ! तुम बात न करो। आराम से लेटी रहो।

जानकी : *(कठिनता से बोलते हुए)* तू-तू इतनी बेहाल हो रही है! तेरे लिए प्यार करना पाप हो गया! तुझे देखकर मेरा मन—मेरा मन कहता है—यह अभागा प्यार किसी के पास न फटके!

रूपी : नहीं माँ, नहीं। ऐसा न कहो। प्यार ही मेरे जीवन का सहारा है। प्यार ही मेरे जीवन की आशा है।

राधा की अ. : रूपी! ओ कम्बख़्त पानी तो दे गई होती!

[रूपी धीरे-धीरे उठकर बाहर निकल जाती है।]

जानकी : *(ठंडी साँस लेकर)* ओ मेरी बच्ची! तेरा प्यार!

●●●

[प्रेम बहली पर बैठकर जाता हुआ! बहली एक जगह रुकती है। वह उतरता है। टूटे से घर के आँगन में एक बुढ़िया सूत कात रही है।]

प्रेम : क्यों माँजी, धनराम किसान का मकान यही है?

बुढ़िया : हाँ, हाँ! *(उठते हुए)* तुम कौन हो? कहाँ से आए हो? किससे काम है? धनराम मेरा ही बेटा है।

प्रेम : आपकी मौसेरी बहन लक्ष्मी अपनी बेटी रूपी के साथ यहाँ तो नहीं आई? या और उसका कोई पता हो।

बुढ़िया : लक्ष्मी? अरे, वह तो बस आखिरी बार धनराम के ब्याह पर आई थी। पंद्रह बरस हो गए। तब से मिलना नहीं हुआ!

[प्रेम का चेहरा मुरझा जाता है। वह सिर झुका लेता है।]

बुढ़िया : बेचारी का पति भी सिर से उठ गया था हमने सुना...रंज तो बड़ा हुआ मगर जानते हो, गिरहस्थी से निकलना नहीं होता!

●●●

19

[राधा और उसकी सहेलियाँ हँसती हुईं]

राधा : न बाबा, मैं नहीं नाचूँगी।

उमा : *(उसकी बाँह हिलाकर)* अपने जन्मदिन पर न नाचेगी, तो और किसके जन्मदिन पर नाचेगी?

शशि : अपने दूल्हा के!

राधा : हश! इडियट! तेरे दूल्हा के।

उमा : इस बेचारी का तो दूल्हा बग़ैर जन्मदिन के पैदा हुआ था।

[सब हँसती हैं। नौकर आता है।]

नौकर : बीवी! आप सबको उधर बुला रहे हैं।

राधा : तू इधर क्यों आया? रूपी से नहीं आया जाता?

नौकर : जी वह क्वार्टर में है। उसकी अम्मा की हालत ख़राब है।

राधा : हँ! जिस दिन घर में ज़्यादा काम हो, इसकी अम्मा की तबियत बिगड़ जाती है!...जा कह दे, आ रही हैं।

[नौकर चला जाता है।]

राधा : अच्छा भई, चलें।

शशि : नहीं! पहले तू नाच के लिए अपना मेक-अप करके आ। अगर तू नहीं नाचेगी, तो हम चली ही जाएँगी।

राधा : तो जाओ न! कौन रोकता है?

उमा : तेरी नजाकत!

●●●

[सजा हुआ हाल। मेहमान लोग बैठे हैं। राधा की सहेलियाँ भी एक टेबल पर हैं। बीच में ख़ाली जगह है। राधा वहाँ

आकर घुँघरू छनकाती है और नाचना शुरू करती है। उसके मुख पर मुसकान है। घुँघरू की आवाज़।]

Split

[घुँघरू की आवाज़ मद्धम। रूपी अपनी माँ के ऊपर झुकी हुई उसके शरीर पर हाथ फेर रही है। जानकी का चेहरा बहुत बिगड़ रहा है। होंठों पर पपड़ियाँ-सी हैं। रूपी टूटे से चम्मच से पानी माँ के मुँह में उँडेलती है।]

Split

[घुँघरू की आवाज़ तेज़]

[लैमन और बियर की बोतलें खोली जा रही हैं। राधा नाच रही है। राधा की भटकती हुई आँखें!]

Split

[घुँघरू की आवाज़ मद्धम!]

[जानकी की माँ की चढ़ती हुई आँखें। उसकी ऊपर-नीचे उठती हुई छाती।]

Split

[घुँघरू की आवाज़ तेज़। राधा की मचलती हुई छाती। राधा के तेज़ी से चलते हुए हाथ-पैर!]

Split

[घुँघरू की आवाज़ मद्धिम]

[जानकी के काँपते हुए हाथ-पैर–रुकती हुई तेज़ साँस। हिचकियाँ। रूपी बहुतेरा रोकने की कोशिश कर रही है। पर उसकी आँखों के आँसू रुकते नहीं।]

रूपी : माँ! माँ! *(जल्दी-जल्दी उसके बदन पर हाथ फेरती है। दो-चार आँसू उसकी आँखों से जानकी के ऊपर गिरते हैं।)*

Split

[घुँघरू की आवाज़ तेज़]

[राधा पर फूल फेंके जा रहे हैं। राधा नाच समाप्त करने से पहले ज़रा धीमे]

Split

[घुँघरू की आवाज़ मद्धिम। रूपी की माँ के निढाल होते हुए हाथ-पैर!]

रूपी : *(उसे हिलाते हुए)* माँ! आज बोलती भी नहीं!

Split

[घुँघरू की आवाज़ तेज़। नाच की गति। राधा की आखिरी छन!]

Split

[रूपी की माँ का सिर लुढ़क जाता है।]

Split

[सब लोग तालियाँ बजाते हैं।]

Split

रूपी : *(माँ की छाती पर सिर मसलते हुए)* माँ! माँ! *(ज़ोर से रो उठती है।)*

Split

[बाहर बैंडवाला निर्देश देता है।]

—एक-दो-तीन—

[बैंड बज उठता है। बैंड के छोटे interval में सभी के रुँधे गले के रोने की मद्धिम आवाज़!]

Fade out

20

[मोहन बिस्तर में ही अखबार देख रहा है। रूपी चाय की ट्रे लिए दाखिल होती है। रूपी की आँखें सूजी-सी हैं। रूपी चाय रखकर जाने लगती है। मोहन उसके चेहरे व उसकी आँखों को देखता है।]

मोहन : रूपी!

रूपी : *(रुककर)* जी!

मोहन : ...मैं तुझसे एक बात पूछना चाहता हूँ!

रूपी : जी!

मोहन : बैठ जा!

[रूपी हिचकिचाती हुई जमीन पर बैठने लगती है।]

मोहन : नहीं, नहीं। कुर्सी पर बैठ जा!

रूपी : *(सूखे गले से)* जी, मैं?

मोहन : हाँ, कोई हर्ज़ नहीं! मैं कह रहा हूँ।

[रूपी हिचकती-सी बैठ जाती है।]

मोहन : तेरी माँ के बाद, तेरा अपना इस दुनिया में कोई नहीं?

[रूपी की आँखों में आँसू सिमसिमा आते हैं। वह जवाब नहीं दे पाती!]

मोहन : हाँ, हाँ! बोलो *(रूपी चुप रहती है।)*

मोहन : तो मतलब हुआ कि कोई भी नहीं है।

रूपी : *(एकदम)* जी नहीं! वह बात नहीं। वैसे...

मोहन : ख़ैर, कुछ भी हो, तेरी आँखें देखने से मालूम होता है कि तू अभी अभी रो के हटी है। इस तरह रोते रहना ठीक नहीं! तुझे किसी तरह की तकलीफ़ हो तो मुझे बताना!

रूपी : *(उठते हुए)* जी, तकलीफ़ क्या? आपकी रोटियों पर पल रही हूँ। और मुझे क्या सुख चाहिए।

मोहन : देख, मुझे तेरे साथ पूरी हमदर्दी है! तुझे किसी तरह की ज़रूरत हो तो मैं पूरी करने के लिए तैयार हूँ।

रूपी : जी, मैं गरीब हूँ। पर हमेशा आपकी बड़े भाई की तरह इज़्ज़त करती रही हूँ।...मेरी क्या ज़रूरत हो सकती है?...आप चाय पीजिए!

[धीरे-धीरे निकल जाती है। मोहन उसे जाते हुए देखता है। फिर चाय बनाने लगता है।]

21

[प्रेम एक ताँगे में आ रहा है। मोहन के बँगले के बाहर ताँगा रुकता है। प्रेम ताँगेवाले को किराया देकर अपना सूटकेस उठाता है और अन्दर दाखिल होने लगता है। सामने से नौकर आता है।]

नौकर : आइए बाबूजी! कई महीनों में आए! *(सूटकेस पकड़कर)* दुबले भी बहुत हो गए!

प्रेम : मोहन है?

नौकर : जी हाँ! उधर ड्राइंगरूम में बैठिए। अभी भेजता हूँ।

[प्रेम ड्राइंगरूम में बैठा है। मोहन का प्रवेश।]

मोहन : क्यों बे बिन बुलाए मेहमान! न तारीख़, न वार, और पहुँच गए शहसवार! *(गले लगाता है।)* राधा ने सुना तो एकदम पागल-सी हो गई! वह अभी कपड़े बदलकर आ रही है।

Cut

[राधा और रूपी]

[रूपी राधा को मेकअप का सामान देती जा रही है। राधा बड़े शीशे के सामने खड़ी कपड़े बदलती हुई।]

राधा : रूपी, तुझे पता है, आज हमारे यहाँ कौन आए हैं?

रूपी : नहीं बीबी!

राधा : मरी हाँ। तू क्या जानेगी!...देख रूपी मेरा दिल कितना धड़क रहा है।

[रूपी का हाथ पकड़कर अपनी छाती से लगाती है।]

रूपी : हाँ जी, बीबी!

राधा : वह आए हैं और मेरा जिया डोल रहा है! पता है क्यों?

रूपी : क्यों बीबी?

राधा : तू कुछ भी नहीं समझती।

गाना :

छलकी जवानी हाए, जिया मोरा डोले!

Cut

[मोहन और प्रेम]

[प्रेम अखबार के पन्ने उलट रहा है]

मोहन : अरे कोई बात भी करो! तुम गाँव क्या गए, अब तक लौटने का नाम ही नहीं लिया।

प्रेम : हाँ!

मोहन : राधा तुम्हें बहुत याद करती थी। ख़ासकर कॉलेज के दिनों की जब तुम उसे ख़ूब सताया करते थे।

Cut

[राधा गा रही है]

रूपी : बीवी, मैं ज़रा किचन में जाऊँ? काम होगा।

Cut

[प्रेम फिर अखबार देख रहा है।]

मोहन : मैं कहता हूँ आज तुमसे लड़ूँगा। ग्राम-सुधार की धुन तो थी ही। अब महात्मा गांधी की तरह मौन व्रत रखना भी सीख गए हो शायद।

प्रेम : *(धीरे से)* मोहन मैं ज़्यादा बातें नहीं कर सकता। मेरा शरीर थकावट से टूट रहा है।

मोहन : तो चाय पी लो न! *(बैल बजाता है।)*

नौकर : *(आकर)* जी।

मोहन : चाय भेज दो। *(नौकर चला जाता है।)*

मोहन : अच्छा भई, हम भी तब तक कोई मैगजीन ही देखें।

[मैगजीन उठाकर देखने लगता है। रूपी चाय की ट्रे लिए आ रही है। प्रेम के आगे अखबार है। रूपी चाय रखकर चली जाती है।[

मोहन : अब चाय तो पी लो।

[मोहन चाय उँडेलकर दूध मिला देता है। फिर अपनी चाय बनाता है। अपनी चाय में चीनी डालकर कटोरी प्रेम की तरफ़ करके अपनी चाय हिलाने लगता है। प्रेम चाय वैसे ही हिलाकर मुँह से लगा लेता है।]

मोहन : चीनी मिला ली?

प्रेम : ओ! *(चीनी मिलाता है और चाय पीता है।)*

मोहन : प्रेम! एक बात कहूँ, बुरा न मानना। यह ग्राम-सुधार करते-करते तुम अपनी सेहत तो उधार दे ही आए, तुम्हारी मीठी-मीठी बातें व मुसकराहट भी न जाने कहाँ चली गईं?

प्रेम : मेरी मुसकराहट? उसी को ढूँढ़ता हुआ यहाँ तक आया हूँ मोहन!

मोहन : यह पहेलियाँ कब से डालने लगे?

प्रेम : यह पहेली नहीं है मोहन! *(उठकर खिड़की के पास जा खड़ा होता है। बाहर दिन ढल रहा है।)*

मोहन : ख़ैर! इस वक़्त तो सफर से आ रहे हो! ज़रा थोड़ी देर ठहरकर तुमसे समझूँगा!

[रूप आकर ट्रे उठाती है। प्रेम की पीठ उसकी तरफ़ है।]

रूपी : *(पीछे से)* और कुछ?

मोहन : नहीं। *(रूपी जाती है।) (प्रेम के पास आकर उसकी बाँह खींचते हुए)* ओ संन्यासी, चल सैर करने को चल। बाहर गाड़ी खड़ी है।

22

[रूपी ट्रे लिए हुए किचन में दाखिल होती है। झरोखे से दिन ढले का दृश्य दिखाई दे रहा है। रूपी उसे देख खो-सी जाती है। उसके हाथ काँप जाते हैं।]

Music of Din Dhale

[पानी के गिलास में रूपी और प्रेम]

Cut

दिन ढले...दिन ढले, दिन ढले।

[ट्रे गिर जाती है। बर्तन टूट जाते हैं। रूपी चौंकती है। राधा की माँ झुँझलाती हुई आती है।]

रा. माँ : क्यों नवाबजादी? यह क्या करतूत की है? चुड़ैल, इतने कीमती बर्तनों का सत्यानाश कर दिया!

रूपी : *(बेबसी से)* बीबी जी!

रा. माँ : मनहूस! सारे काम बिगाड़ती ही रहती है। जिस चीज़ पर तेरी छाया पड़ जाए वही बचकर नहीं रहती!

(Reaction on Rupi)

रा. माँ : आँखें फाड़-फाड़कर क्या देखती है? अब यह नवाबी किसी और के घर जाकर करना! आज ही मेरे घर से निकल जा! कम्बख़्त पिछली तनख़्वाह में से एक पैसा भी नहीं दूँगी।

रूपी उभरती हुई सिसकियों को दबाती है।

रा. माँ : *(चलते हुए)* अब मैं तुझे फिर इस घर में न देखूँ। समझी? (रूपी का चेहरा!)

[रूपी एक छोटी-सी पोटली लिए बँगले के गेट से निकलती है। Expression on her face. उसी समय घोड़ागाड़ी दरवाज़े के अन्दर दाखिल होती है जिसमें प्रेम और मोहन बैठे हैं। रूपी हारी सी कुछ कदम चलती हुई! मोहन और प्रेम फिटन से उतरते हुए।

मोहन और प्रेम ड्राइंगरूम में दाखिल होते हैं। राधा पहले से ही बैठी एक किताब देख रही है।]

राधा : *(किताब बन्द करते हुए)* नमस्ते प्रेमजी!

प्रेम : *(अनमना-सा)* नमस्ते!

[प्रेम और मोहन बैठते हैं।]

राधा : आप अच्छे आदमी हैं! जब तक मैं तैयार होकर आपसे मिलने आई, आप घूमने भी निकल गए!

मोहन : यह कहाँ निकलता! मैं ले गया था खींचकर।

राधा : नौकर ने आपके लिए ऊपरवाला कमरा खोल दिया है। आपका सामान भी रख आया है।...रूपी!

प्रेम : *(चौंककर)* रूपी!

मोहन : राधा की पर्सनल नौकरानी है।

[नौकर आता है।]

नौकर : जी!

राधा : *(चिढ़ी-सी)* रूपी कहाँ है?

नौकर : जी, उसे माँजी ने निकाल दिया है।

मोहन : *(एकदम)* निकाल दिया है! क्यों?

राधा : मम्मी ने ज़रा डाँट दिया था तो इसका यह मतलब तो नहीं था कि वह निकल ही जाए! जाहिल कहीं की! अब फिर मुझे अपने सारे काम खुद ही करने पड़ेंगे। *(नौकर से)* जा तू!

[नौकर चला जाता है।]

मोहन : मम्मी भी अजीब हैं। अभी महीना भर नहीं हुआ उसकी माँ को मरे! और आज उसे निकाल बाहर किया! अकेली जवान लड़की कहाँ-कहाँ ठोकरें खाएगी?

प्रेम : *(एकदम)* रूपी! जवान लड़की! उसकी माँ। कितने दिन से तुम्हारे यहाँ नौकर थी?

मोहन : यही कोई चार महीने से! उसने तुम्हें चाय सर्व की थी!

प्रेम : चाय सर्व की थी? रूपी ने मुझे चाय सर्व की थी? और अब उसे निकाल दिया गया! मोहन, मोहन, यह क्या हुआ?

राधा व मोहन : क्यों, क्या बात है?

प्रेम : मोहन, मैं चार महीने से उसी रूपी की तलाश में भटक रहा हूँ। इसी तलाश में नाकाम होकर मैं जिंदगी से मायूस हो चला था! और रूपी यहाँ थी! उसने मुझे चाय सर्व की थी? *(उतावली से उठते हुए)* मोहन, वह कहाँ गई होगी?

Reaction of Radha

[वह सिर झटककर फेर लेती है। जाती है।]

[रूपी के होंठों पर पपड़ियाँ-सी जम रही हैं। उसका हलक खुश्क हो रहा है। वह एक जगह पर एक नल देखकर उसकी तरफ़ बढ़ती है। नल को खोलती है। पानी दो बूँद गिरकर रह जाता है और नल सूँ-सूँ करता है। रूपी हारी-सी एक तरफ़ को मुड़कर फिर चलने लगती है। एक प्याऊ पर एक काला-सा आदमी पानी लिए बैठा है। रूपी कठिनता से पास पहुँचकर पानी पीने के लिए हाथ बाँधती है। पिलानेवाले का लोटा हाथ में ही रह जाता है। वह रूपी की तरफ़ देखता रह जाता है।]

रूपी : *(जरा आँखें उठाकर)* पानी!

पिलानेवाला : *(लोटा भरते हुए)* पानी पी ले, पर ज़रा हमारी भी प्यास बुझा देना!

[रूपी के हाथ पानी छूने से पहले ही छूट जाते हैं। वह एक बार सूनी आँखों से उसे देखकर आगे चलने लगती है। काला इधर-उधर देखकर अपनी गद्‌दी से उठने लगता है। उसी वक़्त एक तरफ़ से एक बुढ़िया पास आवाज़ देती हुई आती है।]

बुढ़िया : अरे रे, पानी तो पिलइयो जरा!

[काला मन मारकर उसे पानी पिलाने आता है।]

[रूपी चलती हुई! उस पर बेहोशी हावी हो रही है। आँखों के आगे चिनगारियाँ भी उड़ती हैं। वह एक घर के चबूतरे का सहारा लेने की कोशिश करती हुई, गिर भी जाती है। मुन्नो पास ही खेल रही है, वह दौड़कर पास आती है।]

मुन्नो : *(अन्दर की तरफ़ आवाज़ देकर)* बाबा, बाबा!

[पंडित विद्यानाथ अन्दर से निकलता है।]

पंडित : यह कौन है री?

मुन्नो : पता नहीं बाबा! यहाँ आके सो गई! गोरी गोरी है!

[पंडित पास से उसे देखता है।]

24

[एक अखबार! मजमून—पाँच सौ रुपया इनाम!]

Super impose

[प्रेम एक जगह बैठा है। एक बुढ़िया भद्दी-सी नौकरानी को साथ लिए आती है।]

बुढ़िया : यह लड़की है। *(लड़की ज़रा मुसकराती है।)* हमारे यहाँ हफ्ते भर से नौकर है।

प्रेम : *(एक ठंडी साँस लेकर)* जी मुआफ करें! यह वह नहीं है।

Super impose

[एक चिपटी-सी नाकवाली लड़की फ़र्श बुहार रही है। प्रेम एक आदमी के साथ आता है। लड़की की पीठ उसकी तरफ़ है।]

आदमी : *(दूर से दिखाकर)* वह सामनेवाली है। हुलिया तो बिलकुल वही है। पहचान लीजिए।

[लड़की मुँह मोड़कर पीले से दाँत निकालती है।]

आदमी : क्यों, वही है?

प्रेम : *(ठंडी साँस लेकर)* जी नहीं।

25

[लाल चौधरी और पंडित]

चौधरी : बीती ताहि बिसारि दे और आगे की सुध ले! पंडितजी! ज़रा से काम के सौ रुपए दे आया! अब तो छिमा ही कीजिए! फिर कभी सेवा करूँगा!

पंडित : सेठजी, आपने तो कहा था कि काम हो जाने के बाद...

चौधरी : अरे पंडितजी, जो कहें, वही करने लगें, तो दुनिया भर के सेठ साहूकार चार दिन में दिवालिए हो जाएँ! अच्छा! पा लागना, अब सिधारिए। फिर कभी दर्शन होंगे।

[पंडित गम्भीर होकर बाहर निकलता है। सीतल मिल जाता है। सीतल पीछे से चेहरा निकालता है, और फिर झल्लाकर पास आ जाता है।]

सीतल : ही ही ही ही पंडितजी...ओ पंडितजी! *(हाथ फैलाकर)* मेरा हाथ देखकर बता दीजिए, कोई बीवी लिखी है कि नहीं?

[पंडित चुपचाप आगे बढ़ता है। सीतल फिर पास आता है।]

सीतल : पंडितजी, ज़रा देख दीजिए! मेरा ब्याह हो जाएगा कि नहीं!

पंडित : जाओ भाई! क़िस्मत में लिखा होगा, तो सब हो जाएगा!

सीतल : ही ही ही! पंडितजी! क़िस्मत काली है। आप क़िस्मत बदलने का तरीका नहीं जानते?

पंडित : *(जरा रुककर)* मैं नहीं जानता! चाँदी के चन्द टुकड़े क़िस्मत बदलने का तरीका जानते हैं। और उनकी खनखनाहट नीयत बदलने का तरीका जानती है।

[सीतल रुआँसा खड़ा रह जाता है। पंडित आगे बढ़ता है। मुंशी एक जगह लॉन में बैठा किसानों से हिसाब-किताब कर रहा है। पंडित को देखकर चौंकता है।]

मुंशी : ओ, पंडितजी! *(उठते हुए)* पा लागन!

पंडित : *(जरा घबराकर)* आप...आप...जीते रहो।

मुंशी : आज इधर कैसे चले आए पंडितजी!

पंडित : मैं...मैं ज़रा यूँ ही—जरा लाल चौधरी के पास आया था!

मुंशी : लाल चौधरी के पास! तो कभी कबूतर को भी बिल्ली से वास्ता पड़ ही जाता है। कोई ख़ास बात थी!

[किसान सब इंटरेस्ट ले रहे हैं।]

पंडित : ख़ास बात! हाँ...नहीं...नहीं...मुझसे न पूछै! जरा-सा छेड़ने से ही मेरे अन्दर के छाले फूटकर बह निकलेंगे।

मुंशी : बात क्या है पंडितजी! सुबह के सितारे से पीले पड़ते जा रहे हो?

पंडित : ठीक कहते हो भाई! जो अँधेरे का ताना-बाना बनाकर उसके अन्दर भटकता है, रोशनी की पहली किरण के सामने ही उसकी असलियत जाहिर हो जाती है। नहीं...मैं अपना पाप तुमसे छिपा नहीं सकता!

मंशी : पाप?

पंडित : हाँ पाप! मैंने पाप किया है। जब तुम दो जन्मपत्रियाँ लेकर मेरे पास आए तो मैंने तुम्हारी आँखों को चुँधियाकर एक गलत तसवीर तुम्हें दिखलाई! मैंने झूठ और फरेब से तुम्हारे विश्वास

को लहला कर उस पर जहर का मन्त्र फूँक दिया! मैंने दो जिन्दगियों के दरम्यान एक झूठी दीवार खड़ी कर दी।

(Reaction on Munshi farmer)

वह–दीवार–जो आज मेरी बूढ़ी हड्डियों का बोझ बन गई है।

मुंशी : *(जरा तैश में)* तो तुमने उस शादी को रोककर होनहार से खेल दीया था? तुम्हारे फरेब के दस्तावेज पर आकाश के सितारों की झूठी गवाही थी? तुम्हारी मक्कारी व ढोंग परमात्मा के नाम पर जालसाज़ी थी? कहो, तुमें इससे क्या मिल गया?

पंडित : कुछ रुपए और एक जलन जो मेरी हड्डी और पसलियों को जलाकर मेरी चिता की राख बन जाएगी!

(Expression of the farmers)

मुंशी : रुपए! जमीन की धूल दूसरे की आँखों में झोंककर फिर खुद अपने सिर में डाल लेने के लिए तुम्हें किसने रुपए दिए थे? बोलो!

पंडित : गाँव के लाल चौधरी ने! वह उस लड़की रूपी से अपने भाई की शादी करना चाहता था!

(Expressions)

मेरे अन्दर भूख थी! रोटी में चाहे जहर भी मिला हो, भूख खाना जानती है, परहेज करना नहीं।

मुंशी : तो अब किसी और घर की खुशी अपनी भूख की आग में समेटने आए थे?

पंडित : नहीं, उसी जहरीली रोटी का दूसरा टुकड़ा माँगने आया था जिसका देनेवाले ने वादा किया था। पर मिला वह भी नहीं! पछतावे के खारे आँसू समेटकर लिए जा रहा हूँ।...

[मुँह फिराता है और चल पड़ता है।]

मुंशी : *(किसानों को सम्बोधित करके)* सुन लिया तुम लोगों ने। पता चल गया अपने लाल चौधरी की करतूत का?

●●●

[किसान लोग आपस में बातचीत कर रहे हैं।]

एक : अरे, यह चौधरी ने अच्छा परपंच रचा! मुंशीजी ने जो-जो बताया, उससे तो साफ़ पता चलता है कि सारी नीचता इसी की थी!

दूसरा : और हम लोगों की बेसमझी! उस देवता के कामों का उसे ऐसा बंदला दिया कि वह दिल खट्टा करके कहीं दूर जा बैठा!

तीसरा : नहीं, नहीं, अब मुंशीजी खुद जो घोड़े पर शहर गए हैं! वह हमारी भूल और पछतावे की बात बताकर उन्हें ज़रूर लौटा लाएँगे।

26

[प्रेम और मुंशी!]

प्रेम : काका! इंसान लालच के फेर में पड़कर ऐसा भी काम कर सकता है! इस पंडित और लाल चौधरी को अपनी करनी का पूरा फल भुगतना पड़ेगा! रूपी शायद अब इस दुनिया में नहीं रही होगी! इस घर से निकलकर उस अकेली का और सहारा ही क्या था? काका, मैं इन कमीनों से समझूँगा।

मुंशी : तैश में न आओ राजा! किसान लोग तुम्हारे लिए उतावले हो रहे हैं। तुम गाँव चलो।

प्रेम : नहीं काका! रूपी के बिना मैं गाँव अकेला नहीं जा सकता! और उस बात की कोई आशा नहीं। काका, मुझे कुछ और ही करना है!

मुंशी : रात हो रही है। सो रहो राजा। सुबह हो जाने पर जो करना हो, सोचना।

प्रेम : तुम आराम करो काका! मैं भी सो रहूँगा।

[मुंशी सो रहा है। Super impose प्रेम का चेहरा। प्रेम का चेहरा बढ़ रहा है।]

रूपी! रूपी! आज मैं उन जिन्दगियों को मिटा दूँगा, जिन्होंने हमारी जिन्दगियों को खिलवाड़ समझा! आज मैं तीन ख़ून करूँगा! विद्यानाथ पंडित का ख़ून! लाल चौधरी का ख़ून! और फिर...फिर अपना ख़ून!

27

[रूपी खाट पर लेटी है। मुन्नो उसका सिर दबा रही है। पंडित बाहर से आता है और चबूतरे से लालटेन उठाकर अन्दर आता है।]

पंडित : *(लालटेन रख, पास आकर)* क्यों बेटी, कैसी तबीयत है? मुन्नो का तुमसे इतना प्यार देखकर मुझे ऐसे लगने लगा जैसे तुम भी मेरी ही बेटी हो।

रूपी : *(धीरे से)* बाबा!

पंडित : मैं गरीब हूँ बेटी—और गरीब का पेट पाप भी कर लेता है। मैं तेरी दवा-सेवा अच्छी तरह नहीं कर सकता। एक जगह से सौ रुपया लेना है। कल जाकर देखूँ, अगर रुपया मिले तो शायद कुछ कर सकूँ।

●●●

[रूपी लेटी हुई एकदम चौंकती है।]

मुन्नो : दीदी, क्या बात है? बार-बार क्यों चौंक उठती हो?

रूपी : नहीं मुन्नो, कुछ नहीं। अँधेरा बहुत गहरा है।

मुन्नो : बाबा अभी तक नहीं लौटे! बाहर बरसात भी होने लगी!

●●●

[बरसात हो रही है। बिजली के खम्भों की रोशनी में सुनसान सड़क पर एक छाया बढ़ रही है। कुत्ता भौंकता है। छाया ठिठकती और फिर आगे बढ़ती है। पंडित विद्यानाथ के घर के चबूतरे के लैंप की रोशनी में बरसात में वह छाया अन्दर की तरफ़ बढ़ती है।]

[रूपी अँधेरे में लेटी है। मुन्नो पास बैठी है। खटका! दोनों चौंकती हैं।]

●●●

[रूपी और मुन्नो। पैरों की आवाज़।]

मुन्नो : *(धीरे से)* शायद बाबा आ गए!

[अँधेरे में प्रेम का चेहरा! फिर छुरे की चमक! रूपी और मुन्नो की चीख़!]

मुन्नो : *(रोनी आवाज़)* बाबा! बाबा!

[रूपी के ऊपर आकर प्रेम का छुरेवाला हाथ का उठना। उसी वक़्त लैंप की रोशनी आकर रूपी के चेहरे पर पड़ती है। प्रेम

ठिठक जाता है। छुरा हाथ से गिर जाता है। रोशनी प्रेम पर पड़ती है। रूपी भौंचक्की-सी रह जाती है।

पंडित देहली पर खड़ा भौंचक्का-सा माजरा देख रहा है। वह हिम्मत करके अन्दर बढ़ने लगता है।]

रूपी : प्रेम!

प्रेम : रूपी! *(झट दोनों लिपट जाते हैं। पंडित ठिठकता है।)*

[मुन्नो एक कोने में उलटा मुँह करके दुबक रही है। लैंप की रोशनी में दो लम्बी छायाएँ! रूपी की नज़र उन पर पड़ती है। प्रेम ज़रा उससे हटता है। रूपी के दिमाग में वह शब्द गूँजते हैं।]

रूपी : *(व्याकुल-सी)* प्रेम! यह क्या हुआ?

[प्रेम मिली हुई छायाओं को देखता है।]

प्रेम : चिन्ता न कर रूपी! यह सब फरेब था! *(नज़रें पंडित से मिलती हैं। इशारा करके)* इस शैतान की बनाई हुई कहानी! इसने लाल चौधरी से रुपए लेकर यह सारा झूठा खेल चलाया था।

पंडित : तो तुम दोनों...तो तुम दोनों के ब्याह में मैंने रुकावट डाली थी? हे भगवान! यह तूने कैसा खेल खेला! *(सिर पकड़कर बैठ जाता है।)*

(Reaction on Rupi)

प्रेम : इस नीच ने...

रूपी : नहीं! ऐसा न कहो! यह मेरे पिता समान हैं। इन्होंने मुझे अपने घर में सहारा दिया है!

प्रेम : इसने? इसमें भी इसका कोई न कोई स्वार्थ होगा, रूपी!

पंडित : *(आँख में आँसू भरे हुए, आँख खोलकर)* हाँ! ज़रूर होगा! गरीबी पाप है। और गरीबी जो भलाई करे उसमें पाप की बू न हो, इसे कौन मान सकता है?

[नन्ही अचकचाहट से सबको देखती है।]

रूपी बेटी! मैंने सचमुच गुनाह किया है। ईश्वर ने उसकी सजा मुझे सामने बैठाकर दे दी! मुझे मुआफ कर दे बेटी!

रूपी : ऐसा न कहो, बाबा! आप तो मेरे लिए...

पंडित : नहीं रूपा, मैं खुद तुम्हारे गाँव चलकर अपनी बेटी की तरह तुम्हें ब्याहूँगा। तभी मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी।

प्रेम : चलो रूपी, अब हमें फौरन गाँव चलना चाहिए। काका भी परेशान होंगे।

पंडित : हाँ, हाँ। जब किसान लोगों को यह खबर मिलेगी कि प्रेम और रूपी दरिया के रास्ते नाव से गाँव आ रहे हैं तो वह खुशी से फूले नहीं समाएँगे!

28

[किसान लोग खुशी से मतवाले हो रहे हैं। नदी किनारे चहल-पहल है। सब लोग मस्त हैं। सबकी आँखें नदी पर लगी हैं। मुंशी भी है। पंडित भी। नीली भी। दूर से नाव दिखाई देती है। सीतल सबके बीच से आगे निकलने की कोशिश में है। राजा उस पर मूँगफली फेंकता है।]

राजा : क्यों सीतल? गरम-गरम मूँगफली दूँ?

[सीतल मूँगफली की परवाह न करके सबसे आगे आकर खड़ा हो जाता है। लाल चौधरी कुढ़ता-सा आकर उसकी बाँह पकड़कर खींच ले जाता है। लोग एक बार हँसते हैं।]

मुंशी : नाव अब थोड़ी दूर रह गई है।

●●●

[नाव में प्रेम और रूपी, और एक चलानेवाला!]

प्रेम : रूप! अब हम गाँव के बिलकुल पास पहुँच गए!

रूपी : *(मुसकराकर)* नदी किनारे सब लोग आँखें बिछाए तुम्हारा इन्तज़ार कर रहे हैं। तुम्हारा फर्ज तुम्हें बुला रहा है।

प्रेम : आज मैंने प्यार को पा लिया है रूप! तेरे प्यार की रेशमी डोर अब हमेशा मेरे फर्ज की रस्सी के ईद-गिर्द लिपटकर उसे भी मुलायम बनाती रहेगी।)

[रूपी का सिर उसकी छाती से आ लगता है। वे लोग बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे हैं।]

एक : वे दोनों ही अब दिखाई दे रहे हैं!

[नीली उतावली-सी देख रही है।]

[प्रेम और रूपी]

प्रेम : रूप! वह देख टीला!, जहाँ मैं तुझे बंसी सुनाया करता था!

टीले से आ. : जादूगर बालमा रे—जादूगर बालमा!
और यह तो वह पेड़ जहाँ रूपी इन्तज़ार करती थी!

आवाज़ : दिन ढले...दिन ढले...दिन ढले!

त्याग-पत्र

पहला इस्तीफ़ा

लाहौर
1945

दि मैनेजिंग डाइरेक्टर
....
....
....

महोदय,

किन्हीं विशिष्ट तथा अव्याख्येय कारणों से मैं आदरपूर्वक आपको सूचित करना चाहता हूँ कि मैं आपकी कम्पनी के कहानीकार पद से तत्काल इस्तीफ़ा दे रहा हूँ। चूँकि इसकी अग्रिम सूचना मैंने आपको नहीं भेजी है, इसलिए यदि कम्पनी चाहे तो मेरे चालू मास का वेतन ज़ब्त किया जा सकता है।

...मेरे अधीन काम करते थे। और अब स्थिति ऐसी चरम सीमा को पहुँच चुकी है कि मेरा मस्तिष्क अब ऐसे कार्य से और अधिक सम्बद्ध रहने को इनकार करता है। मैं अपने जीवन के लाभों को भविष्य की सुनहरी आशाओं की वेदी पर न्यौछावर नहीं कर सकता।

मेरे विचार से, अलग हो जाने से आपके काम में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं होगा। आपको एक अच्छा कहानीकार चाहने मात्र से मिल जाएगा और मैं भी सम्मानपूर्ण जीविकोपार्जन का साधन शीघ्र ही खोज पाने में सफल होऊँगा। यही नहीं, यदि आपकी ओर से संकेत भर मिले तो मैं कम्पनी द्वारा दिए गए 550 रुपए का वेतन भी तत्काल वापस कर सकता हूँ।

यहाँ मैं बता दूँ कि इन सारी बातों से मेरे-आपके व्यक्तिगत सम्बन्धों में कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा। आपके कृपापूर्ण तथा मित्रतापूर्ण व्यवहार के लिए मैं आपका सदैव आभारी रहूँगा। आपके प्रति आदर भाव रखते हुए,

सस्नेह आपका,
—मोहन राकेश

समीक्षा

भारतमंजरी पर एक दृष्टि

महाकवि क्षेमेन्द्र ने जहाँ कितने ही काव्यों का निर्माण करके अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है, वहाँ अपने मौलिक पर्यवेक्षण से काव्यालोचना का एक सर्वथा नूतन दृष्टिकोण हमारे सामने रखने की चेष्टा की है। इस दृष्टिकोण को स्वीकृत करना या न करना, अथवा तद्गत त्रुटियों और कमजोरियों की छानबीन करते हुए, उसकी स्थापना में बाधाएँ देखना, अन्यान्य समालोचकों के साहित्याध्ययन और साधना पर निर्भर करता है। पर क्षेमेन्द्र को उसकी मौलिकता के श्रेय से वंचित नहीं किया जा सकता। कई दूसरे आलोचकों की तरह, जहाँ-तहाँ थोड़ी बहुत हेर-फेर करके अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों का अंधाधुंध अनुसरण उसने नहीं किया। अपने लिए उसने इस क्षेत्र में एक नया मार्ग निर्धारित किया है, दूसरे चाहे उसे आपत्तिजनक अतः अग्राह्य समझकर छोड़ दें।

मेरे इस लेख के दो अंग हैं।

1. संक्षेप में क्षेमेन्द्र के काव्यालोचना से सिद्धांतों का निर्देश।
2. उन सिद्धांतों के ही अनुसार क्षेमेन्द्रकृत भारतमंजरी पर समालोचना। मिलते हैं, 'कविकण्ठाभरण' और 'औचित्यविचार चर्चा।' 'कविकण्ठाभरण' में उसने क्रमशः पाँच बातों का निर्देश किया है: कवित्वप्राप्ति, शिक्षा, चमत्कृति, गुणदोषोद्गति और परिचयप्राप्ति।

कवित्वाप्ति के दो साधन हैं। पहला दिव्य, दूसरा पौरुष। दिव्य है वाग्देवता का आराधन। पौरुष है गुरु की सेवा में बैठकर श्रुतार्जन, प्राचीन महाकवियों की कृतियों का अध्ययन, तदंतर निरर्थक छंदोरचना, या किसी पूर्वलिखित श्लोक को लेकर उसमें जहाँ-तहाँ यथासंभव शब्द परिवर्तन। उदाहरण के लिए–

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥'

इस श्लोक का ऐसा रूपांतर तैयार करना–

'वागर्थाविव संयुक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतौ जनकौ वन्दे शर्वाणीश शिशेखरौ॥'

इसी तरह कवित्वेच्छु के लिए उसने आगे चलकर लिखा है कि–

'महाकवेः काव्यनवक्रियायै तदेकचित्तः परिचारकः स्यात्।'

क्षेमेन्द्र ने तीन महाकाव्यों के आधार पर नवीकरण के रूप में अपनी तीनों मंजरियों का निर्माण इसी धारणा से प्रेरित होकर किया होगा।

इसी सिलसिले में एक बात बहुत रोचक है। क्षेमेन्द्र को न जाने वैयाकरणों और तार्किकों से क्या लगाव है कि वह स्थान-स्थान पर उन पर आक्षेप करने से नहीं चूकता। गुरु कैसा हो, इस सम्बन्ध में उसके विचार हैं :

कुर्वीत साहित्यविदः सकाशे श्रुतार्जनं काव्यसमुद्भवाय।
न तार्किकं केवलशाब्दिकं वा कुर्याद्गुरुं सूक्तिविकासविघ्नम्॥

इसी तरह, किसे कवितत्व प्राप्त नहीं हो सकता, इस सम्बन्ध में उसका कहना है।

यस्तु प्रकृत्याऽश्मसमान एव कष्टेन ना व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनलधूमिनावाऽप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः॥
न तस्य वक्तृत्वसनुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः॥
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

कवित्व प्राप्ति के उपरान्त उसने कवि के लिए एक सौ शिक्षाओं का उल्लेख किया है। शिक्षित कवि को सूक्तियों में चमत्कार लाने की चेष्टा करनी चाहिए। चमत्कार के क्षेमेन्द्र ने दस भेद किए हैं, अविचारित रमणीय, विचार्यमाणरमणीय, समस्तसूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशदृश्य, शब्दगत, अर्थगत, शब्दार्थगत, अलंकारगत, रसगत और प्रख्यातवृत्तिगत। इसके अनंतर गुणदोष-विवेचन है। गुण तीन हैं। शब्द-वैमल्य, अर्थवैमल्य और रसवैमल्य। इसी तरह तीन दोष हैं, शब्द-कालुष्य, अर्थ-कालुष्य और रस-कालुष्य। काव्य के पाँच भेद हैं। सगुण, निर्गुण, सदोष, और सगुणदोष।

क्षेमेन्द्र ने न तो चमत्कार का स्वरूप निरूपण किया है, न ही तत्तद्रग न चमत्कारों की कोई सुव्यवस्थित परिभाषाएँ दी हैं। यही बात गुणों और दोषों के विवेचन पर भी लागू होती है। कोई लक्षण न देकर एक-एक उदाहरण से किसी मंतव्य को स्थापित नहीं किया जा सकता। इसी तरह जो काव्य सगुण नहीं और निर्दोष है, वह हुआ निर्गुण। जो सदोष नहीं और निर्गुण है, वह हुआ निर्दोष। इस निर्गुण और निर्दोष में जो सूक्ष्म अन्तर है उसका प्रतिपादन करने की भी क्षेमेन्द्र ने चेष्टा नहीं की। निर्गुण का उसने उदाहरण दिया है :

'स्तनौ सुपीनौ कठिनौ ठिनौ ठिनौ, कटिर्विशाला रभसाभसा भसा मुखं च चन्द्र प्रतिमं तिमं तिमं, आहो सुरूपा तरुणि रुणी रुणी।' यह श्लोक प्रत्येक पद के अंत में निरर्थक शब्दों का प्रयोग होने के कारण असंदिग्ध रूप से सदोष है।

परिचय चारुता के प्रसंग में उसने लिखा है कि कवि को अपनी रचना में विभिन्न शास्त्रों, विद्याओं, स्थानों और अवस्थाओं से अपना परिचय किसी न किसी ढंग से व्यक्त करना चाहिए। उदाहरण के लिए भट्ट-मुक्ति कलश का व्याकरण–परिचय :

द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं गृह च मे सततमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येन हं स्यां बहुव्रीहिः॥

इसी तरह भट्ट वाचस्पति का रामायण परिचय :

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया,
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृता लङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना,
मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता॥

इसी प्रकार उनतीस परिचयों के उदाहरण देकर क्षेमेन्द्र ने, कवि कण्ठाभरण का उपसंहार किया है।

औचित्य विचार चर्चा में क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित अर्थात् प्राण माना है :

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं वि चिन्त्यापि न दृश्यते॥

काव्य शरीर में रस अलंकारादि की स्थिति का निर्देश उसके अनुसार ऐसे है :

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

परस्परोपकारक रुचिर शब्द और अर्थ काव्य का रूप है।

उपमा उत्प्रेक्षादि बाह्य शोभा के हेतु होने के कारण कटककुंडल केयूरादि की तरह अलंकार हैं। शब्द वैमल्यादि भी आहार्य होने के कारण श्रत, सत्य, शीलादि की भाँति गुण हैं। शरीर में धातु रस आदि की स्थिति की तरह शृंगारादि रसों की स्थिति है जिसमें प्राणभूत औचित्य स्थित है। औचित्य के बिना गुणालंकार युक्त भी काव्य निर्जीव है। औचित के बिना गुण और अलंकार, गुण और अलंकार ही नहीं रहते :

उचितस्थान-विन्यासादलङ्कतिरलङ्कृतिः।
औचित्याद-च्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणा :॥

इस बात का विशदीकरण उसने इस प्रकार किया है :

कण्ठे मेखलया नितंबफलके तारेण हारेण वा,
पाणै नूपुरबंधनेन चरणे केयूर-पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया निर्याति के हास्यता
मौचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणातः॥

यह औचित्य क्या है, इसका लक्षण क्षेमेन्द्र ने यों किया है :

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्ययत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

इस औचित्य के कई भेद हो सकते हैं। क्षेमेन्द्र ने अट्ठाईस ऐसी चीज़ों का निर्देश किया है, जहाँ औचित्य ढूँढ़ा जा सकता है, या जिनमें औचित्य की स्थिति होती है। ये हैं–पद, वाक्य, प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार और रस इत्यादि। औचित्य की भावना को हृदयंगम करनेवाला, इन सबके अतिरिक्त और भी अनन्त स्थानों में औचित्य की समीक्षा कर सकता है। औचित्य के दिए गए उदाहरणों में स्वभावौचित्य का उदाहरण यों है :

कर्णोत्तालितकुन्तलान्तनिपतत्तोयक्षणासङिग्ना।
हारेणेव वृतस्तनी पुलकित्सं शीतेन सीत्कारिणी।
निर्धौतांजन शोणीकोण नयना स्नानावसानेङ्ग्ना
प्रस्पन्दत्कबरीभरा न कुरुते कस्य सपृहार्द्रे मनः॥

यहाँ सिर से पैर तक जलार्द, सद्यस्नात, विवसना युवती मन को स्पृहार्द्र करती है। जो स्वयं आर्द्र है, वही दूसरे को आर्द कर सकता है, यह यहाँ पर स्वभावौचित्य है।

अनौचित्य का उदाहरण है :

भक्तिः कातरतां क्षमा सभ्यतां पूज्य स्तृतिदींनतां।
धैर्ये दारुणतां मतिः कुटिलतां विद्याबलं क्षोभताम्॥
ध्यानं वंचकतां तप-कुहकतां शीलव्रतं षण्ढतां।
पैशुन्यव्रतिनां गिरां किमिव वा नायाति दोषार्द्रताम्॥

यहाँ पर पिशुन वचन जो स्वयं तो आर्द्र स्वभाव नहीं है, वह किसी अन्य क आर्द्र करें, यह अनौचित्य है।

क्षेमेन्द्र द्वारा इस औचित्य भावना को दिया गया महत्त्वपूर्ण स्थान कहाँ तक उचित है, इस विवाद में मुझे नहीं जाना। औचित्य का काव्य में कहाँ और कैसा स्थान हो और औचित्य तथा अनौचित्य की परिधियों का निश्चित विभाजन किन कसौटियों से हो, यह एक पृथक् विषय है। यहाँ तो अब क्षेमेन्द्र के अपने मंतव्यों को ही निश्चित और ठीक समझते हुए उनकी कसौटी पर भारतमंजरी को कसा जाएगा। उसके लिए क्षेमेन्द्र के इन आलोचनात्मक सिद्धांतों का अपेक्ष्य दिग्दर्शन करा देने के अनन्तर अब भारतमंजरी की समीक्षा की जाएगी।

क्षेमेन्द्र के मतानुसार भुवनोपजीव्य कवि हैं श्री वेदव्यास और उनकी कृति महाभारतख्यान। इस मत की पुष्टि के लिए उसने उद्धरण दिया है :

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयं प्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥

और उदीयमान कवि के लिए प्राचीन महाकाव्यों के नवीकरण में हाथ डालने की वांछनीयता में वह विश्वास रखता ही है। इस तरह महाभारत का यह रूपांतर तैयार करने में वह अपनी कवित्वसाधना के सोपान पर अग्रसर हो रहा है। यह रूपांतर उसके अपने कथनानुसार इस प्रकार है :

मद्वचोदर्पणताले महाभारतदिग्द्विपः।
समस्तावयवोऽप्येष मुष्टिमेय इवेक्ष्यते॥

इस रूपक में हम उस आत्मविश्वास की झलक देख सकते हैं जिसकी प्रेरणा से प्रभावित होकर क्षेमेन्द्र ने किसी भी दुरूह प्रयत्न को दुरूह नहीं समझा।

कवि के लिए जिन सौ शिक्षाओं का क्षेमेन्द्र ने उल्लेख किया है, वह उसके व्यक्ति अनुभव का ही परिणाम हो सकती हैं। इन शिक्षाओं का आरम्भ होता है :

व्रतं सारस्वतो यागः पूर्वे विघ्नेशपूजनम्।

किसी भी काव्य-प्रयत्न में हाथ डालने से पहले यह चीज़ें आवश्यक हैं। भारतमंजरी की शारदा हस्तलिपि में मंगलाचरण आरम्भ होने से पहले (श्री गणेशाय विघ्नहर्त्रो नमः) यह देखकर सहसा क्षेमेन्द्र की इस भावना का ध्यान हो आता है। इस प्रकार का विश्वास रखनेवाला व्यक्ति अवश्य ही पहले व्रत और यागादि की पूर्ति करके ही अपने कार्य में हाथ डालता होगा। बाक़ी जो कवि गोष्ठियों और विद्वत्सभाओं में कवि की सफलता के लिए उसने उपदेश दिए हैं, उन पर व्यक्तिगत रूप से आचरण करके ही वह उन सब स्थानों में आदर—भाजन बन गया था। उसने लिखा है कि :

क्षेमेन्द्रनामा तनयस्तस्यविद्वत्सपर्यया।
प्रयातः कविगोष्ठीषु नामग्रहणयोग्यताम्।

और

एष विष्णु कथातीर्थपुण्यवत्सलिलोक्षितः।

प्राप्तः सामान्य ज्ल्पोऽपि क्षेमेन्द्रोऽद्य कवीन्द्रताम्॥

क्षेमेन्द्र के मतानुसार चमत्कारहीन सूक्तिसंदर्भ लावण्य-हीन अङ्गना के यौवन के समान है :

एकेन केनचिदनर्धमणिप्रभेण,
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनविन यौवनमङ्गनानाम्।

पर यह चमत्कार की कसौटी स्फुट उद्भटों पर लागू की जाए तो भारतमंजरी में बिखरे हुए कुछ ऐसे श्लोक मिल जाएँगे जिनमें एक आध तरह का चमत्कार है। पूरे ग्रंथ को भी उसी कसौटी पर रखा जाए तो क्षेमेन्द्र के द्वारा कथित चमत्कार से विगहित होने के कारण वह लावण्यहीन यौवन की तरह हृदयग्राही न होने से फीका कहा जाएगा। पर चमत्कार की यह भावना शायद क्षेमेन्द्र के हृदयानुसार भारतमंजरी जैसे प्रयत्नों के लिए नहीं थी, जहाँ बहुत अंश तक उसे कहीं छायोपजीवी, कहीं पदकोपजीवी, कहीं पादोपजीवी और कहीं सकलोपजीवी बनकर चलना पड़ा है। भारतमंजरी में हर तरह के चमत्कार के उदाहरण बहुत ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते। कुछ उदाहरण यह हैं :

शब्दगत चमत्कार :

कन्द्राग्रकुण्डलित नाभिमृणाल दण्ड,
हृत्पुण्डरीक निविडामृतपानशौण्डाम्।
भृङ्गाङ्गनामिव सदोदित नादशक्ति–
संवेद्यवेद्यजननीं प्रपद्ये॥

अर्थगत चमत्कार :

प्रतिमित मुखलक्ष्म्या लक्ष्यफुल्लारविन्दाः,
स्मितसितकरसारैः संपतद्राजहंसाः।
कुरु चटुलकटाक्षैर्लोलनी लम्बुजाढ्या,
वरतनु पुनरुक्ता मद्गृहोद्यानवापीः॥

नल के लिए लिखा है :

यं विचार्य सुराः सत्यं सौन्दर्यान्तरवेदितः।
पुष्पचापपदे कुर्युरनङ्गः स्यान्नचेत्स्मरः॥

अलंकारगत चमत्कार :
सखी, सखी के प्रति

कम्पस्वेदवती कस्मादकस्मात्सखि मूर्छिता?
अपि कृष्णभुजङ्गेन न दष्टासि प्रमादिनी॥
अमुष्मिन् कुसुमारामे कृष्णषट्चरणेन किम्।
कृतव्रणा त्वमधरे येनासि विनतानना॥

देखने पर भारतमंजरी के उन अंशों में उत्तम काव्यत्व प्रतिपादन के लिए बहुत कुछ मिल सकता है। बलदेव द्वारा यमुनाकर्षण के समय यमुना का वर्णन चामत्कारक न होकर भी अत्यधिक सहृदयहृदयग्राही है और लावण्यपूर्ण यौवन की तरह ही मादक है :

तां लोलनीलसलिलां हलाग्रेणाचकर्षसः।
संरम्भस्त्रस्तकबरीं मानिनीं कुपितामिव॥
क्षोभाकुलित हंसालीमेखला मुवरा हुः।
संलक्ष्यपुलकश्रणी क्वचित् म्रस्त जलांशुका॥
क्वचित्तरङ्गभ्रूभङ्ग परिवृत्ति पराङ्मुखी;
छिन्न फेनावली हाराकीर्णशीकरमौक्तिका॥
क्वचित् सलिलकल्लोलदुकूलग्रहणाकुला।
कांचद्वीचि कराच्छन्न चक्रवाकोन्नतस्तनी॥
वासाःकुलित वां वालविहङ्गवलया क्वचित्।
आवर्त नर्तितोत्फुल्लनीलाब्ज चकितेक्षणा॥
क्वचिद्वारिकुहूत्कार सविःश्वास प्रलापिनी।
सावेगगमनायासविषम स्खलिता क्वचित्॥

द्रौपदी को जयद्रथ जब देखता है :

स ददर्शाश्रभद्वारि कृष्णामायतलोचनाम्
फुल्लनीलाब्जसुभगां कंदर्पनलिनीमिव॥
कदम्बशाखामालम्ब्य पाणिनाकमलत्विषा।
दशितैककुचाभोगं विलासललितं स्थिताम्॥

तां विलोक्यैव पूर्णेन्दु वदनां सिन्धुभूपतिः।
उल्लासितः स्मृतिभुवा शिबीनां नृपमभ्यधात् ॥
लीलातरंगिणी केयं नयनानन्द कौमुदी।
यस्याः संदर्शनेनापि जुम्भते मदनानलः ॥
प्रविष्टा हृदयाम्भोजे विबर्द्धे वदनेन्दुना।
इयं निर्यास्यति व्यक्तं न मे जन्मान्तरेष्वपि ॥
अलं मम विवाहेन दृष्ट्रेमां हरिणोक्षणाम्।
भृङ्गः कल्पलतां वीक्ष्य यूथिकां कथमीहते ॥

जलद समय वर्णन :

अथाययौ हरप्लुष्ट स्मरधूमैरिवावृतः।
विप्रयुक्त वधूकालः कालो जलदलाञ्छनः ॥
शिखण्डिताण्डवाचार्यैर्मुरजध्वानबन्धुभिः।
गर्जितैर्नवमेघानां सोत्कण्ठेवाभवन्मही ॥
नवाम्बुबिन्दु निर्व्याप्ता विरेजुर्वनराजयः।
धनगर्जित वित्रस्तैर्नक्षत्रैः पतितैरिव ॥
ततस्तरलताराभिर्धाराभिरभितो बभुः।
स्फारहारानुकाराभिर्द्दिशोघन पयोधराः ॥
चकाशे काननतटी नृत्यद्भिर्बर्हिमण्डलैः।
संरम्भे मत्त मेघानां भ्रष्टैरिन्द्रायुधैरिव ॥
निर्ययुर्गर्भकोषेभ्यः शुभ्राः केतक सूचयः।
कलाइव भूवि व्युप्ताः शरच्चन्द्रस्य भाविनः ॥
प्रियालुपल्लवापाति धारासाररवं मुहुः।
शुश्रुवुर्विषमोदञ्चदेककर्णं कुरङ्गकाः ॥
पीत्वा कदम्बकोषेभ्यो मधुमत्तः समीरणः।
जग्राह केतकिलता परागाधर पल्लवम् ॥
तस्मिन्पयोदसमये जलधौतसानुः,
फुल्लत्कदम्बकुटजः स गिरिश्चकाशे।
यवौधयौवनमदात्तटिनीवधूना
मासीदनङ्गनवभङ्गितरङ्गनृत्तम् ॥
तत्राब्जखण्डकदलीदलवृन्दपाति।
धरावस्तिमित कुञ्जरदत्तकर्णः ॥
चक्रे मनः कुपतिकिन्नरकामिनीनां

प्रेयः प्रणामरसबद्धदृढाभिलाषम् ॥
छिन्ने शनैर्घनघटोपटलेऽनिलेन।
चन्द्रानना शरददृश्यत हंसहासा ॥
यस्याश्चकारविलसत् कमलाकरोत्थ,
भृङ्गवलीतरलकुन्तल संनिवेशम् ॥

सखियों के मिथोवाक्य :

नायंतवगृहे मार्गः मार्गौयं विजने वने।
यमुनातीरवानीरवल्लरीकेलिवेश्मनः ॥
गायन्ति यदि कृष्णस्य चरितं गोपकन्यकाः।
त्वं न स्मरसि किं मूढे स्रस्तं शीलमिवांशुकम् ॥
दामोदरमतास्मीति मदान्धे किं न पश्यसि।
स कान्ताशतससंकेतसक्तो हि बहुवल्लभः ॥
किं नु नाम स्तनौ तन्वि सोत्कम्पौ विनिगूहसे,
पुलकाङ्ककपोलस्य वदनस्य करोषिकिम्?
इयमिन्दीवरश्यामा श्यामा कुसुमहासिनी।
कृष्णश्च गूढसंचारी चरस्येकाकिनी कथम?

ऐसे-ऐसे अनेक सन्दर्भ उदाहरण के रूप में भारतमंजरी में से संगृहीत किए जा सकते हैं जिनमें एक स्वाभाविक शक्ति है जो रस अलंकारादि द्वारा व्यक्त होकर हृदय को प्रभावित करती है। चमत्कार—जो बहुधा कृत्रिमता से पैदा होता है—न रहने पर भी हम इनके मूल्य को गिरा देना उचित नहीं समझते। क्षेमेन्द्र की चमत्कार की कसौटी की कमज़ोरी यहाँ झलकती है।

पहले लिखा जा चुका है कि क्षेमेन्द्र ने अपने गुणों और दोषों को कोई निर्धारित परिभाषाएँ नहीं दीं। साधारणतया भारतमंजरी में तीनों तरह के गुण प्रचुर मात्रा में हैं। शब्द वैमल्य के लिए हम भारतमंजरी से किसी भी अंश को उपस्थित कर सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि क्षेमेन्द्र का शब्द विन्यास सब जगह वांछनीय रूप से श्रुतिमधुर और अनुरूप ही रहा है। उदाहरण के लिए :

देष्ट्रानिभिन्नभिन्नाञ्जनगिरिगहनसफारदैत्यान्धकार
श्चन्द्रार्कोदारतारापथरुचिरतरः प्रस्फुरच्छङ्खचक्रः।
पायान्नः शेषशीर्षाक्रमणसमुदितैर्व्याप्तकायः फणाग्रैः
क्षुभ्यत्क्षीराब्धिफेणैरिव मणिशबलैर्मन्दराभो वराहः ॥

अर्थ—वैमल्य के भी असंख्य उदाहरण मिल सकते हैं :

राजचन्द्रं समालोक्य विस्मितास्ते सुरोत्तमाः।
स्वभाव निःस्पन्दृशो निःस्पन्दमतयोऽभवन् ॥

और :

मध्यें दासीसहस्राणां तामपश्यन्मृगेक्षणाम्।
लावण्याभग्णोदारां मिथ्यैवाहितभूषणाम् ॥
प्रदीपशबलालोकामिव पूर्णेन्दुचन्द्रिकाम्।
कान्तांस्तनस्तबकिनीं सरागाधरपल्लवाम्।
सुधागर्भसमुद्भूतां पारिजातलतामिव ॥
तनुमध्यां पृथुश्रोणीं घनोद्भिन्नपयोधराम्।
निःशेषित शरस्येव शक्तिं कुसुमधन्वनः ॥

शब्द कालुष्य, अर्थ कालुष्य और रस कालुष्य का यथासंभव परिहार करने की चेष्टा की गई है। भारतमंजरी को क्षेमेन्द्र के शब्दों में बहुत हद तक सगुण और निर्दोष काव्य कहा जा सकता है। पर कहीं साहित्यदर्पण में गिनाए गए दोषों की सूची को सामने रखते हुए भारतमंजरी का अध्ययन किया जाए तो दोषों का वहाँ अभाव नहीं है। बहुत-से अंशों में बहुत तरह के दोष ढूँढ़े जा सकते हैं।

भारतमंजरी में कहीं परिचय चारुता रखने का प्रयत्न क्षेमेन्द्र ने नहीं किया। हो सकता है यह क्षेमेन्द्र का बाद का विचार रहा हो। पर ऐसे परिचयहीन कवि की भर्त्सना उसने बहुत कड़े शब्दों में की है :

नहि परिचयहीनः केवले काव्यकष्टे
कुकविरभिनिविष्टः स्पष्टाशब्दप्रविष्टः।
विबुध सदसि पृष्टः क्लिष्टधीर्वेत्ति वक्तुं ॥
नव इव नगरान्तर्गह्वरे कोऽप्यधृष्टः।

ख़ैर, अपनी अन्यान्य रचनाओं से परिचयचारुता के उदाहरण क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में उद्धृत किए हैं।

औचित्य को यद्यपि किन्हीं सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता, तथापि क्षेमेन्द्र ने जिस तरह अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है, उससे उसके अभिमत औचित्य, अनौचित्य के निर्धारण में सहायता मिल सकती है। यह कह देना आवश्यक होगा कि क्षेमेन्द्र ने अपनी रचनाओं से उदाहरण देकर जहाँ औचित्य की परीक्षा की है, वहाँ अनौचित्य को व्यक्त करने के लिए भी बहुत से उदाहरण अपनी रचनाओं से ढूँढ़ निकाले हैं। 'अपना सो सुहागा' यह दृष्टिकोण उसका नहीं रहा। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि काव्य निर्माण और काव्य-समालोचना, यह दोनों गुण एक ही व्यक्ति में रहते हुए भी अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हैं। जो एक समालोचक के रूप में

अपने समालोचनात्मक दृष्टिकोण को सामने रखते हुए, काव्य का निर्माण कर सके– और अपनी धारणा के अनुसार उसे पूर्ण और सफल काव्य का रूप दे सके, ऐसा व्यक्ति विरला ही हो सकता है। औचित्य वांछनीय है और अनौचित्य अवांछनीय, यह विश्वास रखते हुए भी क्षेमेन्द्र यह अच्छी तरह जानता है कि औचित्यमय अंशों के साथ ही साथ अनौचित्यमय अंशों का समावेश भी उसकी अपनी रचनाओं में हुआ है! वह उन पर आलोचना कर सकता है, उन्हें हटा नहीं सकता।

भारतमंजरी में क्षेमेन्द्र की स्वतन्त्र प्रतिभा के विकास की गुंजाइश सीमित रही है। जहाँ-जहाँ उसकी मौलिकता की छाप है, वहाँ-वहाँ पर ही हम औचित्य अनौचित्य की परीक्षा कर सकते हैं। जो अंश आख्यानप्रधान हैं, वहाँ उपसर्ग, निपात, क्रिया, कारक, लिंगवचन और विशेषण प्रभृति के औचित्य-अनौचित्य की परीक्षा हो सकती है। वैसे औचित्य के ऐसे-ऐसे बहुत से अंगों का अन्य-साहित्य-समालोचकों के दोषाभावों और अलंकारों में अंतर्भाव हो जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर किसी न किसी तरह का साधारण अनौचित्य सब जगह ही मिल जाएगा। भारतमंजरी जैसे सुविशाल प्रयास में उपसर्गों और निपातों का सर्वत्र औचित्य से प्रयोग किए जाने की आशा भी हम नहीं कर सकते। कई-कई जगह जो औचित्य के उदाहरण मिल सकते हैं, उनका स्वल्प निर्देश कर देना आवश्यक होगा :

1. पूर्वोद्धृत-यमुनाकर्षण में, विलासोन्मत्त बलराम द्वारा खींचे जाने पर व्याकुलित प्रवाहमय यमुना में वर्णनभङ्गी से वनितात्व का आरोप।
2. गोपी वर्णन :

सलज्जाअपिमानिन्यः प्रकट स्मर विक्रियाः ॥
तन्व्योऽपि तनुतां प्रापुस्तास्तदर्पितमानसाः ॥

3. *मुनिः पुनातु नो व्यासः यस्य सन्निहिता मुखे।*
त्रिमार्गगा वसुमती वसुमति सदासिद्धा सरस्वतौ ॥

4. पूर्वाद्धृत जलदसमय वर्णन में गोपियों की उत्कंठा के प्रसंग में प्रकृति के सभी अंगों में शृंगारभावना का निदर्शन।
5. गोपियों के विरह प्रसंग में प्रावृड् वर्णन :

अदृश्यत ततः श्यामा नवोद्नतपयोधरा।
वधूर्नवेव कृष्णस्य प्रावृड् विहितकौतुका ॥
नववारिधरैर्व्योम्नि चलत्कलभविभ्रमैः।
वियोगिनीमनोजन्भव ह्रिधूमोद्‌गमायितम् ॥
जयिनः स्मरराजस्य वीजयन् व्यजनैरिव।
ततो विरहिणीतिन्तानिः श्वासप्रसभोऽनिलः ॥

यहाँ सारा वातावरण ही रसानुकूल, अतः औचित्यप्राण है। इस तरह उदाहरण दिए जा सकते हैं। पर औचित्य-अनौचित्य की कसौटियाँ शिथिल हैं। हम बहुत अधिक उन पर निर्भर नहीं कर सकते।

क्षेमेन्द्र ने भारतमंजरी को अपनी मौलिक रचनाओं में नहीं गिना और न ही दो अन्य मंजरियों को। उसके कविकंठाभरण में और औचित्यविचारचर्चा में उसके अपने उद्धरणों में से कोई भारतमंजरी या शेष दो मंजरियों से नहीं है। जहाँ से उसने उद्धरण लिए हैं, वह ग्रंथ अधिकतर अनुपलब्ध हैं। क्षेमेन्द्र के अपने दृष्टिकोण में भी भारतमंजरी का ऐसा स्थान नहीं था कि उसे आलोचना के लिए महत्ता दी जा सके। पर यदि हम क्षेमेन्द्र के आलोचनात्मक सिद्धांतों की छाया में भारतमंजरी का अध्ययन करने बैठते हैं तो यह तो अवश्य मालूम हो जाता है कि क्षेमेन्द्र के सब प्रयत्नों में उसकी अपनी मौलिक विचारधारा की प्रेरणा काम करती रही है। वैसे चाहे हम क्षेमेन्द्र की कसौटियों में सुधार अपेक्ष्य समझें।

निबन्ध

ब्याह कर ही लूँ?

आप मुझे नहीं जानते। मैं सीधा-सा लड़का हूँ। घरवालों को मुझ पर गर्व है कि मैं उनकी बात नहीं टालता। दूसरे शब्दों में नम्र स्वभाव का हूँ, मुँह में ज़बान तक नहीं। बाबा बहुत प्यार करते हैं। उनकी नज़र में मैं भलमनसाहत के लिहाज से गाय या इसी श्रेणी के जानवरों से किसी तरह कम नहीं। कई बातों में बल्कि जानवरों को भी पीछे छोड़ गया हूँ। जानवरों से विशेषता यह है कि पढ़-लिख गया हूँ, चार पैसे कमाने लगा हूँ और फिर बिन ब्याहे इक्कीस बरस का हो गया हूँ।

मेरे गुणों के सम्बन्ध में वे जो कुछ कहते हैं, उसे डायरी में नोट न कर लूँ, तो बाद में भूल जाता हूँ। और मुझे अपने बारे में मालूम ही क्या है? अपना मुँह तक शीशे में देखकर पहचानता हूँ। बाबा ने बचपन से पाला है, वही नख-नख से परिचित हैं।

अब वही कहने लगे हैं कि मैं ब्याह के योग्य हो गया हूँ। यह योग्यता बिना कोई परीक्षा दिए अचानक कैसे आ गई, मेरी समझ में नहीं आता। पर बाबा भगवान की भक्ति करते हैं, झूठ नहीं बोल सकते। अवश्य ब्याह के योग्य हो गया हूँ। घर में हर रोज़ चर्चा रहती है।

अम्मी और भाभी के लिए मज़ाक है, पर मेरे सिर पर चिंता सवार हो रही है। बाबा की बाछें खिली रहती हैं, पर अपना जी घबराता है। ब्याह देखा-सुना ज़रूर है, पर कभी महसूस नहीं किया। राम जाने, अनुकूल बैठे, या न बैठे! सच कहता हूँ, चौबीस घंटे दिल धड़कता रहता है।

योगी मैं नहीं हूँ कि ब्याह की कल्पना से घबराऊँ और आँखें मूँदकर त्रिलोकी की सैर किया करूँ। किसी सुन्दरी के सामने आ जाने पर न तो समाधि टूटने का डर रहता है, न समाधि लगाने की आवश्यकता का ही अनुभव होता है। चलती-फिरती कनकलताओं को देख लेता हूँ। किसी-किसी कोमलांगी के कटाक्ष से कुछ हलचल भी होती है। मित्रों में बैठकर प्रेम की कल्पित कहानियाँ सुनने और सुनाने में भी मज़ा रहता है। पर ये बातें हुईं और बीत गईं। ब्याह कमबख़्त तो होकर बीतनेवाली चीज़ नहीं है। अगर आपका ब्याह हुआ है, तो आप आसानी से मेरी बात समझ सकते हैं।

बाबा कहा करते हैं कि मैं दक्खिन-पच्छिम कुछ भी नहीं समझता। सच जानिए, मैं कुछ भी नहीं समझता। पास से देखकर यह नहीं पहचान पाता कि मोहल्ले की अमुक सुन्दरी, जो अब पंद्रहवें बरस में पैर रख रही है, पाँच साल पहले नौ बरस की भद्दी-सी बालिका थी और मेरे साथ खेला करती थी। दूर से तो पंद्रह से पचीस तक की सभी नई-पुरानी युवतियाँ एक-सी लगती हैं। कभी-कभी नदी से नहाकर आती हुई प्रौढ़ाएँ चिरजात शिशुओं को बाँहों में दबाए, बगल में कुंभ लिए किशोरियाँ ही मालूम देती हैं। रात में सफ़ेद गाय को देखकर भी श्वेतवसना सुन्दरी का भ्रम हो जाता है। इस पर भी कोई कहे कि मैं ब्याह के योग्य हो गया हूँ, तो मेरी ग़लती नहीं।

मैट्रिक्युलेशन का सर्टिफिकेट घर में मौजूद है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मैं पूरे इक्कीस बरस का हो चुका हूँ। बड़े बुजुर्गों के अनुभव से यह भी जान चुका हूँ कि भारतवर्ष के सभ्य इस उम्र में दो-दो बच्चों के बाप होने का इकरारनामा लिखकर पैदा होते हैं। मैं फिर बाईसवें बरस में पैर रख चुकने पर भी ब्याह से आनाकानी करूँ, तो बाबा ईश्वर की अदालत में कौन-सा मुँह लेकर जाएँगे? आखिर उस दरबार की हाजिरी पहले उन्हीं को भरनी है।

गुत्थी उलझती जा रही है। मैं घुल रहा हूँ। घरवाले कहते हैं, बेटा बढ़ौती पर है। ब्याह के बारे में दबी ज़बान से भी अपनी राय प्रकट करने लगूँ, तो भाभी रोक देती है। ब्याह की बात करना पाप है, ब्याह कर लेना कुछ भी नहीं। शायद इसलिए कि पहली मानसिक प्रक्रिया है और दूसरी शारीरिक। धर्मशास्त्रों के अनुसार पाप का सम्बन्ध मन से है। शरीर तो आजकल विज्ञान की सहायता से निर्लेप, निर्विकार होता जा रहा है।

मेरे पास भावी कार्यक्रम का बहाना है, आदर्शवाद की दुहाई है, इसलिए फिलहाल किसी मृगशावाक्षी की माँग में सिन्दूर भरने का विचार नहीं। बाबा चिढ़ते हैं कि मैं धर्मशास्त्रों के विरुद्ध आवाज़ उठा रहा हूँ। पर बाबा के धर्मशास्त्र शायद अभी अनुपलब्ध हैं और अप्रकाशित हैं। फिर भी उनका ज्ञान लुप्त नहीं हुआ। वह उनके अभिन्नहृदय मित्र पंडित लोकनाथ के गहन अंधकारमय मस्तिष्क-कूप में पड़ा है। जहाँ से आवश्यकता के समय बाहर उछल आता है।

पंडित लोकनाथ बाबा के शब्दों में एक रत्न है। ठीक होगा, पर समुद्रमंथन के समय नौ रत्नों के उपरांत ज़रा देर से निकले होंगे, इसीलिए देवों-दानवों के बँटवारा करके अपने-अपने लोक को जा चुकने पर ये बेचारे भूतल को ही पवित्र करने के लिए रह गए। अब आप हमारे पड़ोस में डेरा डाले हैं। वैसे अब भी देवलोक से इनके लिए बुलावे आते रहते हैं, पर यह इस मर्त्यलोक को सूना छोड़ जाना नहीं चाहते। डर है कि एक-आध बुलावा और आने पर ये देवताओं के हठ को टाल

नहीं सकेंगे। बाबा का मत है कि इनके हृदय की आवाज़ भगवान की आवाज़ होती है। भगवान तो शून्य में रहनेवाले हैं! हो सकता है, इनके अन्दर भी हृदय के स्थान पर शून्य धरा हो।

पर इनके देव-दुर्लभ ज्ञान के विरुद्ध एक शब्द भी कहना सविनय आज्ञाभंग की श्रेणी में आ जाता है, जो धर्म-रक्षा-विधान के अनुसार अपराध है। तर्क और प्रमाण वकालत के लिए खड़े किए जाते हैं और यह सिद्ध किया जाता है कि प्रकृति ने मनुष्य को मनुष्य बनाया है, इसलिए कि वह सफ़ेद दाढ़ीवालों की रुचि के अनुसार ब्याह करे। अपनी रुचि से तो पशु भी ब्याह कर लेते हैं। तर्कों पर कथावाचकों की मुहर रहती है और प्रमाण आधी हिन्दी आधी संस्कृत में उन प्राग्वैदिक ऋचाओं से उधार लिए जाते हैं, जिनका अस्तित्व जानने के लिए सारी ज्ञानेंद्रियाँ बल खा-खाकर रह जाती हैं। आत्माराम फड़फड़ाकर भी वहाँ तक फटक नहीं पाते। उस सुदूर भूत के तमोमय गह्वरों से चलकर आए हुए आज्ञापत्र पर ऊँचे आकाश में रहनेवाले सितारों की गवाही भी डलवा दी जाती है। अपराधी को अपराध के दंडस्वरूप कोई-न-कोई लड़की लेनी ही पड़ेगी। बाबा ने मेरे लिए जो सूची तैयार कर रखी है, उसमें से मेरे सभी मित्र (चाहें तो आप भी) अपने लिए छाँट-छाँटकर दो-दो कुमारियाँ चुन सकते हैं। लड़की हर एक देखने में अच्छी, खाना पकाने में प्रवीण, सीने-पिरोने में निपुण, गृह प्रबंध में दक्ष (बच्चे पालने में चतुर) और यथासंभव पढ़ी-लिखी। कुछ विशेषताओं का उल्लेख दादा इस तरह किया करते हैं :

'श्रीधनजी की कन्या साँवली हुई तो क्या, ठाकुरजी की सेवा अपने हाथों से कर लेती है! मधुपुर के जमींदार की बेटी माना कि क़द में चार फुट से दो इंच कम है, पर सिंगर मशीन पर अँगिया, कमीज़, ब्लाउज सब सी लेती है। रानी की लाड़ली लम्बी-दुबली ज़रूर है, पर चन्दन का शरबत बनाने में अपना जोड़ नहीं रखती। मोहन बाबू की छोटी साली पढ़ने के नाम से चाहे बालबोध का ही अभ्यास करती है, उसे कुत्ते पालने का बहुत शौक है। (लाहौल विला कुव्वत!) डॉक्टर सुखलाल की भतीजी यद्यपि पेट में शूल उठने से शिथिल रहती है, बुद्धि उसकी बहुत विचित्र है—बिना रुके रामायण बाँच लेती है।' इत्यादि-इत्यादि।

कभी-कभी होनेवाली वधू के मातृ-पक्ष व पितृ-पक्ष की चर्चा होती है: नगर के प्रसिद्ध साहूकार चानन सेठ के एक समधी के मित्र की कन्या अभी तक कुँवारी है! फतहपुर वाले चार मिलों के मालिक हैं और चचेरे-फुफेरे मिलाकर कुल सत्ताईस भाई-बहन हैं। बंगाली मोहल्लेवाली लड़की के पिता अपने चार साल के आत्मज को बड़ा होने पर लेफ्टिनेंट बनाने का विचार रखते हैं। श्यामू की माँ जिस लड़की की जन्मपत्री लिए फिरती है, उसके नाना की तीन कोठियाँ कभी अपनी होती थीं, और जो उनके पिता थे, उन जैसा हट्टा-कट्टा आदमी फिर नहीं देखा गया। इत्यादि।

सचमुच यदि ये सब बालाएँ मेरे द्वारा ही सौभाग्यवती बनने की प्रतीक्षा में हैं, तो मुझे गेरुआ पहनकर वानप्रस्थ हो जाना चाहिए। ऐसा अन्धेर मुझसे न होगा कि एक की कामना-पूर्ति करके कितने ही आशाविभोर हृदयों में निराशा का संचार कर दूँ। नहीं जी, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इतना बड़ा उत्तरदायित्व मैं कैसे ले लूँ? इतनी नवयुवतियों की (जिन्हें कल को भारत की माताएँ बनना है) उमंगें कैसे मसल दूँ? कैसे कर लूँ ब्याह?

पर यह बात आपसे कर रहा हूँ। बाबा सुन लें, तो अपने को बिना एकादशी के व्रत रखना पड़े। बाबा का मतलब बहू से है, और अपनी बात में दखल वह सहन नहीं करते। जो कोई हो, पर हो कन्या, उन्हें मंजूर है। कौन समझाए उन्हें कि आजकल मामूली दफ़्तर की क्लर्की के लिए भी सिफारिश के अलावा प्रमाणपत्र और सदाचारपत्र दिखाने पड़ते हैं, यह तो मुआमिला ब्याह का है!

बाबा की दृष्टि में ब्याह के कई लाभ हैं, और वह उनका बखान अच्छी-ख़ासी भूमिका बाँधकर किया करते हैं। बहू के आने से अम्मी और भाभी, बाबा और बेबी, सब किसी-न-किसी तरह फायदे में रहेंगे। छिपकर सुनता हूँ, शायद मुझे भी कोई लाभ हो, पर नहीं। मोहल्ले की छोरियाँ तक लाल चूड़ेवाली दुलहिन से खेलेंगी, पर अपनी कहीं गिनती नहीं। दूध की मक्खी कहलाई दूध की, और फेंकी गई दूध के बाहर!

भाभी डरा देती है कि निश्चय होने में देर नहीं। निश्चय किसका होगा, यह महामाई वसुंधरा भी नहीं जानतीं। बाबा रात को ऊँघते-ऊँघते फैसला करें, तो रामायण बाँचनेवाली का जन्म सफल होगा। किसी दिन दाल में नमक कम देखकर पुलाव पकानेवाली के लिए भी लालायित हो सकते हैं। नहीं तो तानपूरा बजानेवाली ही सही, अखरोट चबानेवाली ही सही—घर में आ जाएगी, कोई भी सही, कैसी भी सही।

इधर एक और मुसीबत है, जिसने जीना कठिन कर रखा है। अभी उस दिन की बात है, स्वदेशी स्टोर के आगे इतनी भीड़ थी कि अनजाने ही उस विलायती घीवाले की बेटी से टकरा गया, जो शायद अपने सौंदर्य को अनिंद्य और विशुद्ध समझती है। उसने आँखें तरेरकर देखा, तो मैं लड़खड़ाकर पीछे से आती हुई एक अल्हड़ नवयुवती पर गिरता-गिरता मुश्किल से सँभला। उस घबराई हुई कृष्ण-वदना चकोराक्षी से इतना कहा ही था कि क्षमा करना बहनजी, तब उसकी रेशमी लहँगेवाली अम्मा ने मेरे सिर पर हाथ फेरकर बड़े मीठे स्वर में पूछा—कहो काका (छोटों के लिए प्यार का संबोधन) जी, कैसे हो? पहचाना, तो यह वही कुंभवदना थीं, जो पिछले छह महीने से कन्यादान करने के लिए उतावली हो रही थीं।

और इसके बाद जब वह साइकलवाली सुन्दरी छात्रा उस दिन खुली सड़क पर सबके सामने मुझे गिराकर निःसंकोच क्षमा माँगने लगी, तो मैंने रंचमात्र भी क्रोध नहीं किया। सोचा, शायद इसके पिता भी बाबा से बात चलानेवाले हैं।

भाभी उस प्लास्टर ऑफ पेरिस की चलती-फिरती प्रतिमा की ओर संकेत करके कल कई बात जतला चुकी हैं कि इसी साँचे में ढली हुई देवरानी के लिए आर्डर दे दिया गया है। मेरी महत्त्वाकांक्षाएँ विद्रोह कर रही हैं। मेरे आदर्श मजबूत दीवार की तरह मुझे घेरे हैं। मैं बाबा से स्पष्ट कह दूँगा, ब्याह मानवीय असफलता की सीढ़ी है, मैं ब्याह नहीं करूँगा। मेरी धारणा प्रबल है। वह डगमगा नहीं सकती।

यही सोचते-सोचते रात भर नींद नहीं आई। चाय पीकर गरम-गरम बिस्तर से निकला और दस मिनट में फिर बिस्तर पर ही आ गया हूँ। पाँचों अँगुलियाँ बारी-बारी बत्तीस दाँतों के अन्दर जाती हैं। घर में देवी का मुंडन मेला-सा बन रहा है। मैं ऊपर भाभी के कमरे तक गया था। भाभी अपनी सगी मौसेरी बहन के बालों के पिन ठीक कर रही थीं। उसकी शोख आँखों ने मुझे देखा तो मैं उलटे पैरों सीढ़ियाँ उतर आया।

वह साइकलवाली सुन्दरी छात्रा भाभी की ही मौसेरी बहन है, यह पहले से मालूम होता, तो उस दिन उसकी साइकल से ठोकर खाकर तो न गिरता। उफ्! उसकी एक नज़र ने ही मेरा आधा लहू सुखा दिया है। और कमबख़्त महरी कह रही थी कि भाभी ने उसे देवरानी बनाने का हठ करके सबको पहले से मना लिया है। मेरे दिमाग में वे साइकल के पहिए घूम रहे हैं। उस दिनवाला सूट अभी तक ड्राईक्लीन होकर नहीं आया।

बाहर सीढ़ियों पर शायद उसी के सैंडलों की आवाज़ हो रही है—खट्! खट् खट्! हे भगवान! क्या करूँ? कर लूँ ब्याह? ब्याह कर ही लूँ?

डायरी

बम्बई : 1948 से लुधियाना स्टेशन : 1949

बम्बई : 1948

कोई बात थी अभी-अभी दिमाग में। जुगनू की तरह चमककर बुझ गई। कितनी बार ऐसा होता है। एक धुँधली-सी तस्वीर दिमाग में उभरने लगती है, पर उभरते-उभरते अन्दर के अँधेरे में खो जाती है। जैसे कि दिमाग से उसकी शरारत चल रही हो। मैं कितनी-कितनी बार उस जुगनू को पकड़ने की कोशिश करता हूँ—किसी अनजाने क्षण में उसे दबोच लेने की ताक में रहता हूँ। कई बार घंटों यह खेल चलता है, पर जुगनू पकड़ में नहीं आता। हल्के से कभी यहाँ, कभी वहाँ, टिमटिमाता है—पर उस टिमटिमाहट का ठीक आभास हो पाए, इससे पहले ही फिर अँधेरे में डुबकी लगा जाता है। उठते, बैठते, हँसते, बात करते, एक हल्की-सी चमक और बस। कई बार सुबह से शाम तक यह खेल अपने में, अपने से, खेला जाता है। उलझन इसलिए होती है कि वह बात यूँ बहुत परिचित और अन्तरंग जान पड़ती है—लगता है जैसे घर का कोई बहुत परिचित कोना बार-बार सामने खुलकर सहसा बन्द हो जाता हो। फिर सोचकर हँसी आती है कि वास्तव में 'अपना' क्या है?—वह जुगनू, उसे पकड़ने का प्रयत्न, या उस प्रयत्न से हारा-खीझा हुआ मन!

बम्बई...?

जुहू बीच। रात के ग्यारह। उमड़ती लहरें। नागिनों की तरह करवटें लेतीं। उनका पैरों तक आना और पानी हो जाना। शरीर में उठती कँपकँपी। स्नायुओं में दौड़ती झुरझुरी। सहसा तेज़-तेज़ चलना। जैसे कि एक बीज अपने में भर आया हो। अपने भरे होने की अनुभूति से सामने के फैलाव को देखना। सरकती रेत पर पाँव जमाए दूर से दूर के बिन्दु तक जाने की कोशिश करना। फिर उस बिन्दु से अपनी तरफ़ लौट आना। इस बात को...हर बात को...भूल जाना।

बम्बई...

दिन-भर परिभाषाएँ घड़ते रहे। साहित्य की, जीवन की, मनुष्य की। बे-सिर-पैर। सभी पढ़ी-सुनी परिभाषाओं की तरह अधूरी और स्मार्ट। दूसरों ने जितनी स्मार्टिंग

की कोशिश की, उससे ज़्यादा खुद की। जैसे परिभाषा नहीं दे रहे थे, कुश्ती लड़ रहे थे। महत्त्व सिर्फ़ इस बात का था कि दूसरे को कैसे पटखनी दी जाती है। या फिर पटखनी खाकर भी कैसे बेहयाई से उठ खड़े होते हैं। 'साहित्य का वास्तविक लक्षण यह है कि...,' 'जीवन की आध्यात्मिक व्याख्याओं से हटकर वास्तविक व्याख्या इस रूप में दी जा सकती है कि...' 'नीत्शे की मनुष्य की कल्पना बहुत एकांगी है। मेरे विचार में मनुष्य का वास्तविक स्वरूप यह है कि...।' जिसे जितने गुर आते थे कुश्ती के, उसने वे सब इस्तेमाल कर लिए। नतीजा? कुछ नहीं, सिवाय भेल-पूरी की दावत के। साहित्य, जीवन और मनुष्य, तीनों पर एक-एक डकार और बस के क्यू में शामिल।

बम्बई...?

बहुत उलझन होती है अपने से। सामने के आदमी का कुछ ऐसा नक़्शा उतरता है दिमाग में कि दिमाग बिलकुल उसी जैसा हो जाता है। दूसरा शराफत से बात करे, तो बहुत शरीफ। बदमाशी से बात करे, तो बहुत बदमाश। हँसने वाले के सामने हँसोड़। नकचढ़े के सामने नकचढ़ा। जैसे अपना तो कोई व्यक्तित्व ही नहीं। जैसे मैं आदमी नहीं, एक लेंस हूँ जिसमें सिर्फ़ दूसरों की आकृतियाँ देखी जा सकती हैं। कभी जब तीन-चार आदमी सामने होते हैं, तो डबल-ट्रिपल एक्सपोज़र होता है। अपनी हालत अच्छे-ख़ासे मोंताज की हो जाती है।

1949
लुधियाना
स्टेशन...?

रात के दस बज चुके हैं। गाड़ी सवा ग्यारह बजे आएगी। दो नम्बर प्लेटफार्म पर ज़्यादा लोग नहीं हैं। इस बेंच पर मैं अकेला हूँ। आसपास कोई अजनबी भी नहीं। अच्छा ही है। होता, तो किसी और बेंच पर जा बैठने की ज़रूरत महसूस होती। इस समय यह बेंच ही नहीं, सारा प्लेटफार्म अपना है। रेल की पटरियों समेत। वह सारी जगह उसी की तो होती है, जो जहाँ अकेला हो।

घिसा हुआ चमड़े का अटैची केस साथ में है। आधा पिताजी के ज़माने में घिसा था, आधा इन तीन-चार सालों में। लाहौर छोड़ने के बाद से कितने सफर किए हैं, कोशिश करके गिने जा सकते हैं।

अटैची केस में दो जोड़ी कपड़े हैं। एक एक्स्ट्रा कलम है। कैमल इंक की दवात है। यह इसलिए कि पूरी क्रिसमस किसी एक जगह रहना हो सका, तो काग़ज़ काले

करने के लिए औजार तो पास में हों। यह बहाना तो न मिल सके कि काग़ज़ नहीं थे, स्याही नहीं थी, कलम नहीं थी...

नीली वर्दीवाला एक खलासी (?) लैम्प हाथ में लिये सामने से जा रहा है। इस लैम्प से इसे क्या करना है? या यह भी अपना औजार साथ में रखने के लिए ही...?

पगड़ी और चादर में सिर-मुँह लपेटे एक आदमी खम्भे के पास आ खड़ा हुआ है। मुझे घूर रहा है। ऊपर लैम्प के गिर्द एक कीड़ा—अकेला—मँडरा रहा है।

●●●

एक नम्बर पर दिल्ली जानेवाली गाड़ी आई है। जाने कितने नम्बर अप या डाउन। दिल्ली जानेवाली इसलिए कि इंजन का मुँह उस तरफ़ है। यूँ, चाहे यह अम्बाला तक भी न पहुँचे, पर पहुँचेगी ज़रूर। गाड़ियाँ आवारा नहीं होतीं। होतीं, तो सफर में बहुत मज़ा आता। टिकट अम्बाला का और जा पहुँचे गढ़मुक्तेश्वर। यह गढ़मुक्तेश्वर कहाँ से याद आ गया? कभी नक्शे में भी नहीं देखा।

धम-धपक की आवाज़ के साथ सामान चढ़ाया और उतारा जा रहा है। एक आदमी ज़ोर से चिल्ला रहा है। अंग्रेज़ी में। सफर पैसेंजर से करेंगे, चिल्लाएँगे अंग्रेज़ी में। यह आदमी ज़रूर ब्रांच लाइन के किसी स्टेशन का रहनेवाला होगा। वरना हिन्दुस्तानी में चिल्लाता।

कोई किसी को आवाज़ दे रहा है, "फतह स्याँ! ओ फतह स्याँ!" इतनी ज़ोर से जैसे फतेह स्याँ को घर से बुलाना हो।

और कोई हलचल नहीं, सिर्फ़ कुछ ऊँघती-सी आवाज़ें—"सोडा लैमन, लैमन सोड़ा...चाय गरेम, चाय...आंडे लाओ जी आंडे"—और सबसे मरी मद्धिम आवाज़—"दूधवाला, गरम दूधवाला..." और इंजन की लम्बी सू-ऊँ-ऊँ-ऊँ...

●●●

दो नम्बर प्लेटफार्म अब फिर बिलकुल सुनसान है। खलासी का लैम्प और पगड़ीवाले की आँखें, दोनों को अँधेरा निगल गया है, 'तम आसीत तमसा गूल्हमग्ने।' अँधेरे में लिपटा अँधेरा। वह क्या हमेशा वैसा ही नहीं रहा? कितनी भी रोशनियाँ जला लो, उनसे कितना अँधेरा मिटता है? और हर रोशनी कुछ देर जलकर आखिर बुझ जाती है। एक नहीं बुझता, तो अँधेरा, 'न सदासीन्नासदासीत्तदानीम्' । झूठ बात। सत् ज़रूर नहीं था। पर असत् भी न हो, यह कैसे हो सकता है? (यह सब खुराफात किस वजह से? खलासी के लैम्प और पगड़ीवाले की आँखों से इसका क्या रिश्ता है?)

सर्दी काफ़ी है। हाथ लिखते-लिखते सुन्न हुआ जा रहा है। लिखने से रुके नहीं, इसके लिए बहुत कोशिश करनी पड़ रही है।

लाइनों के उस तरफ़ क्या है? घर, जंगल या ख़ाली अँधेरा—कुछ पता नहीं चल रहा। उधर से आती हवा से खम्बे की रोशनी बार-बार काँप जाती है। मेरा जिस्म भी काँप जाता है। क्या इस कँपकँपी को मैं किसी तरह काग़ज़ पर उतार सकता हूँ? इस तरह कि जो इसे पढ़े, उसे भी इतनी ही ठंड महसूस हो। उसके भी हाथ सुन्न पड़ जाएँ। होंठ सिकुड़कर ज़बान की गर्मी ढूँढ़ें। गर्दन कन्धों की ओट में छिप जाना चाहे। आँखें खुलकर देखने से कतराएँ। और वह भी सिहरकर किसी से कहना चाहें, ''सच, आज कितनी ठंड है!''

ठंड वाकई बहुत है। कोट के नीचे पुलोवर, पुलोवर के नीचे कमीज़, कमीज़ के नीचे बनियान, बनियान के नीचे खाल, और खाल के नीचे—सिर्फ़ ठंड।

एक नम्बर से गाड़ी चल दी है। तेज़ होते इंजन की फफक दूर-दूर होती जा रही है।

मेरे अन्दर एक कीड़ा पंख फड़फड़ा रहा है—काँच के जलते हंडे में बन्द कीड़ा। उसे बाहर निकलने के लिए रास्ता चाहिए। मगर बिना हंडे को फोड़े क्या यह सम्भव है?

मैं क्या लिखना चाहता हूँ, यह कभी मन में स्पष्ट नहीं होता। जो कुछ लिखा जाता है, वह सब अधूरा या अतिरिक्त लगता है। लिखते हुए लगता है कि एक मकड़ी काग़ज़ पर बेकार का जाला बुन रही है। सिर बाईं तरफ़ को तिरछा कर लेने से जाला बुनने की शुरुआत हो जाती है। रेशों की तरह काग़ज़ पर लकीरें बनने लगती हैं। पर अन्दर पंख फड़फड़ाते कीड़े को यह जाला नहीं, कुछ और चाहिए। कुछ और—यानी सेक्स?

कीड़ा हंडे के अन्दर है और हंडा बना है ऐसे काँच का कि हर आँख की चमक और चुभन उस पर अपनी एक छाप छोड़ जाती है। जब जो भी इसकी तरफ़ देखता है, उस समय उसी की आँख से अपने को देखने लगता है। इससे कीड़े को अपना आप हंडे के अतिरिक्त कई-कई आँखों के कारावास में बन्द लगता है, वह मुक्ति चाहता है—हंडे से, उसे घेरनेवाली आँखों से...फिर सेक्स?

काग़ज़ चुक गया है। हाथों में इतनी जान नहीं कि अटैची केस खोलकर उसमें से और काग़ज़ निकाल लूँ। और काग़ज़ निकालने का मतलब क्या होगा? अटैची केस में जो कुछ है, उस सबका उथल-पुथल हो जाना। वैसे भी गाड़ी का सिग्नल हो गया है। दस-बीस कुली लाइनें पार करके इस तरफ़ दौड़े आ रहे हैं। वह रहा दूधवाला...गर्म दूधवाला...

यात्रा-वृत्तान्त

गोआ से कन्याकुमारी तक की यह यात्रा दिसम्बर सन् बावन और फरवरी सन् तिरपन के बीच की गई थी। यात्रा से लौटते ही मैंने यह पुस्तक लिख डाली थी। उन दिनों हर चीज़ की छाप मन पर ताज़ा थी। पूरे अनुभव को लेकर मन में एक उत्साह भी था। इसलिए कहीं-कहीं अतिरिक्त भावुकता से अपने को नहीं बचा सका था। इस बार नए संस्करण के लिए पुस्तक को दोहराते समय पहले सोचा था कि मुद्रण की भूलों को ठीक करने के अतिरिक्त और इसमें कुछ नहीं करूँगा। परन्तु समय के अन्तराल ने जहाँ प्रभावों को कुछ धुँधला दिया है, वहाँ मन में उनके प्रति एक तटस्थता भी ला दी है। इसलिए कुछ जगह थोड़ा-बहुत परिवर्तन अनायास ही हो गया है। पुस्तक का कुछ अंश मैंने फिर से लिखा है। शेष में भाषा को जहाँ-तहाँ से छू दिया है। फिर भी मूलतः किसी तरह का परिवर्तन इसमें नहीं हुआ। वह न तो उचित ही था, न अपेक्षित ही।

पहले संस्करण में ही कुछ जगह व्यक्तियों के नाम मैंने बदल दिए थे। जहाँ सम्भव था, वहाँ नाम नहीं बदले। भास्कर कुरुप उस व्यक्ति का वास्तविक नाम है। श्रीधरन् एक बदला हुआ नाम।

—मोहन राकेश

आर-522, न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली-5

रास्ते के दोस्तों को–

आखिरी चट्टान तक

वांडर लस्ट

खुला समुद्र-तट। दूर-दूर तक फैली रेत। रेत में से उभरी बड़ी-बड़ी स्याह चट्टानें। पीछे की तरफ़ एक टूटी-फूटी सराय। ख़ामोश रात और एकटक उस विस्तार को ताकती एक लालटेन की मटियाली रोशनी...।

सब-कुछ ख़ामोश है। लहरों की आवाज़ के सिवा कोई आवाज़ सुनाई नहीं देती। मैं सराय के अहाते में बैठा समुद्र के क्षितिज को देख रहा हूँ। लहरें जहाँ तक बढ़ आती हैं, वहाँ झाग से एक लकीर खिंच जाती है। मेरे सामने एक बुड्ढा बैठा है। उसके चेहरे पर भी न जाने कितनी-कितनी लकीरें हैं। उसकी आँखों में भी कोई चीज़ बार-बार उमड़ आती है और लौट जाती है। हम दोनों के बीच में एक लम्बी पुरानी मेज़ है जो कुहनी का ज़रा-सा बोझ पड़ते ही चरमरा उठती है। बुड्ढे के सामने एक पुराना अखबार फैला है। मेरे सामने चाय की प्याली रखी है। सहसा वातावरण में एक खिलखिलाहट फूट पड़ती है। एक सोलह-सत्रह साल की लड़की पास की कोठरी से आकर बुड्ढे के गले में बाँहें डाल देती है। बुड्ढा उसकी तरफ़ ध्यान न देकर उसी तरह अख़बार की पुरानी सुर्खियों में खोया रहता है। मैं चाय की प्याली उठाता हूँ और रख देता हूँ। लहरों का फेन आगे तक आकर रेत पर एक और लकीर खींच जाता है...।

एक पहाड़ी मैदान। धान और मक्की के खेतों से कुछ हटकर लकड़ी और फूस की एक झोंपड़ी। वातावरण में ताज़ा कटी लकड़ी की गन्ध। ढलती धूप और झोंपड़ी की खिड़की से बाहर झाँकती साँझ...।

बेंत की टूटी कुर्सी पर बैठकर खिड़की से बाहर देखते हुए दूर तक वीरान पगडंडियाँ नज़र आती हैं। उन पर कहीं कोई एकाध ही व्यक्ति चलता दिखाई देता है। खिड़की के बाहर साँझ उतर आने पर झोंपड़ी में रात घिर आती है। मैं खिड़की से हटकर अपने आस-पास नज़र दौड़ाता हूँ। फ़र्श पर, मेज़ पर और चारपाई पर काग़ज़-ही-काग़ज़ बिखरे हैं जिन्हें देखकर मन उदास हो जाता है। अपना-आप बहुत

अकेला और भारी महसूस होता है। लकड़ी की गन्ध से ऊब होने लगती है। साथ की झोंपड़ी से आती धुएँ की गन्ध अच्छी लगती है। मैं फिर खिड़की के पास जा खड़ा होता हूँ। पगडंडियाँ अब बिलकुल सुनसान हैं और धीरे-धीरे अँधेरे में डूबती जा रही हैं। एक पक्षी पंख फड़फड़ाता खिड़की के पास से निकल जाता है...।

कच्चे रास्ते की ढलान। एक मोड़ पर अचानक क़दम रुक जाते हैं। नीचे, बहुत नीचे, दरिया की घाटी है। ज़हरमोहरा रंग का पानी सारस के पंखों की तरह एक द्वीप के दोनों और शाखाएँ फैलाए है। सारस की गर्दन दूर चीड़ी के वृक्षों में जाकर खो गई है...।

ढलान से घाटी की तरफ़ झुके एक पेड़ के नीचे से दो आँखें सहसा मेरी तरफ़ देखती हैं। उन आँखों में सारस का विस्मय है और दरिया की उमंग। साथ एक चमक है जो कि उनकी अपनी है।

"यह रास्ता कहाँ जाता है?" मैं पूछता हूँ।

लड़की अपनी जगह से उठ खड़ी होती है। उसके शरीर में कहीं खम नहीं है। साँचे में ढले अंग—एक सीधी रेखा और कुछ गोलाइयाँ। आँखों में कोई झिझक या संकोच नहीं।

"तुम्हें कहाँ जाना है?" वह पूछती है।

"यह रास्ता जहाँ भी ले जाता हो...।"

वह हँस पड़ती है। उसकी हँसी में भी कोई गाँठ नहीं है। पेड़ इस तरह बाँहें हिलाता है, जैसे पूरे वातावरण को उनमें समेट लेना चाहता हो। एक पत्ता झड़कर चक्कर काटता नीचे उतर आता है।

"यह रास्ता हमारे गाँव को जाता है," लड़की कहती है। सूर्यास्त के कई-कई रंग उसके हँसिए में चमक जाते हैं।

"तुम्हारा गाँव कहाँ है?"

"उधर नीचे।" वह जिधर इशारा करती है, उधर केवल पेड़ों का झुरमुट है—वही जिसमें सारस ने अपनी गर्दन छिपा रखी है।

"उधर तो कोई गाँव नहीं है।"

"है। वहाँ, उन पेड़ों के पीछे...।"

वह क्षण-भर खड़ी रहती है—देवदार के तने की तरह सीधी। फिर ढलान से उतरने लगती है। मैं भी उसके पीछे-पीछे उतरने लगता हूँ। साँझ होने के साथ दरिया का ज़हरमोहरा रंग धीरे-धीरे बैंजनी होता जाता है। वृक्षों के साये लम्बे होकर अदृश्य होते जाते हैं। फिर भी दूर तक कहीं कोई छत, कोई दीवार नज़र नहीं आती...।

कच्ची ईंटों का बना एक पुराना घर। घर में एक बुड्ढा और बुढ़िया रहते हैं। दोनों मिलकर मुझे अपने जीवन की बीती घटनाएँ सुनाते हैं। बीच-बीच में छत से एकाध तिनका नीचे गिर आता है। बुड्ढा बुढ़िया की बात काटता है कि उसे वह घटना ठीक से याद नहीं है। बुढ़िया बुड्ढे पर झुँझलाती है कि वह क्यों उसे बार-बार बीच में टोक देता है। जब उनमें से एक ही बांत लम्बी होने लगती है, तो दूसरे को ऊँघ आ जाती है। हवा हलके से किवाड़ खोल देती है। बाहर आग जल रही है। उसके पास बैठे कुछ व्यक्ति ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहे हैं और क़समें खा रहे हैं। क्षण-भर के लिए उनकी आवाज़ें रुकती हैं, तो जंगल में दूर तक घास के सरसराने की आवाज़ सुनाई दे जाती है। तभी हवा किवाड़ बन्द कर जाती है। मेरा मन जंगल से लौटकर फिर उस घर के अतीत में भटकने लगता है।...

जब कभी मैं यात्रा पर निकलने की बात सोचता हूँ, तो ये और ऐसे कई-कई चित्र अनायास मन में उभरने लगते हैं। सम्भव है कि ये बहुत पहले पढ़ी यात्रा-पुस्तकों के किन्हीं ऐसे अंशों की छाप हों जिन्हें वैसे मैं भूल चुका हूँ। पर सोचता हूँ कि अपने अन्दर से बार-बार ऐसे चित्रों को खोज लाना, मन की यह भटकन क्या है? एक बार किसी ने इसे नाम दिया था—वांडर लस्ट। यह मेरी अपनी सीमा है कि मुझे चाहकर भी इसके लिए हिन्दी का शब्द नहीं मिल रहा। यायावर वृत्ति? परन्तु वृत्ति लस्ट तो नहीं है। और वास्तव में यह भटकन क्या लस्ट ही है?

दिशाहीन दिशा

घर से चलते समय मन में यात्रा की कोई बनी हुई रूप-रेखा नहीं थी। बस एक अस्थिरता ही थी जो मुझे अन्दर से धकेल रही थी। समुद्र-तट के प्रति मन में एक ऐसा आकर्षण था कि मेरी यात्रा की कल्पना में समुद्र का विस्तार अनायास ही आ जाता था। बहुत बार सोचा था कि कभी समुद्र-तट के साथ-साथ एक लम्बी यात्रा करूँगा, परन्तु यात्रा के लिए समय और साधन साथ-साथ मेरे पास कभी नहीं रहते थे। उन दिनों नौकरी छोड़ दी थी और पास में कुछ पैसे भी थे। इसलिए मैंने तुरन्त चल देने का निश्चय कर लिया। पहले सोचा कि सीधे कन्याकुमारी चला जाऊँ और वहाँ से रेल, मोटर या नाव, जहाँ जो मिले, उसमें पश्चिमी समुद्र-तट के साथ-साथ गोआ या बम्बई तक की यात्रा करूँ। रास्ते में जहाँ मन हुआ, वहीं कुछ दिन रह जाऊँगा। शिमला में हमारे स्कूल में कई लोग दक्षिण भारत के थे। उनमें से एक ने कहा था कि रहने के लिए कनानोर (कण्णूर) बहुत अच्छी जगह है। एक और का कहना था कि मैं एक बार कोइलून पहुँच जाऊँ, तो वहाँ से और कहीं जाने को मेरा मन नहीं होगा। दिल्ली में

एक मित्र ने कहा था कि पश्चिमी समुद्र-तट पर पंज़िम (गोआ) से सुन्दर दूसरी जगह नहीं है। वहाँ खुला समुद्र-तट है, एक आदिम स्पर्श लिये प्राकृतिक रमणीयता है और सबसे बड़ी बात यह है कि जीवन बहुत सस्ता है—रहने-खाने की हर सुविधा वहाँ बहुत थोड़े पैसों में प्राप्त हो सकती है। मेरे लिए सभी जगहें अपरिचित थीं, इसलिए मुझे सभी में आकर्षण लग रहा था। कोचिन, कण्णूर, मंगलूर, गोआ। अलेप्पी के बैक वाटर्ज़ और नीलगिरि की पहाड़ियाँ। सबके प्रति मेरे मन में एक-सी आत्मीयता जागती थी। जैसे कि मेरा उन सब स्थानों से कभी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हो। सबसे अधिक आत्मीयता कन्याकुमारी के तट को लेकर महसूस होती थी, परन्तु एक घने शहर की छोटी-सी तंग गली में पैदा हुए व्यक्ति के लिए उस विस्तार के प्रति ऐसी आत्मीयता का अनुभव करने का आधार क्या हो सकता था? केवल विपरीत का आकर्षण?

घर से चलते समय कुछ निश्चय नहीं था कि कब, कहाँ, कितने दिन रहूँगा। हाँ, चलने तक इतना निश्चय कर लिया था कि पहले सीधे कन्याकुमारी न जाकर बम्बई होता हुआ गोआ चला जाऊँगा और वहाँ से कन्याकुमारी की ओर यात्रा प्रारम्भ करूँगा। यह इसलिए चाहता था कि मेरी यात्रा का अन्तिम पड़ाव कन्याकुमारी हो...।

अब्दुल जब्बार पठान

दिसम्बर सन् बावन की पचीस तारीख़। थर्ड क्लास के डिब्बे में ऊपर की सीट बिस्तर बिछाने को मिल जाए, यह बड़ी बात होती है। मुझे ऊपर की सीट मिल गई थी। सोच रहा था कि अब बम्बई तक की यात्रा में कोई असुविधा नहीं होगी। रात को ठीक से सो सकूँगा। मगर रात आई, तो मैं वहाँ सोने की जगह भोपाल ताल की एक नाव में लेटा बूढ़े मल्लाह अब्दुल जब्बार से ग़ज़लें सुन रहा था।

भोपाल स्टेशन पर मेरा मित्र अविनाश, जो वहाँ से निकलने वाले एक हिन्दी दैनिक का सम्पादन करता था, मुझसे मिलने के लिए आया था। मगर बात करने की जगह उसने मेरा बिस्तर लपेटकर खिड़की से बाहर फेंक दिया, और खुद मेरा सूटकेस लिये हुए नीचे उतर गया। उस तरह मुझे एक रात के लिए वहाँ रह जाना पड़ा।

रात को ग्यारह के बाद हम लोग घूमने निकले। घूमते हुए भोपाल ताल के पास पहुँचे, तो मन हो आया कि नाव लेकर कुछ देर झील की सैर की जाए। नाव ठीक की गई और कुछ ही देर में हम झील के उस भाग में पहुँच गए जहाँ से चारों ओर के किनारे दूर नज़र आते थे। वहाँ आकर अविनाश के मन में न जाने क्या भावुकता जाग आई कि उसने एक नज़र पानी पर डाली, एक दूर के किनारों पर, और पूर्णता चाहनेवाले कलाकार की तरह कहा कि कितना अच्छा होता अगर इस वक़्त हममें से कोई कुछ गा सकता।

"मैं गा तो नहीं सकता, हुज़ूर" बूढ़ा मल्लाह हाथ रोककर बोला। "मगर आप चाहें, तो चन्द ग़ज़लें तरन्नुम के साथ अर्ज़ कर सकता हूँ—और माशाल्लाह चुस्त ग़ज़लें हैं।"

'ज़रूर ज़रूर!' हमने उत्साह के साथ उसके प्रस्ताव का स्वागत किया। बूढ़े मल्लाह ने एक ग़ज़ल छेड़ दी। उसका गला काफ़ी अच्छा था और सुनाने का अन्दाज़ भी शायराना था। काफ़ी देर चप्पुओं को छोड़ वह झूम-झूमकर ग़ज़लें सुनाता रहा। एक के बाद दूसरी, फिर तीसरी। मैं नाव में लेटा उसकी तरफ़ देख रहा था। उस सर्दी में भी वह सिर्फ़ एक तहमद लगाए था। गले में बनियान तक नहीं थी। उसकी दाढ़ी के ही नहीं, छाती के भी बाल सफ़ेद हो चुके थे। मगर जब वह चप्पू चलाने लगता, तो उसकी मांसपेशियाँ इस तरह हिलतीं जैसे उनमें फ़ौलाद भरा हो।

तीसरी ग़ज़ल सुनाकर वह ख़ामोश हो गया। उसके ख़ामोश हो जाने से सारा वातावरण ही बदल गया। रात, सर्दी और नाव का हिलना, इन सबका अनुभव पहले नहीं हो रहा था, अब होने लगा। झील का विस्तार भी जैसे उतनी देर के लिए सिमट गया था, अब खुल गया।

"अब लौट चलें साहब," कुछ देर बाद उसने कहा। "सर्दी बढ़ रही है और मैं अपनी चादर साथ नहीं लाया।"

अविनाश ने झट से अपना कोट उतारकर उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। कहा, "लो, तुम यह पहन लो। अभी हम लौटकर नहीं चलेंगे। तुम्हें कोई ग़ालिब की चीज़ याद हो, तो वह सुनाओ।"

बूढ़े मल्लाह ने एतराज़ नहीं किया। चुपचाप अविनाश का कोट पहन लिया और ग़ालिब की एक ग़ज़ल सुनाने लगा। 'मुद्दत हुई है यार को मेहमाँ किए हुए...।'

हम लोग उसे 'बड़े मियाँ' कहकर बुला रहे थे। उसने ग़ज़ल पूरी कर ली, तो मैंने उससे उसका नाम पूछा।

"मेरा नाम है साहब, अब्दुल जब्बार पठान," उसने कहा। 'पठान' शब्द पर उसने ख़ास ज़ोर दिया।

"मियाँ अब्दुल जब्बार, तुमने बहुत अच्छी चीज़ें याद कर रखी हैं," मैंने कहा। "और इससे भी बड़ी बात यह है कि इस उम्र में भी तुम इतने रंगीनमिज़ाज हो...।"

"मर्दज़ाद हूँ साहब," वह बोला। "तबीयत की रंगीनी तो खुदा ने मर्दज़ाद को ही बख़्शी है। जिसे यह चीज़ हासिल नहीं, वह समझ लीजिए कि मर्दज़ाद ही नहीं।"

"इसमें क्या शक है!" अविनाश हँसकर बोला। "अपनी उम्र में तो काफ़ी गुलछर्रे उड़ाए होंगे तुमने।"

अब्दुल जब्बार मुस्कराया। सफ़ेद मूँछों के नीचे उसके होंठों पर आई मुस्कराहट में रसिकता भर आई। "उम्र तो हुज़ूर बन्दे की अज़्ल के रोज़ तक रहती है," वह बोला। "मगर हाँ, जवानी की बहार जवानी के साथ थी। बहुत ऐश की, बेवक़ूफ़ियाँ

भी बहुत थीं। मगर कोई अफ़सोस नहीं है। वो दिन फिर से मिलें, तो वही बेवक़ूफ़ियाँ नए सिरे से की जाएँगी, और फिर भी कोई अफ़सोस नहीं होगा।''

''मतलब वैसे अब उस तरह की बेवक़ूफ़ियों की नौबत नहीं आती?'' अविनाश ने पूछ लिया।

''अब हुज़ूर? हिम्मत में किसी मर्दज़ाद से कम अब भी नहीं हूँ। कहिए जिस ख़बीस का ख़ून कर दूँ। मगर जहाँ तक नफ़्स का सवाल है, उसकी मैं तौबा करता हूँ।...अच्छा, कुछ देर ख़ामोश रहकर ज़रा एक चीज़ सुनिए...।''

मैंने समझा था कि वह कोई सूफ़ियाना क़लाम सुनाने जा रहा है। मगर वह बिना एक शब्द कहे चुपचाप नाव चलाता रहा। गहरी ख़ामोशी थी। चप्पुओं के पानी में पड़ने के सिवा कोई आवाज़ नहीं सुनाई दे रही थी। हम लोग उत्सुकता के साथ उसकी तरफ़ देखते रहे। वह मुस्करा रहा था। मगर अब उसकी मुस्कराहट में पहले की-सी रसिकता नहीं, एक संज़ीदगी थी ''सुन रहे हैं?'' उसने कहा।

मेरी समझ में नहीं आया कि वह क्या सुनने को कह रहा है। ''क्या चीज़?'' मैंने पूछ लिया।

''यह आवाज़,'' वह बोला। रात की ख़ामोशी में चप्पुओं के पानी में पड़ने की आवाज़। शायद आपके लिए इसमें कोई ख़ास मतलब नहीं है। पहले मुझे भी इसमें कुछ ख़ास नहीं लगता था। मगर तीन साल हुए एक रात मैं अकेला इस झील को पार कर रहा था। ऐसी ही रात थी, ऐसा ही अँधेरा था, और ऐसा ही ख़ामोश समाँ था। जब मैं झील के बीचोबीच पहुँचा, तो यह आवाज़ उस वक़्त मुझे कुछ और-सी लगने लगी। हर बार जब यह आवाज़ होती, तो मेरे ज़िस्म में एक सनसनी-सी दौड़ जाती। मुझे लगता जैसे कोई चीज़ हलके-हलके मेरी रूह को थपथपा रही हो। फिर मुझे महसूस होने लगा कि वह चप्पुओं के पानी में पड़ने की आवाज़ नहीं, एक हलकी-हलकी ख़ुदाई आहट है। मुझे उस वक़्त लगा कि मैं ख़ुदा के बहुत नज़दीक हूँ। मैंने दिल-ही-दिल सज्दा किया और आइन्दा के लिए गुनाहों से तौबा की क़सम खाई। उसके बाद से जब कभी मैं रात के वक़्त नाव लेकर झील में आता हूँ, तो मुझे यह आवाज़ फिर वैसी ही लगने लगती है। तब मैं अपनी उस तौबा को याद करता हूँ और अल्लाह का शुक्र मनाता हूँ कि उसने मुझे इस तरह तौबा का मौक़ा बख़्शा। फिर मैं नए सिरे से तौबा का अहद करता हूँ और अल्लाह से उसकी मेहर के लिए फ़रियाद करता हूँ।''

वह ख़ामोश हो गया। सिर्फ़ पानी से चप्पुओं के टकराने का शब्द सुनाई देता रहा। मैं बाईं करवट होकर हाथ की उँगली से पानी में उठती लहरों को छूने लगा। एक तीखी ठंडी चुभन नसों को बींधती सारे शरीर में फैल गई। तभी मुझे उसकी कही ख़ून करने की बात याद हो आई। एक तरफ़ वह सब गुनाहों से तौबा का अहद किए था और दूसरी तरफ़ किसी भी इंसान का ख़ून कर देने को तैयार था।

"मियाँ अब्दुल जब्बार," मैंने सीधे उसकी तरफ़ देखते हुए पूछा, "इंसान का ख़ून करने को तुम गुनाह नहीं समझते?"

"हुज़ूर, मैं पठान हूँ," वह हाथ रोककर बोला। "मेरी निगाह में गुनाह का ताल्लुक इंसान की रूह के साथ है, जान के साथ नहीं। मैं किसी की इज़्ज़त लूटता हूँ, किसी को ज़लील करता हूँ, किसी की चोरी करता हूँ, तो उसकी रूह को सदमा पहुँचाता हूँ। यह गुनाह है। मगर मैं किसी ख़बीस की जान लेता हूँ, तो एक नापाक रूह को जिस्म की क़ैद से आज़ाद करता हूँ। यह गुनाह नहीं है।"

मैं मन-ही-मन मुस्कराया और पानी की तरफ़ देखने लगा। चप्पुओं से बनती लहरों के साँप लचकते हुए एक-दूसरे में विलीन होते जा रहे थे, मेरी एक उँगली फिर पानी की सतह को छूने लगी।

"तो कम-से-कम तफ़्स के लिहाज़ से अब तुम बिलकुल पाक ज़िन्दगी बिता रहे हो?" मैंने पूछा।

"क़सम खाकर तो नहीं कह सकता हुज़ूर," अब्दुल जब्बार संजीदगी छोड़कर फिर अपनी रसिकता में लौट आया। "यार लोगों की मजलिस में शरकत की दावत हो, तो इनकार भी नहीं किया जाता। वैसे दमख़म आपकी दुआ से अब भी इतना है कि...।" और जिन मार्के के शब्दों में उसने अपने पुरुषत्व की घोषणा की, उन्हें मैं ज़िन्दगी-भर नहीं भूल सकता।

सर्दी बढ़ रही थी। "तो हुज़ूर अब नाव को किनारे की तरफ़ ले चलूँ, काफ़ी वक़्त हो गया है," उसने कुछ देर चुप रहने के बाद कहा। हमने अब उससे और कोई चीज़ सुनाने का अनुरोध नहीं किया। नाव धीरे-धीरे किनारे की तरफ़ बढ़ने लगी।

किनारे पर पहुँचकर जब हम चलने को हुए, तो अब्दुल जब्बार ने कहा, "आज शाम को कुछ मछलियाँ पकड़ी हैं। दो-एक सौग़ात के तौर पर लेते जाइए।"

मगर अविनाश वहाँ होटल में खाना खाता था और मैं उसी का मेहमान था, इसलिए मछलियों का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं था। हमने उसे धन्यवाद दिया और वहाँ से चले आए।

नया आरम्भ

मेरे साथ अकसर ऐसा होता है—कम-से-कम मुझे यह लगता तो है ही—कि बस या ट्रेन में मैं जिस खिड़की के पास बैठता हूँ, धूप उसी खिड़की से होकर आती है। इस दिशा में पहले से सावधानी बरतने का कोई फल नहीं होता क्योंकि सड़क या पटरी का रुख कुछ इस तरह से बदल जाता है कि धूप जहाँ पहले होती है, वहाँ से हटकर

मेरे ऊपर आने लगती है। फिर भी मुझसे यह नहीं होता कि खिड़की के पास न बैठा करूँ। गति का अनुभव खिड़की के पास बैठकर ही होता है। बीच में बैठकर तो यूँ लगता है जैसे गतिहीन केवल हिचकोले खाए जा रहे हैं...।

भोपाल से मैं अमृतसर एक्सप्रेस में बैठ गया था। कोशिश करके जगह भी बना ली थी। मगर धूप सीधी आकर मेरे चेहरे पर पड़ रही थी। मेरे हाथों में एक पुस्तक थी जिसे मैं बहुत देर से खोले था मगर पढ़ नहीं पा रहा था। कभी दो-एक पंक्तियाँ पढ़ लेता और फिर धूप से बचने के लिए उससे ओट करके खिड़की से बाहर देखने लगता। मेरे सामने की सीट पर बैठा एक लड़का यह देखकर मुस्करा रहा था कि मैं धूप से बचना भी चाहता हूँ और खिड़की के बाहर देखना भी चाहता हूँ। उसने अपनी जगह से थोड़ा सरकते हुए मुझसे कहा, ''इधर आ जाइए। इधर धूप नहीं है।''

मैं उठकर उसके पास जा बैठा और खिड़की से बाहर देखने लगा। कुछ देर बाद किसी ने मुझे कन्धे से पकड़कर हिलाया तो मैं चौंक गया। टिकिट इन्स्पेक्टर टिकिट देखने के लिए खड़ा था। मैंने टिकिट निकालकर उसे दिखा दिया। टिकिट इन्स्पेक्टर ने तब साथ बैठे उस लड़के की तरफ़ हाथ बढ़ाया। लड़के ने ज़ेब से एक बड़ा-सा रूमाल निकाला। उसमें एक टिकिट और कुछ आने पैसे थे। टिकिट इन्स्पेक्टर ने उसका टिकिट लेकर ध्यान से देखा और पूछा, ''कहाँ से बैठे हो?''

''बीना से,'' लड़के ने कहा।

''मगर तुम्हारा टिकिट तो बीना से भोपाल तक का है।'' और उसने बताया कि एक तो भोपाल पीछे रह गया है, दूसरे बीना से भोपाल तक भी उस गाड़ी में थर्ड क्लास में सफ़र नहीं किया जा सकता। ''तुम्हें पता नहीं था कि यह लम्बे सफ़र की गाड़ी है?''

''जी, मैं लम्बे सफ़र के लिए ही इसमें बैठा हूँ।'' लड़के ने कहा। ''मैं बम्बई जा रहा हूँ।''

लड़के की इस बात से आसपास बैठे सब लोग हँस दिए। इन्स्पेक्टर भी हँस दिया। बोला, ''फिर तुमने टिकिट बम्बई तक का क्यों नहीं लिया?''

लड़के की बड़ी-बड़ी आँखें कुछ सहम गईं। ''जी मेरे पास जितने पैसे थे, उनसे यही टिकिट आता था'', उसने कहा। इन्स्पेक्टर क्षण-भर अनिश्चित दृष्टि से उसे देखता रहा। फिर जैसे उसे भूलकर दूसरों के टिकिट देखने लगा।

मैं भी पल-भर ध्यान से लड़के की तरफ़ देखता रहा। गोरा रंग और दुबला-पतला शरीर। खाल बहुत पतली, क्योंकि चेहरे की हरी नाड़ियाँ बाहर दिखाई दे रही थीं। उम्र ग्यारह-बारह साल से ज़्यादा नहीं लगती थी, हालाँकि वह एक वयस्क की तरह गम्भीर होकर बैठा था। उसकी हैंडलूम की हरी कमीज़ और भूरा पाजामा दोनों ही अब बदरंग हो रहे थे। चेहरे के दुबलेपन को देखते हुए उसकी आँखें और कान बहुत बड़े लगते थे। आँखों के नीचे, जो वैसे सुन्दर थीं, स्याह गड्ढे पड़ रहे थे।

''तुम्हारा घर बम्बई में है?'' मैंने उससे पूछा।

''जी, मेरी मौसी वहाँ रहती है,'' उसने कहा।

''बीना में तुम किसके पास थे?''

''वहाँ मैं नौकरी करता था। अब नौकरी छोड़कर मौसी के पास जा रहा हूँ?''

''तुम्हारे माता-पिता...?''

''वे दंगे के दिनों में मारे गए थे।''

मैं पल-भर चुप रहा। फिर मैंने पूछा, ''बम्बई में मौसी से मिलने जा रहे हो?''

''जी नहीं। अब मैं वहाँ मौसी के पास ही रहूँगा। मौसी ने मुझे चिट्ठी लिखकर बुलाया है। मेरे मौसा गुज़र गए हैं और पीछे चार-पाँच साल के दो बच्चे हैं। घर में अब कमानेवाला कोई नहीं है। मैं तो यहाँ भी नौकरी करता था, वहाँ भी कर लूँगा। रोटी और पन्द्रह रुपए मिल जाएँगे। अपने लिए तो मुझे रोटी ही चाहिए। रुपए मौसी को दे दिया करूँगा। पास रहूँगा तो बच्चों की देखभाल भी हो जाएगी।''

मैं फिर कुछ देर उसके चेहरे की नीली धारियों को देखता रहा। ''तुम्हें वहाँ जाते ही नौकरी मिल जाएगी?'' मैंने पूछा।

''जब तक नौकरी नहीं मिलेगी तब तक कोई और काम कर लूँगा।'' उसने कहा।

''तुम और क्या काम कर सकते हो?''

''बोझ उठा सकता हूँ।''

मेरे होंठों पर खुश्क-सी मुस्कराहट आ गई। वह अपनी दुबली-पतली बाँहों से हल्का-सा भी बोझ उठा सकता है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी।

''तुम कितना बोझ उठा सकते हो?'' मैंने पूछा।

''जी, बड़ा तो नहीं, मगर छोटा-मोटा सामान तो उठा ही सकता हूँ। मैं उम्र में उतना छोटा नहीं हूँ जितना देखने में लगता हूँ।''

''क्या उम्र है तुम्हारी?''

''सोलह साल।''

''सोलह साल? तुम्हें ठीक पता है तुम्हारी उम्र सोलह साल है?''

लड़के ने गम्भीर भाव से सिर हिलाया। ''जी, पार्टीशन से पहले मैं पत्तोकी में पाँचवीं जमात में पढ़ता था।''

और वह बताने लगा कि किस तरह वह पाकिस्तान से बचकर आया था। जब उनके घर पर हमला हुआ, तो उसके माता-पिता ने उसे आटे के ड्रम में छिपा दिया था। उसकी खुशक़िस्मती थी कि हमलावरों ने ड्रम का ढँकना उठाकर नहीं देखा। वहाँ से बचकर वह किसी तरह एक काफ़िले के साथ जा मिला और हिन्दुस्तान पहुँच गया। तीन साल वह शरणार्थी कैम्पों में रहा। फिर उसे यह नौकरी मिल गई। वे लोग उसे अपने साथ बीना ले आए। पर उसे वे हर महीने ठीक से तनख़्वाह नहीं देते थे। कभी

वह देते कि उसकी तनख़्वाह कपड़ों में कट गई है, और कभी कि जो चीज़ें उसने तोड़ी हैं, उनकी क़ीमत उसकी तनख़्वाह से कहीं ज़्यादा है। कभी कह देते कि उन्होंने उसके नाम से लाटरी डाल दी है, जिसमें हो सकता है उसका एक लाख रुपया निकल आए। नौकरी छोड़ने पर उन्होंने उसका पूरा हिसाब करके उसे कुल चार रुपए दिए थे।

"तुम इससे पहले अपनी मौसी के पास क्यों नहीं चले गए?" मैंने पूछा।

"पहले मुझे उन लोगों का पता नहीं मालूम था," वह बोला। "बीना में एक बार अपने वतन का एक आदमी मिल गया, तो उसने बताया कि वे लोग बम्बई में चेम्बूर कैम्प में हैं। मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी कि वे कहें तो मैं उनके पास बम्बई आ जाऊँ। पर तब मौसा ने लिखा था कि मुझे लगी हुई नौकरी छोड़नी नहीं चाहिए। वे मौक़ा देखेंगे, तो अपने-आप मुझे बुला लेंगे।" फिर कुछ रुककर उसने पूछा, "जी, यह टी.टी. मुझे गाड़ी से उतार तो नहीं देगा?"

"नहीं, वह उतारेगा नहीं," मैंने कहा। "अगर उतारना चाहेगा, तो हम उससे बात कर लेंगे।"

"तो मैं ज़रा लेट जाऊँ," वह बोला। "लगता है मुझे बुख़ार हो रहा है।"

मैंने उसके शरीर को छूकर देखा। शरीर सचमुच गरम था। मैं अपनी पहली जगह पर चला गया, और वह वहाँ लेट गया।

गाड़ी होशंगाबाद स्टेशन पर रुकी, तो वह सो रहा था। बाहर देखते हुए मुझे साथ के डिब्बे में अपने एक प्रोफ़ेसर नज़र आ गए। मैं उतरकर उनके पास चला गया। वे कहीं से एक शिक्षा-सम्मेलन का सभापतित्व कर आए थे और अब किसी मीटिंग के सिलसिले में बम्बई जा रहे थे। पहले वे मुझे उस सम्मेलन के विषय में बताते रहे। फिर मुझसे मेरे बारे में पूछने लगे। फिर अपनी हाल की युरॅप-यात्रा का क़िस्सा सुनाने लगे। नतीजा यह हुआ कि गाड़ी चल दी और मैं उन्हीं के डिब्बे में बैठा रह गया।

इटारसी स्टेशन पर लौटकर अपने डिब्बे में आया, तो वहाँ भीड़ पहले से बहुत बढ़ चुकी थी। भीड़ में रास्ता बनाकर अपनी जगह पर पहुँचा, तो देखा कि वह लड़का सामने की सीट पर नहीं है। लोगों से पूछा, तो पता चला कि वह इटारसी तक आ ही नहीं पाया—टिकिट इन्स्पेक्टर ने उसे होशंगाबाद स्टेशन पर ही उतार दिया था।

रंग-ओ-बू

बम्बई। विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन। स्टेशन पर उतरकर यह नहीं लगा कि दो साल बाद वहाँ आया हूँ। ऐसे लगा जैसे कि वहीं रहता हूँ, दादर से आया हूँ, रोज़ ही इस तरह आता हूँ और वहाँ की ज़िन्दगी से बुरी तरह ऊबा हुआ हूँ। स्टेशन पर ही बम्बई

के जीवन की पूरी झलक दिखाई दे गई—सूखे-मुरझाए चेहरे, बेहद जल्दबाज़ी और कोई खोई हुई चीज़ ढूँढ़ने का-सा हताश भाव। वहाँ आकर पहला सवाल मन में यही आया कि वहाँ क्यों आया हूँ? एक चीज़ जिससे उलझन और बढ़ने लगी, वह थी मछली की गन्ध। विक्टोरिया टर्मिनस के सबर्बन भाग में इतनी मछलियाँ उतरी थीं (मतलब, टोकरियों में भरी वहाँ उतारी गई थीं) कि मेन स्टेशन के चाय स्टाल पर चाय पीते हुए मुझे लगता रहा कि गन्ध मेरी चाय में से आ रही है। मैं चाय आधी भी नहीं पी सका।

बस में बैठा, तो वहाँ भी पास ही कहीं से वह गन्ध आ रही थी। कुछ आश्चर्य हुआ क्योंकि बसों में मछली की टोकरियाँ ले जाने की इजाज़त नहीं है। पर आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। गन्ध मेरे साथ बैठी मत्स्यगन्धा नवयुवती के शरीर में से आ रही थी।

नहीं जानता कि बम्बई पहुँचते ही, सहसा मन वहाँ से चल देने को क्यों होने लगा। सोचकर आया था कि वहाँ आठ-दस दिन रुकूँगा, पुराने दोस्तों से मिलूँगा और फिर आगे की यात्रा पर चलूँगा। पर एक ही दोस्त से मिल लेने के बाद किसी दूसरे से मिलने जाने को मन नहीं हुआ। वह दोस्त, डी.पी., नेशनल स्टैंडर्ड में काम करता था। मैं उसके दफ़्तर में पहुँचा, तो मुझे देखकर उसके चेहरे पर वैसा ही भाव आया जैसा रोज़ दिखाई देनेवाले किसी चेहरे को देखकर आ सकता है। उसने सरसरी तौर पर मुझसे बैठने को कहा, बिना यह पूछे कि मैं कुछ पियूँगा या नहीं, नौकर से चाय लाने को कह दिया, और टेलीफ़ोन पर सट्टा बाज़ार के भाव पूछता रहा।

वहाँ भी जाने कहाँ से मछली की गन्ध आ रही थी। समझ में नहीं आया कि एक अखबार के दफ़्तर में मछलियाँ कहाँ हो सकती हैं। जब डी.पी. ने टेलीफ़ोन का रिसीवर रखा, तो मैंने पहली बात उससे यही पूछी कि मछली की गन्ध कहाँ से आ रही है? उसने मेरे सवाल को ज़रा महत्त्व नहीं दिया और उसी तरह सरसरी तौर पर कहा कि मछली की गन्ध आ रही है, तो समुद्र में से ही आ रही होगी क्योंकि समुद्र बहुत पास है।

डी.पी. से मिलकर मुझे लगा कि मैंने बम्बई के सब लोगों से एक साथ मिल लिया है। उसके दफ़्तर से बाहर आया तो पूरी शाम मेरे पास ख़ाली थी—पर मैं और किसी से मिलने नहीं गया। उसकी बजाय एक्वेरियम में जाकर मछलियाँ देखता रहा। शीशे के केसों में सैकड़ों तरह की मछलियाँ इठलाती-इतराती तैर रही थीं। मुझे उनके नाम याद नहीं—केवल रंगों और लचक की ही कुछ याद है। एक नर्तकी के शरीर से कहीं ज़्यादा लचकती डेढ़-डेढ़ दो-दो फ़ुट की चितकबरी मछलियाँ, अपने मुँह से निकले रेशमी डोरों के सहारे करतब करती-सी नाटे क़द की चौड़ी मछलियाँ, गिरोह बाँधकर एक दिशा से दूसरी दिशा में जाती नाख़ून-नाख़ून जितनी मछलियाँ और

राम-नाम के उच्चारण की तरह मुँह खोलती और बन्द करती भगत मछलियाँ। मैं एक्वेरियम बन्द होने तक मछलियों और केंकड़ों को देखता वहीं घूमता रहा। पहले फूलों और तितलियों को देखकर ही सोचा करता था कि इतने-इतने रंगों की सृष्टि करने वाली शक्ति के पास कितनी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि होगी। पर नाख़ून-नाख़ून-भर की मछलियों के शरीर में रंगों की योजना देखकर तो जैसे उस विषय में सोचने की शक्ति ही जाती रही...।

एक्वेरियम के दरवाज़े बन्द हो जाने के बाद आधी रात तक मैरीन ड्राइव के पुश्ते पर बैठा समुद्र की उफनती लहरों को देखता रहा। मन हो रहा था कि मैं भी उस समय मछलियों के साथ-साथ उन लहरों में बह सकूँ, इधर से उधर धकेला जा सकूँ और अपने चारों ओर पानी की उस शक्ति को महसूस कर सकूँ जिसका अनुमान चट्टानों पर होते हर आघात से हो रहा था। कितनी ही देर मैं वहाँ बैठा देखता रहा, और जब मैरीन ड्राइव बिलकुल सुनसान हो गया, तो चुपचाप उठकर वहाँ से चला गया।

पीछे की डोरियाँ

पच्छिमी घाट की छोटी-छोटी पहाड़ियाँ तेज़ी से निकलती जा रही थीं। जगह-जगह पहाड़ियों को मिलाते पुल आ जाते जिन्हें देखकर मन में एक पुलक का अनुभव होता। पूना एक्सप्रेस की खिड़की एक चौखटे की तरह थी जिसके पीछे का चित्र निरन्तर गतिशील था। गहराई एक तरफ़ से ऊपर को उठने लगती और पहाड़ी का रूप ले लेती। पहाड़ी एक तरफ़ से बैठने लगती और घाटी में बदल जाती। मिट्टी पानी को स्थान देकर हट जाती और पानी उभरी हुई चट्टानों के लिए स्थान छोड़ देता।

पहले सोचा था कि बम्बई से गोआ तक की यात्रा स्टीमर से करूँगा। पर स्टीमर बम्बई से पहली तारीख़ को जाने को था और मैं वहाँ और एक दिन भी नहीं रुकना चाहता था। इसलिए सुबह ही पूना एक्सप्रेस पकड़ ली थी और उस समय खिड़की के पास बैठा दूर तक घाट के प्रदेश को देख रहा था। वह हरियाली निःसन्देह बहुत सुन्दर थी—आँखें उसमें बहुत रमती थीं। समतल पर हरियाली बहुत सपाट हो जाती है। ऊँचे पहाड़ों पर ऊँचाई उस पर छाई रहती है। पर यहाँ ज़मीन की हल्की-हल्की करवटों में हरियाली अपनी ही एक मस्ती में बिखरी थी...।

मेरे पास बैठा एक सिन्धी एक गुजराती से पूछा रहा था कि पूना में देखने की ख़ास-ख़ास जगहें कौन-सी हैं।

"ख़ास जगह कोई नहीं है; सब वैसी ही हैं जैसी बम्बई में हैं," गुजराती झुँझलाए स्वर में बोला।

"वड़ी देखो न," सिन्धी उसे समझाने लगा। "हर शहर में अपनी कोई रौनक की जगाँ होती हैं, कोई बड़ा मन्दिर होता है, कारखाना होता है। जैसे हमारे उधर कराची में...।"

"हाँ, साहब होता है," गुजराती इतने में ही उकता गया। "सड़क होती है, डाकखाना होता है, चिड़ियाघर होता है। यह सभी कुछ पूना में है।"

"तो पूना में तो वड़ी अपनी तरह का होगा न," सिन्धी बोला। "हमारे उधर कराची में भी सड़कें थीं, डाकखाना था, चिड़ियाघर था, मगर वह सब इधर जैसा तो नहीं था न...!" फिर वह सबको सम्बोधित करके कहने लगा, "क्यों जी, जब इंसान और इंसान एक-सा नहीं होता, एक भाई से दूसरा भाई मेल नहीं खाता, एक हाथ की पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं, तो फिर और चीज़ें एक-सी कैसे हो सकती हैं? दुनिया में कोई दो चीज़ें कभी एक-सी नहीं होतीं! हमारे उधर कराची में...।"

गुजराती उसके फ़लसफ़े से तंग आ गया था। वह उसकी बात बीच में काटता बोला, "क्यों भाई साहब, कभी रेस खेलने जाते हो?"

"क्यों नहीं जाता वड़ी?" सिन्धी बोला। "बहुत बार जाता हूँ।"

"देखो, रेस में जो घोड़ा बम्बई में दौड़ता है, वही पूना में दौड़ता है। जो आदमी बम्बई में पैसा गँवाता है, वही पूना में भी गँवाता है।"

सिन्धी पल-भर सोचता रहा। फिर इस नतीजे पर पहुँचकर कि उसे उलझाने की कोशिश की जा रही है, बोला, "हमने तो वड़ी पूना की रेस में कभी पैसा नहीं गँवाया। जो दो-तीन सौ गँवाया है, सब बम्बई में ही गँवाया है। या फिर हमारे उधर कराची में...।" और वह कराची की रेसों के लम्बे-चौड़े विवरण देने लगा। गुजराती ने हारकर सिर खिड़की से बाहर निकाल लिया। मैं भी उधर से ध्यान हटाकर फिर बाहर की हरियाली को देखने लगा।

मनुष्य की एक जाति

पूना। थर्ड क्लास का वेटिंग हाल। इतना रास्ता आने में ही मन बहुत थक गया था। आसपास कोई भी चेहरा परिचित नहीं। अपना आप समुद्र में तैरते तिनके की तरह। गाड़ी के जाने में देर थी। काफ़ी देर इधर-उधर घूमता रहा। फिर निढाल-सा एक बेंच पर बैठ गया। बैठते ही जिन कुछ लोगों पर नज़र पड़ी, लगा कि वे उतने अपरिचित नहीं हैं। चेहरों के अलावा और सबकुछ पहचाना हुआ था। रूखे हाथ-पैर, उलझे बाल, चीथड़े वस्त्र, खोई-खाई आँखें और रोएँ-रोएँ से झलकती शिथिलता। मैंने उन्हें पहले भी बहुत बार देखा था—रेलवे स्टेशनों पर, फुटपाथों पर और उजाड़ रास्तों पर पेड़ों के नीचे। उसी तरह बैठे और सामने देखते हुए। वे तीन व्यक्ति थे—एक पुरुष, दो

स्त्रियाँ। स्त्रियों में एक युवा थी। पुरुष अपने डंडे पर पाँव फैलाए बैठा था। बड़ी स्त्री उकड़ूँ बैठी कुछ चबा रही थी। युवा स्त्री ख़ामोश आँखों से इधर-उधर देख रही थी। मराठा युवतियों की आँखों में जो एक उत्फुल्ल-सौम्य-मदिर भाव रहता है, वह उसकी आँखों में भी था। पर निराशा और शिथिलता ने उस भाव को ढँक लिया था। वह एक बोरे से सिर टिकाए थी। शरीर में कसाव था, पर बैठने के ढीले-ढाले ढंग से लगता था कि शरीर पर दिमाग़ का नियन्त्रण धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। जिस तरह मैं उसकी आँखों में कुछ पढ़ने का प्रयत्न कर रहा था, उसी तरह वह भी मेरी आँखों में कुछ देख पाने का प्रयत्न कर रही थी। हम दोनों के बीच रेलवे का बोर्ड लगा था, जिस पर लिखा था–'मदद चाहिए?' बोर्ड के नीचे सहायक की कुर्सी रखी थी जिस पर कोई नहीं था।

लाइटर, बीड़ी और दार्शनिकता

ज्यों-ज्यों शाम गहरी हो रही थी, वेटिंग हाल में भीड़ बढ़ती जा रही थी। भीड़ में ज़्यादातर गोआ जानेवाले ईसाई यात्री थे। गोआ में उन दिनों सेंट फ्रान्सिस ज़ेवयर्स के मृत शरीर का 'एक्सपोज़ीशन' चल रहा था और देश के विभिन्न भागों से बहुत बड़ी संख्या में यात्री वहाँ जा रहे थे। टिकिटघर की खिड़की खुलने के घंटा-भर पहले से ही लोग वहाँ जमा होने लगे थे। जिस समय मैं वहाँ पहुँचा, वहाँ दो क्यू साथ-साथ बन रहे थे। मैंने एक क्यू में सबसे पीछे खड़े गोआनी सज्जन से पूछा कि मार्मुगाव का टिकिट लेने के लिए मुझे किस क्यू में खड़े होना चाहिए। उन्होंने बहुत शिष्टता के साथ मुस्कराकर कहा कि मुझे उनके पीछे खड़े हो जाना चाहिए।

खिड़की खुलने में देर थी। ऐसे मौक़े पर जैसा कि स्वाभाविक होता है, गोआनी सज्जन पीछे की तरफ़ मुँह करके मुझसे बात करने लगे। उन्होंने मेरा नाम-पता और काम पूछा। मैंने भी बदले में उनका नाम पूछ लिया।

''मेरा नाम है फ़र्नांडिस,'' उन्होंने कहा, "ए.एल. फ़र्नांडिस। एल्बर्ट ल्योनार्ड फ़र्नांडिस।'' उन्होंने बताया कि वे वहीं पूना की किसी फ़र्म में एकाउंट्स सुपरवाइज़र हैं।

जल्दी ही मिस्टर फ़र्नांडिस काफ़ी घनिष्ठता से बात करने लगे। कई बार आदमी अपने परिचितों के साथ उस सहजता से बात नहीं कर पाता जिससे अपरिचितों के साथ करने लगता है। मिस्टर फ़र्नांडिस आवेश के साथ गोआ के भारत में सम्मिलित होने के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते रहे। उनका कहना था कि गोआ भारत का ही एक भाग है और उसे अवश्य भारत में सम्मिलित हो जाना चाहिए। पर उन्हें डर भी था कि ऐसा होने की स्थिति में महाराष्ट्र के निहित स्वार्थ गोआ को आर्थिक रूप से तबाह न कर दें।

"वट से यू?" मिस्टर फ़र्नांडिस ख़ासी अच्छी अंग्रेज़ी बोलते थे, पर 'वट डु यू से' की जगह हर बार 'वट यू से' ही कहते थे। उन्होंने एक एक्का मार्का बीड़ी मुँह में लगाई और ज़ेब से एक बढ़िया लाइटर निकालकर उसे सुलगाते हुए बोले, "आप देख रहे हैं हिन्दुस्तान और गोवा में क्या फ़र्क है? हिन्दुस्तान में मैं अपने ज़ेब-ख़र्च से सिर्फ़ यह बीड़ी खरीद सकता हूँ। गोआ में उतने ही पैसों में मुझे अच्छे सिगरेट मिल सकते हैं। यह लाइटर मैंने गोआ में खरीदा था।"

"पर इतनी-सी बात के लिए आप यह तो नहीं चाहेंगे कि गोआ में पुर्तगाली शासन बना रहे?"

उन्होंने अपना सफ़ेद सोला हैट सिर पर ठीक किया और थोड़ा खाँसकर बोले, "नहीं, यह तो मैं कभी नहीं चाहूँगा। पर एक बात मैं आपको बता दूँ। एक आम गोआनी को भारत में सम्मिलित होने पर हासिल क्या होगा? महँगी क़ीमतें और सस्ते नारे! फिर भी मैं अपना वोट भारत को ही दूँगा।"

वे मुझे गोआ की ज़िन्दगी के बारे में भी कितना कुछ बताते रहे। मुख्य बात यही थी कि गोआ में ज़रूरत की चीज़ें इतनी सस्ती हैं कि किसी गोआनी का गोआ से बाहर रहने का मन नहीं करता। इस पर मैंने पूछ लिया कि वे खुद गोआ छोड़कर पूना में क्यों रहते हैं, तो मिस्टर फ़र्नांडिस का चेहरा कुछ मुर्झा गया और वे काफ़ी घुमा-फिराकर अपनी स्थिति स्पष्ट करने की चेष्टा करने लगे। मुझे लगा कि मैंने यह मामूली-सा सवाल पूछकर उन्हें अन्दर कहीं गहरे में कुरेद दिया है।

खिड़की अभी खुली नहीं थी। दोनों क्यू और लम्बे होते जा रहे थे। साथ के क्यू में खड़े कुछ युवतियाँ-युवक गीतों की पंक्तियाँ गुनगुना रहे थे और एक-दूसरे के कन्धे पकड़कर उछल रहे थे। उनमें से कुछ-एक एक-दूसरे की कमर में हाथ डालकर वहीं राम्बा-साम्बा नाच रहे थे। उन्हें देखते हुए मिस्टर फ़र्नांडिस की आँखों में धुआँ-सा भरता जा रहा था। वे कुछ देर चुपचाप उन लोगों की हरकतों को देखते रहने के बाद बोले, "एक तो आज की दुनिया में समस्याएँ बहुत हैं, और समस्याओं से भी ज़्यादा नारे इस दुनिया में हैं। सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि हम हर रोज़ पहले से ज़्यादा अक़्लमन्द होते जा रहे हैं। जो बच्चा आज पैदा होता है, वह कल पैदा हुए बच्चे से ज़्यादा अक़्लमन्द होता है। आज की दुनिया को कोई चीज़ अगर ले डूबेगी, तो यही है।...वट से यू?"

मैंने कहा कुछ नहीं, सिर्फ़ मुस्कराकर रह गया। "मेरा ख़याल है," वे एक बार इधर-उधर देखकर भेद की बात कहने की तरह मेरी तरफ़ झुककर बोले, "यह बढ़ती अक़्लमन्दी हम मर्दों को तो धीरे-धीरे फ़िलासफ़र बनाए दे रही है, और इन औरतों को कुलटा...वट से यू?"

उसी समय हमारे वाला क्यू टूट गया। टिकिटघर की खिड़की खुल गई थी और

टिकिट-बाबू ने साथ के क्यू को ही सही क्यू मानकर टिकिट देना शुरू कर दिया था। उस खलबली में मैं क्यू के आखिरी सिरे पर जा पहुँचा। मिस्टर फ़र्नांडिस का सफ़ेद सोला हैट उसके बाद दिखाई नहीं दिया।

चलता जीवन

अगले दिन लोण्डा स्टेशन पर गाड़ी बदलकर मैंने टाइम-टेबल देखा। मार्मुगाव तक कुल छयालीस मील का सफ़र था जिसमें गाड़ी को साढ़े आठ घंटे समय लेना था। कासलरॉक स्टेशन पर गाड़ी लंच के समय पहुँचती थी और लगभग दो घंटे ठहरती थी। फिर कालेम स्टेशन पर चाय के समय पहुँचती थी और वहाँ भी लगभग उतना ही समय ठहरती थी। मैंने एक लम्बी साँस लेकर अपने को साढ़े आठ घंटे के सफ़र के लिए तैयार कर लिया। गाड़ी चली, तो एक तटस्थ दर्शक की तरह आस-पास देखने लगा। दो नीले कोटों वाले व्यक्ति मेरे पास ही बैठे थे। एक का सिर पूरा घुटा हुआ था। वे जाने कोंकणी में बात कर रहे थे, या किसी और बोली में। मराठी वह नहीं थी। दक्षिण की भाषाओं की तरह उसमें मूर्धन्य ध्वनियों की प्रधानता थी। पूछने पर पता चला कि वे लोग बम्बई के आस-पास कहीं रहते हैं और जो भाषा वे बोल रहे हैं वह 'उनकी अपनी' भाषा है। ट्रिगर की तरह हिलते कंठ और स्टेनगन की तरह ध्वनित होते शब्द–वह भाषा उनके सिवा किसी और की हो भी नहीं सकती थी!

वे एक्सपोज़ीशन के सिलसिले में गोआ जा रहे थे। यह देखकर कि वे एक-एक कान में सोने की मोटी बाली पहने हैं, मैंने उनसे इसका कारण पूछा, तो उत्तर मिला कि वह उनका अपना रिवाज है।

"पर एक-एक कान में ही क्यों पहनते हो?" मैंने पूछा।

"यही रिवाज है।"

मैं इससे आगे नहीं बढ़ सका।

गाड़ी के कासलरॉक पहुँचने तक मुझे भूख लग आई। गाड़ी के प्लेटफ़ॉर्म पर रुकते ही मैंने बाहर निकलने के लिए दरवाज़ा खोला, तो एक सन्तरी ने बाहर से मुझे रोककर दरवाज़ा बन्द कर दिया। पता चला कि वहाँ गाड़ी दो घंटे इसलिए रुकेगी कि भारतीय कस्टम्ज़ की तरफ़ से सामान की जाँच की जाएगी। यह भी कि कालेम स्टेशन पर फिर से जाँच होगी–पुर्तगाली कस्टम्ज़ की तरफ़ से।

नीले कोटोंवाले व्यक्ति अपने लंच के पैकेट साथ लाए थे। उन्होंने कम-से-कम चार आदमियों का खाना–डोसे, सेंडविच, अंडे, टोस्ट और सॉसेज–निकालकर बीच में रख लिए और बहुत हिसाब के साथ बाँटकर खाने लगे। पानी की उनके पास एक

ही बोतल थी। उसमें से वे 'एक घूँट तू, एक घूँट मैं', के आधार पर पानी पीते रहे। दोनों की आत्मा पर इसका बहुत बोझ था कि वह कहीं दूसरे से ज़्यादा हिस्सा न ले जाए। पूरा का पूरा खाना उन्होंने दस मिनिट में समाप्त कर दिया।

वहाँ सामान की चेकिंग में ज़्यादा दिक़्क़त नहीं हुई। गाड़ी वहाँ से चली, तो दूध-सागर के झरनों की चर्चा होने लगी। गाड़ी झरनों के पास पहुँची, तो नीले कोटोंवाले व्यक्ति एक साथ खिड़की से बाहर झुक गए। प्राकृतिक सौन्दर्य के उपभोग में भी शायद वे बिलकुल बराबर का हिस्सा रखना चाहते थे। पहली बार गाड़ी झरनों के बहुत पास से होकर निकली। काफ़ी ऊँचाई से पानी की चार-पाँच धारें नीचे गिर रही थीं। वहाँ से देखने पर उनमें कुछ विशेषता नहीं लगी। पर ज्यों-ज्यों गाड़ी आगे निकलती आई, त्यों-त्यों दूर के कोणों से देखने पर उनका सौन्दर्य बढ़ता गया। जब झरने नज़र से ओझल हो गए, तो लगने लगा कि सचमुच उनका अपना ही एक सौन्दर्य था।

कालेम पहुँचकर पता चला कि वहाँ सामान की चेकिंग ही नहीं, अपनी डॉक्टरी परीक्षा भी होगी। जैसी डॉक्टरी परीक्षा मैंने वहाँ देखी, वैसी पहले कभी नहीं देखी थी। एक आला होता है जिससे झूठ और सच की परीक्षा हो जाती है। एक और आला होता है जो शरीर के अन्दर छिपे सोने का पता दे देता है। कालेम के डॉक्टर का हाथ ऐसे किसी आले से कम नहीं था। वह हर आदमी की कलाई को अपनी दो उँगलियों से छूकर ही जान लेता था कि उसे कोई रोग है या नहीं।

जो लोग सामान की चेकिंग के लिए आए, उन्हें न तो ठीक से अंग्रेजी बोलनी आती थी, न हिन्दी। वे सिर्फ़ कोंकणी और पोर्तुगीज़ जानते थे। जिस आदमी ने मेरे सामान की चेकिंग की, उसे अंग्रेजी हिन्दी के दो-एक वाक्य ही आते थे। उनमें एक था, 'नया है कि पुराना?' इसका सही उत्तर था, 'पुराना।' मेरे ट्रंक में दो-तीन सौ ख़ाली काग़ज थे। उसने उन्हें देखकर भी वही सवाल पूछा, तो मैं उसे समझाने लगा कि वे कोरे काग़ज हैं जो मैं अपने इस्तेमाल के लिए साथ लाया हूँ। पर उसने मेरी बात नहीं समझी और फिर वही सवाल पूछ लिया, 'नया है कि पुराना?'

'पुराना,' इस बार मैंने एक शब्द में उसे उत्तर दे दिया। उसने हस्ताक्षर कर दिए।

दूसरा वाक्य जो उसे आता था, वह था 'उसमें क्या है?' मेरे विस्तरबन्द को देखकर उसने पूछा, "उसमें क्या है?"

"बिस्तर," मैंने कहा।

"उसमें क्या है?"

"गद्दा, तकिया और चादर।"

"उसमें क्या है?"

मैंने घूरकर उसे देखा। उसने उस पर भी हस्ताक्षर कर दिए।

काले से, जहाँ लोहे की खानें हैं, पन्द्रह-बीस लड़के-लड़कियाँ हमारे डिब्बे में आ गए। वे बाहर से ही चहकते हुए आए थे और अन्दर आकर भी उसी तरह चीख़ते-चहकते रहे। क्रिसमस-सप्ताह चल रहा था और नया साल आने को था। उन्हें उस समय अपने पर किसी तरह का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं था। उन्होंने खिड़कियाँ बन्द कर दीं और बीस-तीस गुब्बारे अन्दर छोड़कर उनसे खेलने लगे। उनमें से बहुतों ने—लड़कियों के अलावा लड़कों ने भी—जिस्म पर काफ़ी सोना लाद रखा था। उन्हें देखकर लगता था जैसे वहाँ की लोहे की खानों से लोहा नहीं सोना निकलता हो।

डिब्बे के अन्दर रंग-बिरंगे गुब्बारे उड़ रहे थे और खिड़की के शीशे के उस तरफ़ से नारियलों के घने-घने झुरमुट निकलते जा रहे थे। जिधर मैं बैठा था, उधर नीचे घाटी थी। घाटी में उगे नारियलों के शिखर उस ऊँचाई तक उठे थे जिस पर गाड़ी चल रही थी। लगता था जैसे गाड़ी ज़मीन पर न चलकर उन शिखरों के ऊपर-ऊपर से गुज़री रही हो। जहाँ घाटी कम गहरी होती, वहाँ गाड़ी तनों के बराबर से गुज़रती। फिर सहसा ऊँची ज़मीन आ जाने से शिखर आकाश में उठ जाते और गाड़ी उनकी जड़ों से भी नीचे चलती नज़र आती। मैं शीशे के साथ आँखें सटाए हरियाली के विस्तार को समुद्र की तरह उफनते देख रहा था। तभी घने नारियलों से घिरी एक उदास नहर नीचे से निकल गई जिसमें एक छोटी-सी नाव, उतनी ही उदास गति से चलकर धीरे-धीरे पुल की तरफ़ आ रही थी। दृश्यपट पर क्षण-भर के लिए वह दृश्य उभरा और विलीन हो गया। गाड़ी पुल से कितना ही आगे निकल आई, पर नाव तब भी पुल से अभी उतनी ही दूर थी।

अन्दर गुब्बारों का खेल ख़ूब ज़ोर पकड़ रहा था, जब साँवर्दे स्टेशन आ गया। उन लड़के-लड़कियों को वहीं उतरना था। गाड़ी के स्टेशन पर रुकते ही दो-तीन युवा स्त्रियाँ डिब्बे के दरवाज़े के पास आ खड़ी हुईं। वे वहाँ की पोर्टर थीं। कुछ ही देर में युवतियों की दो पंक्तियाँ स्टेशन के बाहर जाती दिखाई दीं—एक रंग-बिरंगे गुब्बारे उड़ाती और दूसरी ट्रंकों और बिस्तरों से लदी, धूल उड़ाती।

वास्को से पंजिम तक

मार्मुगाव गोआ का टर्मिनस स्टेशन है। वहाँ से पंजिम जाने के लिए फ़ेरी लेनी पड़ती है। मैंने सोचा था कि रात मार्मुगाव में रहकर सवेरे फ़ेरी से पंजिम चला जाऊँगा। पर मार्मुगाव से दो स्टेशन पहले गाड़ी में एक महाराष्ट्र (के) युवक कारवाड़कर से परिचय हो गया। उसने कहा कि मुझे रात को मार्मुगाव न जाकर वास्को में ठहर जाना चाहिए। वास्को या वास्कोडिगामा मार्मुगाव से पहला स्टेशन है। कारवाड़कर वहीं पर

रहता था। उसने यह भी कहा कि मुझे कुछ दिन गोआ में रहना हो, तो उसके लिए सबसे अच्छी जगह वास्को ही है, पंजिम नहीं।

उसने अनुरोध किया कि मैं कम-से-कम एक रात वास्को में उसका मेहमान बनकर रहूँ। सुबह वह मुझे मार्मुगाव से पंजिम की फ़ेरी में बैठा देगा।

मैं उसके साथ वास्को में उतर गया। कारवाड़कर एक साधारण क्लर्क था। घर में उसके अलावा उसकी माँ और पत्नी ये दो ही व्यक्ति थे। उसका ब्याह हुए दो महीने हुए थे। उसके स्वभाव में एक विशेषता मैंने देखी कि जहाँ एक अपरिचित व्यक्ति के लिए वह हर तरह का कष्ट उठाने को तैयार था, वहाँ अपनी पत्नी से एक मध्यकालीन पति की तरह सब तरह का काम लेना अपना अधिकार समझता था। आरम्भ से गोआ में रहने के कारण उसे सिर्फ़ कोंकणी ही आती थी—अंग्रेजी के वह छोटे-छोटे वाक्य ही बना पाता था। मैंने उससे कहा कि मैं अपने लिए नहाने का पानी कुएँ से निकाल लूँगा, तो वह बोला, "नो। अवर वाइफ़ डज़ इट।" मैंने शेव करके अपना सामान धोना चाहा, तो वह भी उसने मेरे हाथ से ले लिया और कहा, "नो, अवर वाइफ़ डज़ इट।" घर की सीमाओं में किया जानेवाला कोई भी काम, चाहे वह मेहमान के सूटकेस को यहाँ से उठाकर वहाँ रखना ही क्यों न हो, उसकी दृष्टि से उसकी पत्नी के कार्यक्षेत्र में आता था।

कारवाड़कर स्टेशन से मुझे सीधे अपने घर ले आया था, इसलिए मैं रात को वास्को शहर ठीक से नहीं देख पाया था। सुबह कारवाड़कर के साथ मार्मुगाव हार्बर की तरफ़ जाते हुए पहली बार उस शहर की एक झलक देखी। वास्को मार्मुगाव से दो मील इधर है। बन्दरगाह पर आनेवाले बेड़ों और जहाज़ों के यात्री अगर अपने लिए कुछ खरीदना चाहें, तो उन्हें वास्को ही आना पड़ता है। मार्मुगाव अघनाशिनी नदी के मुहाने पर प्राकृतिक रूप से बना बन्दरगाह है। वास्को नदी और समुद्र के संगम के इस ओर पड़ता है। वहाँ के छोटे-से बीच से टकराती लहरें बहुत शालीन लगती हैं। बीच सड़क से आठ-दस फ़ुट नीचे है। सड़क के साथ-साथ बीच की ओर चौड़ी मुँडेर बनी है। रात के समय मुँडेर के पास खड़े होकर देखने पर मार्मुगाव हार्बर में खड़े जहाज़ एक झील में बने छोटे-छोटे घरों-जैसे लगते हैं। वास्को बहुत छोटा-सा शहर है, पर बहुत खुला बसा हुआ है। वहाँ की जनसंख्या आठ-दस हज़ार से ज़्यादा नहीं है, पर उसका फैलाव बहुत है और निर्माण एक अच्छे आधुनिक शहर की तरह हुआ है। जीवन भी वहाँ अपेक्षाकृत शान्त है। पर वहाँ का साधारण-से-साधारण होटल भी उन दिनों बम्बई के अच्छे-से-अच्छे होटल से अधिक महँगा था। यह शायद एक्सपोज़ीशन की वज़ह से था।

हार्बर से करवाड़कर लौट गया और मैं पंजिम जाने वाली फ़ेरी में बैठ गया।

पंजिम मुझे बहुत साधारण शहर लगा। कुछ आधुनिक इमारतें, तड़क-भड़कदार होटल और भीड़—वही कुछ जो एक औसत दर्जे की राजधानी में हो सकता है। रात को मैं वहाँ गुजरात लॉज में ठहरा। एक ही बड़े-से कमरे में सात-आठ पलँग बिछे थे, जिनमें एक मुझे दे दिया। पलँग में कुछ इस तरह के स्प्रिंग लगे थे कि जब भी मैं करवट बदलता, तो वह बुरी तरह चरमरा जाता, जिससे मेरी नींद टूट जाती। नींद टूटने पर हर बार मुझे एक ही व्यक्ति की भारी-सी आवाज़ सुनाई देती जो दो श्रोताओं को गुजरात लॉज में घटित हुए पुराने क़िस्से सुना रहा था। एक बार मेरी नींद टूटी तो वह कह रहा था, "वह जापानी अपने साथ छिपाकर दस-बारह शराब की बोतलें ले आया था। उसे पता नहीं था कि गोआ में शराब सस्ती है। उसने सोचा था कि जापानी शराब यहाँ अच्छे दाम में बेच लेगा। पर जब यहाँ आकर देखा कि शराब पानी के मोल मिलती है, तो बैठकर अपनी शराब खुद ही पीने लगा। हमने उससे कहा कि भले आदमी, इतनी शराब अकेला कैसे पी जाएगा? कम क़ीमत मिलती है, तो कम पर बेच दे। कुछ नुक़सान ही सही। पर वह नहीं माना। दिन-भर न कहीं जाता-आता था, न किसी से मिलता-जुलता था; बस बैठकर अपनी शराब पीता रहता था...।"

यहाँ पर मुझे ऊँघ आ गई। फिर आँख खुली, तो वह कोई और क़िस्सा सुना रहा था, "...कप्तान ने उसे जहाज़ पर ले जाने से इनकार कर दिया। अब हमारी समझ में न आए कि उसका क्या करें। गोआ की ऐश तो उसने ली थी और मुसीबत हम लोगों की हो रही थी। आखिर उसे अस्पताल में ले गए। अस्पताल में वह उसी रात को मर गया।"

"उसके घर-बार का कुछ पता नहीं था?" एक सुनने वाले ने पूछा।

"बोरकर नाम था और बम्बई से आया था। अपना पूरा पता उसने नहीं दिया था। वहाँ पर तो नेक और शरीफ़ बनकर रहता होगा न! यहाँ आया था कि दो चीज़ों के लिए गोआ की मशहूरी है। एक शराब और दूसरे रंडी। अब एक क़िस्सा और सुनिए...।"

यहाँ पर मुझे फिर से ऊँघ आ गई।

सौ साल का ग़ुलाम

सुबह पंजिम से मैं ओल्ड गोआ चला गया। ओल्ड गोआ में कई बड़े-बड़े गिरजाघर हैं जिनमें से एक में (उसका नाम चर्च ऑव बॉम जीज़स है) सेंट फ़्रान्सिस के शरीर का प्रदर्शन किया जा रहा था। वह शरीर चार सौ साल से वहाँ सुरक्षित है। गिरजाघर के बाहर दर्शनार्थियों की दो लम्बी पंक्तियाँ बनी थीं जिनमें से प्रत्येक में उस समय कम-से-कम एक-एक हज़ार व्यक्ति खड़े थे। चिलचिलाती धूप में चार-चार छह-छह

घंटे खड़े रहने के बाद ही एक व्यक्ति उस स्थान तक पहुँच सकता था जहाँ वह शरीर रखा था। मैंने सुना कि सेंट फ्रांसिस के पैर का अँगूठा शीशे के केस में चादर से बाहर नज़र आता है। हर दर्शनार्थी उस स्थान को झुककर चूमता है और आगे बढ़ जाता है। चार सौ साल पुराने शरीर को देखने की उत्सुकता मेरे मन में भी थी, पर पंक्ति में चार-छह घंटे खड़े होने का धीरज नहीं था। इसलिए मैं कुछ देर वहाँ बस आस-पास ही घूमता रहा।

वहाँ का वातावरण उत्तर भारत के हिन्दू-मेलों-जैसा था। उसी तरह वहाँ मूर्तियाँ, मालाएँ और धार्मिक पुस्तकें बिक रही थीं। उन दिनों के लिए गिरजे के पास अस्थायी बाज़ार लग गया था जिसमें प्रायः सभी स्टाल चटाइयों के बने थे। बाज़ार के एक तरफ़ बड़े-बड़े मटकों में चींटों से भरी ताड़ी बिक रही थी। मैंने वहीं एक ढाबे में खाना खाया और घूमता हुआ दूर के गिरजाघरों की तरफ़ निकल गया। वे गिरजाघर एकदम सुनसान थे। कोई एक भी व्यक्ति उस तरफ़ आता दिखाई नहीं दे रहा था। एक गिरजाघर के बाहर बहुत-सी हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बिखरी थीं। शायद उन्हें बेघर करके ही वह गिरजाघर वहाँ खड़ा किया गया था। मूर्तियाँ खानाबदोशों की तरह यहाँ-वहाँ पड़ी आसमान को ताक रही थीं। मैंने दो-एक उलटी मूर्तियों को सीधा कर दिया और वहाँ से आगे निकल गया।

धूप बहुत थी। मैं नारियलों के एक घने झुरमुट की तरफ़ बढ़ गया। झुरमुट में पहुँचकर दूर तक फैले धान के एक खेत के पास से समुद्र की तट-रेखा को देखता रहा। आसपास और भी वैसे ही खेत थे जो चारों ओर से नारियल के पेड़ों से घिरे हरियाली की छोटी-छोटी झीलों-जैसे लग रहे थे। धान लहलहाता तो झीलों में लहरें उठ आतीं। मुझे प्यास लग आई थी। खेतों के बीच से आते एक किसान को मैंने आवाज़ देकर रोक लिया। उसने पहले कोंकणी में और फिर टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में पूछा कि मैं क्या चाहता हूँ।

''यहाँ कहीं पीने का पानी मिल सकता है?'' मैंने उससे पूछा।

''क्यों नहीं मिल सकता?'' वह बोला। ''मेरे पीछे-पीछे चले आओ।''

मैं उसके साथ चल दिया। जिस कोठरी की तरफ़ वह ले जा रहा था, वह दूर नहीं थी। पर रास्ते में दो-तीन छोटे-छोटे नाले पड़ते थे जिन पर नारियल के तने रखकर पुल बना लिए गए थे। वह तो उन्हें बहुत आसानी से पार कर जाता था, पर मेरे लिए उन पर से गुजरना बहुत मुश्किल काम था। मैं बाँहें हिलाकर अपना सन्तुलन ठीक रखता हुआ दो-एक पुल तो पार कर गया, पर आखिरी पुल के बीच में पहुँचकर, जो उस कोठरी के सामने था, मेरा सन्तुलन बिगड़ गया। सामने से एक कुत्ता ज़ोर से भौंकता हुआ मेरी तरफ़ लपका। कुत्ते के लपकने से मेरा बिगड़ा हुआ सन्तुलन अचानक ठीक हो गया और मैं झपटकर दूसरी तरफ़ पहुँच गया।

कोठरी के बाहर एक बाड़ा था जिसमें आठ-दस मुर्ग़ियाँ बाद दोपहर का विश्राम कर रही थीं। बाड़े के पास पहुँचकर किसान ने मुझसे रुकने को कहा और खुद दौड़ता हुआ कोठरी के पीछे की तरफ़ चला गया। तीन-चार मिनट बाद वह हाथ में ताली लिए हुए लौटकर आया और मुझसे साथ अन्दर आने को कहकर दरवाज़ा खोलने लगा।

कोठरी के बाहर का आँगन अच्छी तरह पुता हुआ था। कोठरी अन्दर से भी साफ़-सुथरी थी। बीच में पार्टीशन डालकर तीन छोटे-छोटे कमरे बना लिए गए थे। एक कमरे में पलँग बिछा था जिसका बिछावन काफ़ी उजला था। दूसरे कमरे में खाना बनाने का सामान बहुत क़रीने से रखा था। तीसरे में एक नीची गोल मेज़ और दो-तीन आरामकुर्सियाँ पड़ी थीं। उसी कमरे में एक सुराही में पानी भरा रखा था। किसान मुझे पानी देने से पहले शीशे के गिलास को मल-मलकर धोने लगा। मैंने उससे उसका नाम पूछ लिया।

"मेरा नाम है फ्रेड," उसने नम्रता और संकोच के साथ कहा।

"यहाँ के सब किसान इसी ढंग से रहते हैं जैसे तुम रहते हो?" मैंने पूछा।

उसके चेहरे के भाव से लगा कि मेरा सवाल उसकी समझ में नहीं आया।

मैंने समझाते हुए कहा, "मेरा मतलब है तुम्हारा घर जितना साफ़-सुथरा है, रहन-सहन जितना अच्छा है, तुमने जैसे अपनी मुर्गियाँ पाल रखी हैं और कुत्ता रख रखा है, क्या और किसान भी इसी तरह रहते हैं या कुछ थोड़े से ही किसान ऐसे हैं जो इस स्तर का जीवन बिता पाते हैं? तुम्हारी पैदावार ज़्यादा है, इसलिए तुम इतनी अच्छी तरह रहने का ख़र्च उठा सकते हो या यहाँ के सब किसान इतने ही खुशहाल हैं?"

मेरी लम्बी-चौड़ी बात का उसने बहुत संक्षिप्त-सा उत्तर दिया, "जी, यह कोठरी मेरी नहीं है।"

ख़ाली गिलास वापस रखकर मैं उसके साथ कोठरी से बाहर निकल आया। एक नज़र आस-पास के खेतों पर डालकर मैंने पूछा, "यह खेत भी तुम्हारे नहीं हैं?"

वह कोठरी का दरवाज़ा बन्द कर रहा था। ताला ठीक से लग गया, तो वह मूर्तियोंवाले गिरजाघर की तरफ़ इशारा करके बोला, "वह गिरजा देख रहे हैं न...ये खेत उसी गिरजे के बड़े पादरी के हैं। यह घर भी उन्हीं का है। मैं उनके खेतों में काम करता हूँ। मेरा अपना घर उस तरफ़ है।" और उसने उधर इशारा किया जिधर से वह ताली लाने गया था।

"और मुर्ग़ियाँ?"

"ये भी उन्हीं की हैं। कुत्ता भी उन्हीं का है। उधर उनकी एक छोटी-सी डेरी भी है।"

"पादरी रात को गिरजे से यहाँ आ जाते हैं?"

"जी नहीं," वह बोला। यहाँ तो कभी-कभार आराम करने के लिए आते हैं। उनका बड़ा बँगला गिरजे के साथ है। फिर कुछ रुककर बोला, "पर पादरी आजकल यहाँ नहीं हैं।"

"कहीं बाहर गए हैं?"

"जी हाँ, अपने देश गए हैं–पुर्तगाल।"

"तुम उनके पास कब से हो?"

"हमारा खानदान सौ साल से उनके खानदान की सेवा में है," उसकी आँखों में गर्व की चमक आ गई। "सौ साल से इन खेतों की जुताई-कटाई हमीं लोग करते आ रहे हैं।"

और वह मेरे चेहरे पर अपनी बात का प्रभाव देखता हुआ और भी गर्व के साथ मुस्करा दिया। कोई दूर से उसे आवाज़ दे रहा था। "आप जिस रास्ते से आए हैं, उसी रास्ते से चले जाएँ, कुत्ता आपको कुछ नहीं कहेगा," कहकर वह भागता हुआ उस तरफ़ चला गया। उसके गर्वयुक्त चेहरे की छाप आँखों में लिए मैं फिर से पेड़ों के तने पार करने लगा।

मूर्तियों का व्यापारी

हर आबाद शहर में कोई एकाध सड़क ज़रूर ऐसी होती है जो न जाने किस मनहूस वज़ह से अपने में अलग और सुनसान पड़ी रहती है। इधर-उधर की सड़कों पर ख़ूब चहल-पहल होगी, पर बीच की वह सड़क, अभिशप्त उदास और वीरान ऐसे नज़र आती है जैसे बाक़ी सड़कों ने कोई षड्यन्त्र करके उसका बहिष्कार कर रखा हो। मड़गाँव में एक ऐसी ही सड़क के बीच में रुककर मैं कुछ देर चार-पाँच अधनंगे बच्चों की सिगरेट की ख़ाली डिबियों से अपना ही एक खेल खेलते देखता रहा।

मड़गाँव से मुझे वास्को की गाड़ी पकड़नी थी। गाड़ी शाम को साढ़े पाँच बजे आती थी और उस समय अभी तीन बजे थे। मैंने तब तक तय कर लिया था कि अगले दिन मैं गोआ से चल दूँगा। एक स्थानीय प्रोफ़ेसर ने बतलाया था कि वहाँ पुलिस को यदि पता चला कि मैं भारतीय नागरिक हूँ और वहाँ रहकर हिन्दी में कुछ लिखा करता हँ, तो यह असम्भव नहीं कि मुझे और मेरे काग़ज़ों को तब तक के लिए हिरासत में ले लिया जाए जब तक उन्हें विश्वास न हो जाए कि में गोआ की पुर्तगाली सरकार के विरुद्ध किसी षड्यन्त्र में सम्मिलित नहीं हूँ। परन्तु मेरे चल देने के निश्चय का कारण यह नहीं था। कारण अपनी अस्थिरता ही थी–अस्थिरता और उदासी। मुझे न जाने क्यों वह सारा प्रदेश बहुत ही बेगाना लग रहा था। अगले दिन स्टीमर 'साबरमती' बम्बई से मार्मुगाव पहुँच रहा था। मैं उसमें मंगलूर

जा सकता था। स्टीमर में यात्रा का मोह इतनी जल्दी कार्यक्रम बना लेने का एक और कारण था।

दोपहर को गाड़ी का समय पूछने मड़गाँव स्टेशन पर आ गया था। उस समय वहाँ एक व्यक्ति ने मेरे पास आकर पूछा था कि क्या मैं सवा रुपए में सेंट फ्रांसिस की एक मूर्ति ख़रीदना चाहूँगा। उसके पास सौ डेढ़-सौ छोटी-छोटी प्लास्टिक की मूर्तियाँ थीं जो प्लास्टिक के ही पारदर्शी हंडों में बन्द थीं। मेरे मना कर देने पर उसके चेहरे पर जो निराशा का भाव आया, उससे मेरा मन हुआ कि एक मूर्ति खरीद लूँ, पर यह सोचकर कि हज़ारों ईसाई यात्री वहाँ से आए हुए हैं, उनमें से कितने ही उससे मूर्तियाँ खरीद लेंगे, मैं उस तरफ़ से ध्यान हटाकर स्टेशन से बाहर चला आया।

काफ़ी देर इधर-उधर घूमकर और सिगरेट की डिबियों का खेल देखने के बाद पहले से कहीं ज़्यादा उदास होकर शाम को वापस स्टेशन पर पहुँचा, तो सबसे पहले नज़र उसी व्यक्ति पर पड़ी। मुझे अपनी तरफ़ देखते पाकर वह फिर मेरे पास चला आया और पहले बारह आने में, फिर आठ आने में मुझसे एक मूर्ति खरीद लेने का अनुरोध करने लगा। मुझे इससे अपनी पहले की सहानुभूति के लिए भी खेद हुआ। लगा कि वह उन्हीं फेरीवालों में से एक है जो इसी तरह चीज़ों की क़ीमतें घटा-बढ़ाकर लोगों को ठगा करते हैं। मैंने हलकी त्योरी के साथ सिर हिलाकर फिर मना कर दिया। इस पर उसने खुशामद के साथ कहा, "देखिए प्लीज़, एक मूर्ति की क़ीमत सवा रुपए से कम नहीं है। मैं दूसरी कोई मूर्ति सवा रुपए से कम में नहीं बेचूँगा।"

मेरा मन उदास था और मुझे मूर्ति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैं जाकर एक बेंच पर बैठ गया। वह वहाँ भी मेरे पीछे-पीछे चला आया।

"पर तुम क्यों यह मूर्ति मेरे मत्थे मढ़ने के पीछे पड़े हो?" मैंने काफ़ी झुँझलाहट के साथ कहा। "तुम्हें और कोई नहीं मिल रहा खरीदनेवाला?"

वह पल-भर ख़ामोश रहा। फिर जैसे संकोच का पर्दा हटाता हुआ बोला, "देखिए प्लीज़, बात यह है कि मैं सुबह से अब तक एक भी मूर्ति नहीं बेच पाया। मेरे पास एक भी पैसा नहीं है, और मैं सुबह से भूखा हूँ। आज नए साल का दिन है। मैं ईसाई हूँ। चाहिए तो यह था कि आज मैं नए कपड़े पहनकर घर से निकलता और दिन-भर मौज़ उड़ाता, पर मेरा ट्रंक फ़ादर डिसूज़ा के कमरे में है और फ़ादर कमरे की ताली अपने साथ ले गए हैं। मैं सुबह से न कपड़े बदल सका हूँ और न खाना खा पाया हूँ। सोचा था कि दो-एक मूर्तियाँ बिक जाएँगी, तो कम-से-कम खाने का सिलसिला तो हो ही जाएगा। मगर नए साल का दिन है, मुँह से कुछ कहा भी नहीं जाता। मेरे लिए यह दिन ऐसा मनहूस चढ़ा है कि सुबह से अब तक एक प्याली चाय भी गले से नीचे नहीं उतार सका। रोज़ मैं सौ-पचास मूर्तियाँ बेच लेता हूँ, पर आज पूरे दिन

में एक भी नहीं बिक पाई। इस वक़्त भूख के मारे मेरा क्या बुरा हाल है, मैं बता नहीं सकता।''

वह चौबीस-पच्चीस साल का युवक था। पर बात करते हुए उसकी आँखें लड़कियों की तरह झुकी जा रही थीं। मैं तब भी तय नहीं कर पाया कि यह सच कह रहा है या यह भी उसकी दुकानदारी का ही एक लटका है। ''ये फ़ादर डिसूज़ा कौन है?'' मैंने उससे पूछा।

''हमारे पार्सन हैं,'' वह बोला। ''मैं उन्हीं के साथ बम्बई से यहाँ आया हूँ।''

''ये मूर्तियाँ भी तुम बम्बई से ही लाए हो?''

''नहीं, ये फ़ादर डिसूज़ा रोम से लाए थे।''

''और तुम उन्हीं की तरफ़ से इन्हें बेच रहे हो?''

''जी हाँ। फ़ादर डिसूज़ा मुझे इन पर पाँच प्रतिशत कॅमीशन देते हैं। हमने इन थोड़े-से ही दिनों में बारह-तेरह सौ मूर्तियाँ बेच ली हैं। मगर आज का दिन न जाने क्यों इतना ख़राब चढ़ा है। आज पहली जनवरी है। मैं डर रहा हूँ कि मेरा पूरा साल ही कहीं इस तरह न बीते।''

''पर फ़ादर डिसूज़ा कमरा बन्द करके चले कहाँ गए?'' मैंने पूछा।

''आधी रात को उनका...के बड़े गिरजे में सर्मन था। रात के बारह बजे नया साल शुरू होने के समय वहाँ प्रार्थनाएँ होनी थीं—उनके बाद उन्हें सर्मन देना था। उन्हें इसीलिए विशेष रूप से यहाँ बुलाया गया था। एक साल पहले से ही इन लोगों ने उनसे वचन ले रखा था।''

''फ़ादर डिसूज़ा रोम कब गए थे?''

''चार महीने पहले। अभी महीना-भर पहले लौटकर आए हैं।'' फिर पल-भर रुका रहने के बाद वह बोला, "जाते हुए वे ताली इसलिए साथ लेते गए होंगे कि तीन-चार हज़ार की मूर्तियाँ अब भी कमरे में रखी हैं। मुझे उस समय उन्होंने यहाँ के एक और गिरजे में मूर्तियाँ बेचने के लिए भेज रखा था। मेरे लौटकर आने से पहले ही उन्हें चले जाना पड़ा। अब कल सुबह से पहले वे लौटकर नहीं आएँगे।'' फिर उसी आग्रह के साथ उसने कहा, ''आप एक मूर्ति ले लीजिए। प्लीज़, मैं आपको चार आने में दे रहा हूँ।''

''आओ तुम मेरे साथ चाय पी लो,'' मैंने कहा। ''मूर्ति मुझे नहीं चाहिए।''

हम चाय-स्टाल पर पहुँचे, तो पुर्तगाली सिपाहियों का एक दस्ता मार्च करता हुआ हमारे सामने से निकल गया। वह कुछ देर उन्हें देखता रहा। फिर जबड़े सख़्त किए बोला, ''किस तरह अकड़कर चलते हैं ये। दिन-भर मैं इन्हें यहाँ इधर गश्त लगाते देखता हूँ। करते-धरते ये कुछ नहीं, बस अकड़कर चलना जानते हैं। कोई इनकी आँखों के सामने मर भी जाए, तो ये उसे उठाएँगे नहीं, सड़क पर पड़ा रहने देंगे।

मैंने यह अपनी आँखों से देखा है। यहाँ मड़गाँव की ही एक सड़क पर एक मरा हुआ कुत्ता तीन दिन उसी तरह पड़ा रहा। इनका शायद ख़याल था कि कुत्ते के भाई-बन्द ही उसे उठाकर दफ़नाने के लिए ले जाएँगे।''

ज्यों-ज्यों चाय के घूँट और केक के टुकड़े गले से नीचे उतर रहे थे, उसके चेहरे पर सचमुच कुछ जान आती जा रही थी। अपनी प्याली ख़ाली करके वह आँखें बन्द किए पल-भर न जाने क्या सोचता रहा। फिर बोला, ''मैं जानता हूँ मुझे आज किस पाप की यह सज़ा मिली है। मैं आज नए साल के दिन सुबह गिरजे में प्रार्थना करने नहीं गया। उसी का यह फल है। मैं अपने मैले कपड़ों की वजह से झिझकता रहा। ईश्वर के घर मैले कपड़ों में जाने में आदमी को संकोच क्यों हो? मुझे वहाँ कोई रोकता थोड़े ही? इतना ही था न कि लोग देखकर समझते कि...'' और उस वाक्य को अधूरा छोड़ उसने फिर कहा, ''ख़ैर मुझे पता तो चल ही गया है, कि यह मुझे किस चीज़ की सज़ा मिली है। यही वजह है जो मेरी मूर्तियाँ आज नहीं बिकीं।''

मैं बिना उससे उस सम्बन्ध में कुछ कहे चाय के घूँट भरता रहा। मन में मूर्तियों के उस व्यापारी के विषय में सोच रहा था जो रात को सर्मन देने गया था और ताली अपने साथ लेता गया था क्योंकि...।

आगे की पंक्तियाँ

जिस समय मैं वास्को पहुँचा, रात हो चुकी थी। कारवाड़कर प्रतीक्षा कर रहा था। उसने अगले रोज़ वहाँ से सोलह मील दूर एक मन्दिर देखने चलने का कार्यक्रम बना रखा था। जब मैंने उसे बताया कि मैंने सुबह 'साबरमती' से मंगलूर चले जाने का निश्चय किया है, तो उसे बहुत निराशा हुई। उसने पिकनिक का सामान तैयार कर लिया था और अपनी साली को भी, जो वहाँ पर लेडी डॉक्टर थी, साथ चलने का निमन्त्रण दे दिया था। पर मुझे उसने यह सब नहीं बताया। सुबह नाश्ते के समय मुझे मालूम हुआ कि जो कुछ मैं खा रहा हूँ, वह सारा सामान उस दिन की पिकनिक के लिए तैयार किया गया था। मुझे अफसोस हुआ। पर तब तक कारवाड़कर खुद ही जाकर मार्मुगाव से मेरे लिए 'साबरमती' का टिकिट ले आया था।

रात को मैं कारवाड़कर के साथ फिर घूमने निकल गया था। चाँदनी रात में वास्को की मुख्य सड़क, जिसके बीचोबीच थोड़े-थोड़े फ़ासले पर छोटे-छोटे पेड़ लगे हैं, एक रूमाली नींद में सोयी लग रही थी। हमारे दाईं ओर नए साल के लिए सजाई गई कोठियों में नृत्य-संगीत चल रहा था। बाईं ओर से समुद्र की लहरों की हल्की-हल्की आवाज़ सुनाई दे रही थी। मुझे लगा कि मैंने जितने शहर अब तक देखे हैं, उनमें वास्को सबसे सुन्दर है—दो-चार पंक्तियों की एक छोटी-सी भावपूर्ण कविता की तरह। मैंने कारवाड़कर

से यह बात कही, तो वह थोड़ा मुस्कराया और बोला, ''इस सुन्दर कविता की कुछ पंक्तियाँ इससे आगे मिलेंगी। इसी सड़क पर थोड़ा-सा और आगे।''

मैं दिन-भर घूमकर काफ़ी थक चुका था और तब उससे लौटने को कहने की सोच रहा था। पर शहर के उस भाग को भी देख लेने के लोभ से चुपचाप उसके साथ चलता रहा।

सड़क का वह हिस्सा जहाँ बीच में पेड़ लगे थे, पीछे रह गया। आगे खुली सड़क थी। दाईं ओर कुछ बड़ी-बड़ी कोठियाँ थीं जो एक-दूसरे से काफ़ी हटकर बनी थीं। कुछ रास्ता और चलकर कारवाड़कर बाईं ओर को मुड़ गया और कच्चे रास्ते पर चलने लगा। उस ऊँचे-नीचे रास्ते पर चलते हुए अँधेरे में एक जगह मैं ठोकर खा गया।

''यह तुम मुझे कहाँ लिये चल रहे हो?'' मैंने ठोकर खाए पैर को दूसरे पैर से दबाते हुए कहा।

''जो जगह तुम्हें दिखाना चाहता हूँ वह इसी तरफ़ है,'' कारवाड़कर बोला। ''अब हमें बस सौ-पचास ग़ज़ ही और जाना है।''

रास्ता कभी दाएँ और कभी बाएँ को मुड़ता हुआ कुछ झोंपड़ियों के सामने आ निकला। प्रायः सभी झोंपड़ियाँ चटाई की बनी थीं। बीस साल पुरानी चटाई की दीवारों का जो मैला-फटा और गला-सड़ा रूप हो सकता है, वह उन झोंपड़ियों में नज़र आ रहा था। एक झोंपड़ी के आगे दो मोमबत्तियाँ जल रही थीं। उस ओर संकेत करके कारवाड़कर ने कहा, ''वह एक ईसाई का घर है जो इस तरह आज अपना नया साल मना रहा है।''

''यहाँ यही एक ईसाई का घर है?'' मैंने पूछा।

''नहीं,'' वह बोला। ''यह मिली-जुली बस्ती है। ज़्यादातर घर यहाँ धोबियों के हैं जिनमें आधे से ज़्यादा ईसाई हैं। पर यह आदमी शायद औरों से ज़्यादा मालदार है। देखना, ज़रा बचकर आना...,'' उसने सहसा बाँह से पकड़कर मुझे होशियार कर दिया। मैंने वक़्त से सँभलकर झोंपड़ियों के आगे से बहते गन्दे पानी के नाले को पार कर लिया।

एक झोंपड़ी के बाहर पहुँचकर कारवाड़कर ने किसी को आवाज़ दी। एक आदमी हाथ में दीया लिये अन्दर से निकल आया। कारवाड़कर ने उससे कोंकणी में कुछ बात की। फिर हम लोग वहाँ से वापस चल पड़े। चलते हुए कारवाड़कर बतलाने लगा कि उस आदमी से उसने पूछा था कि वह ईसाई होकर भी आज नया साल क्यों नहीं मना रहा। उस आदमी ने उत्तर दिया कि उसने आज दिन-भर सोकर नया साल मना लिया है। ''यह है यहाँ की वास्तविक कविता। कैसी लगी तुम्हें?'' उसने कहा और मुझे चुप देखकर मुस्करा दिया।

वहाँ से निकलकर हम फिर पक्की सड़क पर आ गए। कविता की पहली पंक्तियाँ फिर सामने उभरने लगीं।

बदलते रंगों में

सुबह कारवाड़कर मुझे 'साबरमती' में चढ़ा गया। दो बजे के लगभग स्टीमर का लंगर उठा और स्टीमर खुले समुद्र की तरफ़ बढ़ने लगा। मैं उस समय एक तरफ़ तख्ते पर बैठा मुँडेर पर बाँहें टिकाए पानी में बनती लहरों की जालियों को देख रहा था। पानी की सतह पर एक कार्ड तैर रहा था जिससे एक केंकड़ा चिपका था। लहरें कार्ड को स्टीमर की तरफ़ धकेल रही थीं, मगर केंकड़ा निश्चिन्त भाव से बैठा शायद अपनी नाव के स्टीमर से टकराने की राह देख रहा था। जब कार्ड स्टीमर के बहुत पास आ गया, तो स्टीमर के नीचे कटते पानी ने उसे फिर परे धकेल दिया। केंकड़े ने अपनी दो टाँगें ज़रा-सी उठाकर फिर से कार्ड पर जमा लीं और उसी निश्चिन्त मुद्रा में बैठा गति का आनन्द लेता रहा।

जब तक स्टीमर हार्बर में था, तब तक समुद्र का पानी एक हरी आभा लिए था। पर स्टीमर खुले समुद्र में पहुँचने लगा, तो पानी का रंग नीला नज़र आने लगा। पीछे हार्बर में जापानी जहाज़ 'चुओ मारो' की चिमनियाँ नज़र आ रही थीं। हमारे एक तरफ़ खुला अरब सागर था और दूसरी तरफ़ भारत का पश्चिमी तट। तट से थोड़ा इधर पानी में दो छोटे-छोटे द्वीप दिखाई दे रहे थे जो दूर से बहुत-कुछ जापानी घरों-जैसे ही लगते थे। इतनी दूर से देखते हुए पश्चिमी तट की रेखा एक बड़े से नक़्शे की रेखा लग रही थी। बीच के दोनों द्वीपों से सफ़ेद समुद्र-कपोत उड़कर स्टीमर की तरफ़ आ रहे थे। उनमें से कुछ तो रास्ते में ही पानी की सतह पर उतर जाते थे और नन्हीं-नन्हीं काग़ज़ की नावों की तरह वहाँ तैरने लगते थे। दूसरी तरफ़ खुले पानी में सहसा एक तरह की हरियाली घुल गई। मैं उस रंग को फैलते और धीरे-धीरे विलीन होते देखता रहा जैसे कि समुद्र के मन में सहसा एक विचार उठा हो जो अब धीरे-धीरे उसके अवचेतन में डूबता जा रहा हो। मेरे साथ उसी तख्ते पर बैठा एक नवयुवक भी उस हरियाली को घुलते देख रहा था। उसने मेरी तरफ़ मुड़कर कहा—"देखिए, ज़िन्दगी कितना बड़ा चमत्कार है!"

मैं कुछ न कहकर उसकी तरफ़ देखने लगा।

"आप जानते हैं, यह हरियाली क्या है?" वह बोला। "ये प्लैंटोंज़ है—तैरते हुए जीव। इनमें पौधे और मांसयुक्त प्राणी, दोनों तरह के जीवाणु शामिल हैं।"

वह नवयुवक प्राणि-विज्ञान का विद्यार्थी था, और प्राणि-विज्ञान की दृष्टि से ही समुद्र को देख रहा था। विद्यार्थियों की एक पार्टी किसी शोध-प्रोजेक्ट के सिलसिले में गोआ आई थी। वह उस पार्टी का एक सदस्य था। पानी की तरफ़ संकेत करके वह फिर बोला, "आप वह रस्सी देख रहे हैं?

मुझे पहले कोई रस्सी नज़र नहीं आई। पर कुछ देर ध्यान से देखने पर पानी की सतह के नीचे एक लहराती हुई काली लकीर दिखाई दे गई।

"वह रस्सी ही है न?" उसने पूछा।

"हाँ, कोई पुरानी गली हुई रस्सी है," मैंने कहा।

वह मुस्कराया। "नहीं, वह रस्सी नहीं है। वह भी एक जीव-समूह है।"

"जीव-समूह?"

"हाँ, जीव-समूह," वह बोला। "इन्हें एसीडियन जर्म-परिवार कहते हैं। ये एक तरह की मछलियाँ हैं जो आपस में जुड़ी रहती हैं। ये रबड़ की तरह फैल सकती हैं, और काटने से ही अलग होती हैं। बाद में ये फिर उसी तरह जुड़ने और बड़ी होने लगती हैं।"

मैं गौर से रस्सी को देखने लगा। प्राणि-विज्ञान का विद्यार्थी बोला, "यह समुद्र एक बहुत बड़ा जादूगर है। इसमें न जाने कितनी तरह के जादू छिपे हैं। रात को चाँद निकलने पर मैं आपको सोने-चाँदी और हीरे-मोतियों की मछलियाँ दिखाऊँगा।"

"सचमुच सोने-चाँदी की?"

वह हँसा और बोला, "असली सोने-चाँदी की नहीं—केवल फ़ासफ़ोरस से चमकनेवाली मछलियाँ।"

और पानी के जीवों के सम्बन्ध में और भी कितना कुछ वह मुझे बतलाता रहा। पर मेरा ध्यान थोड़ी देर में उसकी बातों से हटकर डेक की तरफ़ चला गया, क्योंकि वहाँ एक नवयुवक और एक नवयुवती के बीच हारमोनिका बजाने की प्रतियोगिता छिड़ गई थी।

'साबरमती' का वह थर्ड क्लास का डेक किसी बड़े-से तबेले से कम नहीं था। सारे डेक पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिस्तर-ही-बिस्तर बिछे थे जो एक एक-दूसरे से सटे हुए थे। कहीं दस व्यक्तियों के परिवार को केवल चार बिस्तर बिछाने की जगह मिली थी और वे उन चार बिस्तरों में ही घिचपिच होकर सोने जा रहे थे। जहाँ मैंने अपना बिस्तर बिछा रखा था, वहाँ असुविधा और ज़्यादा थी क्योंकि स्टीमर का माल उसी हिस्से से चढ़ाया और उतारा जाता था। मेरे बिस्तर के एक तरफ़ एक लम्बे-तगड़े पादरी साहब का बिस्तर था और दूसरी तरफ़ पाँच नमाज़ पढ़नेवाले एक मुसलमान सौदागर का। इस तरह मुझे दो धर्मों के बीच सैंडविच होकर रात बितानी थी। उस समय ज़्यादातर लोग अपने-अपने बिस्तरों पर ही बैठे थे। मेरी तरह कुछ थोड़े-से ही लोग थे जो एक तरफ़ तख्ते पर बैठे दोनों दुनियाओं का मज़ा ले रहे थे।

हारमोनिका बजाने की प्रतियोगिता थोड़ी देर पहले शुरू हुई थी। नवयुवक एक तरफ़ के बिस्तरों का प्रतिनिधित्व कर रहा था, नवयुवती दूसरी तरफ़ के बिस्तरों का। पहले नवयुवती ने हारमोनिका पर एक फ़िल्मी धुन बजाई थी। उसके समाप्त होते-होते इधर से नवयुवक अपने हारमोनिका पर वही धुन बजाने लगा। उसके बजा चुकने पर इधर से उसे ज़ोर से दाद की गई। इस पर नवयुवती दूसरी धुन बजाने लगी। इस बार उसे उधर से जो दाद मिली, वह और भी ज़ोरदार थी। इससे यह

प्रतियोगिता छिड़ गई जो हारमोनिका की कम और दाद देने की प्रतियोगिता अधिक थी। जहाज़ के दूसरे हिस्सों से भी लोग आकर वहाँ जमा होने लगे थे। नवयुवक का पक्ष धीरे-धीरे बलवान् होता जा रहा था। अन्त में एक धुन बजाने पर उसे बहुत ही ज़ोर-शोर से दाद दी गई, तो उसने खड़े होकर नवयुवती की तरफ़ देखते हुए अपने हैट को छूकर सलाम किया। इस पर उसे और भी ज़ोर से दाद दी गई। नवयुवती ने उसके बाद और धुन नहीं बजाई।

स्टीमर कुछ देर के लिए कारवाड़ रुककर आगे बढ़ा, तो साँझ हो चुकी थी। पानी का रंग सुरमई हो गया था। दूर एक लाइट-हाउस की बत्ती दो बार जल्दी-जल्दी जलती फिर बुझ जाती। फिर दो बार जलती, फिर बुझ जाती। अँधेरा घिर रहा था। लाइट-हाउस से पीछे का आकाश रुपहला काला नज़र आने लगा था। आकाश के उस हिस्से के आगे लाइट-हाउस की बत्ती का जलना और बुझ जाना ऐसे लग रहा था जैसे कौंधती बिजली को एक मीनार में बन्द कर दिया गया हो और वह उस क़ैद से छूटने के लिए छटपटा रही हो—उसी तरह जैसे मलमल के आँचल में पकड़े जुगनू छटपटाते हैं। जिस द्वीप में लाइट-हाउस बना था, वह और उसके आस-पास के द्वीप स्याह पड़कर ऐसे लग रहे थे जैसे बाढ़ में डूबे बड़े-बड़े दुर्ग, या पानी के अन्दर से उठे जलचरों के देश।

पूर्वी आकाश में रात हो गई थी और तारे झिलमिलाने लगे थे, पर पश्चिम की ओर अरब सागर के क्षितिज में अभी साँझ शेष थी। परन्तु साँझ के वे बादल जो कुछ देर पहले सुर्ख और ताँबई थे, और जिनके कारण सूर्यास्त सुन्दर लग रहा था, अब स्याही में घुलते जा रहे थे। समय साँझ के सौन्दर्य से आगे बढ़ आया था—रात के नए सौन्दर्य को जन्म देने के लिए।

स्टीमर बहुत डोल रहा था। डेक पर एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए कई-कई तरह की नृत्य-मुद्राएँ बनाते हुए चलना पड़ता था। बहुत-से लोग गोआ से अपने साथ छिपाकर शराब की बोतलें ले आए थे और उन्हें स्टीमर पर ही पी जाने की कोशिश में थे क्योंकि आगे भारतीय कस्टम्ज़ से फिर उन्हें छिपाने की समस्या थी। दो आदमी जो पी-पीकर धुत्त हो चुके थे, एक-दूसरे से और पीने का अनुरोध कर रहे थे। दोनों के दिमाग़ में यह बात समाई थी कि मुझे तो शराब चढ़ गई है, पर दूसरे को नहीं चढ़ी—इसलिए दूसरे को अभी और पीनी चाहिए। दोनों दलीलें दे-देकर एक-दूसरे को यह समझाने की चेष्टा कर रहे थे। एक को अपने कान जलते महसूस हो रहे थे, दूसरे को अपनी आँखें सुर्ख़ लग रही थीं। अन्त में दोनों ही अपने तर्क में सफल हुए क्योंकि दोनों ने और शराब ढाल ली। पास ही कुछ स्त्री-पुरुषों ने पीकर ताल देते हुए एक कोंकणी गीत गाना शुरू कर दिया था। ऐसे ही तरह-तरह के गीत स्टीमर के अलग-अलग हिस्सों में गाए जा रहे थे। मैंने कोशिश की कि कुछ देर सो रहूँ, पर एक तो आवाज़ें और दूसरे स्टीमर के डोलने का एहसास—मुझे ज़रा

नींद नहीं आई। कुछ देर लेटे रहने के बाद उठकर मैं फिर उसी तख़्ते पर जा बैठा। समुद्र में ज्वार आ रहा था। बड़ी-बड़ी लहरें किसी के उसाँस भरते वक्ष की तरह उठ-गिर रही थीं। जहाज़ के डोलने के साथ समुद्र की सतह के बहुत पास पहुँच जाना, फिर ऊपर उठना और फिर नीचे जाना, बहुत अच्छा लग रहा था। बटकल में सामान उतारने के लिए जहाज़ तट से पाँच-छह मील इधर रुका और कुछ पालवाले बेड़े सामान लेने के लिए वहीं आ गए। उनमें से एक का सन्तुलन ठीक नहीं था। हर ऊँची उठती लहर के साथ ऊपर उठकर जब वह नीचे आता, तो लगता कि बस अभी उलट जाएगा। सामान भरा जा चुका, तो वह उसी तरह एक तरफ़ को लचकता हुआ किनारे की तरफ़ बढ़ने लगा। मुझे हर क्षण लग रहा था कि वह अब उलटा कि अब उलटा। पर मल्लाहों को इसकी चिन्ता नहीं थी। मैं तो उनके ख़तरे से ख़ासी उत्तेजना महसूस कर रहा था और वे थे कि आराम से चप्पू चलाए जा रहे थे। जब बेड़ा जहाज़ के पीछे से घूमकर दूसरी तरफ़ पहुँच गया, तो मैं भी उसे देखने के लिए उधर चला गया। पर हुआ कुछ भी नहीं—बेड़ा लहरों पर उठता-गिरता और उसी तरह एक तरफ़ को झुककर पानी को चूमता हुआ किनारे की तरफ़ बढ़ता चला गया।

प्राणि-विज्ञान का विद्यार्थी शाम से ही सोने-चाँदी की मछलियाँ मुझे दिखाने के लिए परेशान था। स्टीमर के अलग-अलग हिस्सों में जाकर और अलग-अलग कोण से झाँककर वह कहीं पर उनकी झलक पा लेने का प्रयत्न कर रहा था। पर अन्त तक उसे सफलता नहीं मिली थी। लेकिन स्टीमर बटकल से चला, तो मेरे सामने सहसा चमकीले जीवों से भरी एक नदी-सी चली आई। चाँद स्टीमर के इस तरफ़ आ गया था और जहाँ उसकी किरणें सीधी पड़ रही थीं, वहाँ असंख्य सुनहरी मछलियाँ काँपती दिखाई दे रही थीं। पर फ़ासफ़ोरस से चमकनेवाली मछलियाँ वे नहीं थीं—लहरों पर चाँदनी के स्पर्श से बनती मछलियाँ थीं। आगे जहाँ स्टीमर की नोंक लहरों को काट रही थी, वहाँ फेन की एक नदी बन रही थी जो हलके आवर्तों में बदलकर पानी के मरुस्थल में विलीन होती जा रही थी।

रात के दो बज चुके थे। मैं उसी तरह तख्ते पर बैठा था। ज़्यादातर लोग सो चुके थे। कुछ लड़के सोनेवालों के पास जा-जाकर ऊधम मचाते हुए नाविकों के गीत गा रहे थे।

मैं भी उठा और जाकर बिस्तर पर लेट गया। लड़कों के शोर के बावजूद वातावरण में एक निस्तब्धता प्रतीत हो रही थी। स्टीमर के इंजन का शोर भी जैसे शोर नहीं था। समुद्र का गर्जन भी उस निस्तब्धता का ही एक भाग था। सब-कुछ ख़ामोश था। स्वयं रात भी जैसे सो रही थी पर मेरी आँखों में नींद नहीं थी। मैं खुली आँखों से सिर पर झूलते आकाश को देख रहा था और सोच रहा था कि ऐसे में अपलक ऊपर को देखते जाना भी क्या एक तरह की नींद नहीं है?

प्रतियोगिता छिड़ गई जो हारमोनिका की कम और दाद देने की प्रतियोगिता अधिक थी। जहाज़ के दूसरे हिस्सों से भी लोग आकर वहाँ जमा होने लगे थे। नवयुवक का पक्ष धीरे-धीरे बलवान् होता जा रहा था। अन्त में एक धुन बजाने पर उसे बहुत ही ज़ोर-शोर से दाद दी गई, तो उसने खड़े होकर नवयुवती की तरफ़ देखते हुए अपने हैट को छूकर सलाम किया। इस पर उसे और भी ज़ोर से दाद दी गई। नवयुवती ने उसके बाद और धुन नहीं बजाई।

स्टीमर कुछ देर के लिए कारवाड़ रुककर आगे बढ़ा, तो साँझ हो चुकी थी। पानी का रंग सुरमई हो गया था। दूर एक लाइट-हाउस की बत्ती दो बार जल्दी-जल्दी जलती फिर बुझ जाती। फिर दो बार जलती, फिर बुझ जाती। अँधेरा घिर रहा था। लाइट-हाउस से पीछे का आकाश रुपहला काला नज़र आने लगा था। आकाश के उस हिस्से के आगे लाइट-हाउस की बत्ती का जलना और बुझ जाना ऐसे लग रहा था जैसे कौंधती बिजली को एक मीनार में बन्द कर दिया गया हो और वह उस क़ैद से छूटने के लिए छटपटा रही हो—उसी तरह जैसे मलमल के आँचल में पकड़े जुगनू छटपटाते हैं। जिस द्वीप में लाइट-हाउस बना था, वह और उसके आस-पास के द्वीप स्याह पड़कर ऐसे लग रहे थे जैसे बाढ़ में डूबे बड़े-बड़े दुर्ग, या पानी के अन्दर से उठे जलचरों के देश।

पूर्वी आकाश में रात हो गई थी और तारे झिलमिलाने लगे थे, पर पश्चिम की ओर अरब सागर के क्षितिज में अभी साँझ शेष थी। परन्तु साँझ के वे बादल जो कुछ देर पहले सुर्ख और ताँबई थे, और जिनके कारण सूर्यास्त सुन्दर लग रहा था, अब स्याही में घुलते जा रहे थे। समय साँझ के सौन्दर्य से आगे बढ़ आया था—रात के नए सौन्दर्य को जन्म देने के लिए।

स्टीमर बहुत डोल रहा था। डेक पर एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए कई-कई तरह की नृत्य-मुद्राएँ बनाते हुए चलना पड़ता था। बहुत-से लोग गोआ से अपने साथ छिपाकर शराब की बोतलें ले आए थे और उन्हें स्टीमर पर ही पी जाने की कोशिश में थे क्योंकि आगे भारतीय कस्टम्ज़ से फिर उन्हें छिपाने की समस्या थी। दो आदमी जो पी-पीकर धुत्त हो चुके थे, एक-दूसरे से और पीने का अनुरोध कर रहे थे। दोनों के दिमाग़ में यह बात समाई थी कि मुझे तो शराब चढ़ गई है, पर दूसरे को नहीं चढ़ी—इसलिए दूसरे को अभी और पीनी चाहिए। दोनों दलीलें दे-देकर एक-दूसरे को यह समझाने की चेष्टा कर रहे थे। एक को अपने कान जलते महसूस हो रहे थे, दूसरे को अपनी आँखें सुर्ख़ लग रही थीं। अन्त में दोनों ही अपने तर्क में सफल हुए क्योंकि दोनों ने और शराब ढाल ली। पास ही कुछ स्त्री-पुरुषों ने पीकर ताल देते हुए एक कोंकणी गीत गाना शुरू कर दिया था। ऐसे ही तरह-तरह के गीत स्टीमर के अलग-अलग हिस्सों में गाए जा रहे थे। मैंने कोशिश की कि कुछ देर सो रहूँ, पर एक तो आवाज़ें और दूसरे स्टीमर के डोलने का एहसास—मुझे ज़रा

नींद नहीं आई। कुछ देर लेटे रहने के बाद उठकर मैं फिर उसी तख़्ते पर जा बैठा। समुद्र में ज्वार आ रहा था। बड़ी-बड़ी लहरें किसी के उसाँस भरते वक्ष की तरह उठ-गिर रही थीं। जहाज़ के डोलने के साथ समुद्र की सतह के बहुत पास पहुँच जाना, फिर ऊपर उठना और फिर नीचे जाना, बहुत अच्छा लग रहा था। बटकल में सामान उतारने के लिए जहाज़ तट से पाँच-छह मील इधर रुका और कुछ पालवाले बेड़े सामान लेने के लिए वहीं आ गए। उनमें से एक का सन्तुलन ठीक नहीं था। हर ऊँची उठती लहर के साथ ऊपर उठकर जब वह नीचे आता, तो लगता कि बस अभी उलट जाएगा। सामान भरा जा चुका, तो वह उसी तरह एक तरफ़ को लचकता हुआ किनारे की तरफ़ बढ़ने लगा। मुझे हर क्षण लग रहा था कि वह अब उलटा कि अब उलटा। पर मल्लाहों को इसकी चिन्ता नहीं थी। मैं तो उनके ख़तरे से ख़ासी उत्तेजना महसूस कर रहा था और वे थे कि आराम से चप्पू चलाए जा रहे थे। जब बेड़ा जहाज़ के पीछे से घूमकर दूसरी तरफ़ पहुँच गया, तो मैं भी उसे देखने के लिए उधर चला गया। पर हुआ कुछ भी नहीं—बेड़ा लहरों पर उठता-गिरता और उसी तरह एक तरफ़ को झुककर पानी को चूमता हुआ किनारे की तरफ़ बढ़ता चला गया।

प्राणि-विज्ञान का विद्यार्थी शाम से ही सोने-चाँदी की मछलियाँ मुझे दिखाने के लिए परेशान था। स्टीमर के अलग-अलग हिस्सों में जाकर और अलग-अलग कोण से झाँककर वह कहीं पर उनकी झलक पा लेने का प्रयत्न कर रहा था। पर अन्त तक उसे सफलता नहीं मिली थी। लेकिन स्टीमर बटकल से चला, तो मेरे सामने सहसा चमकीले जीवों से भरी एक नदी-सी चली आई। चाँद स्टीमर के इस तरफ़ आ गया था और जहाँ उसकी किरणें सीधी पड़ रही थीं, वहाँ असंख्य सुनहरी मछलियाँ काँपती दिखाई दे रही थीं। पर फ़ासफ़ोरस से चमकनेवाली मछलियाँ वे नहीं थीं—लहरों पर चाँदनी के स्पर्श से बनती मछलियाँ थीं। आगे जहाँ स्टीमर की नोंक लहरों को काट रही थी, वहाँ फेन की एक नदी बन रही थी जो हलके आवर्तों में बदलकर पानी के मरुस्थल में विलीन होती जा रही थी।

रात के दो बज चुके थे। मैं उसी तरह तख़्ते पर बैठा था। ज़्यादातर लोग सो चुके थे। कुछ लड़के सोनेवालों के पास जा-जाकर ऊधम मचाते हुए नाविकों के गीत गा रहे थे।

मैं भी उठा और जाकर बिस्तर पर लेट गया। लड़कों के शोर के बावजूद वातावरण में एक निस्तब्धता प्रतीत हो रही थी। स्टीमर के इंजन का शोर भी जैसे शोर नहीं था। समुद्र का गर्जन भी उस निस्तब्धता का ही एक भाग था। सब-कुछ ख़ामोश था। स्वयं रात भी जैसे सो रही थी पर मेरी आँखों में नींद नहीं थी। मैं खुली आँखों से सिर पर झूलते आकाश को देख रहा था और सोच रहा था कि ऐसे में अपलक ऊपर को देखते जाना भी क्या एक तरह की नींद नहीं है?

हुसैनी

हुसैनी एक ताश कम्पनी का एजेंट था जिससे मेरा परिचय स्टीमर पर हुआ। स्टीमर की कैंटीन में मैं शाम को खाना खाने गया था। कैंटीन खचाखच भरी थी। जिस मेज़ पर मैं खाना खा रहा था, उस पर तीन व्यक्ति और थे। उनमें से जो व्यक्ति मेरे सामने बैठा था, वह इस सफ़ाई से चावलों के गोले बना-बनाकर फाँक रहा था कि उसके हस्त-लाघव पर आश्चर्य होता था। उसकी उँगलियाँ केले के पत्ते पर इस तरह चल रही थीं, जैसे उसका वास्तविक उद्देश्य पत्ते को चमका देना हो। शेष दोनों व्यक्ति आमने-सामने बैठे खाना खाने के साथ आपस में बात कर रहे थे—अगर एक के बोलने और दूसरे के सुनने को बात करना कहा जा सकता है। बोलनेवाला गोरे रंग और छरहरे शरीर का नवयुवक था जिसने पतली-पतली मूँछें शायद इसलिए पाल रखी थीं कि उसके चेहरे पर कुछ तो पुरुषत्व दिखाई दे। सुननेवाला छोटे क़द और साँवले रंग का व्यक्ति था जिसके चेहरे की हड्डियाँ बाहर को निकल रही थीं।

नवयुवक अपनी पतली उँगलियों से चावलों के गिने हुए दाने उठाकर मुँह में डालता हुआ सन्तति-निरोध पर भाषण दे रहा था। दूसरा व्यक्ति बीच में कुछ कहने के लिए उसकी तरफ़ देखता, पर फिर चुप रहकर उसे अपनी बात जारी रखने देता। नवयुवक काफ़ी उत्तेजित होकर कह रहा था कि एक आम हिन्दुस्तानी को बच्चे पैदा करने का कोई अधिकार नहीं है—उसका जीवन स्तर इतना हीन है कि आबादी बढ़ाने की जगह उसे दूसरी तरह के उत्पादनों में अपनी शक्ति लगानी चाहिए।

वह बीच में पानी पीने के लिए रुका, तो दूसरा व्यक्ति अपनी छोटी-छोटी आँखें उठाकर ध्यान से उसे देखता हुआ अपने बढ़े हुए दाँतों को उघाड़कर मुस्कराया और बोला, ''तुम बहुत समझदारी की बात कह रहे हो बरखुदार! तुम्हारी सूझ-बूझ देखते हुए मुझे तुमसे हसद हो रहा है।'' कहते हुए उसकी आँखों में ख़ास तरह की चमक आ गई। ''तुम्हारा बाप बहुत खुशक़िस्मत आदमी है जो तुम्हारे-जैसा होनहार, अक्लमन्द और ख़ूबसूरत बेटा उसे मिला है। शुक्र है खुदा का कि वह तुम्हारे बताए असूल पर नहीं चला। अगर वह भी इस असूल पर चला होता, तो कहाँ यह सूरत होती, कहाँ यह दिमाग़ होता और कहाँ ये अक़्ल की बातें होतीं!'' अपनी बात पूरी करके वह एक बार खुलकर हँसा। मैं भी साथ हँस दिया। इस पर उसने मेरी तरफ़ देखकर सिर हिलाया और कहा, ''क्यों साहब, क्या ख़याल है?''

यह हुसैनी से मेरे परिचय की शुरुआत थी।

कुछ देर बाद मैं डेक के तख़्ते पर बैठा समुद्र की तरफ़ देख रहा था, तो किसी ने पीछे से आकर मेरे कन्धे पर हाथ रखा। मैंने चौककर उधर देखा, तो हुसैनी मुस्कराता हुआ बोला, ''क्यों साहब, अँधेरे में भी आइडिया चलता है क्या?''

मैं तख्ते पर थोड़ा एक तरफ़ को सरक गया। वह पास बैठता हुआ बोला, ''अभी थोड़ी देर में चाँद निकलेगा, तब तो आइडिया अपने-आप चलेगा। मगर यार, अँधेरे में भी आइडिया चलाते जाना काफ़ी मुश्किल का काम है।'' मैं एक लेखक हूँ, यह मैं पहले उसे बता चुका था।

''उसे कहाँ छोड़ आए?'' मैंने पूछा।

"वह तो वहीं ट्रम्प हो गया था। उसके बाद नहीं मिला।"

और वह मुझसे बहुत घनिष्ठ ढंग से बात करने लगा। वह उन व्यक्तियों में से था जिनको दूसरों के साथ व्यवहार में किसी तरह का संकोच नहीं होता और जो दूसरों के मन में भी अपने प्रति किसी तरह का संकोच नहीं रहने देते। वह बेतकल्लुफ़ी से अपना हाथ मेरे कन्धे पर चलाता हुआ मुझे बताने लगा कि जहाज़ के किस-किस हिस्से में स्त्रियों और पुरुषों के बीच क्या-क्या तमाशा चल रहा है। अचानक अपनी बात रोककर उसने मेरे कन्धे को ज़ोर से झिंझोड़ दिया और ऊपर टूरिस्ट क्लास के रेलिंग की तरफ़ इशारा किया। वहाँ से कुछ युवक-युवतियाँ नीचे डेक की तरफ़ झाँक रहे थे और साथ-साथ लगे बिस्तरों पर रिमार्क कसते हुए हँस रहे थे। एक युवक अपना कैमरा आँख से लगाकर तसवीर का फ्रेम सेट कर रहा था।

''देखो ये साले कैसे एक्का-बादशाह-गुलाम की बाज़ी खेल रहे हैं।'' हुसैनी कुछ पल उनकी तरफ़ देखते रहने के बाद दाँत उघाड़कर बोला।

''एक्का-बादशाह-गुलाम की बाज़ी?'' बात मेरी समझ में नहीं आई। उसकी भाषा के ज़्यादातर मुहावरे ताश से सम्बन्ध रखते थे जो उसकी अपनी ही ईजाद थे।

''फ़्लैश खेलते हो?'' उसने पूछा।

मैंने सिर हिलाकर हामी भर दी।

''तो तुम समझ नहीं पाए कि एक्का-बादशाह-गुलाम की बाज़ी का क्या मतलब है? तीन बड़ी-बड़ी तसवीरें, पर कुल मिलाकर कुछ भी नहीं।" बात करते हुए उसकी आँखों में फिर वही चमक आ गई। "इन सालों की ज़िन्दगी भी बस ऐसी ही है। अपने हाथ-पल्ले कुछ है नहीं, हम दुक्के-चौके-पंजेवालों को अपना एक्का-बादशाह-गुलाम दिखाकर रौब डाल रहे हैं। आख़िर हालत इनकी भी वही होगी जो दुक्के-चौके-पंजेवालों की। सिर्फ़ ये लोग ज़रा पिटकर अपनी जगह पर आएँगे!'' और मेरे कन्धे को फिर से हाथ का निशाना बनाते हुए उसने कहा, ''है नहीं ट्रम्प?''

''ट्रम्प तो ज़ोरदार है,'' मैंने कहा, ''पर हर ट्रम्प इस तरह मेरे कन्धे पर मत लगाओ।''

''बातें तुम भी मज़ेदार करते हो,'' उसने हँसकर कहा और एक हाथ मेरे कन्धे पर और लगा दिया।

मंगलूर में हम एक ही होटल में ठहरे। वह एक छोटा-सा ब्राह्मण-होटल था। हुसैनी अकसर वहीं ठहरता था। उस होटल में मैंने एक यज्ञोपतीत-धारी महाराज को हुसैनी का जूठा गिलास उठाते देखा, तो मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ। मेरा ख़याल था कि दक्षिण के ब्राह्मण बहुत कट्टर होते हैं और छुआछूत का बहुत ध्यान रखते हैं। पहले मैंने सोचा कि शायद महाराज को पता ही न हो कि हुसैनी मुसलमान है। पर थोड़ी देर में महाराज उसका नाम पुकारता हुआ आया, तो मुझे अपना ख़याल बदल लेना पड़ा।

उस एक-डेढ़ दिन में ही मैं हुसैनी के बारे में काफ़ी कुछ जान गया था। वह कलकत्ता के नक़ली मोतियों के व्यापारी का लड़का था। शुरू में कई साल वह अपने पिता के साथ काम करता था। पर एक बार जब पिता ने उससे लड़कर यह ताना दिया कि वह उन्हीं के आसरे रोटी खाकर जी रहा है, तो वह उसी समय दुकान से उतर आया और लौटकर वहाँ नहीं गया। तब वह अकेला नहीं था—उसकी पत्नी और दो बच्चे भी थे। उसे उनसे बहुत प्यार था और वह उनके लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा सुविधाएँ जुटाना चाहता था। पर वह ज़्यादा शिक्षित नहीं था और न ही उसके पास अपना व्यापार करने के लिए पैसा था। कुछ दिन तो वह कलकत्ते में ही एक जगह नौकरी करता रहा जहाँ से महीने के उसे कुल साठ रुपए मिलते थे। उतने से रोटी का ख़र्च भी ठीक से नहीं चल पाता था। उसे यह देखकर दुख होता था कि बच्चे दिन-ब-दिन पीले पड़ते जा रहे हैं और पत्नी का शरीर बाईस साल की उम्र में ही अपनी चमक खो रहा है। इसलिए जब ताश कम्पनी की यह नौकरी मिलने को हुई तो उसने बग़ैर शोशपंज के इसे स्वीकार कर लिया। इसमें वह कुल मिलाकर महीने में दो-सवा-दो-सौ रुपए कमा लेता था। पर साल में ग्यारह महीने उसे सफ़र में रहना पड़ता था। कभी-कभी तो वह लगातार आठ-आठ महीने घर से बाहर रहता था। इसी वजह से यह काम उसे पसन्द नहीं था। वह हमेशा इस दुविधा में रहता था कि घरवालों के पास रहकर अभाव की ज़िन्दगी बिताना ज़्यादा अच्छा है, या उनसे दूर रहकर थोड़ी-बहुत सुविधाएँ जुटा पाना। उसकी पत्नी चाहती थी कि वह घर पर ही रहे—उन्हें चाहे कैसा भी जीवन व्यतीत करना पड़े। वह भी बहुत बार यही सोचता था, और दौरे के दिनों में इसका निश्चय भी कर लेता था। पर घर पहुँचकर देखता कि बच्चों का स्वास्थ्य पहले से अच्छा हो रहा है और पत्नी के शरीर में भी निखार आ रहा है, तो उसका मन फिर डाँवाडोल हो जाता। वह सोचता कि क्या यह उचित होगा कि वह अपनी तकलीफ़ से बचने के लिए बच्चों के स्वास्थ्य और पत्नी के सौन्दर्य को मिट्टी में मिल जाने दे? तब वह हर तरह के तर्क देकर और भविष्य की कई-कई योजनाएँ बनाकर फिर घर से निकल पड़ता। इस बार उसे कलकत्ते से चले लगभग चार महीने हो चुके थे। वापस लौटने से पहले अभी साढ़े तीन-चार महीने और उसे दक्षिण भारत में घूमना था।

"ऐसी ज़िन्दगी जीने के लिए सचमुच बहुत धीरज चाहिए," मैंने उसकी बात सुनकर कहा।

"पहले तो कई बार मन बहुत परेशान हो जाता," वह बोला। "पर अब मैंने अपने को खुश रखने का एक तरीक़ा सीख लिया है, और वह है खुश रहना। जब कभी मन उदास होने लगता है, तो मैं जिस-किसी के पास जाकर मजाक़ की दो बातें कर लेता हूँ। वह मुझे हँसोड़ समझता है और मेरी तबीयत बहल जाती है। फिर भी कभी-कभी बहुत मुश्किल हो जाती है।"

हुसैनी की खुशदिली में सन्देह नहीं था। उसे अपने आस-पास हमेशा कुछ-न-कुछ ऐसा दिखाई दे जाता था जिस पर वह कोई चुस्त-सा फ़िकरा कस सके। शाम को मंगलूर में एक नया होटल खुल रहा था जिसका उद्घाटन करने मैसूर के राजप्रमुख आ रहे थे। जब राजप्रमुख की कार आई, तो बाज़ार में कई व्यक्तियों की भीड़ कार के आस-पास जमा हो गई। हुसैनी मुझसे बोला, "पता है ये लोग भाग-भागकर क्या देख रहे हैं? देख रहे हैं कि राजप्रमुख की कार भी पहियों पर ही चलती है या हवा में उड़ती है। जब देखते हैं कि उसके नीचे भी पहिए लगे हैं, तो बहुत हैरान होते हैं।"

"हुसैन के लिए इंसान को कहीं जाने की ज़रूरत नहीं," उसने चलते हुए कहा। "आज की दुनिया में इंसान को कहीं भी हँसने का सामान मिल सकता है। अगर मंगलूर का एक जौहरी अपनी दुकान में सोने-चाँदी के साथ मौसम्बियाँ बेचता है, तो सिर्फ़ इसीलिए कि मेरे-जैसा आदमी राह चलते रुककर एक बार ज़ोर से ठहाका लगा सके।"

मंगलूर में अधिकांश घर हरियाली के बीचों-बीच इस तरह बने हैं कि उसे एक उफान-नगर कहा जा सकता है। सुरुचि और सादगी, ये दोनों विशेषताएँ वहाँ के घरों में हैं। इससे साधारण से घर भी साधारण नहीं लगते। घूमते हुए हम लोग एक छोटी-सी पहाड़ी पर चले गए। वहाँ से शहर का रूप कुछ ऐसा लगता था जैसे घने नारियलों की एकतारन्यता को तोड़ने के लिए ही कहीं-कहीं सड़कें और घर बना दिए गए हों। दूर समुद्र की तट-रेखा दिखाई दे रही थी। मैं पहाड़ी के एक कोने में खड़ा देर तक शहर के सौन्दर्य को देखता रहा। शुरू से उत्तर भारत के घुटे हुए तंग शहरों में रहने के कारण वह सब मुझे बहुत आकर्षक लग रहा था। जब मैं चलने के ख़याल से वहाँ से हटा, तो देखा कि हुसैनी पहाड़ी के दूसरे सिरे पर जाकर एक पत्थर पर बैठा उदास नज़र से आसमान को ताक रहा है। उसका भाव कुछ ऐसा था कि मैंने सहसा उसे बुलाना ठीक नहीं समझा। क्षण-भर बाद हुसैनी ने मेरी तरफ़ देखा और देखते ही आँखें दूसरी तरफ़ हटाकर बोला, "तुम यहाँ से अकेले होटल वापस जा सकते हो?"

"क्यों,"

"तुम नहीं चल रहे?" मैंने पूछा।

"मैं ज़रा देर से आऊँगा," वह उसी तरह आँखें दूर के एक पत्थर पर गड़ाए रहा।

"तो जब भी तुम चलोगे, तभी मैं भी चलूँगा," मैंने कहा। "मुझे वहाँ जल्दी जाकर क्या करना है?"

"नहीं," वह बोला। "अच्छा है तुम अकेले ही चले जाओ। मैं कह नहीं सकता मुझे लौटने में अभी कितनी देर लगे।"

मुझे समझ नहीं आ रहा था कि उसका भाव एकाएक ऐसा क्यों हो गया है। पर मैंने उससे इस विषय में पूछना उचित नहीं समझा और उसे उसी तरह बैठे छोड़कर वहाँ से चला आया। होटल में आकर खाना खाया और फिर से घूमने निकल गया। जब वापस पहुँचा, तब भी हुसैनी नहीं आया था। मैं अपने कमरे में बैठकर कुछ देर तक एक उपन्यास के पन्ने पलटता रहा। दस बजे के क़रीब सोने से पहले मैंने फिर एक बार उसके कमरे की तरफ़ जाकर देख लिया। वह तब भी नहीं आया था। एक बार मन हुआ कि उसी पहाड़ी पर जाकर देख आऊँ, पर कुछ तो यह सोचकर कि इतनी रात तक वह वहाँ नहीं हो सकता, और कुछ आँखों में भरी नींद के कारण मैंने वह ख़याल छोड़ दिया और अपने कमरे में आकर लेट गया। लेटने पर कुछ देर लगता रहा कि मेरा पलंग स्टीमर की तरह डोल रहा है। फिर धीरे-धीरे मुझे नींद आ गई।

मुझे सोए अभी थोड़ी ही देर हुई थी, जब दरवाज़े पर हलकी दस्तक सुनाई दी। मैं चौंककर उठ बैठा। बत्ती जलाकर दरवाज़ा खोला, तो सामने हुसैनी खड़ा था।

उसका चेहरा काफ़ी बदला हुआ था। आँखें लाल थीं और भाव ऐसा जैसे किसी अपराध में पकड़े जाने पर बाँह छुड़ाकर भाग आया हो। मैंने सोचा कि वह शायद शराब पीकर आया है। पर वह शराब पीकर नहीं आया था।

"माफ़ करना, मैंने तुम्हारी नींद ख़राब की है," उसने ओछा पड़ते हुए कहा। "वैसे माफ़ी तो मुझे उस वक़्त के लिए भी माँगनी चाहिए, पर इस तरह तकल्लुफ़ बरतने लगूँगा तो असली बात पर नहीं आ सकूँगा। मैं इस वक़्त तुमसे एक मदद चाहता हूँ।"

"बताओ, क्या बात है?" मैं बाहर निकल आया। "तुम ऐसे क्यों हो रहे हो?"

"ख़ास बात कुछ भी नहीं है। तुम कपड़े बदल लो और मेरे साथ कुछ दूर घूमने चलो।"

"बस इतनी-सी ही मदद चाहिए?"

"हाँ, तुम इतनी-सी ही समझ लो।"

मैंने कपड़े पहनकर दरवाज़े को ताला लगाया और उसके साथ चल पड़ा। सड़क पर आकर वह बोला, "बताओ, किस तरफ़ चलें?"

मैं बिलकुल नहीं समझ पा रहा था। वह खुद तो मुझे लेकर आया था और मुझी से पूछ रहा था—''किस तरफ़ चलें।''

''तुम जिस तरफ़ भी चलना चाहो,'' मैंने कहा।

''नहीं,'' वह बोला। ''तुम जिस तरफ़ कहो, उसी तरफ़ चलते हैं। मैं इस वक़्त तुम्हारी मर्ज़ी से चलना चाहता हूँ। मेरी अपनी मर्ज़ी कुछ नहीं है।''

''तो किसी पार्क में चलें?''

''मुझसे मत पूछो। कहो कि पार्क में चलें।''

''तो ठीक है किसी पार्क में चलते हैं। यहाँ के रास्ते मैं नहीं जानता, इसलिए ले चलना तुम्हीं को होगा।''

कुछ देर हम चुपचाप चलते रहे। उस-जैसा जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति की ऐसी मनःस्थिति अस्वाभाविक नहीं था। परन्तु किस विशेष कारण से वह एकाएक ऐसा हो गया है, उसका मैं अनुमान नहीं लगा पा रहा था।

पार्क में पहुँचकर हम एक जगह घास पर बैठ गए। मैंने उससे कुछ नहीं पूछा। कुछ देर बाद वह खुद ही बोला, ''देखो दोस्त, मेरे इस अटपटेपन का बुरा नहीं मानना। मैं रास्ते में सोचता आ रहा था कि तुम मुझसे इस सनक की वजह पूछोगे, तो मैं क्या बताऊँगा। असल बात मैं नहीं बताना चाहता था। पर तुमने कुछ नहीं पूछा, इसलिए मैं अब तुमसे वह बात छिपाकर नहीं रख सकता।''

वह बाँहें पीछे फैलाकर बैठ गया। आँखें उस कोण पर रखकर जहाँ से कि वह मेरे सिर से ऊपर-ऊपर देख सकता था, धीरे-धीरे कहने लगा, ''तुमने देखा था उस वक़्त पहाड़ी पर बैठे हुए मेरी तबीयत एकाएक बहुत उदास हो गई थी। वैसे यह कोई नई चीज़ नहीं है, बहुत बार मेरे साथ ऐसा होता है। जब मुझे घर से निकले दो-तीन महीने हो जाते हैं, तो अक्सर इस तरह के मौक़े आने लगते हैं। मेरा काम घूमकर ऑर्डर लेने का है और जिस किसी शहर में मैं जाता हूँ, वहाँ चार-पाँच बजे तक सौदागरों से मिलकर अपना काम पूरा कर लेता हूँ। शाम को मैं बिलकुल अकेला पड़ जाता हूँ, और अकेला ही कहीं इधर-उधर घूमने निकल जाता हूँ।''

उसने आँखें एक बार नीचे लाकर मुझे देखा, फिर उन्हें उसी कोण पर रखकर बोला, ''ऐसे में मेरी हमेशा यही कोशिश रहती है कि मैं लोगों के बीच में रहूँ, किसी ऐसी ही जगह जाऊँ जहाँ चार आदमी और भी हों। पर कभी-कभी जान-बूझकर मैं किसी अकेली जगह पर चला जाता हूँ, और वहाँ यही उदासी मुझे घेर लेती है। क्यों मेरी ऐसी ख़्वाहिश होती है और क्यों मैं जान-बूझकर ऐसी जगह जाता हूँ, मैं नहीं जानता। शायद ऐसे मौक़े पर उदास होकर ही मुझे कुछ राहत मिलती है। मैं बैठकर कई-कई घंटे सोचता रहता हूँ और सोचते हुए मुझे लगता है कि मेरी ज़िन्दगी का कोई मतलब नहीं है। मैं रात-दिन बसों-गाड़ियों में सफ़र करता हूँ, घटिया होटलों का

गन्दा खाना खाता हूँ, और मेरे नसीब में इतना सुख भी नहीं बदा कि अपनी शामें ही चन्द दोस्तों या अपने घर के लोगों के बीच बिता सकूँ। बीवी-बच्चों की मुहब्बत भी मेरे लिए जैसे एक ख़याली-सी चीज़ है। और इस सबके बारे में सोचते हुए मन इतना परेशान हो उठता है कि मैं अपने-आपसे भाग खड़ा होना चाहता हूँ। आज शाम उस पहाड़ी पर बैठा हुआ मैं यही सोच रहा था कि शाम-भर के लिए एक आदमी को मैं अपना साथी बनाता हूँ, उसके साथ कुछ वक़्त बिताकर मुझे खुशी हासिल होती है, पर आनेवाली दूसरी शाम के लिए मैं उसके साथ की उम्मीद नहीं कर सकता। आज तुम मेरे साथ हो, पर कल मैं चिकमंगलूर चला जाऊँगा और तुम कनानोर। एक बार की बात हो तो आदमी बर्दाश्त भी कर ले। पर मेरी तो रोज़-रोज़ की ज़िन्दगी ही यह है। इसके अलावा...।''

उसने फिर एक बार मेरी तरफ़ देखा और पलकें झुकाकर घास पर आँखें टिकाए बोला, ''इसके अलावा एक बात और भी है। मैं अपनी बीवी से बहुत मुहब्बत करता हूँ और जानता हूँ कि वह भी मुझसे उतनी ही मुहब्बत करती है। फिर भी...।

वह बोलते-बोलते रुक गया। मैं चुप रहकर उसकी तरफ़ देखता रहा। कुछ देर असमंजस में रहकर कि आगे बात करें या नहीं, वह बोला, ''तुम समझ ही सकते हो इतना-इतना अरसा घर से दूर रहकर आदमी कैसा महसूस कर सकता है—ख़ासतौर से जब उसे इस तरह की अकेली ज़िन्दगी बसर करनी पड़ती हो। मुझे कभी-कभी अपनी नसों में एक तूफ़ान-सा उठता महसूस होता है। उस वक़्त मुझे लगता है कि मेरी सूरत एक पागल की-सी नज़र आ रही होगी। मेरे मन में कई तरह के ख़याल उठने लगते हैं। कभी सोचता हूँ कि यह सिर्फ़ जिस्मानी ज़रूरत है जिसे पूरी कर लेने में कोई हर्ज़ नहीं है। फिर सोचता हूँ कि जिस्मानी ज़रूरत सिर्फ़ मर्द को ही नहीं, औरत को भी तो उसी तरह महसूस होती है। ऐसे में मेरे मन में यह सवाल शैतान की तरह सिर उठाने लगता है कि जब मर्द के लिए इस ज़रूरत पर काबू पाना इतना मुश्किल है, तो औरत के लिए भी क्या वैसा ही नहीं होगा? और तब मेरे दिमाग़ पर हथौड़े चलने लगते हैं कि मुझे क्या पता है, मैं कैसे कह सकता हूँ? मैं जानता हूँ कि यह फ़क़त मेरे अन्दर की कमज़ोरी है। मेरी बीवी मुझसे बेहद प्यार करती है और जब भी मैं घर जाता हूँ, हमेशा यही कहती है कि मैं यह नौकरी छोड़ दूँ, और बच्चों के पास घर पर ही रहूँ। फिर भी मैं अपने वहम से बच नहीं पाता। मैं जितना अपने को ऐसे ख़यालात के लिए कोसता हूँ, ये उतना ही मुझे तंग करते हैं।

''आज तुम्हारे चले आने के बाद मैं क़ाफी देर वहाँ बैठा रहा। यही परेशानी फिर मेरे दिमाग़ में घर किए थी। जब वहाँ से चला, तो ख़याल था कि खाने के वक़्त तक होटल में पहुँच जाऊँगा। पर रास्ते में एक आदमी धीमी आवाज़ में कुछ कहता मेरे पास से निकला। मैं समझ गया कि वह किसी छोकरी का दलाल है। अपने दिमाग़

पर से मेरा क़ाबू उठने लगा। मैंने रुककर पीछे की तरफ़ देखा। वह आदमी लौटकर मेरे पास आ गया। मैंने उससे बात की। वह कहने लगा कि एक प्राइवेट लड़की है, पाँच रुपए लेगी। मैं उसके साथ चल दिया। वह मुझे कई सड़कों से घुमाकर एक कच्चे रास्ते से नीचे ले गया। वहाँ दो-तीन झोंपड़ियाँ थीं। उनमें से एक के अन्दर हम पहुँच गए। अन्दर लालटेन की रोशनी में एक जवान औरत अपने बच्चे को खाना खिला रही थी। मुझे देखकर वह उठ खड़ी हुई। वह आदमी अपनी ज़बान में उससे बात करने लगा। पर तभी मेरी आँखों के सामने अपने घर का नक़्शा घूम गया। मुझे ख़याल आने लगा कि मेरी बीवी तो शायद इस वक़्त वहाँ खुदा से मेरी सलामती की दुआ माँग रही होगी, और मैं यहाँ इस तरह अपने को ज़लील करने जा रहा हूँ। फिर मैंने उस घर की मुफ़लिसी को देखा और मुझे अपने मुफ़लिसी के दिन याद आने लगे। मेरे साथ आया दलाल बच्चे को और उसकी थाली को उठाकर बाहर जाने लगा, तो मैंने उससे कहा कि वह बच्चे को वहीं रहने दे—पहले बाहर चलकर मेरी बात सुन ले। वह इससे थोड़ा हैरान हुआ, पर बिना कुछ कहे मेरे साथ बाहर आ गया। बाहर आकर मैंने उससे कहा कि मुझे वह लड़की पसन्द नहीं है और कहते ही झट से वहाँ से चल पड़ा। वह आदमी पक्की सड़क तक मेरे पीछे-पीछे आया। कहता रहा कि मैं पाँच नहीं देना चाहता तो चार ही रुपए दे दूँ, चार नहीं तो तीन ही दे दूँ—पर मैंने उसे कोई जवाब नहीं दिया।

"पक्की सड़क पर आकर मैं बिना रास्ता जाने एक तरफ़ को चलने लगा। मेरा पहले भी ऐसे दलालों से वास्ता पड़ा है, पर मेरा खुदा जानता है कि पहले कभी मैं इस हद तक आगे नहीं गया। मैंने उसे कोई जवाब नहीं दिया, तो वह आदमी नाराज़ होकर लौट गया। मुझे उस वक़्त अपने से नफ़रत हो रही थी। सोच रहा था कि अगर मेरी ज़िन्दगी भी उसी मुफ़लिसी और तंगहाली में बीतती, तो क्या कहा जा सकता है कि मेरे घर में आज क्या हो रहा होता? अब चाहे कितनी भी परेशानी है, पर वह तंगहाली तो नहीं है। किसी तरह शराफ़त की ज़िन्दगी तो जी रहे हैं। लेकिन कुछ दूर आकर मेरे दिमाग़ में फिर वही बात सिर उठाने लगी कि आख़िर मैं उस हद को हाथ तो लगा ही आया हूँ—क्या मरद जिस हद तक जा सकता है, औरत उस हद तक नहीं जा सकती? इससे फिर वही ख़याली बवंडर मेरे दिमाग़ में उठने लगा कि मुझे क्या पता है, मैं कैसे कह सकता हूँ? तब मेरा मन होने लगा कि लौट चलूँ। अभी थोड़ा ही रास्ता आया हूँ, लौटकर वह घर ढूँढ़ सकता हूँ। एक बार मेरे क़दम उस तरफ़ को मुड़े भी। पर तभी मैंने एक गुज़रते ताँगे को रोक लिया और उसे अपने होटल का नाम बता दिया। ताँगे में बैठे हुए भी मन होता रहा कि उसे रोककर उतर जाऊँ, या वापस उसी तरफ़ ले चलूँ। पर ताँगा धीरे-धीरे दूर निकल आया और कुछ ही देर में होटल के बाहर आ उतरा।

"होटल में आकर भी मैं अपने दरवाज़े के बाहर खड़ा एक मिनिट सोचता रहा। एक मन था कि दरवाज़ा न खोलूँ और वापस चला जाऊँ। वह घर नहीं तो और घर सही। पूछनेवाले कई दलाल मिल जाएँगे। पर दूसरा मन मुझे धकेलकर तुम्हारे दरवाज़े के बाहर ले गया और मैंने दरवाज़ा खटखटा दिया। उसके बाद से तुम्हारे साथ हूँ।"

उसकी आँखों में उस घटना की छाया अब भी मँडरा रही थी। मैं उसका ध्यान बँटाने के लिए और-और विषयों पर बात करने लगा।

हम काफ़ी देर वहाँ बैठे रहे। उससे पहली रात स्टीमर में ठीक से नहीं सो पाया था, इसलिए मेरी आँखें नींद से झिपी जा रही थीं। कुछ देर बाद उसे थोड़ा स्वस्थ पाकर मैंने उससे वापस चलने का प्रस्ताव किया। हुसैनी आँखें झपकाता चुपचाप उठ खड़ा हुआ और मेरे साथ चल दिया। रास्ते में वह मुझसे थोड़ा आगे-आगे चलता रहा—जैसे कि अब भी अपना पीछा करती किसी चीज़ से बचना चाह रहा हो।

सुबह जब मैं सोकर उठा, ग्यारह बज चुके थे। हुसैनी नहाकर गुसलखाने से लौट रहा था। मुझे देखकर वह मुस्करा दिया। उसके चेहरे पर हमेशा का खुशदिली का भाव लौट आया था।

"नींद पूरी हो गई?" खिड़की के जंगले से अन्दर देखते हुए उसने पूछा।

"हाँ, हो ही गई।"

"तो नहाकर तैयार हो जाओ। आज मैं तुम्हारी दावत कर रहा हूँ।"

मैं पल-भर उसे देखता रहा। फिर मैं भी मुस्करा दिया। "उन पाँच रुपयों की?" मैंने पूछा।

"नहीं," वह अपने उभरे दाँत उघाड़कर बोला। "वे पाँच रुपए तो मिठाई के लिए घर बीवी को भेज रहा हूँ। दावत का एक रुपया तुम्हारा नज़राना है। नहा लो, तो उधर मेरे कमरे में आ जाना।" और आँखों में वही अपनी ख़ास चमक लाकर मुस्कराता हुआ वह खिड़की के पास से हट गया।

हुसैनी जो बात कह गया था, उससे मुझे मोपासाँ की कहानी 'सिग्नल' का अन्त याद हो आया और मैं मन-ही-मन मुस्करा दिया। पर सोचा कि हुसैनी ने वह कहानी भला कहाँ पढ़ी होगी!

समुद्र-तट का होटल

दूसरे दिन मैंने मंगलूर से कनानोर (कण्णूर) की गाड़ी पकड़ ली। शिमला में जिस व्यक्ति ने मुझे कनानोर में रहने की सलाह दी थी, उसने यह भी कहा था कि वहाँ समुद्र-तट पर एक छोटा-सा होटल है जो काफ़ी सस्ता है और कि वहाँ के डाइनिंग हाल में बैठकर चाय पीते हुए आदमी समुद्र के क्षितिज से गुज़रते जहाज़ों को देख सकता है। मेरे दिमाग़

में वह नक़्शा इस तरह से जमा था कि वहाँ पहुँचने से पहले ही मैं अपने को उस रूप में वहाँ बैठे और चाय की चुस्कियाँ लेते देख रहा था।

मंगलूर कनानोर तक की यात्रा में मैंने देखा कि रेल की पटरी के दोनों ओर थोड़े-थोड़े अन्तर पर बने घरों की शृंखला इस तरह चली चलती है कि तय नहीं किया जा सकता कि एक बस्ती कहाँ समाप्त हुई और दूसरी कहाँ से शुरू हुई। सारा प्रदेश ही जैसे एक बहुत बड़ा गाँव है जिसमें नारियल के पेड़ों से घिरे छोटे-छोटे घर एक-दूसरे से थोड़े-थोड़े फ़ासले पर बने हैं। बीच में खेत हैं। कहीं खेतों में (शायद पक्षियों को डराने के लिए) बाँस पर लटकाया गया कपड़े का गुड्डा दिखाई दे जाता, कहीं कोई ग्राम देवता और कहीं बिजली के तारों पर बैठी तोतों की पंक्तियाँ। जब गाड़ी समुद्र-तट के साथ-साथ चलती, तो समुद्र पर उड़ते कडल काक (सीगल) और दूसरे पक्षी ध्यान खींच लेते। एक घर के बाहर लगी दीवार घड़ी, नेत्रावली नदी का नन्हा-सा हरा-भरा द्वीप, बैक वार्टज़ में किनारे के पास एक-एक फ़ुट पानी में पेट के बल लेटकर बात करते नवयुवक, छतरियों-जैसी टोपियाँ पहने नाविक, टोकरियाँ उठाए खेतों में से गुज़रती नवयुवतियाँ...चलती गाड़ी से दिखते इस साधारण जीवन में भी मुझे एक असाधारणता प्रतीत हो रही थी—क्योंकि मेरी दृष्टि एक निवासी की नहीं, एक यात्री की थी।

कनानोर, पहुँचने पर पता चला कि वहाँ समुद्र-तट पर एक ही होटल है—चोईस। मैं स्टेशन से सीधा वहीं चला गया। वह एक युरॅपियन होटल था, जहाँ अक्सर रिटायर्ड युरॅपियन अफ़सर अपनी खोई हुई सेहत वापस लाने के लिए हफ़्ता-हफ़्ता दो-दो हफ़्ते आकर ठहरते थे। वहीं से पता चला कि समुद्र-तट पर एक और होटल भी था (और शायद उसी के विषय में मुझे बतलाया गया था) जो दो साल पहले बन्द हो चुका था। चोईस काफ़ी महँगा होटल था और मैं अपने दो महीने के बजट से वहाँ कुल बीस दिन रह सकता था। पर मैंने उस समय वहाँ एक कमरा ले लिया। सोचा कि आगे की बात चाय पीकर आराम से तय करूँगा।

चोईस होटल ठीक वैसी जगह नहीं था जैसी मैं चाहता था। वह खुले बीच पर नहीं, तट के ऊँचे कगार पर बना था। आगे एक छोटा-सा लॉन था, जिसकी मुँडेर के पास खड़े होकर नीचे समुद्र की तरफ़ झाँका जा सकता था। पर मैं ऐसी जगह चाहता था जहाँ से सीधे जाकर समुद्र की लहरों को अपने पर लिया जा सके और जिसकी सीढ़ियों पर बैठकर अपनी ओर बढ़ते ज्वार की प्रतीक्षा की जा सके।

चोईस में अपने कमरे के बरामदे में बैठकर चाय पीते हुए भी मैं आगे के लिए कुछ निश्चय नहीं कर सका। दुविधा थी कि क्या पता और कहीं जाकर भी वैसी ही समस्या का सामना नहीं करना पड़ेगा? आखिर सोचा कि थोड़ी देर बाहर घूम आऊँ—आकर तय करूँगा कि कल की क्या योजना होगी।

होटल से सटा हुआ युरॅपियन क्लब था। क्लब के इस तरफ़ थोड़े-से घर थे और खुला कगार। मैं टहलता हुआ कगार के सबसे ऊँचे हिस्से पर चला गया। वहाँ एक चट्टान पर खड़े होकर देखा कि तीस-चालीस फ़ुट नीचे खुला बीच है जो दूर तक चला गया है। एक छोटा-सा बीच बाईं ओर भी है। बड़े बीच पर बहुत-से लोग थे। छोटे बीच पर एक युरॅपियन परिवार के पाँच-छह लोग स्विमिंग कास्ट्यूम पहने लहरों में उछल-कूद कर रहे थे। उतनी ऊँचाई से उस दृश्य को देखना ज़मीन से ऊपर उठकर ज़मीन को देखने की तरह था। दूर एक जहाज़ समुद्र के अर्द्ध गोलाकार क्षितिज पर दाईं ओर से दाखिल हो रहा था। वह भी जैसे मुझसे नीचे की दुनिया के रंगमंच पर ही चल रहा था। छपाक–एक लहर कगार की चट्टानों से ज़ोर से टकराई। मैं नीचे बड़े बीच पर जाने के लिए चट्टानों पर से कूदने लगा।

"कोब्रा!" दो चट्टानें उतरते ही किसी को कहते सुना। जिस चट्टान पर मैं था, उससे थोड़ा हटकर साथ की चट्टान पर एक साँप रेंग रहा था। कई लोग उसे दूर से देख रहे थे। वह गहरे मोतिया रंग का साँप था। शरीर पर काले रंग की हलकी-हलकी धारियाँ। वह बहुत सतर्क होकर चल रहा था–शायद मन में वह आस-पास से सुनाई देती आवाज़ों से आतंकित था। मैं अपनी चट्टान पर जहाँ का तहाँ रुककर उसे देखता रहा। उसका शरीर चट्टान पर उसी तरह बहता लग रहा था जैसे बने हुए रास्ते पानी की पतली धार। रास्ते का निर्णय करने के लिए उसका फण ज़रा-सा मुड़ता, फिर बाक़ी शरीर उसी रास्ते से निकल जाता। एक लड़के ने उसकी तरफ़ पत्थर फेंका। उसने एक बार फण उठाया, पर अगले ही क्षण दो चट्टानों के बीच की मिट्टी में गुम हो गया।

मैं फिर चट्टानों पर से कूदने लगा, और दिमाग़ में साँप की-सी सतर्कता लिए एक पोखर पर बने टूटे पुल से होकर बीच पर पहुँच गया।

सामने समुद्र की लहरें बड़ी-बड़ी शार्क मछलियों की तरह सिर उठा रही थीं। कुछ मछुए साथ मिलकर दो डूँगों को पानी की तरफ़ धकेल रहे थे। डूँगे धीरे-धीरे सरक रहे थे और रेत पर गहरी लकीरें खिंचती जा रही थीं। एक डूँगा पानी में पहुँच गया और सामने से आती लहर पर सवार होकर परे निकल गया। फिर दूसरी लहर पर सवार होकर काफ़ी आगे चला गया। दूसरा डूँगा भी तब तक पानी में पहुँच गया था। वह एक पिछड़े साथी की तरह तेज़ी से लहरों को पार करता हुआ कुछ पलों में ही पहले डूँगे को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया।

ऊपर कगार की चट्टानों पर कुछ लोग खड़े हुए थे जिनकी आकृतियाँ सूर्यास्त की झिलमिल में स्याह पत्थर की मूर्तियों-जैसी लग रही थीं। बीच से देखने पर अब मुझे ऊपर की दुनिया अपने से दूर और अलग प्रतीत हो रही थी। कुछ लोग चट्टानों पर से कूदते हुए नीचे आ रहे थे। मेरा मन हुआ कि मैं फिर से ऊपर चला जाऊँ

और फिर से उसी तरह कूदता हुआ नीचे आऊँ। परन्तु मैं उस समय नंगे पैर टखने-टखने पानी में खड़ा था और लहरों के लौटने पर पैरों के नीचे से सरकती रेत शरीर में एक चुनचुनाहट भर रही थी। इसलिए मैं उसी तरह वहाँ खड़ा स्पर्धा से लोगों को चट्टानों से कूदकर आते देखता रहा।

पानी में सूर्यास्त के कई-कई हलके-गहरे रंग झिलमिला रहे थे। ताम्बई, बैंजनी, कत्थई। किनारे की तरफ़ आती हर लहर के आगे झाग की सफ़ेद जाली बन जाती थी जो लहर के लौट जाने पर भी कुछ देर बनी रहती थी। बढ़ता पानी सूखी रेत को भिंगो जाता और कितने ही केंकड़े उछलते हुए आकर रेत में सुराख करके उनमें दुबक जाते। टिर-री, टिर-री—यह स्वर सारे वातावरण में फैल रहा था। मुझे लगा कि वास्तव में ऐसे ही समय वातावरण को साँझ कहा जा सकता है। दिल्ली-जैसे शहर में कभी साँझ नहीं होती। वहाँ समय के केवल दो ही चेहरे होते हैं—दिन और रात। या एक ही चेहरा—आधा स्याह, सफ़ेद।

एक बूढ़ा लुंगी पर पेटी बाँधे, सिगरेट सुलगाए, छड़ी हिलाता टखने-टखने पानी में चल रहा था। कुछ लड़कियाँ अपने पेटीकोट पिंडलियों तक उठाकर किनारे की ओर आती लहरों के ऊपर से उछल रही थीं। उधर छोटे बीच की तरफ़ से युरॅपियन परिवार के किलकारने की आवाजें आ रही थीं।

मैं सोच रहा था कि बजट का चाहे जो हो, मैं कुछ दिन ज़रूर कनानोर में रहूँगा।

वापस होटल में पहुँचा, तो देखा कि मेरे आस-पास के दोनों कमरे उस बीच लग गए हैं। वे दोनों कमरे एक ही परिवार ने ले लिए थे। उस समय लॉन में पति-पत्नी अपने चार बच्चों के साथ 'दाई-छू' खेल रहे थे। सामने के कमरे में एक बूढ़ी मेम, जो गठिए की मरीज़ थी, अपनी नौकरानी के साथ ठहरी थी। वह अपने कमरे के बाहर खड़ी ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर उन लोगों को शाबाशी दे रही थी।

रात को वह बूढ़ी मेम अपनी नौकरानी के साथ उन लोगों के यहाँ ताश खेलने आ गई। मुझे हर दो मिनिट के बाद उसकी चीख़ती आवाज़ में 'गुड ग्रेशस' 'ओ माई लॉर्ड' और 'वट ए हैंड'-जैसे शब्द और एक मोटी धार के पाइप के सहसा खुलकर बन्द हो ज़ाने-जैसी हँसी सुनाई देने लगी, तो मैंने सोचा कि वहाँ रहकर अपना बजट ख़राब करने का कोई मतलब नहीं—मुझे चुपचाप बिस्तर बाँधकर अगली सुबह वहाँ से चल देना चाहिए।

पंजाबी भाई

परन्तु अगले दिन वहाँ सेवॉय होटल में मैंने महीने-भर के लिए जगह ले ली—तीस रुपए में तीस दिन के लिए उतनी अच्छी जगह कहीं भी मिल सकती है, इसकी मैं कल्पना तक नहीं कर सकता था। सेवॉय होटल समुद्र-तट पर नहीं था, पर तट के

बहुत पास ही था। उसमें ख़ूब खुले बरामदे और बड़े-बड़े लॉन थे जिनमें दिन-भर हवा आवारा घूमती थी। इतनी सस्ती जगह होने पर भी वहाँ रहनेवाले लोग थोड़े से ही थे, इसलिए दिन-भर वहाँ का वातावरण शान्त रहता था। किसी ज़माने में वह होटल ख़ूब चलता था और काफ़ी महँगा भी था। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद वहाँ आकर रहनेवालों की संख्या बहुत कम हो गई थी, इसलिए वहाँ से खाने का प्रबन्ध हटा दिया गया था, और कमरे महीने के हिसाब से किराए पर दिए जाने लगे थे।

सेवॉय में आने की अगली सुबह बैठकर कुछ लिख रहा था, जब एक लम्बा-सा युवक दरवाज़े के बाहर आ खड़ा हुआ।

''हलो,'' उसने कहा।

मैंने उसकी बेतकल्लुफ़ी से चौंककर उसकी तरफ़ देखा। वह पाजामा-कुर्ता पहने ढीले-ढाले ढंग से खड़ा मुस्करा रहा था।

''आइए,'' मैंने अनिच्छापूर्वक कुर्सी से उठते हुए कहा।

वह दहलीज़ तक आ गया। बोला, ''आप शायद कल ही आए हैं!''

''जी हाँ, कल ही आया हूँ,'' मैंने कहा।

''मैंने रात को कमरे की बत्ती जलती देखी थी,'' कहते हुए उसने दहलीज़ पार कर ली। ''मुझे खुशी हुई कि चलो होटल का एक कमरा और आबाद हो गया है। वैसे तो यह होटल सुनसान पड़ा रहता है। आपने देखा ही होगा।''

''फिर भी मुझे जगह बहुत पसन्द है,'' मैंने दूरी बनाए रखते हुए कहा। ''काफ़ी खुली और एकान्त जगह है। मैं अपने लिए ऐसी ही जगह खोज रहा था।''

''आप इधर के रहनेवाले तो नहीं लगते,'' वह अब और आगे आकर मेरे सामने की कुर्सी को पीठ से हिलाने लगा।

''जी नहीं, मैं उत्तर से आया हूँ,'' मैंने कहा।

''उत्तर के किस इलाक़े से?'' और वह कुर्सी के आगे आ गया। मुझे लगा कि अब अगला सवाल पूछने तक वह जमकर कुर्सी पर बैठ जाएगा।

''मैं पंजाब का रहनेवाला हूँ,'' मैंने कहा।

सहसा उसकी दोनों बाँहें फैल गईं और वह, ''अच्छा, तुसी साडे पंजाबी भरा ओ!'' कहता हुआ मेज़ के गिर्द से आकर मुझसे लिपट गया।

साँस रोककर मैंने आलिंगन के वे क्षण बीत जाने दिए। मेरे गिर्द से बाँहें हटाकर उसने मेरा हाथ मजबूती से अपने हाथ में ले लिया और कहा कि परदेश में एक 'पंजाबी भरा' का मिल जाना उसकी नज़र में 'रब' के मिल जाने से कम नहीं है।

''कुछ दिन रहेंगे न यहाँ?'' उसने ऐसे पूछा जैसे कि मैं उसी के पास मेहमान बनकर ठहरा होऊँ।

''हाँ, महीना-बीस दिन तो रहूँगा ही,'' मैंने कहा।

"यह तो बहुत ही अच्छी बात है," वह बोला। "मैं चार-पाँच रोज़ में वापस पंजाब जा रहा हूँ। मगर जितने दिन यहाँ हूँ, उतने दिन मेरे लिए कोई भी सेवा हो, तो बताने से संकोच न करें। दास हर वक़्त हर सेवा के लिए हाज़िर है।"

"देखिए, कोई ऐसी ज़रूरत हुई तो ज़रूर बताऊँगा," मैंने कहा।

"मैं यहाँ एक साल से हूँ। हैंडलूम का व्यापार करने आया था..." कहता हुआ वह कुर्सी पर बैठ गया और मुझे शुरू से अपना इतिहास सुनाने लगा। मैंने अपने काग़ज़ हटाकर एक तरफ़ रख दिए और हथेलियों पर चेहरा टिकाए सामने बैठकर उसकी बात सुनने लगा। वह घंटा-भर गला थकाकर मुझे बतला गया कि उसका नाम नन्दलाल कपूर है, उसका घर लुधियाना में है, उसके दो बच्चे हैं और दोनों ही बहुत ख़ूबसूरत हैं क्योंकि दोनों उसी पर गए हैं, उसकी बीवी उसकी पसन्द की नहीं है, हैंडलूम का बाज़ार बहुत मन्दा है, कनानोर में साँप बहुत निकलते हैं, मलयालम में अंडे को मुट्टा कहते हैं और शाम को वहाँ फ़िल्म 'अनहोनी' दिखाई जा रही है जिसे मिस नहीं करना चाहिए।

"जब कभी अकेलापन महसूस हो, मेरे कमरे में चले आइएगा," उसने उठकर छाती के पास से कुर्ते को खुजलाते हुए कहा। "उसे भी आप अपना ही कमरा समझें। किसी तरह के तकल्लुफ़ में नहीं रहिएगा।"

वह चला गया तो मैंने सोचा कि अच्छा है जो पहली ही भेंट में वह अपने बारे में सबकुछ बतला गया—अब न तो मेरे पास कुछ पूछने को बचा है, न ही उसके पास बतलाने को। आमने-सामने होने पर ख़ैर-ख़ैरियत पूछ लिया करेंगे, बस।

मेरे सामने सवाल था कि खाने की क्या व्यवस्था की जाए। बाज़ार दूर था और रोज़ दोपहर को धूप में सवा मील जाना मुश्किल था। मैं वहाँ पास में ही कहीं प्रबन्ध कर लेना चाहता था। दिन में मैंने होटल के चौकीदार को इस सम्बन्ध में बात करने के लिए बुला लिया। वह पहले वहाँ बटलर था और अब भी अपना परिचय बटलर के रूप में ही देता था। वह 'वेल मास्टर, वट मास्टर' कहता कमरे के बाहर आ खड़ा हुआ। मैं भी बरामदे में निकलकर उससे आस-पास के होटलों और ढाबों के विषय में पूछताछ करने लगा। बटलर ने अपनी बटलरी अंग्रेजी में बतलाना शुरू किया कि कहाँ किस होटल में 'बैरी गुड फूड' मिलता है और कहाँ किसमें 'डैम चीप फूड'। तभी एक सोलह-सत्रह साल का दुबला-सा नवयुवक मेरे पास आकर बोला, "सर, साहब आपको उधर बुला रहे हैं।"

"कौन साहब बुला रहे हैं?" मैंने पूछा।

"कपूर साहब।"

"वे यहीं पर हैं?" मुझे आश्चर्य हुआ। मेरा ख़याल था कि वह तब तक अपने काम पर चला गया होगा।

"कमरे में हैं," लड़के ने कुछ लजाते हुए कहा।

"काम पर नहीं गए?"

"उनका दफ़्तर यहाँ कमरे में ही है।"

"दिन-भर वे यहीं रहते हैं?"

इससे पहले कि लड़का जवाब देता, कपूर लुंगी-बनियान पहने अपने कमरे से बाहर निकल आया और वहीं खड़ा-खड़ा बोला, "आओ न बादशाहो! दास हर वक़्त सेवा के लिए यहीं हाज़िर रहता है।"

न जाने क्यों उसके फैले हुए निचले होंठ को देखकर मुझे उलझन-सी हुई। लगा जैसे उस होंठ की वजह से ही मेरा मन उसकी घनिष्ठता से बचना चाहता हो।

"मैं खाना खा आऊँ, अभी थोड़ी देर में आता हूँ," मैंने उससे कहा।

"मोतियों वाले ओ, मैं खाना खाने के लिए ही तो आपको बुला रहा हूँ," वह लुंगी को थोड़ा ऊपर उठाए हमारी तरफ़ बढ़ आया। "आपका खाना मेरे कमरे में तैयार रखा है।"

"देखिए कपूर साहब..." मैं बचने के लिए बहाना ढूँढ़ने लगा। पर वह बीच में ही मेरी बाँह हाथ में लेकर बोला, "अरे, आप तो तकल्लुफ़ करने लगे! मुझे आप अपना भाई नहीं समझते? शौकत, चलो, अन्दर चलकर प्लेटें लगाओ।"

शौकत उस लड़के का नाम था जो मुझे बुलाने आया था। उसके कपड़े इतने उज़ले थे कि मैं सहसा विश्वास नहीं कर सका कि वह कपूर का नौकर है।

कमरे में पहुँचकर कपूर ने कहा, "आप भी भाई साहब, हद करते हैं! यहाँ का खाना हम लोग खा सकते हैं? जितने दिन मैं यहाँ हूँ, उतने दिन तो मैं आपको बाहर कहीं खाने नहीं दूँगा। बाद में जहाँ जैसा मिले, खाते रहिएगा।"

कपूर अपना खाना खुद स्टोव पर बनाता था। शौकत सही माने में उसका नौकर नहीं था—एक बेकार नवयुवक था, जिसे उसने 'यूँ ही कुछ' देने का वादा करके 'यूँ ही कुछ थोड़ा-बहुत काम' करने के लिए रख छोड़ा था। वह आठ-दस दिन से उसके पास था। कपूर उससे वे सभी काम लेता था जो एक साधारण नौकर से लिए जा सकते हैं। मगर शौकत आँखें झुकाए चुपचाप हर काम किए जाता था।

सब्ज़ी में इतनी मिर्च थी कि खाते हुए मेरी आँखों में पानी आ गया। कपूर ने यह देखा, तो बोला, "आपको शायद मिर्च ज़्यादा पसन्द नहीं है। शाम से ज़्यादा मिर्च नहीं डालूँगा।"

"शाम को आप खाना मेरे साथ बाहर खाइएगा," मैंने उसकी हर वक़्त की मेहमान-नवाज़ी से बचने के लिए कह दिया।

"आप फिर तकल्लुफ़ कर रहे हैं।" वह बोला। "मैंने आपसे एक बार कह दिया है कि मैं जब तक यहाँ हूँ, आपको बाहर खाना नहीं खाने दूँगा।"

एक कुत्ता दुम हिलाता दरवाज़े के पास आ खड़ा हुआ। कपूर ने एक चपाती उसकी तरफ़ फेंकते हुए कहा, "देखिए, इसमें इसका भी हिस्सा था। दाने-दाने पर खानेवाले की मोहर होती है, भाई साहब! वरना न कोई किसी को खिलाता है, और न ही कोई किसी का खाता है।" और कटोरे से मुँह लगाकर वह सब्ज़ी का बचा हुआ रसा एक ही घूँट में सुड़क गया।

मैंने इस बार काफ़ी ज़ोर देकर उस पर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की कि मैं उसका हर समय का मेहमान बनकर नहीं रह सकता, इसलिए शाम का खाना मैं बाहर ही खाऊँगा।

"मैं आपकी बात समझ रहा हूँ," वह बोला। "पर आप उस चीज़ की चिन्ता न करें। आप चाहें, तो थोड़ा-बहुत आटा-घी अपने पैसे से मँगवा लें। पकाना तो मुझे ही है। एक की जगह दो के लिए पका लिया करूँगा। मिर्च मैं अब से बहुत कम डालूँगा। सच कहता हूँ, यहाँ का खाना हम लोग नहीं खा सकते। मेरे जाने के बाद तो ख़ैर आपको वह रसम्-तक्रम् खाना ही पड़ेगा।" फिर शौकत की तरफ़ देखकर उसने कहा, "तुम अब जाओ शौकत, दो बज रहे हैं। घर जाकर तुम्हें भी खाना खाना होगा। शाम को आते हुए जो-जो सामान ये कहें, इनके लिए लेते आना। पैसे इनसे ले लो।"

मुझे उसका फैला हुआ होंठ अब भी अखर रहा था, पर उस समय शौकत को पैसे देने से मैं इनकार नहीं कर सका। यह सोचकर कि दो-तीन रुपए जो ख़र्च होते हैं, जो जाएँ, उसने ज़्यादा कहा, तो दो-एक बार उसके साथ खा भी लूँगा, मैंने ज़ेब से दस का नोट निकालकर शौकत को दे दिया। शौकत ने कपूर से पूछा कि क्या-क्या सामान लाना होगा।

"पाँच सेर आटा काफ़ी होगा," वह बोला। "आधा सेर घी ले आना। सब्ज़ी जो भी ठीक समझो, ले आना। हाँ, अन्दर मसाले-आले देख लो कौन-से नहीं हैं।" फिर मेरी तरफ़ मुड़कर उसने पूछा, "नाश्ता आप क्या पसन्द करते हैं?"

उसके निकले हुए होंठ पर एक हल्की मुस्कान मैंने देखी जिसे उसने होंठ पर ज़बान फेरकर दबा लिया।

"आप क्या नाश्ता करते हैं?" मैंने मन में अपने को कोसते हुए पूछ लिया।

"सवेरे-सवेरे कुछ ख़ास बनाने का तरद्दुद तो होता नहीं," वह बोला। "चाय के साथ सिर्फ़ दो टोस्ट और दो अंडे ले लेता हूँ। आप भी यही ले लिया करें। यहाँ के इडली-डोसे से तो अच्छा ही है।" और फिर शौकत से बोला, "देखो, एक नौ आनेवाली डबल रोटी, दो टिकिया मक्खन और छह अंडे भी लेते आना।"

शौकत चलने लगा, तो कपूर ने फिर उससे एक सेकेंड रुकने को कहा और मुझसे पूछा, "यहाँ के केले अभी आपने खाए हैं कि नहीं?"

"यहाँ के केले कुछ ख़ास होते हैं क्या?" मैंने 'नहीं' कहने से बचने के लिए पूछ लिया।

"ख़ास?" वह उभड़कर बोला। "जितनी फ़ूड वैल्यू यहाँ के केले में होती है, उतनी और कहीं के किसी फल में नहीं। शौकत, एक दर्जन बड़ेवाले केले भी लेते आना। साहब एक बार उनका स्वाद भी चखकर देख लें।"

मेरा ऐसे कई व्यक्तियों से पाला पड़ा था जिनके साथ व्यवहार रखने में मुझे बहुत कठिनाई का अनुभव होता था। पर कपूर उनमें सबसे आगे था। शाम को अपने कमरे में खाना नहीं बनाया। कहा कि मैंने जो उसे शाम को उसने अपने साथ बाहर चलकर खाने का निमन्त्रण दिया था, वह उसी के ख़याल में रहा है। मैंने उसे साथ ले जाकर बाहर खाना खिलाया। दूसरे दिन वह दो बजे तक कहीं बाहर गया रहा और आने पर नाराज़गी ज़ाहिर की कि मैंने खाना बाहर जाकर क्यों खा लिया—उसके लौटने की राह क्यों नहीं देखी। उसके बाद शाम को भी उसने खाना नहीं बनाया। कहा कि उसे भूख नहीं है। दोपहर का खाना ही अढ़ाई-तीन बजे बना था—और यह सोचकर कि रात को कौन फिर से तरद्दुद करेगा, उसने दोनों वक़्त का एक-साथ ही खा लिया था। मगर जब मैं खाना खाने निकला, तो वह भी घूमने के इरादे से साथ हो लिया और होटल में बैठकर सिर्फ़ साथ देने के लिए दो प्लेट बिरयानी खा गया। लौटते हुए मैं ब्लैड वग़ैरह ख़रीदने लगा तो उसे भी कुछ चीज़ें खरीदने की याद हो आई। चीज़ें बँधवा चुकने पर उसे ध्यान आया कि पैसे तो वह साथ लाया ही नहीं क्योंकि वह तो सिर्फ़ घूमने के इरादे से निकला था। दुकानदार से उसने कह दिया कि वह सब पैसे मेरे नोट में से काट ले।

वापस होटल में पहुँचने पर आग्रह के साथ कहा कि मैं एक मिनिट उसके कमरे में आऊँ, उसे मुझसे कुछ ख़ास बात करनी है। मैं अन्दर-ही-अन्दर जल-भुनकर खाक हो रहा था, इसलिए मैं उसके कमरे में नहीं गया। दस मिनिट बाद वह खुद मेरे कमरे में चला आया।

"देखिए, मैं इस वक़्त कुछ पढ़ना चाहता हूँ," मैंने उसे देखकर रूखे स्वर में कहा। "इसलिए और बात हम कल किसी वक़्त करेंगे।"

"हाँ-हाँ, शौक़ से पढ़िए," वह कुर्सी पर बैठता बोला। मैं तो सिर्फ़ एक मिनिट के लिए ही आया हूँ।"

"बताइए, क्या बात है एक मिनिट की?" मैंने खड़े-खड़े ही पूछा।

"आप बैठ जाएँ, तो मैं बात करूँ," वह बोला। "ऐसे क्या बात होगी?"

"मैं बैठ जाऊँगा, आप बात बताएँ।"

"आप मुझसे नाराज़ हैं क्या?" उसने ऐसा चेहरा बनाकर कहा जैसे उसके साथ बहुत ज़्यादती की जा रही हो।

मैंने अब अपने स्वर को थोड़ा सँभाल लिया। ''मैंने आपसे ऐसी कोई बात नहीं कही जिससे लगे कि मैं नाराज़ हूँ।''

''नहीं हैं न नाराज़?'' वह बोला। ''मैंने अच्छा किया जो पूछ लिया। मेरे मन का वहम निकल गया। मैं सोच रहा था कि मैं तो भाईसाहब की इतनी क़द्र करता हूँ, इन्हें अपने सगे भाई की तरह मानता हूँ फिर इनके चेहरे से क्यों लग रहा है जैसे ये मुझसे नाराज़ हैं? चलो मेरी तसल्ली हो गई।''

फिर जैसे मुझ पर उपकार करके उसने उठते हुए कहा, ''मैं तो भाईसाहब इनसानियत के नाते किसी के लिए भी कुछ भी करने को तैयार रहता हूँ। आप तो फिर अपने पंजाब के हैं। मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि मुझे हर वक़्त अपना दास समझें और सेवा का मौक़ा देते रहें।''

एक बार दहलीज़ पार करके वह फिर लौट आया। बोला, ''देखिए, मुझे आपसे थोड़ा-सा निजी काम है। पर मैं उस वक़्त आपको बताऊँगा जिस वक़्त आप ख़ाली होंगे। आप कब तक पढ़ते रहेंगे?''

''जब तक नींद नहीं आती,'' मैंने कहा।

''तो सोने से पहले मुझे आवाज़ दे लीजिएगा,'' वह चलता हुआ बोला। ''वैसे मैं भी एक बार आकर देख जाऊँगा।''

मगर उस रात उसे मौक़ा नहीं मिला क्योंकि जब तक वह देखने के लिए आया, तब तक मेरे कमरे की बत्ती बुझ चुकी थी। अगले दिन सुबह मैं अख़बार देख रहा था, तो वह फिर आ पहुँचा और बोला, ''इस वक़्त आप ख़ाली हैं?''

मैंने कुछ न कहकर अख़बार सामने से हटा दिया।

वह बैठ गया और ज़ेब से एक चिट्ठी निकालकर बोला, ''मैं इस चिट्ठी का जवाब आपसे लिखवाना चाहता हूँ।''

मेरा एक तो मन हुआ कि उसे कमरे से निकल जाने को कह दूँ, और दूसरा कि ज़ोर से ठहाका लगाऊँ। पर वह इस तरह क़बूतर की नज़र से मुझे देख रहा था कि मैं ये दोनों काम न करके सिर्फ़ मुस्कराकर रह गया। मैंने उसे समझाना चाहा कि मैं चिट्ठी लिखने की कला का विशेषज्ञ नहीं हूँ, सिर्फ़ कभी-कभार कहानी-वानी लिख लेता हूँ। पर उसने मेरी बात जैसे सुनी ही नहीं। बोला कि वह एक ख़ास चिट्ठी है जो उसकी प्रेमिका रूबी ने उसे सिकन्दराबाद से लिखी है, और क्योंकि वह मुझे अपना सबसे विश्वस्त मित्र मानता है, इसलिए मुझे कम-से-कम इतनी राय तो उसे देनी ही चाहिए कि वह किस तरह उत्तर लिखे जिससे सारी बात उसमें आ जाए।

और वह सारी बात यह थी कि रूबी की तरफ़ उसके चौदह रुपए निकलते थे। वह इस तरह पत्र लिखना चाहता था कि रूबी पर उसके प्रेम का प्रभाव भी बना रहे और उसकी रक़म भी वापस आ जाए।

रूबी पहले उसी होटल में उसके कमरे से दो कमरे छोड़कर अपने भाई-भावज के साथ रहती थी। कपूर का विश्वास था कि वह चाहता तो ननद और भावज दोनों से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर सकता था, पर उसने अपने को गिरने नहीं दिया और केवल रूबी को ही प्रेम के लिए चुने रहा। रूबी से भी वह दूर-दूर से ही प्रेम करना चाहता था, पर रूबी कुछ इस तरह उस पर मरने लगी थी कि उसके लिए अपने प्रेम की पवित्रता बनाए रखना असम्भव हो गया था। एक रात (जबकि भूल से पीछे का दरवाज़ा खुला रह गया था), रूबी चुपके से उसके कमरे में चली आई थी और उसने चाहते हुए भी (क्योंकि बाहर बारिश होने लगी थी) अपने को रूबी की इच्छा पर छोड़ देना पड़ा था। उसके बाद जितने दिन रूबी वहाँ रही, दरवाज़ा खुला रहने की भूल दोहराई जाती रही।

रूबी बीच-बीच में उससे एक-एक दो-दो रुपए उधार ले लेती थी और उसके सिकन्दराबाद जाने तक कपूर की डायरी में उसके नाम चौदह रुपए हो गए थे। वह जाते हुए कह गई थी कि सिकन्दराबाद पहुँचते ही अपने बैंक से निकलवाकर भेज देगी, पर दो महीने होने को आए थे और उसने रुपए भेजना तो दूर, अपने किसी पत्र में उस क़र्ज़ का ज़िक्र तक नहीं किया था। महीना-भर पहले उसने लिखा था कि वह उसके लिए दो बेड-कवर काढ़कर भेज रही है, मगर बाद के पत्रों में उसका ज़िक्र नहीं था। अब कपूर चाहता था कि उसे ऐसा पत्र लिखा जाए जिसमें रुपयों की बात आ भी जाए और रूबी को यह महसूस भी न हो उसने यह बात लिखी है क्योंकि वह सीधे-सीधे रुपए माँगकर अपने प्रेम-सम्बन्ध पर आँच नहीं आने देना चाहता था।

"बताइए, यह सब किस तरह लिखा जाए?" सारा क़िस्सा सुनाने के बाद उसने पूछा।

मैंने उससे कहा कि, मैं इस मामले में कोई राय नहीं दे सकता। वह अपनी प्रेमिका को जानता है, इसलिए वही ठीक से सोच सकता है कि उसे क्या बात किस तरह लिखनी चाहिए। इस पर कपूर ने मेरा हाथ हौले से दबा दिया और धीमे से स्वर में कहा कि, मैं इतनी ऊँची आवाज़ में उसकी प्रेमिका का ज़िक्र न करूँ। वहाँ के लोग दक़ियानूसी ख़यालातों के हैं। वे भावना की बात का भी गन्दा मतलब ले सकते हैं।

मुझे समझ नहीं आ रहा था कि उसे किस तरह टाला जाए। आख़िर मैंने उससे कहा कि इस विषय में मुझे थोड़ा सोचना होगा। इस समय मुझे कुछ अपना काम करना है, इसलिए...। इस पर वह उठता हुआ बोला, "हाँ-हाँ, आप काम कीजिए। वैसे मैं भी इस बारे में सोचूँगा। आप भी सोचिए। शाम को दोनों साथ बैठकर ड्राफ़्ट बना लेंगे। मैं कल चिट्ठी ज़रूर पोस्ट कर देना चाहता हूँ, क्योंकि उसे अपना लुधियाना का पता भी देना है।"

और मुझसे यह अनुरोध करके कि मुझे बाज़ार का कोई काम हो तो शौकत से करा लूँ, तकल्लुफ़ में न रहूँ, वह अपने कमरे में चला गया।

उस शाम मैंने खाने का प्रबन्ध पास के एक होटल में कर लिया। नाश्ता अपने कमरे में तैयार करने के लिए आवश्यक सामान भी खरीद लाया। कपूर को इसका पता चला, तो पहले दिन तो उसने आकर शिकायत की कि मैं उसकी चीज़ों को अपनी चीज़ें क्यों नहीं समझता और यूँ ही इतने पैसे क्यों बर्बाद कर आया हूँ। मगर दूसरे दिन से वह मेरे कमरे में आ-आकर ऐसे-ऐसे करतब करने लगा, "आपकी अलमारी में डबल रोटी रखी है, ज़रा मक्खन का डिब्बा तो निकालिए, दो स्लाइस काटकर खा लूँ, अब इस वक़्त रोटी कौन बनाए!" या "आज दाढ़ में दर्द है, कुछ खाया नहीं जाएगा। सोचता हूँ थोड़ा-सा दूध पी लेना ही ठीक रहेगा। मैंने तो मँगवाया नहीं, आपके दूध में से ले रहा हूँ आप उतने दूध की जगह एक स्लाइस और खा लीजिएगा।" या "सेब आए हैं सेब? ज़रा चखकर तो देखें।" या फिर "शौकत आपके बिस्किट लाया था और उधर रखकर पान लाने चला गया था। दो दोस्त बैठे थे, उन्होंने चाय के साथ ले लिए। आपके लिए शौकत से और लाने को कह दिया है।" और ये और भी उसने शौकत से उन्हीं पैसों में से लाने को कह दिया था जो मैंने उसे दे रखे थे। इसके अलावा मेरे कमरे में आ बैठने के उसके पास सौ बहाने थे। "इतनी-इतनी देर आपका अकेले मन कैसे लग जाता है?" या "पंजाब के शहरों में शाम को कितनी रौनक होती है, पर यहाँ देखिए न...।" या फिर "लाइए, दो-चार सफ़े मैं साथ लगकर लिखवा दूँ। अकेले लिखते थक गए होंगे।"

मैंने तय कर लिया कि मैं उसके पास एक चिट लिखकर भेज दूँगा कि वह मेरे कमरे में न आया करे।

जिस होटल में मैं खाना खाने जाता था, वहीं धनंजय नाम का एक और युवक भी आया करता था। उसे दो-एक बार मैंने कपूर के कमरे में देखा था। एक शाम मैं होटल से खाना खाकर निकला, तो वह मेरे साथ-साथ बाहर आ गया। मेरा इरादा समुद्र-तट पर टहलने जाने का था। उसने कहा कि वह भी उसी तरफ़ चल रहा है। हम दोनों समुद्र-तट पर पहुँच गए। उसके चेहरे से लग रहा था कि वह मुझसे कोई ख़ास बात करना चाहता है। कुछ देर बाद संकोच हटाकर उसने पूछ लिया कि कपूर वहाँ से कब जा रहा है।

"पता नहीं," मैंने कहा। "वह रोज़ यही कहता है कि चार-पाँच रोज़ में जा रहा है।"

धनंजय रेत के गीले भागों से बचता कुछ देर चुपचाप मेरे साथ चलता रहा। फिर हिचकिचाते हुए उसने बताया कि कपूर की तरफ़ उसके कुछ रुपए निकलते हैं और वह चिन्तित है कि कहीं वह आदमी उसके रुपए मार तो नहीं लेगा।

"कितने रुपए हैं?" मैंने पूछा।

"पचास।"

"वह इस बारे में क्या कहता है?"

"कहता है लुधियाना पहुँचते ही भेज दूँगा।"

उसने यह भी बतलाया कि जिन दिनों रूबी कपूर के पास आया करती थी, उन्हीं दिनों कपूर ने उससे वे रुपए लिये थे। कहा था कि रूबी को ज़रूरत है, कि उसके अपने रुपए व्यापारियों से आठ-दस दिन में मिलेंगे, कि यह उसके प्रेम का सवाल है, और कि वही उसका एक ऐसा दोस्त है जिससे वह माँग सकता है। धनंजय की बातों से लगा कि कपूर ने रूबी से उसकी दोस्ती कराने का भी वादा किया था, पर वह वादा उसने पूरा नहीं किया। कपूर ने उससे यह भी कह रखा था कि मैं उसका पुराना दोस्त हूँ और कि मेरे वहाँ रहते उसे अपने रुपए की चिन्ता बिलकुल नहीं करनी चाहिए। मैंने धनंजय को अपनी स्थिति समझाई, तो उसका चेहरा उतर गया। गीली रेत से बचकर चलने का उसे ध्यान नहीं रहा। वह मुरझाए हुए स्वर में बोला, "देखिए, मैं रुपए की उतनी परवाह नहीं करता। पर उसे मेरे-जैसे भले आदमी के साथ इस तरह का सलूक करना नहीं चाहिए।"

मैं उसकी बात पर मन-ही-मन मुस्करा दिया। अपने से ज़्यादा मुझे उससे हमदर्दी हुई। यह इसलिए भी कि कुछ क़दम चलते-चलते एक जगह फिसलकर उसने कपड़े ख़राब कर लिये।

समुद्र-तट से लौटकर मैंने बटलर के हाथ कपूर के पास चिट भेज दी कि मैं कुछ दिन अकेले में काम करना चाहता हूँ, इसलिए उसकी मेहरबानी होगी अगर वह इसके बाद मेरे कमरे में आने की तकलीफ़ न करे। मगर थोड़ी ही देर में शौकत ने आकर कहा कि साहब उधर बुला रहे हैं। मैंने शौकत को वापस भेज दिया और चुपचाप अपना काम करता रहा। कुछ देर बाद कपूर, खुद चला आया और दरवाज़े के पास रुककर बोला, "भाई साहब, आपने लिखा है मैं आपके कमरे में न आया करूँ। पर आपको मेरे कमरे में आने में तो कोई एतराज़ नहीं है न?"

मुझे बहुत गुस्सा आ रहा था। मैंने खिझलाए स्वर में उससे कहा कि, "मैं अपने काम के वक़्त किसी की उस तरह की दख़ल-अन्दाज़ी पसन्द नहीं करता, इसलिए उस वक़्त उससे बात नहीं कर सकता।"

"पर, आखिर बात क्या है?" कहता हुआ वह अन्दर आ गया। "इसका मतलब है कि मेरा उस दिन का अन्दाज़ा ठीक था। आप ज़रूर किसी वजह से मुझसे नाराज़ हैं। आप जब तक वजह नहीं बताएँगे, मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा।"

मैं बिना कुछ कहे और बिना उसकी तरफ़ देखे अपने सामने की पुस्तक पर आँखें जमाए रहा। वह कुछ देर चुपचाप खड़ा रहा। फिर बोला, "यह कहानियों की किताब है?"

मैं इस पर भी चुप रहा।

''आपके पास कहानियों की और भी कोई अच्छी-सी किताब है?''

मैं फिर भी चुप रहा।

''आपके पास और कोई ऐसी किताब नहीं है?''

मैंने अब भी कोई जवाब नहीं दिया।

''अच्छा सुबह तक आप अपनी नाराज़गी दूर कर लीजिए, ऐसे मेरा मन नहीं लगता,'' कहकर उसने एक नज़र कमरे में चारों तरफ़ डाली, फिर धीरे-धीरे बाहर को चल दिया। फिर जैसे कुछ याद हो आने से ज़ेब में हाथ डालकर टटोलता हुआ बोला, ''यह मैं लाया था। अपने लिए ले रहा था, तो सोचा भाई साहब के लिए भी एक लेता चलूँ। ज़रूरत तो पड़ती ही रहती है,'' और उसने ज़ेब से एक माचिस की डिबिया निकालकर मेरी मेज़ पर रख दी।

''इसे ले जाइए, मुझे इसकी ज़रूरत नहीं है''—मैंने कहा।

''शुक्र है, बोले तो सही।'' कहता हुआ वह फिर आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। उसका कहने का ढंग ऐसा था कि मेरे लिए अपनी मुस्कराहट को रोक पाना असम्भव हो गया।

''शुक्र है, मुस्कराए तो सही।'' वह दोनों हाथ हवा में झटककर बोला। ''उस तरह नाराज़ बने रहते, तो मुझे रात-भर नींद न आती। यह डिबिया तो मैं इस ख़याल से ले आया था कि शायद आपको ज़रूरत हो। ज़रूरत नहीं है, तो उधर काम आ जाएगी,'' कहते हुए उसने डिबिया उठा ली। फिर कमरे से बाहर जाते हुए उसने कहा कि मेरे मन में अब भी कोई बात हो, तो उसे मैं मन से निकाल दूँ, उसका मन मेरी तरफ़ से बिलकुल साफ़ है।

तीन-चार दिन यही हाल रहा। मैं उससे बात करने से बचता। पर वह बीच-बीच में आकर इसी तरह मेरे पास बैठ जाता और दो-चार बातें करके, और और कुछ हाथ न लगे, तो थोड़ी-सी चीनी ही फाँककर चला जाता। कभी-कभी उसका वह दाँव भी चल जाता, ''अच्छा, केले की खुशबू आ रही है, केले आए हैं।''

आखिर उसका जाने का दिन आ गया। मैं दोपहर को खाना खाकर लौटा, तो देखा उसका सामान बँध चुका है। धनंजय शौकत से सामान उठवाकर ताँगे में रखवा रहा था। कपूर मुझे देखते ही बाँहें फैलाए मेरे पास आ गया। बोला, ''मैं इन्तज़ार ही कर रहा था कि भाई साहब आएँ, तो स्टेशन चलें।''

मैंने अपने कमरे का दरवाज़ा खोलकर अन्दर दाखिल होते हुए कहा कि धूप बहुत तेज़ है इसलिए मैं उसके साथ स्टेशन तक नहीं चल सकूँगा। वह भी मेरे साथ ही कमरे में आ गया और मेज़ के पास रुककर बोला, ''ठीक है, आपको तकलीफ़ उठाने की ज़रूरत नहीं।'' फिर मेज़ पर रखी एक पुस्तक को उठाकर दोनों तरफ़ से

देखते हुए उसने कहा, "यह किताब मैं रास्ते में पढ़ने के लिए ले जा रहा हूँ। दिल्ली से आपको बुकपोस्ट से भेज दूँगा।"

और बिना मुझे कुछ कहने का मौक़ा दिए पहले दिन की तरह फिर एक बार मुझे बाँहों में भींचकर दरवाज़े की तरफ़ बढ़ गया। मैंने तब बाहर निकलकर उससे कहा कि मैं भी थोड़े दिनों में वहाँ से चला जाऊँगा, इसलिए वह पुस्तक मैं उसे नहीं ले जाने दे सकता। धनंजय और शौकत तब तक ताँगे में पिछली सीट पर बैठ गए थे। वह जाकर अगली सीट पर बैठता हुआ बोला, "आप फ़िक्र न करें, मैं किताब आपको बंगलोर से ही भेज दूँगा।"

और गहरी आत्मीय भावना के साथ आँखें मूँदकर उसने हाथ जोड़ दिए। कहा, "दास से कोई भूल-चूक हुई हो, तो माफ़ कर देना। और कभी-कभार याद कर लिया करना।"

तब तक ताँगा चल दिया।

उस शाम धनंजय फिर मुझे होटल में मिल गया। हम फिर साथ-साथ समुद्र-तट पर टहलने निकल गए। वहाँ बैठकर उँगलियों से रेत पर लकीरें खींचते हुए उसने कहा, "पता नहीं मेरे पैसे भेजता है या नहीं। कह तो गया है कि जल्दी ही भेज देगा। मैं इसीलिए उसे स्टेशन तक छोड़ने गया था कि मेरी तरफ़ से उसका दिल बिलकुल साफ़ रहे। मैंने खुद ही उससे कह दिया है कि दस-बीस दिन में जब भी उसे सुविधा हो, भेज दे। इस तरह मैंने सोचा कि शायद भेज भी दे। नहीं तो ऐसे आदमी का क्या पता है?"

मैं कुहनियाँ रेत पर टिकाए लेटा उमड़ती लहरों का खेल देखता रहा। धनंजय आशापूर्ण दृष्टि से आकाश को ताकता रेत पर लकीरें खींचता रहा।

मलबार

शब्द मलबार में जो आकर्षण है, वही आकर्षण वहाँ दृश्य-विस्तार में भी है। लाल ज़मीन, घनी हरियाली और बीच-बीच में नारियल के सूखे पत्तों से बनाई गई घरों की छतें। कनानोर में रहकर और आसपास घूमकर मुझे लगा कि वह सारा प्रदेश एक बहुत बड़ा नारियल का उद्यान है जिसमें बीच-बीच में सुपारी, काजू, पान आदि जैसे दृश्य सौन्दर्य के लिए ही लगा दिए गए हैं और जिसमें छोटी-छोटी नदियों और बैंक-वाटर्ज़ का पानी भी उसी उद्‌देश्य से फैला दिया गया है। इस तरह के सौन्दर्य में घिरकर रहना अपने में एक चाह हो सकती है, पर वहाँ गर्मी बहुत पड़ती है। एक वहीं के व्यक्ति ने मज़ाक़ में मुझसे कहा कि मलबार में साल में नौ महीने गर्मी पड़ती है, और बाक़ी तीन महीने बहुत गर्मी पड़ती है।

मलबार की उपजाऊ ज़मीन एक तरह से कच्चा सोना उगलती है। वहाँ की उपज को देखते हुए वहाँ के निवासियों का जीवन-स्तर काफ़ी अच्छा होना चाहिए, पर ऐसा नहीं है। प्रकृति की भरपूर देन के बीच भी अधिकांश लोग अभावपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। कनानोर में उमायल फ़ैक्टरी के पास के मैदान में अकसर मज़दूरों की मीटिंगें हुआ करती थीं। मैं बोलने वालों की भाषा नहीं समझ पाता था, पर उनकी ध्वनियों से भी अर्थ का बहुत-कुछ अनुमान लगाया जा सकता था। उन दिनों किसी फ़ैक्टरी में हड़ताल चल रही थी। समस्या वही थी जो हुआ करती है। बाज़ार मन्दा होने के कारण मालिक लोग मज़दूरों का वेतन घटाना चाहते थे, और ऐसा न होने पर फ़ैक्टरी बन्द करने की धमकी दे रहे थे। मज़दूर अपने वेतन कम करने के लिए तैयार नहीं थे। शाम को जुलूस निकलता, उसके बाद मीटिंग होती और रात की हवा में मलयालम की मूर्धन्य ध्वनियाँ स्टेनगन की तरह गूँजती सुनाई देतीं। मैं कई बार उन ध्वनियों को सुनने के लिए ही रुक जाया करता।

वहाँ रहते कई बार सोचा करता कि कितनी साधारण चीज़ें मनुष्य के निर्माण में कितना बड़ा हाथ रखती हैं। समुद्र-तट की हवा, मछली, खोपड़े का तेल और उबले हुए चावल—इन उपकरणों से प्रकृति मलबार में जिस शरीर-सौन्दर्य की सृष्टि करती है, उसे गठन, तराश और उठान की दृष्टि से असाधारण कहा जा सकता है। पतली खाल, सुन्दर आँखें और अजन्ता की मूर्त्तियों के-से होंठ—ये वहाँ के शरीर-सौन्दर्य की विशेषताएँ नहीं, सामान्यताएँ हैं। परन्तु बहुत से चेहरों पर अभाव की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। लगता है कि प्रकृति के उस सुन्दर निर्माण में कोई मैली चीज़ हस्तक्षेप कर रही है। मलबार के पक्षी भी बहुत सुन्दर हैं—परन्ध, कोच्छ, कडल काक, सभी। उनके निर्माण और विकास में किसी का हस्तक्षेप नहीं, इसलिए वे बहुत स्वस्थ भी हैं। वे धरती और वातावरण से जितना कुछ ग्रहण करना चाहते हैं, उन्मुक्त भाव से कर सकते हैं। परन्तु मनुष्यों की यह विवशता है कि वे ऐसा नहीं कर पाते।

सांस्कृतिक दृष्टि से मलबार मलयालम-भाषी केरल प्रदेश का एक अंग है। (केरल तब तक केवल एक सांस्कृतिक इकाई थी, आज की तरह राजनीतिक इकाई नहीं।) उत्तर भारत में जिस उत्साह के साथ होली और दीवाली मनाई जाती है, वहाँ उसी उत्साह के साथ ओणम् और विशु, ये दो त्योहार मनाए जाते हैं। ओणम् अगस्त-सितम्बर में पड़ता है और वर्ष का प्रमुख त्योहार माना जाता है। इस त्योहार के साथ राजा महाबली की कथा सम्बद्ध है। (उत्तर भारत में इन्हीं महाबली को हम राजा बली के रूप में जानते हैं, जिनसे, पौराणिक कथाओं के अनुसार, वामन ने तीन पैर ज़मीन माँगी थी और फिर सारी ज़मीन पर पाँव फैलाकर उन्हें पाताल में भेज दिया था।) ओणम् की कथा है कि राजा महाबली के राज्य में केरल में बहुत समृद्धि थी और प्रजा बहुत सुखी थी। वामन ने राजा महाबली को केरल छोड़कर

पाताल जाने के लिए विवश कर दिया। (यह सम्भवतः उत्तर भारतीय शक्ति प्रसार का रूपक है। केरल में महाबली आदर्श राजा है, जबकि उत्तर के पुराण उन्हें दैत्यों का अधिपति बताते हैं।) चूँकि महाबली बहुत लोकप्रिय राजा थे और उस प्रदेश को उन्हीं ने समृद्ध बनाया था, इसलिए उन्हें यह सुविधा दी गई कि वे वर्ष में एक बार पाताल से आकर केरल की प्रजा को आशीर्वाद दे जाएँ जिससे उस प्रदेश की समृद्धि यथावत् बनी रहे। ओणम् का दिन राजा महाबली के पाताल से लौटकर आने का दिन माना जाता है।

वैसे ओणम् फ़सल काटने का त्यौहार है। इस अवसर पर लोग नौ दिन तक घरों के आगे फूलों से तरह-तरह की सजावट करते हैं। ओणम् के दिन घर के आँगन में महाबली की मिट्टी की मूर्ति स्थापित करके उसकी पूजा की जाती है। पप्पड़म् (पापड़) और केले से बनाए गए खाद्य-पदार्थ ओणम् के दिन के विशेष पकवान हैं।

विशु दूसरा त्यौहार है जो अप्रैल-मई में पड़ता है। यह मलयालम संवत्सर के आरम्भ के दिन मेदम् मास की पहली तारीख़ को मनाया जाता है। उससे पहले की रात को घर के बड़े कमरे में खनी (विभिन्न व्यंजन, जिनमें उबला हुआ चावल नहीं रहता) रखकर दीये जला दिए जाते हैं। सवेरे उठते ही घर के लोग खनी के दर्शन करके पूजा आदि करते हैं।

उत्तर भारत के त्यौहारों में से वहाँ महाशिवरात्रि मनाई जाती है। यह भी वहाँ के प्रमुख त्यौहारों में से है। दीवाली एक सीमित वर्ग में ही मनाई जाती है। होली और वसन्त नहीं मनाए जाते।

बिखरे केन्द्र

कनानोर से कालीकट जाते हुए रास्ते में मैं तेल्लीचेरी स्टेशन पर उतर गया। यह एक सनक ही थी। कनानोर से चल देने का निश्चय अचानक ही कर लिया था। मुझे वहाँ रहते तब कुल सत्रह दिन हुए थे। उस दिन सुबह सोकर उठा, तो मन कुछ उचाट-सा था। लग रहा था जैसे वहाँ रहते बहुत दिन हो गए हों और अब वहाँ और रह सकना असम्भव हो। अनदेखे स्थानों का आकर्षण फिर मन पर छा गया था। आश्चर्य हो रहा था कि मैं इतने दिन भी कनानोर में कैसे रह गया। उसके बाद थोड़ी ही देर में सामान बँध गया और मैं कालीकट का टिकिट लेकर गाड़ी में सवार हो गया।

पीली रेत–दूर-दूर तक फैली हुई। नारियलों के घने झुंड और नंगी रेत। समुद्र का नीला पानी और चिकनी रेत। खिड़की से दिखाई देती वह तट की रेत इतनी

आकर्षक लग रही थी कि मन हुआ उसे पास से देखने के लिए क्यों न वहीं कहीं उतर पड़ूँ? क्या पता आगे कहीं रेत उतनी पीली, उतनी चिकनी और उतनी एकान्त मिलेगी या नहीं। जब गाड़ी तेल्लीचेरी स्टेशन पर रुकी, तो मैंने बिना ज़्यादा सोचे अपना सामान गाड़ी से उतरवा लिया।

डेढ़-दो का समय था। गाड़ी चली गई, तो प्लेटफ़ॉर्म और पटरियों पर फैली धूप को देखकर मुझे वहाँ उतर पड़ने के लिए अफ़सोस होने लगा। पूछने पर पता चला कि उस स्टेशन पर क्लोक रूम भी नहीं है जहाँ सामान छोड़कर घूमने जाया जा सके। मगर उतर पड़ा था, इसलिए सामान एक पोर्टर के सुपुर्द करके हाथ ज़ेबों में डाले स्टेशन से बाहर निकल आया। पीली रेत और उसके आकर्षण की बात तब तक भूल चुका था।

चारों तरफ़ खुली धूप फैली थी। एक रिक्शा वाले ने पास आकर पूछा, "जगन्नाथ गेट?"

मैंने उससे पूछा कि यह जगन्नाथ गेट कौन-सी जगह है?

"वर रुपिया आर आणा," वह बोला।

मैंने कनानोर में रहते मलयालम की एक से दस तक की गिनती सीख ली थी। जो उसने कहा उसका मतलब था 'एक रुपया छह आना।'

मैंने इशारों से समझाने की कोशिश करते हुए उससे फिर पूछा कि जगन्नाथ गेट कौन-सी जगह है?

"वर रुपिया नाल आणा," वह बोला। इसका मतलब था, "एक रुपया चार आना।"

"ठीक है, चलो।" कहकर मैं रिक्शा में बैठ गया। सोचा कि एक रुपया चार आना ख़र्च करके किसी अनजान जगह पर ले जाया जाना अपने में बुरा अनुभव नहीं है।

रिक्शा सँकरे रास्ते में से होता हुआ चलने लगा। दोनों ओर के घर छह-छह आठ-आठ फ़ुट ऊँची ज़मीन पर बने थे। हम एक तरह से दो दीवारों के बीच बनी गली से होकर जा रहे थे। उस धूप में भी उन गलियों में से गुज़रते हुए एक ठंडक-सी महसूस होती थी। आखिर एक ऐसी जगह पहुँचकर जहाँ एक ओर दुकानें थीं और दूसरी ओर खुला मैदान, रिक्शा वाले ने रिक्शा रोक दिया। मैदान की तरफ़ इशारा करके उसने मुझे एक पगडंडी दिखाई और इशारे से कहा कि मैं उस पगडंडी से आगे चला जाऊँ।

"मगर यह पगडंडी जाती कहाँ है?" मैंने भी इशारों से ही उसे अपना मतलब समझाने की कोशिश की।

उसने जवाब में जो इशारे किए, उनसे मुझे लगा कि वह कह रहा है मैं लौटकर वहीं आ जाऊँ, वह वहाँ रुककर मेरा इन्तज़ार करेगा। आखिर जब उसे लगा कि हम

दोनों बिना एक-दूसरे की बात समझे यूँ ही फ़िज़ूल हाथ हिला रहे हैं, तो वह रिक्शा एक तरफ़ छोड़कर चला आया और इशारे से मुझे पीछे आने को कहकर पगडंडी पर आगे-आगे चलने लगा।

उस तरह कुछ दूर चलकर हम जहाँ पहुँचे, वह परम शिवम् का एक मन्दिर था। पन्द्रह-बीस मिनिट मैं घूमकर मन्दिर देखता रहा। यह जानकर कि मैं उत्तर भारत से आया हूँ, पुजारी बहुत उत्साह के साथ मन्दिर की एक-एक चीज़ मुझे दिखाता रहा। उसने अनुरोध किया कि मैं कमीज़ और बनियान उतारकर मन्दिर को अन्दर से भी देखूँ। अन्दर घूम चुकने के बाद उसने मुझे मन्दिर के संस्थापक स्वामी जी की मूर्ति दिखाई जो छह हज़ार रुपए में इटली से बनकर आई थी। चलने से पहले उसने मुझे नारियल का पानी पिलाया। उसे बहुत खुशी थी कि मैं मन्दिर के महत्त्व को समझकर इतनी दूर से वहाँ आया हूँ—एक ऐसा ही दर्शनार्थी कुछ वर्ष पहले भी कहीं दूर से वहाँ आया था।

मन्दिर से लौटते हुए मेरी नज़र पगडंडी के एक तरफ़ मिट्टी खोदते मज़दूरों पर पड़ी। कुछ पुरुष थे जो नंगे बदन, दो-गज़ी धोतियाँ ऊपर को लपेटे, मिट्टी खोदकर तसलों में भर रहे थे। कुछ स्त्रियाँ थीं जो धोतियों के साथ ब्लाउज भी पहने थीं, और तसले सिरों पर उठाकर मिट्टी दूसरी तरफ़ फेंकने ले जा रही थीं। काम के साथ-साथ वे लोग आपस में चुहल भी कर रहे थे। मैं पगडंडी पर रुककर उन्हें काम करते देखता रहा।

उनमें से एक नवयुवक ने मेरी तरफ़ देखकर मलयालम में न जाने क्या सवाल पूछा। मैं चुपचाप मुस्करा दिया, तो रिक्शा वाले ने उसे बताया, "मलयाली इल्ला।"

इस पर वे सब लोग मेरी तरफ़ देखने लगे। आपस में थोड़ी बात करने के बाद उसी नवयुवक ने मुझसे एक और सवाल पूछा।

"मालयाली इल्ला।" इस बार मैंने कहा। इस पर वे सब हँस दिए। मैंने उनकी तरफ़ हाथ हिलाया और वहाँ से चल दिया। उनमें से भी कुछ एक ने जवाब में हाथ हिलाए। अब रिक्शा वाला मुझे मलयालम में शायद उनकी बातों का अर्थ समझाने लगा। दो-एक मिनिट बोलकर उसने प्रश्नात्मक स्वर में बात समाप्त की और मेरी तरफ़ देखा। मैंने सिर हिलाया कि मेरी समझ में कुछ नहीं आया। उसने निराश भाव से हाथ झटके और हम दोनों खिलखिलाकर हँस दिए।

स्टेशन के पास रिक्शा से उतरकर मैं चाय पीने सामने की एक दुकान में चला गया। बाहर बोर्ड लगा था : 'मुस्लिम होटल'। रिक्शा वाला मेरा मेहमान था क्योंकि उसी ने उस जगह की सिफ़ारिश की थी। एक ख़ास ढंग से भाप देकर कपड़े के मैले-से स्टेनर में छानकर नए ही ढंग से बनाई गई वह चाय जब एक मैली-सी प्याली में सामने आई, तो मेरा पीने को मन नहीं हुआ। पर पहला घूँट भरने पर

चाय का फ़्लेवर इतना अच्छा लगा कि 'सिर्फ़ एक घूँट और' भरने के लिए प्याली हाथ में लिये रहा। उसके बाद दो-तीन घूँट और भर लिए, फिर भी प्याली परे हटाते नहीं बना।

होटल की बेंचें भी प्याली से कम मैली नहीं थीं। हम्माम, काउंटर का तख्ता और दरवाज़ों की जालियाँ—सब पर मैल की परतें जमी थीं। दो छोटे-छोटे कमरे थे। एक जिसमें बैठकर मैं चाय पी रहा था। दूसरा उसके पीछे था। उस कमरे में भी एक मेज़ और कुछ बेंचें रखी थीं। कुछ नवयुवक काफ़ी बेतकल्लुफ़ी से वहाँ बैठे साहित्य-चर्चा कर रहे थे। मेज़ पर एक लेख के काग़ज़ बिखरे थे जो शायद उनमें से किसी ने पढ़ा था। लेख को लेकर जो बहस चल रही थी, उसमें से कोई-कोई शब्द मेरे पल्ले पड़ जाता था—इनसाइट, वैल्यूज़, लाइफ़ मैटर। काग़ज़ों के आस-पास रखी चाय की प्यालियाँ कब की ख़ाली हो चुकी थीं। बातचीत की गरमागरमी में कभी उनमें से किसी का हाथ अपने सामने की ख़ाली प्याली को ही उठाकर होंठों तक ले जाता। चुस्की लेने की कोशिश में पता चलता कि प्याली में चाय नहीं है, तो निराशा का हलका झटका महसूस करके वह प्याली नीचे रख देता। बाहरी दरवाज़े की जाली में से सड़क का कुछ हिस्सा दिखाई दे रहा था। सड़क के परले सिरे पर तीन स्त्रियाँ एक पेड़ के नीचे अपने बोरिया-बिस्तर का दायरा-सा बनाए लेटी थीं। दो बच्चे थे जिनमें से एक बँधी चारपाई के पायों में से हर-एक पर बारी-बारी से हाथ रखता हुआ अपना ही कोई खेल खेल रहा था। दूसरा बच्चा, जो उससे थोड़ा बड़ा था, एक बछिया को धकेलकर दायरे से दूर हटाने की कोशिश कर रहा था। तभी एक स्त्री न जाने किस बात से अचानक उठकर बैठ गई और तीखी आवाज़ में बड़े बच्चे को कोसने लगी। बच्चा बछिया को उसकी जगह पर छोड़कर सड़क के इस पार चला आया। पर स्त्री का कोसना इसके बाद भी कुछ देर जारी रहा।

मैंने एक-एक घूँट करके पूरी प्याली ख़ाली कर दी थी। प्याली रखकर डायरी में कुछ नोट्स लेने लगा, तो देखा कि कोने की मेज़ पर चाय पीता एक आदमी एकटक मेरी तरफ़ देख रहा है। वह शायद अपने मन में मेरी गतिविधि के नोट्स ले रहा था।

'मुस्लिम होटल' से निकलकर मैं स्टेशन के वेटिंग हाल में आ गया। हाल क्या, एक कमरा-सा था जिसमें एक तरफ़ बुकिंग ऑफ़िस था, दूसरी तरफ़ टी-स्टाल। बीच में कुछ बेंचें पड़ी थीं। ज़्यादातर बेंचों पर लोग लेटे या बैठे थे, पर आस-पास किसी का सामान नज़र नहीं आ रहा था। एक बेंच पर एक फटे कानों वाली बुढ़िया बैठी थी जो अपनी सुँघनी हाथ में मल रही थी। उसके साथ की बेंच पर एक अधेड़ मुसलमान घुटने ऊपर उठाए पैरों को आकाश में झुलाता हुआ साथ बैठे नवयुवक से कुछ बात कर रहा था। सिर्फ़ उसी बेंच पर थोड़ी-सी जगह ख़ाली थी, इसलिए

मैं भी उनके पास जा बैठा। अभी बैठ ही रहा था कि आस-पास सब लोग हँस दिए। अधेड़ मुसलमान ने कुछ बात कही थी। मैं थोड़ा अचकचा गया कि कहीं बात मुझे लेकर तो नहीं कही गई। मेरे चेहरे से भाँपकर कि मैं ऐसा सोच रहा हूँ, साथ बैठा नवयुवक अंग्रेज़ी में मुझसे बोला, "आप शायद इनकी बात नहीं समझे। मैं इनसे कह रहा था कि हर आदमी को तीन चीज़ें अधिकार के तौर पर मिलनी चाहिए—रोटी, कपड़ा और मकान। पर ये कह रहे हैं कि तीन नहीं चार चीज़ें मिलनी चाहिए—रोटी, कपड़ा, मकान और औरत।"

इस पर मैं भी हँस दिया।

"ये शादीशुदा नहीं हैं क्या?" मैंने युवक से पूछा।

नवयुवक फिर हँसा। बोला, "होते, तो ऐसी बात क्यों कहते?"

फिर वह गम्भीर होकर अधेड़ मुसलमान से आगे बहस करने लगा। शायद उसे समझाने लगा कि क्यों औरत की गिनती उन चीज़ों में नहीं की जा सकती। मगर अधेड़ मुसलमान आख़िर तक सिर हिलाता रहा। उसकी एक और बात ने फिर लोगों को हँसा दिया। नवयुवक ने मेरे लिए अनुवाद किया, "कहते हैं कि औरत ही नहीं मिलेगी, तो आदमी रोटी, कपड़े और मकान का क्या करेगा? बेकार हैं सब!"

"यह जगह स्टेशन का वेटिंग हाल नहीं, एक अच्छा-ख़ासा क्लब जान पड़ती है," मैंने नवयुवक से कहा।

"आपकी बात ग़लत नहीं है," वह बोला। "हम लोग रोज़ दोपहर को यहाँ चले आते हैं। छोटी-सी शान्त जगह है, दोपहर काटने के लिए बहुत अच्छी है। चाय, काफ़ी और खाने-पीने की दूसरी चीज़ें भी यहाँ मिल जाती हैं। एक से साढ़े चार के बीच कोई गाड़ी नहीं आती, इसलिए आदमी चाहे, तो आराम से सो भी सकता है। हवादार जगह होने से गर्मियों के लिए बहुत ही अच्छी है। हम जितने लोग यहाँ आते हैं, सब के सब बेकार हैं। बेकारी का वक़्त घर बैठकर उतनी आसानी से नहीं कटता, जितनी आसानी से यहाँ कट जाता है।"

उसके बाद मैं दो घंटे और वहाँ रहा—गाड़ी के आने तक। गाड़ी में बैठा, तो उस नवयुवक के अलावा और भी दो-तीन लोगों ने प्लेटफ़ॉर्म से मुझे विदा दी। उतनी देर में मुझे भी उस बेकार-समाज की अस्थायी सदस्यता मिल गई थी। गाड़ी आगे निकल आई, तो भी काफ़ी देर मन से मैं तेल्लीचेरी में ही बना रहा—मन्दिर के अहाते में, उस पगडंडी के पास जहाँ ज़मीन की खुदाई हो रही थी, मुस्लिम होटल की मैली जालियों के अन्दर और थर्ड क्लास के उस वेटिंग हाल में। लग रहा था कि जगह-जगह बिखरे ऐसे कितने छोटे-छोटे केन्द्र हैं जो परोक्ष रूप से हमारे जीवन की दिशा निर्धारित करते हैं...परन्तु उन केन्द्रों पर रहनेवाले लोग स्वयं शायद फिर भी अनिर्धारित ही रह जाते हैं...कभी-कभी जीवन-भर।

कॉफ़ी, इंसान और कुत्ते

'ऊटी पचहत्तर मील'—सामने मील के पत्थर पर खुदे अक्षरों को मैं कई क्षण देखता रहा। कालीकट से चुन्देल आकर मैं वहाँ बस से उतरा ही था। सामान कालीकट छोड़ आया था। चलते समय मुझे पता नहीं था कि मैं ऊटी की सड़क पर जा रहा हूँ। अब चुन्देल पहुँचकर उस मिल के पत्थर को देखते हुए मन होने लगा कि अगली बस से ऊटी चला जाऊँ—कुल पचहत्तर मील का ही तो सफ़र है। पर रात काटनी पड़ती आठ हज़ार फ़ुट की ऊँचाई पर और गले में थी सिर्फ़ एक सूती कमीज़। मैंने आँखें मील के पत्थर से हटाईं और कच्चे रास्ते पर आगे चल दिया।

उससे पहली शाम मैंने कालीकट के समुद्र-तट पर बिताई थी। जिस समय वहाँ पहुँचा, उस समय जितने भी लोग वहाँ थे, सब-के-सब एक-दूसरे से दूर अलग-अलग दिशाओं में मुँह किए लेटे या बैठे थे। लगता था हर-एक को दुनिया से किसी-न-किसी बात की नाराज़गी है—या अपने अस्तित्व को लेकर कुछ ऐसी चिन्ता है जिसका समाधान उसे यहाँ से ढूँढ़कर जाना है। हर आदमी ने अपना एक अलग कोण बना रखा था। एक जगह तीन आदमी कुहनियों पर सिर रखे आगे-पीछे लेटे थे—एक दूसरे से दो-दो फ़ुट का फ़ासला छोड़कर। उन्होंने शायद अपनी व्यक्ति-भावना और समष्टि-भावना का समन्वय कर रखा था। लेकिन कुछ देर बाद वहाँ चहल-पहल हो गई थी, तो ये सारे व्यक्तिवादी, अपने कोणों सहित, उस भीड़ में खो गए।

कालीकट व्यापारिक नगर है। वहाँ का समुद्र-तट जहाज़ों पर माल चढ़ाने-उतारने का केन्द्र है। मुझे अपनी दृष्टि से वह समुद्र-तट ज़्यादा आकर्षक नहीं लगा, इसलिए सिर्फ़ एक रात वहाँ रहकर मैंने आगे चल देने का निश्चय कर लिया। कालीकट से चुन्देल मैं चाय और कॉफ़ी के बगीचे देखने के लिए आया था। इस जगह की सिफ़ारिश मुझसे हुसैनी ने की थी।

दो पत्तियाँ और एक कली—मैंने रास्ते से एक पौधे की पत्तियाँ तोड़कर सूँघने लगा। सामने नीलगिरि का जितना विस्तार नज़र आता था, उस पर दूर तक चाय के पौधे उगे थे। कुछ दूर ऊँचाई पर चाय की फ़ैक्टरी थी। घूमता हुआ मैं फ़ैक्टरी में चला गया। चाय को हरी-हरी पत्तियों को सूँघते-सहलाते हुए जो पुलक प्राप्त हुआ था, वह फ़ैक्टरी में यह देखकर जाता रहा कि केतली तक आने से पहले वे पत्तियाँ किस बुरी तरह सुखाई, मसली, तपाई और काटी जाती हैं। मगर फ़ैक्टरी में जो ताज़ा चाय पीने को मिली, उससे यह भावुकता काफ़ी हद तक दूर हो गई।

फ़ैक्टरी से निकलकर फिर काफ़ी देर इधर-उधर घूमता रहा। हर तरफ़ चाय के ही बगीचे थे, कॉफ़ी का एक भी बग़ीचा नज़र नहीं आ रहा था। एक आदमी से पूछा, तो उसने सामने की तरफ़ इशारा कर दिया। जो उसने मुँह से कहा, वह मेरी समझ

में नहीं आया। मैं चुपचाप उसके बताए रास्ते पर चल दिया। पर डेढ़-दो फ़र्लांग जाने पर एक दोराहा आ गया। मैं कुछ देर दुविधा में खड़ा रहा कि अब आगे किस रास्ते से जाऊँ। एक तरफ़ से कुछ लोगों के बात करने की अवाज़ सुनाई दे रही थी। यह सोचकर कि आगे का रास्ता उनसे पूछ लिया जाए, मैं उस तरफ़ बढ़ गया। झाड़ियों से आगे वह एक खुली-सी जगह थी जहाँ नीचे कुछ मज़दूर खाद तैयार कर रहे थे। उनके और मेरे बीच कई गज़ तक खाद का फैलाव था। मैं खाद के ऊपर से होता हुआ उनके पास पहुँच गया। शब्दों और इशारों का पूरा इस्तेमाल करते हुए मैंने उनसे पूछा कि कॉफ़ी के बगीचे तक पहुँचने के लिए मुझे किस रास्ते से जाना चाहिए। पर वे लोग मेरी बात नहीं समझे। उनमें से एक ने आगे आते हुए मुझसे पूछा, "मलयाली?"

मैंने सिर हिलाया—नहीं।

"तमिलु?"

मैंने फिर सिर हिला दिया।

"हिन्दुस्तानी?"

"हाँ," मैंने कहा। "हिन्दुस्तानी।"

"क्या पूछता है, बोलो।" वह अब बहुत पास आ गया।

"मैं जानना चाहता हूँ कि उधर जो दो रास्ते हैं, उनमें से कॉफ़ी के बगीचे का रास्ता कौन-सा है?"

"इधर कॉफ़ी का कोई बगीचा नहीं है," वह बोला। "तुमको किसने इधर भेजा?"

मैंने उसे बता दिया मैं कैसे एक आदमी से रास्ता पूछकर उधर आया हूँ।

वह मुस्कराया। बोला, "उसने समझा तुम कॉफ़ी पीने का जगह पूछता है। इधर आगे जाने से कॉफ़ी पीने का होटल मिलेगा। कॉफ़ी का बगीचा दूसरी तरफ़ है। मेरे को इधर काम है, नहीं तो मैं चलकर तुम्हें दिखा देता।" मैं निराश भाव से सिर हिलाकर वहाँ से हटने लगा, तो उसने अपने साथियों की तरफ़ मुड़कर उनसे कुछ कहा। फिर मुझसे बोला, "अच्छा आओ, मैं तुम्हें ले चलता है।"

वह इत्मीनान से खाद पर से होता हुआ आगे-आगे चलने लगा। मैं भी टखने-टखने खाद पर हल्के पैर रखता और पत्थरों पर पैर जमाकर अपना सन्तुलन ठीक करता उसके पीछे-पीछे चलने लगा। खाद से आगे एक पगडंडी पार करके हम सड़क पर पहुँच गए। वहाँ आकर उसने पूछा, "तुम इधर कैसे आया?"

"ऐसे ही—घूमने के लिए," मैंने कहा।

"ख़ाली घूमने के लिए?" उसकी आँखों में हल्की चमक आ गई। "कौन-कौन-सा जगह देख लिया?"

मैंने संक्षेप में उसे बता दिया कि गोआ से वहाँ तक मैं किस-किस जगह होकर आया हूँ।

"घूमने में बड़ा मज़ा है," वह बोला। "मैं भी बहुत घूमा हूँ। बर्मा, सिंगापुर, ईरान, कलकत्ता, दिल्ली पंजाब—सब जगह देख आया है। मैं पहले फ़ौज में था। फ़ौज में ही मैं हिन्दुस्तानी सीखा है। थोड़ा-थोड़ा पंजाबी भी सीखा है। की गल्ल ए ओए कुत्ते दिया पुत्तरा!" और वह खिलखिलाकर हँस दिया।

नीलगिरि की ऊपरी चोटी से बादल के बड़े-बड़े सफ़ेद टुकड़े इस तरह हमारी तरफ़ आ रहे थे जैसे कोई थोड़ी-थोड़ी देर बाद उन्हें एक-एक करके गुब्बारों की तरह हवा में छोड़ रहा हो। उनके सायों से घाटी में धूप और छाँह की शतरंज-सी बन रही थी। हमारे रास्ते में कुछ क्षण धूप रहती, फिर छाया आ जाती। सड़क हल्के बलखाती हुई लगातार नीचे को उतर रही थी।

मैं चलते हुए उससे उसके बारे में पूछता रहा। उसका नाम गोविन्दन् था। फ़ौज में वह अस्थायी तौर से भर्ती हुआ था। कई जगह की लड़ाइयाँ उसने देखी थीं। पर लड़ाई के बाद पहले रिट्रेंचमेंट में ही उसकी वह नौकरी समाप्त हो गई थी। लड़ाई से पहले भी वह मज़दूरी करता था, अब लौटकर फिर वही काम कर रहा था। दिन में मज़दूरी के एक रुपया पाँच आने मिलते थे जिनसे वह अपने चार व्यक्तियों के परिवार का गुज़ारा चलाता था।

"दो हफ्ता हुआ चाय-फ़ैक्टरी का मज़दूर लोग फ़ैक्टरी के मैनेजर को पकड़ लिया था," उसने बताया।

"क्यों?"

"उन लोगों का माँगें मैनेजर ने नहीं माना था। बहुत गड़बड़ हुआ। पुलिस भी आया।"

"फिर?"

"अभी तो मामला चलता है। मज़दूर लोग का माँग मैनेजर को मानना पड़ेगा! नहीं मानेगा, तो मज़दूर लोग काम नहीं करेगा।"

हम लोग एक मोड़ पर आ गए थे। वहाँ रुककर गोविन्दन् ने थोड़ी दूर आगे इशारा करते हुए कहा, "कॉफ़ी का एक बगीचा उधर है। मुझे जाकर काम करना है, नहीं तो मैं तुम्हारे साथ चलता।...पर कोई बात नहीं। मैं तुम्हें वहाँ तक छोड़ आता है।"

"तुम रहने दो," मैंने कहा। "तुम्हारे काम का हर्ज़ होगा। वह सामने ही तो है, मैं चला जाऊँगा।"

"हर्ज़ क्या होगा?" वह चलता हुआ बोला। "मैं अपने हिस्से का काम जा के पूरा करेगा।" और वह मुझे फ़ैक्टरी के बारे में, वहाँ की उपज के बारे में और मज़दूरों

की ज़िन्दगी के बारे में कई और बातें बतलाने लगा। एक जगह उसने मुझे एक खट्टे फल का पेड़ दिखाया और बताया कि वे लोग उस फल के साथ मछली पकाकर खाते हैं। फिर एक पेड़ के पास रुककर उसने कहा, "यह हिन्दुस्तान का सबसे होनहार पेड़ है—इसे पहचानता है।"

"कौन-सा पेड़ है यह?" मैंने पूछा।

"काजू का—जो हर साल कितना-कितना डालर कमाता है।"

"पेड़ मैंने रास्ते में भी देखा है," मैंने कहा। "पर इसमें काजू कहाँ लगे हैं?"

"अभी मौसम का शुरू है, अभी इसमें फल नहीं निकला। मौसम में इसमें पीला-पीला लाल-लाल फल लगेगा। तुम लोग की तरफ़ फल नहीं जाता, सिर्फ़ दाना जाता है। हर फल के साथ एक दाना उगता है।...ठहरो, वह एक फल लगा है। मैं अभी तुमको उतारकर देता है।"

वह पेड़ पर चढ़ गया। फल पेड़ की सबसे ऊँची टहनी पर था। पक्की डाल पर खड़े होकर उसका हाथ फल तक नहीं पहुँचा। उसने एक पैर कच्ची डाल पर रख दिया, फिर भी हाथ नहीं पहुँचा।

"रहने दो," मैंने कहा। "डाल टूट जाएगी।"

"तुम कितना दूर से आया है," वह बोला। "मैं एक पैर और नहीं चढ़ सकता?" उसने दूसरा पैर भी कच्ची डाल पर रख दिया। डाल बुरी तरह लचक गई, मगर उसने फल तोड़कर नीचे फेंक दिया। मैंने फल उठा लिया। ज़रा मरोड़ने से नीचे लगा दाना अलग हो गया। उसे ज़ेब में रखकर मैं फल खाने लगा।

गोविन्दन् नीचे उतर आया, तो मैंने उससे पूछा, "मौसम में यह फल यहाँ ख़ूब खाया जाता है?"

"खाया भी जाता है और फेंका भी जाता है," वह बोला। "पहले इसका शराब बनता था, पर अब शराब निकालने का मना है। निकालनेवाला अब भी निकालता है, पर बहुत-सा फल ऐसे ही जाता है। आज़ाद मुल्क में ऐसा-ऐसा चीज़ का कौन परवाह करता है?"

हम कॉफ़ी के बगीचे में पहुँच गए। ढलानों पर कॉफ़ी के पेड़ों के साथ-साथ नारंगियाँ और काली मिर्चें लगाई गई थी। कई-एक स्त्री-पुरुष कॉफ़ी के लाल-लाल बेर टोकरियों में जमा कर रहे थे। कहीं पहले के तोड़े बेर सूख रहे थे, कहीं ताज़ा बेर सूखने के लिए फैलाए जा रहे थे। गोविन्दन् ने बताया कि चार-पाँच दिनों में जब बेर सूखकर काले पड़ जाते हैं, तो वहाँ से क्योरिंग के लिए भेज दिए जाते हैं। यह भी बताया कि उस ज़मीन में पानी देने की ज़रूरत नहीं पड़ती। वह अपने अन्दर के पानी से ही पौधों को हरा रखती है।

तभी ऊपर की तरफ़ से कुछ कुत्तों के ज़ोर-ज़ोर से भौंकने की आवाज़ सुनाई देने लगी। एक मज़दूर लड़की दौड़ती हुई उधर से आई और ऊपर की तरफ़ इशारा करके उसने गोविन्दन् से कुछ कहा। गोविन्दन् ने मुझे बताया कि मालिक ने ऊपर से उस लड़की को यह पूछने के लिए भेजा है कि मैं कौन हूँ और बिना इजाज़त उसकी ज़मीन पर क्यों आया हूँ। फिर आवाज़ ज़रा धीमी करके वह बोला, "वह डरता है कि उस दिन जिस तरह मज़दूर लोग चाय-फ़ैक्टरी का मैनेजर को पकड़ लिया, उसी तरह इसको भी न पकड़ ले। सोचता है तुम शायद मज़दूरों के बीच प्रोपेगेंडा करने के वास्ते आया है। इस आदमी के पास यहाँ तीन-चार सौ एकड़ ज़मीन है। हर साल एक-एक एकड़ से इसको चार-चार पाँच-पाँच हज़ार रुपए की आमदनी होती है।"

कुत्ते भौंकते हुए हमारी तरफ़ उतर रहे थे। उनका गोरा मालिक डंडा हाथ में लिये उनके पीछे-पीछे आ रहा था। गोविन्दन् ने अपनी भाषा में लड़की से कुछ कहा, फिर मुझसे बोला, "आओ चलें। यहाँ ठहरने में ख़तरा है। इस आदमी का कुत्ता बहुत ज़बर्दस्त है।"

लड़की डरी-सी लौट गई। कुत्ते अब काफ़ी नीचे आकर भौंक रहे थे। हम लोग वापस चलने लगे, तो गोविन्दन् बोला, "देखो, कितना बड़ा-बड़ा कुत्ता है और कैसे भौंकता है! ऐसे आदमी को आदमी की मदद का तो भरोसा नहीं है न। ख़ाली कुत्ते का ही भरोसा है।" अपनी इस बात से खुश होकर वह हँसा। बात उसने ऐसे ढंग से कही थी कि मुझे भी हँसी आ गई।

"अकेला आदमी है," गोविन्दन् कहता रहा। "न बीवी है, न बच्चा है। दोस्त-यार, सगा-सम्बन्धी, जो कुछ है, यह कुत्ता ही है।"

कुत्ते उसी तरह भौंक रहे थे। मालिक उनसे काफ़ी पीछे खड़ा डंडा हिलाता हुआ हमें लौटते देख रहा था।

हम लोग ऊपर सड़क पर पहुँच गए, तो गोविन्दन् बोला, "पता नहीं किस तरह यह आदमी अपनी ज़िन्दगी काटता है। दिन-भर करने को कुछ होता नहीं। ख़ाली कमरे में बैठा रहता है, या डंडा और कुत्ता लिये घूमता रहता है। जब यह मरकर परमात्मा के घर जाएगा, तब भी डंडा और कुत्ता रखवाली के लिए साथ लेता जाएगा। पर पता नहीं कुत्ता वहाँ इसके साथ जाने को तैयार होगा या नहीं।" इस बात पर हम दोनों फिर हँस दिए।

हम लोग लौटकर वहाँ पहुँच गए थे जहाँ से गोविन्दन् मेरे साथ चला था। उसे धन्यवाद देकर मैं उससे विदा लेने लगा, तो नीचे काम करते अपने साथियों को आवाज़ देकर उसने उनसे कुछ कहा और मुझसे बोला, "मैं तुम्हारे साथ बस की सड़क तक चलता है। काम तो मेरे हिस्से का रखा है, मैं आ के पूरा करेगा।" और वह मेरे साथ आगे चल दिया।

बस यात्रा की साँझ

चुन्देल से कालीकट के रास्ते में...।

बस एक छोटी-सी बस्ती के बाज़ार में रुकी थी। एक तरफ़ तीन-चार दुकानें थीं, दूसरी तरफ़ पत्थरों की मुँडेर। नीचे घाटी थी। सभी लोग बस से उतरकर वहाँ चाय-कॉफ़ी पीने लगे। सिर्फ़ एक इकन्नी में कॉफ़ी का बड़ा गिलास पीकर मैं दुकान से सड़क पर आया, तो देखा कि दिन का रंग सहसा बदल गया है। लग रहा था—आँधी आनेवाली हो। पहाड़ पर आँधी नहीं आती, इसलिए आश्चर्य भी हुआ। पर असल में आँधी-वाँधी कुछ नहीं थी—अस्त होते सूर्य के आगे बादल का एक टुकड़ा आ गया था।

च्वि-च्वीयु!...च्वि-च्वियु—एक पक्षी लगातार बोल रहा था। मुझे लगा जैसे बार-बार वह मुझसे कुछ कह रहा हो। मन हुआ कि उसी की भाषा में मैं भी उसे उत्तर दूँ। कहूँ, "च्वि-च्वीयु दोस्त, च्वि-च्वीयु! कहो, क्या हालचाल हैं तुम्हारे?"

मैं टहलता हुआ मुँडेर के पास चला गया और नीचे घाटी की तरफ़ देखने लगा। एक युवती तीन-चार गौओं को हाँकती ऊपर सड़क की तरफ़ आ रही थी। जिस वेश में वह थी, उसमें मैंने कालीकट से आते हुए कई स्त्रियों को देखा था—दूधिया सफ़ेद तहमद, उतनी ही सफ़ेद चोली और वैसा ही सफ़ेद पटका। पटका बाँधने का उनका अपना ख़ास ढंग है। गज़-भर कपड़े का टुकड़ा लेकर एक तरफ़ के सिरों को वे सिर के पीछे गाँठ दे लेती हैं और दूसरी तरफ़ के सिरों को खुला छोड़ देती हैं। कन्नड़ नवयुवतियों के इस वेश को देखकर चित्रों में देखी मिस्र की रमणियों की याद हो आती है। परन्तु इस वेश की सादगी एक अतिरिक्त विशेषता है जो उस तुलना में नहीं रखी जा सकती।

युवती गौओं के साथ सड़क पर पहुँच गई और सीधी सधी हुई चाल से आगे चलती गई। मेरा ध्यान तब आस-पास मँडराती तितलियों में उलझ गया। सब एक ही तरह की तितलियाँ थीं—हरा शरीर और उस पर स्याह रंग के उलझे हुए दायरे। उनसे थोड़ी दूर कुछ और तितलियाँ थीं—गहरा मटियाला रंग और सफ़ेद वार्डर के पंख। वे सब ज़मीन से दो-एक फ़ुट की ऊँचाई पर ही उड़ रही थीं—जैसे कि उससे ऊँचा उड़ पाना उनके पंखों के लिए भारी पड़ता हो।

ड्राइवर ने हार्न दे दिया। मैं ड्राइवर के साथ की अपनी सीट पर जा बैठा। सूर्यास्त के बाद आकाश का रंग इस तरह बदल रहा था कि एक-एक क्षण में होनेवाले परिवर्तन को लक्ष्य किया जा सकता था। वह पक्षी उसी तरह बोल रहा था—च्वि-च्वीयु! च्वि-च्वीयु! बस चल दी। मैं खिड़की से झाँककर देखने लगा। पक्षी की आवाज़ पीछे रहती जा रही थी। आगे घनी हरियाली में वृक्षों के नए सुर्ख़ पत्ते ऐसे

लग रहे थे जैसे जगह-जगह सुर्ख़ फूलों के गुच्छे लटक रहे हों। एक मोड़ के बाद हम पहाड़ी के उस हिस्से में आ गए जहाँ बस डेढ़-दो हज़ार फुट की सीधी ऊँचाई से चक्कर काटती हुई नीचे उतरती है। वहाँ से ज़मीन छोटी-छोटी नदियों, टीलों और हरियाली के द्वीपों का समूह नज़र आती है। ज्यों-ज्यों बस नीचे उतर रही थी, उस दृश्य के फैलाव पर अँधेरा घिरता जा रहा था। लग रहा था जैसे उजाले की दुनिया से हम लोग नीचे अँधेरे की दुनिया में उतर रहे हों।

जब तक हम नीचे पहुँचे, अँधेरा पूरी तरह घिर आया था। पर न जाने क्यों मुझे लग रहा था कि वह पक्षी अपनी झाड़ी में बैठा अब भी लगातार उसी तरह बोल रहा होगा—च्वि-च्वीयु! च्वि-च्वीयु! मेरा मन अपने अन्दर की किसी अनुभूति से उदास होने लगा। वह अनुभूति अपने एक आत्मीय को किसी अनजान बस्ती में रात को अकेला छोड़ आने-जैसी थी—बावजूद इसके कि वह लगातार मुझे पीछे से पुकारता रहा था—च्वि-च्वीयु! च्वि-च्वीयु!

सुरक्षित कोना

कालीकट से अर्णाकुलम् जाते हुए मैं रास्ते में त्रिचुर उतर गया—वडक्कुनाथन् का मन्दिर देखने के लिए। मन्दिर के पश्चिमी गोपुरम् के बाहर बने विशाल स्तम्भ के पास रुककर मैं कई क्षण उसकी भव्यता को मुग्ध आँखों से देखता रहा। फिर वहाँ से हटकर अन्दर को चला, तो पूजा करके लौटते एक युवक ने मुझे रोक दिया। ध्यान से मुझे देखते हुए कहा, "आप मन्दिर में जाना चाहते हैं?"

मैंने चिढ़े हुए भाव से उसकी तरफ़ देखा और सिर हिला दिया।

"परन्तु इस वेश में आप अन्दर नहीं जा सकते," वह बोला। "अन्दर जाने के लिए आवश्यक है कि आप उचित वेश में हों—जिस वेश में इस समय मैं हूँ।"

वह दो गज़ की दक्षिणी धोती तहमद की तरह बाँधे था और कन्धे पर गज़-भर का टुकड़ा अँगोछे की तरह लिये था। गले में कुछ भी नहीं था। मुझे लगा कि मुझे बिना मन्दिर देखे ही लौट जाना होगा क्योंकि न तो वे कपड़े मेरे पास थे, न ही मैं खरीदकर पहनने का तरद्दुद कर सकता था। मैं वहाँ से लौटने को हुआ, तो उस युवक ने पूछ लिया, "आप कहाँ से आए हैं?"

"आज कालीकट से आ रहा हूँ," मैंने कहा। "वैसे पंजाब से आया हूँ।"

"इतनी दूर से? बहुत दूर से आए हैं आप!" वह बात बहुत कोमल ढंग से कर रहा था। चेहरे से भी बहुत सौम्य जान पड़ता था। "आप मन्दिर देखना चाहते हैं, तो एक काम हो सकता है," वह सहानुभूति के साथ बोला। "मेरा घर यहाँ से दूर नहीं है। आपको आपत्ति न हो, तो मैं वहाँ चलकर आपको धोती और अँगोछा दे

सकता हूँ। आपको आपत्ति तो नहीं होगी न?" उसका स्वर ऐसा था जैसे मेरे लिए कुछ करने की जगह वह मुझसे अपने लिए कुछ करने को कह रहा हो।

"मुझे आपत्ति क्यों होगी?" मैंने कहा। "मैं तो बल्कि आपका आभार मानूँगा कि मुझे बिना मन्दिर देखे नहीं लौट जाना पड़ा।"

"तो चलिए," वह बोला। "मैं ब्राह्मण हूँ, इसलिए आपत्ति की कोई बात भी नहीं है? मैंने केवल इसलिए पूछा था कि आपको धोती बाँधने में अड़चन न हो। मेरे लिए तो यह खुशी की बात है कि मैं आपका इतना-सा काम कर सकूँ। आप इतनी दूर से आए हैं...।"

घंटा-भर बाद धोती बाँधे और कन्धे पर अँगोछा रखे मैंने मन्दिर के पश्चिमी गोपुरम् से उसके साथ अन्दर प्रवेश किया। तब तक मैं उसके विषय में थोड़ा-बहुत जान चुका था। उसका नाम 'श्रीधरन्' था। वह वहीं की एक धार्मिक संस्था में काम करता था। उस दिन इतवार होने से उसे छुट्टी थी।

मैं काफ़ी देर उसके साथ मन्दिर में घूमता रहा। वहाँ उस दिन मेरा कुछ नए देवताओं से परिचय हुआ। परम शिव, विघ्नेश्वर, पार्वती, शंकर-नारायण, राम और गोपाल कृष्ण—ये सब परिचित देवता थे। नए देवता थे सिंहोदर (जिसे शिव-गण का मुखिया माना जाता है), धर्मशास्ता अय्यप्पा (जिसे शिव और मोहिनी-रूप विष्णु के संयोग से उत्पन्न माना जाता है, और जो भक्तों की नई पीढ़ी का प्रिय देवता है) और कलि (जिसके सम्बन्ध में पुजारियों का विश्वास है कि वह दिन-प्रतिदिन आकार में बड़ा हो रहा है)।

देवताओं का परिचय देने के बाद श्रीधरन् मुझे कूथाम्बलम् में ले गया। वह वहाँ की नाट्यशाला थी जहाँ पौराणिक गाथाओं का अभिनय के साथ सस्वर पाठ किया जाता है। वहाँ से लौटते हुए वह मुझे मन्दिर के प्रधान उत्सव त्रिचुरपूरम् के विषय में बताने लगा। त्रिचुरपूरम् हर साल अप्रैल के महीने में पड़ता है। उस रात मन्दिर के बाहर थाकिनकाड मैदान में हज़ारों रुपए की आतिशबाज़ी चलाई जाती है। जिन दिनों ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ कोचिन का सम्बन्ध स्थापित हुआ, उन दिनों वहाँ राजा राम वर्मा का राज्य था। राम वर्मा को लोग शक्थ थम्पूरन् (योग्य शासक) के नाम से भी जानते हैं। राम वर्मा ने त्रिचुर के एक अभिजात नायर परिवार की कन्या के साथ विवाह किया था। त्रिचुरपूरम् उसी अवसर की याद में मनाया जाता है। उन दिनों मन्दिर के दक्षिण की ओर सागवान का घना जंगल था। जिस व्यक्ति को मृत्यु-दंड दिया जाना होता, उसे उस जंगल में भेज दिया जाता था और जंगली जानवर वहाँ उसे खा जाते थे। राम वर्मा ने अपने विवाह के अवसर पर वह जंगल कटवा दिया था जिससे त्रिचुर के लोगों में उसका मान बहुत बढ़ गया था।

बात करते हुए हम लोग वापस श्रीधरन् के घर पहुँच गए। वहाँ आकर मैंने कपड़े बदल लिए। श्रीधरन् ने अनुरोध किया कि जाने से पहले मैं कॉफी की एक

प्याली पी लूँ। उसके चेहरे के भाव और हाथों के हिलने से कुछ घबराहट और उत्तेजना झलक रही थी। वह मुझे बता चुका था कि त्रिचुर के बाहर का मैं पहला व्यक्ति हूँ जो उनके यहाँ अतिथि के रूप में आया हूँ। मुझे बाहर के कमरे में छोड़कर वह कॉफ़ी लाने के लिए अन्दर चला गया। मैं उस बीच कमरे के फ़र्श और दीवारों पर नज़र दौड़ाता रहा।

मन्दिर जाने से पहले श्रीधरन् ने जो कुछ बताया था, उससे मैं जान चुका था कि वह अपनी माँ के साथ घर में अकेला रहता है। उम्र पैंतीस की हो चुकी थी, फिर भी उसने ब्याह नहीं किया था। आगे भी उसका ज़िन्दगी-भर ब्याह करने का विचार नहीं था। वह बहुत छोटा था जब उसके पिता का देहान्त हो गया था। बीच में कई बार छोड़कर अट्ठाईस साल की उम्र में उसने मुश्किल से बी.ए. की पढ़ाई पूरी की थी। माँ धार्मिक विचारों की थीं—घर के कामकाज से जितना समय बचता, सारा पूजा-पाठ में बिताती थीं। श्रीधरन् पर शुरू से ही माँ का बहुत प्रभाव था। इसलिए बी.ए. करते ही उसने धार्मिक संस्था की यह नौकरी कर ली थी। दूसरी किसी नौकरी की बात उसने सोची ही नहीं थी। यहाँ उसे कुल पैंतीस रुपया महीना मिलता था। त्रिचुर के बाहर सवा सौ की एक नौकरी मिल रही थी, पर वह त्रिचुर छोड़कर जाने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। आज तक सिर्फ़, एक बार वह त्रिचुर से बाहर गया था—कालीकट। पर वहाँ से लौटने पर उसे कई दिन बुख़ार आता रहा। माँ का विश्वास था कि भगवान् वडक्कुनाथन् की सेवा से दूर जाने के कारण ही ऐसा हुआ है। स्वयं श्रीधरन् को भी इस बात का पूरा विश्वास था। माँ स्वयं घर से मन्दिर की सड़क को छोड़कर जीवन-भर त्रिचुर की ओर किसी सड़क पर भी नहीं गई थीं। सिर्फ़ एक बार श्रीधरन् माँ को एक धार्मिक चित्र दिखाने ले गया था। उस रात माँ ने एक बहुत बुरा सपना देखा और निश्चय कर लिया कि भविष्य में अपने निश्चित रास्ते को छोड़कर और किसी रास्ते पर कभी नहीं जाएँगी। श्रीधरन् को गर्व था कि उनके घर का वातावरण बहुत शान्त है—और घरों की तरह कलह-क्लेश की ध्वनियाँ वहाँ की शान्ति को भंग नहीं करतीं। माँ को और उसे इस शान्ति का इतना अभ्यास था कि वे ऐसे किसी परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थे जिससे वह वातावरण बदल जाए। श्रीधरन् के ब्याह न करने का भी यही कारण था। माँ उससे इस जितेन्द्रिय संकल्प से सन्तुष्ट थीं। सोचती थीं कि आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करके लड़का अपना परलोक सुधार रहा है। आगे चलकर असुविधा न हो, इसलिए एक समय का चौका-बर्तन श्रीधरन् अपने हाथ से करता था।

फ़र्श इस तरह चमक रहा था कि धूल का एक ज़र्रा भी हो, तो साफ़ नज़र आ जाए। श्रीधरन् ने बताया था कि माँ बड़ी मेहनत से हर रोज़ पूरे घर की सफ़ाई करती हैं। यूँ घर काफ़ी खस्ता हालत में था और दीवारों में जगह-जगह दरारें पड़ी थीं। घर

में कुल तीन कमरे थे। एक आगे का जिसमें मैं बैठा था। उससे पीछे का कमरा रसोई का था। तीसरा कमरा जिसे मैं नहीं देख सका, रसोई से पीछे था और वहाँ काफ़ी अँधेरा था। माँ उसी कमरे में रहती थीं और वहीं उन्होंने एक छोटा-सा मन्दिर भी बना रखा था। घर के आँगन में घर का अपना कुँआ था जिस पर मन्दिर जाने से पहले मैं नहाया था। घर से निकलने पर पहले घर की ही एक छोटी-सीं गली थी जिसके साथ पाँच फुट की दीवार उठी हुई थी। इस गली के सिरे पर एक छोटा-सा दरवाज़ा था जो बाहर की गली में खुलता था। उस दरवाज़े को बन्द कर देने से वह घर बाहर की दुनिया से बिलकुल कट जाता था। अन्दर की गली में, घर की सीढ़ियों के पास, एक बड़ा-सा पीपल का पेड़ था जिसकी सूखी पत्तियाँ टूट-टूटकर खिड़की के रास्ते अन्दर के चमकते फ़र्श पर आ गिरती थीं। घर की ख़ामोशी में पत्तियों के फ़र्श पर घिसटने का शब्द ऐसे लगता था जैसे कोई अपने नाख़ूनों से उस एकान्त को छील रहा हो।

श्रीधरन् कॉफ़ी की दो प्यालियाँ एक थाली में लिये हुए अन्दर से आ गया। उसके चेहरे पर उत्तेजना और घबराहट पहले से बढ़ गई थी। प्यालियाँ वह तिपाई पर रखने लगा, तो मैंने देखा कि उसका हाथ भी ज़रा-ज़रा काँप रहा है। उसने एक प्याली मुझे दी और दूसरी प्याली अपने लिए उठाता हुआ प्रयत्न के साथ मुस्कराया। परन्तु वह मुस्कराहट मुस्कराहट नहीं, अपने अन्दर के किसी आवेग को रोकने की कोशिश थी। कुछ देर चुपचाप कॉफ़ी पीते रहे। फिर मैंने उससे पूछ लिया कि वह अपना छुट्टी का दिन किस तरह बिताता है।

''मन्दिर से लौटकर मैं माँ को भगवद्गीता का पाठ सुनाता हूँ,'' वह किसी तरह अपनी घबराहट पर क़ाबू पाने की चेष्टा करता बोला। ''उसके बाद...रामकृष्ण आश्रम के स्वामी जी के पास चला जाता हूँ। वहाँ से आकर...आकर माँ को उनका प्रवचन सुनाता हूँ। फिर खाना खाकर कुछ देर स्वाध्याय करता हूँ। सायंकाल फिर मन्दिर में चला जाता हूँ। मन्दिर से लौटने तक खाना बनाने का समय हो जाता है। मैंने आपको बताया था कि रात का खाना मैं अपने हाथ से बनाता हूँ।''

''हमेशा यह एक ही तरह का कार्यक्रम रहने से कभी आपका मन नहीं ऊबता?'' मेरे मुँह से ये शब्द निकलते-न-निकलते श्रीधरन् का चेहरा पीला, फिर स्याह पड़ गया। उसने जल्दी से एक नज़र अन्दर की तरफ़ देख लिया, फिर दबे स्वर में कहा, ''देखिए, ऐसी बात आपको नहीं कहनी चाहिए। माँ अंग्रेज़ी नहीं समझतीं—नहीं तो यह बात सुनकर उन्हें बहुत दुःख होता।''

मुझे अफ़सोस हुआ कि मैंने ऐसी बात क्यों पूछ ली। मैंने क्षमा माँगते हुए उससे कहा कि मैं केवल जानकारी के लिए पूछ रहा था—किसी तरह की आलोचना करना मेरा उद्देश्य नहीं था।

"आपको ऐसा लग सकता है," श्रीधरन् काँपते स्वर में बोला। "परन्तु हमारे लिए इससे सुखकर जीवन का कोई रूप हो ही नहीं सकता। आप बाहर के आदमी हैं, इसलिए आप...आप शायद इस चीज़ को नहीं समझ सकते।" फिर एक बार अन्दर की तरफ़ नज़र डालकर अटकते स्वर में उसने कहा, "हमें तो लगता है कि धर्म-चर्चा के लिए अब भी हमें बहुत कम समय मिल पाता है। आदमी कितना कुछ और कर सकता है—पर बहुत-सा समय घर के कामों में व्यर्थ चला जाता है।"

सहसा बहुत ही अव्यवस्थित होकर वह उठ खड़ा हुआ और बड़े-बड़े पग उठाता अन्दर चला गया। मैं कॉफ़ी पी चुका था। प्याली रखकर मैं दीवार पर लगे चित्रों को देखने लगा। धर्मशास्ता अय्यप्पया और अभिजात नायर-परिवार की सुन्दरी। राजा राम वर्मा और ईस्ट इंडिया कम्पनी का कप्तान। रामकृष्ण मिशन के स्वामी जी। श्रीधरन् की माँ। रामेश्वर का मन्दिर...।

श्रीधरन् लौट आया। उसका चेहरा अब और भी बेजान हो रहा था। मैं उसके आते ही उठ खड़ा हुआ। उसे धन्यवाद देते हुए मैंने कहा कि मैं अब वहाँ से चलना चाहूँगा। "चलने से पहले एक बार अन्दर जाकर माँ को भी धन्यवाद दे दूँ...।"

"चलना चाहेंगे आप?" श्रीधरन् बहुत आकस्मिक ढंग से बोला। "तो आइए मैं आपको बाहर दरवाज़े तक छोड़ दूँ।"

"हाँ, बस एक बार अन्दर माँ से मिल लूँ...।"

"नहीं-नहीं," श्रीधरन् जैसे किसी संकट में पड़कर हाथ झाड़ता बोला। "माँ की तबीयत ठीक नहीं है। सिर में दर्द है—शायद थोड़ा बुख़ार भी है। आप उनसे...मेरा मतलब है आप अगर उनसे...देखिए बुरा नहीं मानिएगा। हमारे घर का वातावरण कुछ दूसरी तरह का है। आपको शायद...शायद मैं समझा नहीं सकूँगा...।"

"अच्छा, आप मेरी तरफ़ से उन्हें धन्यवाद दे दीजिएगा," मैंने कहा। बात कुछ-कुछ मेरी समझ में आ रही थी। श्रीधरन् की आँखें डरी-डरी-सी हो रही थीं। लग रहा था जैसे वह अपने एक अपराध को सामने मूर्त-रूप में देख रहा हो। मेरा वहाँ आना शायद उस घर के जीवन की तीसरी मनहूस घटना थी। "मुझे दुख है कि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। वे स्वस्थ होतीं, तो मैं अवश्य उनसे मिलकर जाता।"

मैं हाथ जोड़कर चलने को हुआ, तो श्रीधरन् बोला, "मैं आपके साथ दरवाज़े तक चल रहा हूँ। बुरा नहीं मानिएगा। इस घर में बाहर का आदमी पहले कभी नहीं आया। इसीलिए...इसलिए शायद माँ...।" और वह जैसे अपनी ही बात में उलझकर चुप कर गया।

अन्दर की गली के दरवाज़े तक वह मेरे साथ आया। वहाँ से उसने हाथ जोड़ दिए। मैंने भी हाथ जोड़ दिए। मैं बाहर निकलकर खुली गली में चलने गया। श्रीधरन् ने दरवाज़ा बन्द कर लिया।

भास्कर कुरुप

अर्णाकुलम्, कोचिन।

कोचिन के समुद्र-तट से लौटते हुए गेट के पास आकर मैं एक पुरानी इमारत देखने के लिए रुक गया। वहाँ जो लड़के खेल रहे थे, उनमें से एक ने पूछने पर बताया कि उस जगह का नाम मटनचरी पैलेस है–हिज़ हाइनेस का पुराना पैलेस।

मैंने पैलेस देखने की इच्छा प्रकट की, तो लड़का भागता हुआ चौकीदार को बुलाने चला गया। दो मिनिट बाद आकर बोला, "इन सीढ़ियों से ऊपर चले जाइए। चौकीदार अन्दर से दरवाज़ा खोल रहा है।"

मैं ऊपर चला गया। चौकीदार ने दरवाज़ा खोल दिया था। मेरे ड्योढ़ी में पहुँचने पर उसने गम्भीर भाव से दीवार पर लगे बोर्ड की तरफ़ इशारा कर दिया। खुद आँखें नीची किए दरवाज़े के पास खड़ा रहा।

मैंने बोर्ड पर पढ़ा कि वह महल डच काल में बना था और कि वहाँ के कुछ कमरों की दीवारों पर बने चित्र उस काल की कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एक कमरे के रामायण म्यूरेल का विशेष उल्लेख था।

मैं पढ़ चुका, तो चौकीदार उँगली में चाबी लटकाए चुपचाप आगे-आगे चल दिंया। पहले वह मुझे जिस कमरे में ले गया, उसकी दीवारों पर शिव-पार्वती, अर्द्ध-नारीश्वर और लक्ष्मी-पार्वती के चित्र बने थे। अर्द्ध-नारीश्वर के चित्र में मुझे रंगों की योजना बहुत आकर्षक लगी। मैं कुछ देर रुककर उस चित्र को देखता रहा। चित्र से आँखें हटाते हुए मुझे लगा कि चौकीदार बहुत ध्यान से मेरे चेहरे को देख रहा है। मुझसे आँखें मिलने पर वह कुछ कहने को हुआ, पर चुप रह गया। मैं उसके बाद कुछ देर एक और चित्र के पास रुका रहा। वहाँ से हटने लगा, तो फिर देखा कि चौकीदार उसी तरह मुझे ताक रहा है। इस बार वह साहस करके थोड़ा पास आ गया और बोला, "इस चित्र में देखने को बहुत कुछ है–विशेष रूप से चेहरे का भाव और उँगलियों की स्थिति। यह कथाकलि की मुद्रा है।"

मैंने अब आश्चर्य के साथ उसकी तरफ़ देखा। बात उसने साफ़ अंग्रेजी में कही थी–जो निःसन्देह रटी हुई भाषा नहीं थी। मैं और कुछ देर रुककर उस चित्र को देखता रहा। देखते हुए लगा कि पहली बार सचमुच मैं उसकी वह विशेषता लक्ष्य नहीं कर पाया था। इस बार मेरी आँखें चौकीदार की तरफ़ मुड़ीं, तो वह थोड़ा दूर खड़ा था और आँखें झुकाए कोने की तरफ़ देख रहा था।

वहाँ से निकलकर हम नीचे एक कमरे में चले गए। वहाँ मटियाली सफ़ेद पृष्ठभूमि पर भूरी लकीरों से बने चित्र थे। विषय था पार्वती-विवाह। दीवार एक एक कोने से शुरू करके बीच के हिस्से तक अरुन्धती और सप्तर्षियों का शिव से प्रार्थना करना कि

असुर-विनाश के लिए वे विवाह कर लें तथा विवाह के लिए शिव का सज्जित होकर आना। शेष हिस्से में पार्वती के यहाँ विवाह की तैयारी तथा विवाह। कुछ जगह सफ़ेदी करनेवालों ने चित्रों पर अपनी कूचियाँ चला दी थीं। उस ओर संकेत करके चौकीदार ने कहा, ''किसी भले आदमी को ये दीवारें मैली नज़र आती थीं। उसने इन्हें सफ़ेद करने की कोशिश की है।''

मैंने फिर उसकी तरफ़ देख लिया। यह भी लोगों को प्रभावित करने के लिए रटी गई टिप्पणी नहीं हो सकती थी।

''कब की बात है यह?'' मैंने पूछा।

उसने मुँह में कुछ कहा जो मेरी समझ में नहीं आया। शायद इसका उत्तर उसे मालूम नहीं था।

''तुम कब से काम कर रहे हो यहाँ?'' मैंने इसलिए पूछा कि शायद वह बात उसके वहाँ नौकरी करने से पहले की हो।

''मैं यहीं पैदा हुआ था,'' वह बोला। ''यहीं पीछे हमारा घर है।''

मैंने उससे और नहीं पूछा। वह वहाँ से मुझे साथ के एक और कमरे में ले गया। वहाँ की दीवारों पर शिव-मोहिनी से लेकर पशु-पक्षियों तक के रति-समय के चित्र थे। वह वहाँ गोवर्द्धन पर्वत के चित्र की ओर संकेत करके बोला, ''देखिए, इसमें पशु-पक्षियों के जीवन का कितना सूक्ष्म अध्ययन है।''

चित्र में सचमुच पर्वत-जीवन का बहुत सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन था, हालाँकि एक विसंगति भी उसमें थी। चित्रकार ने ब्रज के गोवर्द्धन पर्वत पर शेर और हरिण भी एकत्रित कर दिए थे। कुछ चित्रों में—विशेष रूप से कृष्ण-गोपी-विहार के चित्रों में—आँखों के वासनात्मक भाव का बहुत सुन्दर चित्रण था।

अन्त में हम उस कमरे में पहुँचे जहाँ रामायण-म्यूरेल बने थे। कमरे के एक कोने में दीया जल रहा था। उससे कमरे का धुआँरा वातावरण हल्के-हल्के काँपता महसूस होता था। चित्रों के रंगों में वहाँ अधिक निखार और स्पष्टता थी। मैं कमरे का पूरा चक्कर काटकर एक दीवार के पास रुका, तो चौकीदार ने पीछे से कहा, ''चित्रों को इतना पास से मत देखिए। थोड़ा पीछे हटकर देखेंगे, तभी आपको इनकी वास्तविक सुन्दरता का पता चल सकेगा।''

हर बार बात कह चुकने पर उसकी आँखें दूसरी तरफ़ हट जाती थीं और निचला होंठ क्षण-भर काँपता रहता था। ''लगता है तुम चौकीदार ही नहीं, चित्रकला के पारखी भी हो,'' मैंने हल्के से उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा। ''यहाँ के सब चित्रों को लगता है तुमने बहुत ध्यान से देख रखा है।''

उसकी आँखें पल-भर मेरी आँखों से मिली रहीं। फिर पहले से ज़्यादा झुक गईं। ''मैं भी एक चित्रकार हूँ,'' उसने मुश्किल से सुनाई देते स्वर में कहा।

मैंने थोड़ा चौंककर उसे देखा। ख़ाकी निक्कर और बाहर निकली ख़ाकी कमीज़ पहने छोटे क़द और दुबले शरीर का वह चौकीदार एक चित्रकार था।

"तुम्हारा नाम क्या है?" मैंने पूछा। मेरी आँखें उसके फटे पैरों, बाँहों और टाँगों की रूखी चमड़ी और सूखे-मुरझाए होंठों को देखती रहीं।

"भास्कर कुरुप," उसने कहा। "मैं कोचिन स्कूल ऑव आर्ट में शिक्षा ले रहा हूँ।"

"तुम आर्ट स्कूल में शिक्षा ले रहे हो और साथ यह काम भी करते हो?"

इस पर उसने बताया कि पैलेस का चौकीदार वह नहीं, उसका पिता है। इन दिनों वह छुट्टी पर गया है, इसलिए उसे अपनी जगह ड्यूटी पर छोड़ गया है। जब वह आर्ट स्कूल जाता है, तब उसकी जगह उसका भाई रामन ड्यूटी पर रहता है। यह वही लड़का था जिससे मैंने उस जगह के बारे में पूछा था।

बात करते हुए हम वापस ड्योढ़ी में आ गए। मैंने भास्कर से पूछा कि उसकी ड्यूटी का अभी कितना समय बाक़ी है। उसने बताया कि ड्यूटी का समय घंटा-भर पहले पूरा हो चुका है—इसीलिए मेरे आने तक दरवाज़ा बन्द हो चुका था। मैंने उससे कहा कि वह अगर ख़ाली है, तो हम कहीं चलकर साथ चाय पी सकते हैं।

भास्कर ने दरवाज़ा बन्द किया और मेरे साथ नीचे आ गया। वहाँ से हमने उसके छोटे भाई रामन को भी साथ ले लिया और पास ही एक चाय की दुकान में चले गए। वहाँ बात करते हुए मुझे भास्कर से पता चला कि उसकी उम्र कुल बाईस साल है, हालाँकि अपनी घनी मूँछों और चेहरे की गहरी लकीरों के कारण वह तीस-बत्तीस से कम का नहीं लगता था। वह पहले हाई स्कूल तक पढ़ा था। स्कूल से निकलने के बाद उसने दो-एक जगह नौकरी की, पर किसी भी नौकरी में उसका मन नहीं लगा। उसे बचपन से ही चित्र बनाने का शौक़ था। चाहता था किसी तरह अपने इस शौक़ को आगे बढ़ा सके। पिता आर्ट स्कूल की फ़ीस नहीं जुटा सकते थे, फिर भी किसी तरह वे वहाँ दाख़िल कराने के लिए राज़ी हो गए थे। वह पूरी कोशिश करता था कि उसकी पढ़ाई का बोझ पिता पर न पड़े। इसलिए अवकाश के समय मज़दूरी भी कर लेता था। मगर यह उसका निश्चित संकल्प था कि जैसे भी हो, वहाँ का अपना कोर्स ज़रूर पूरा करेगा।

स्वाभाविक रूप से मेरी यह इच्छा हो रही थी कि उसकी बनाई हुई चीज़ें देखी जाएँ। मैंने उससे कहा कि इसके लिए वहाँ से उठकर मैं उसके घर चलूँगा।

इससे भास्कर थोड़ा कुंठित हो गया। अपने नाख़ूनों को देखता बोला, "मैं अभी विद्यार्थी हूँ। सीख रहा हूँ। घर पर थोड़े से ख़ाके रखे हैं...पर उनमें ख़ास कुछ नहीं है।"

"ख़ास न सही," मैंने कहा। "पर जो कुछ है, उसे दिखाने में तो तुम्हें एतराज़ नहीं है।"

"नहीं, एतराज़ नहीं है मुझे," वह बोला। "पर देखने को कुछ ख़ास नहीं है। आप अगर देखना ही चाहते हैं, तो मैं...रामन को भेजकर कुछ ख़ाके यहीं मँगवा लेता हूँ।"

उसके भाव से मुझे लगा कि ख़ाके दिखाने में शायद उसे उतना एतराज़ नहीं है, जितना मुझे साथ घर ले जाने में।

रामन जाकर जल्दी ही लौट आया। भास्कर ने उसके आते ही सब खाके उसके हाथ से ले लिए और बहुत संकोच के साथ एक-एक करके मुझे दिखाने लगा। उसके विषय सीमित थे—फिर भी यह स्पष्ट था कि वह काफ़ी मेहनत और लगन से काम कर रहा है। एक बड़ा-सा फ्रेम उसने शुरू से ही अलग रख दिया था। और सब ख़ाके देख चुकने के बाद मैंने उससे कहा, "वह फ्रेम नहीं दिखाया तुमने।"

"वह...विघ्नेश्वर का चित्र है," भास्कर अब और भी संकोच के साथ बोला। "बोला मेरा पहला बड़ा चित्र है। परन्तु धार्मिक है, इसलिए... ।"

उसने वह फ्रेम उठाकर मेरे सामने कर दिया। और चित्रों की तुलना में वह चित्र काफ़ी साधारण था। जब तक मैं उसे देखता रहा, भास्कर एकटक मेरी आँखों में कुछ पढ़ने का प्रयत्न करता रहा। मैंने फ्रेम उसे लौटाया, तो उसकी आँखें अपने स्वभाव के अनुसार नीचे झुक गईं।

"मैं धार्मिक चित्र नहीं बनाता," उसने जैसे सफ़ाई देते हुए कहा, "आज तक यही एक ऐसा चित्र मैंने बनाया है। यह मेरा पहला बड़ा चित्र था और मैंने सोचा कि...शुरुआत के लिए...यही ठीक होगा।"

कहते-कहते उसका चेहरा थोड़ा सुर्ख हो गया—अपनी आस्तिकता के अपराध-भाव से। मैं उसके दूसरे ख़ाकों को फिर और एक बार देखने लगा।

चाय पी चुकने के बाद भी हम लोग कुछ देर बात करते रहे। मैंने रामन से उसके बारे में पूछा, तो वह बहुत उत्साह से अपनी पढ़ाई-लिखाई का ब्यौरा मुझे देने लगा। उस बीच भास्कर अपनी कॉपी से एक काग़ज फाड़कर उस पर पेंसिल से कुछ लिखता रहा।

हम लोग चाय की दुकान से बाहर निकले, तो साँझ गहरी हो चुकी थी। तभी पानी के उस तरफ़ अर्णाकुलम् के बूलेवार की बत्तियाँ जल उठीं। साथ ही दाईं तरफ़ भारतीय नौ-सेना के दो जहाज़ भी जगमगा उठे। उन्हें गणतन्त्र दिवस के उपलक्ष्य में बत्तियों से सजाया गया था। भास्कर के नंगे पैर में कोई चीज़ खुभ गई थी। वह झुककर उसे निकालने लगा। जब वह सीधा हुआ, तो मैंने विदा लेने के लिए उसकी तरफ़ हाथ बढ़ा दिया। भास्कर के होंठ कुछ कहने के लिए हिले, पर उसने चुपचाप मुझसे हाथ मिलाया और वापस चल दिया। बोट जेट्टी की तरफ़ बढ़ते हुए मेरी नज़र एक बार पीछे की तरफ़ गई, तो देखा कि भास्कर कुछ क़दम जाकर रुक गया है। मुझे अपनी तरफ़ देखते पाकर वह मुस्कराया और अनिश्चित भाव से मेरी तरफ़ बढ़

आया। पास आकर उसने काग़ज़ का वह टुकड़ा मेरे हाथ में दे दिया जिस पर उसने पेंसिल से कुछ लिखा था। मैंने खोलकर देखा। काग़ज पर उसका पता दिया हुआ था : भास्कर कुरुप, मटनचरी पैलेस, कोचिन।

मैंने अपनी पॉकेट-बुक से काग़ज फाड़कर उसे अपना पता लिख दिया और फिर एक बार उससे हाथ मिलाकर बोट जेट्टी की तरफ़ बढ़ आया।

यूँ ही भटकते हुए

एक भिखारिन, अपने बच्चे को छाती से सटाए, होंठ उसके गाल पर रखे, अधमुँदी आँखों से फुट-बोर्ड पर लटककर चलती गाड़ी से नीचे उतर गई...।

गाड़ी आवली स्टेशन पर आकर रुक गई।

आवली अर्णाकुलम् के पास ही है। किसी ने वहाँ की नदी के पानी की मुझसे बहुत प्रशंसा की थी। कहा था कि एक बार अवश्य मुझे वहाँ जाना चाहिए। मैं अपना सामान अर्णाकुलम् के होटल में छोड़कर वहाँ चला आया था।

प्लेटफ़ॉर्म पर उतरकर मैं रेल की पटरी के साथ-साथ चलने लगा। नदी तक जाने के लिए मुझे यही रास्ता बताया गया था। फिर भी दो-एक जगह रुककर मुझे लोगों से पूछना पड़ा। जिस समय नदी के किनारे पहुँचा, एक मल्लाह पार जाने के लिए सवारियों को बुला रहा था। बिना यह सोचे कि पार जाकर क्या होगा, मैं नाव में बैठ गया।

पार पहुँचकर मैं किनारे के साथ-साथ चलने लगा। नदी में पानी ज़्यादा नहीं था। किनारे के उथले पानी में कुछ जगह पशु नहा रहे थे। कुछ जगह पतली ईंटें नावों में भरी जा रही थीं। एक जगह घाट-सा बना था जहाँ कुछ लोग पानी में डुबकियाँ लगा रहे थे। सामने पुल था। पुल बहुत ऊँचा था, इसलिए उसके नीचे से गुज़रता नदी का पानी बहुत ख़ामोश और उदास नज़र आ रहा था।

मैं किनारे के साथ-साथ चलता हुआ पुल के ऊपर पहुँच गया। वहाँ से नीचे झाँकने पर वह पुल मुझे और भी ऊँचा लगा। बहाव के एक तरफ़ खुली ज़मीन पर धोबियों ने कपड़े सूखने के लिए फैला रखे थे। सबके सब कपड़े बिलकुल सफ़ेद थे। उनकी बाँहें-टाँगें इस तरह फैली थीं कि लगता था वे कपड़े नहीं मनुष्य-शरीर के तरह-तरह के व्यंग्य-चित्र हैं जो स्कूल से लौटते बच्चों ने चाक के चूरे से बना दिए हैं। मैं मन-ही-मन उन बाँहों-टाँगों को नई-नई व्यवस्था देता कुछ देर वहाँ खड़ा अपना मनोरंजन करता रहा।

नदी का बहुत बड़ा कैनवस मेरे सामने था। उस हिलते-बदलते कैनवस में लोग नहा रहे थे, कपड़े धो रहे थे, नावों में ईंटें ले जा रहे थे। पुल की ऊँचाई से देखते हुए लगता था कि ज़िन्दगी का वह छोटा-सा टुकड़ा, नदी के पानी के साथ, उसी की

ख़ामोशी और गति लिये, चुपचाप बहा जा रहा है। मेरा मन होने लगा कि कुछ देर के लिए मैं भी उस कैनवस पर उतर जाऊँ—घाट पर कपड़े रखकर नदी के कमर तक गहरे पानी में दो डुबकियाँ लगा लूँ। मैं पुल से नीचे चला गया और काफ़ी देर बच्चों की तरह घाट पर हाथ रखे उथले पानी में पैर चलाता रहा।

नहाकर निकला, तो मन हो रहा था किसी से बात करूँ। ठंडे पानी ने शरीर में स्फूर्ति ला दी थी। मैंने एक मल्लाह से बात करने की कोशिश की, मगर उसमें सफलता नहीं मिली। भाषा अलग-अलग होने से बात की शुरुआत ही नहीं हो पाई। अगर मुझे कोई ख़ास बात कहनी होती, तो इशारों से भी काम चल सकता था। मगर मेरी इच्छा उस पर मन का कोई भाव प्रकट करने की नहीं, मुँह से बोलकर कुछ कहने की थी। अपनी यात्रा में बहुत कम ऐसे अवसर आए थे जब मुझे अपना भाषा न जानना उस तरह अखरा हो। मगर उस समय इस बात से मन बहुत उदास हुआ कि मैं वहाँ अजनबी हूँ—इतने लोगों के बीच होकर भी अकेला हूँ। इस मजबूरी से कि मैं किसी से बात ही नहीं कर सकता, इतना भी नहीं कह सकता कि पानी बहुत ठंडा है, नहाकर मज़ा आ गया—मुझे दिनों के बाद घर से दूर होने की चुभन महसूस हुई।

धूप में जिस्म सुखाकर कपड़े पहनने तक मैं पुल के कैनवस को देखता रहा। एक ऊँचा मेहराब जो हर चीज़ को अपनी तरफ़ खींच रहा था—पानी को, नावों को, लोगों को। दो लड़के उस मेहराब के ऊपर से पानी की तरफ़ झाँक रहे थे। उनमें से एक ने पानी में ढेला फेंका। उससे कुछ छींटे उड़कर मेरे ऊपर पड़े। फिर दूसरे लड़के ने ढेला फेंका। इस बार भी उसी तरह छींटे पड़े। लड़के दो-एक मिनट यह खेलते रहे। फिर दौड़ते हुए पुल से सड़क पर चले गए। मेरे पास की कुछ ज़मीन भी छींटों से भींग गई थी। उससे जो गन्ध उठ रही थी, वह इतनी परिचित थी कि मेरी अजनबीपन की अनुभूति कुछ हद तक दूर होने लगी। मैंने गीली मिट्टी को पैर के नाख़ून से थोड़ा कुरेद दिया, फिर ऊपर की तरफ़ एक अनजान कच्चे रास्ते पर चल दिया।

वह रास्ता घरों के बीच से जाती एक गली-सी थी। एक घर के बरामदे में कुछ बच्चे खेल रहे थे। वहीं पास ही एक स्त्री खरल में चावल पीस रही थी। एक युवक फ़र्श पर टाँगें फैलाए अखबार पढ़ रहा था। यह उस घर की अपनी दोपहर थी। मुझे अपने उस घर की याद आई जिसमें मेरे बचपन के कई साल गुज़रे थे। उस घर की अपनी ही सुबह, अपनी ही दोपहर और अपनी ही शाम होती थी। सुबह स्कूल जाने की हलचल, दोपहर को रंगीन रोशनदानों से आती धूप की उदासी और शाम का बाहर बैठक में पिताजी के दोस्तों का अभाव। वह सुबह, दोपहर और शाम हमारे घर की संस्कृति थी। अब जिन घरों के पास से गुज़र रहा था, उनमें से हर घर की भी अपनी एक अलग संस्कृति थी—रोज़मर्रा के छोटे-छोटे टुकड़ों से बनी संस्कृति जो उस घर के हर व्यक्ति के आज और कल को किसी-न-किसी रूप में निर्धारित कर रही थी—

साथ उस पूरे समूह के आज और कल को जिसकी व्यापक संस्कृति का निर्माण इन छोटी-छोटी संस्कृतियों के योग से होता है।

आगे खेत थे। खेतों के साथ मिट्टी की ऊँची मेड़ें बनी थीं। बरसात से उनकी रक्षा के लिए उन्हें नारियल के पत्तों की चटाइयों से ढँका गया था। सामने मैदान की खुली धूप में एक मज़दूर ईंटें तोड़ रहा था। पास ही तीन-चार ढाँचों जैसे बच्चे, जिनके सिर उनके शरीरों की तुलना में काफ़ी बड़े लगते थे, एक-दूसरे पर रोड़े फेंक रहे थे। उनसे कुछ हटकर एक स्त्री अपना सूखा स्तन बच्चे के मुँह में दिए बार-बार उसके गालों की रूखी चमड़ी को चूम रही थी। यह उस परिवार की अपनी दोपहर थी–एक और छोटी-सी संस्कृति!

रात को अर्णाकुलम् में वहाँ के आम्बलम् का वार्षिकोत्सव था। उस अवसर पर आम्बलम् को चारों ओर से दीयों से सजाया गया था। अन्दर देवालय के चारों ओर की जालियाँ अपने एक-एक झरोखे में टिमटिमाते दीयों की रोशनी में मोम की बनी-सी लग रही थीं। देवालय के सामने का स्वर्ण-स्तम्भ, काँपती लौ के नगीनों से जड़ा, किरणों की डोरियों में गुँथा, अपने और उत्सव के महत्त्व का विज्ञापन कर रहा था। स्तम्भ के आसपास की भीड़ में कुछ देर धक्के खाने के बाद मैं आम्बलम् के पिछले भाग की ओर चला गया। उधर उस समय और ज़्यादा हलचल थी। तीन बड़े-बड़े हाथी सामने आ रहे थे। लोगों की बहुत बड़ी भीड़ उन्हें घेरे थी। हाथी सुनहरे आभूषणों से सजे थे और उनके हौदों के ऊपर भी सुनहरे छत्र लगे थे। बीच के हाथी की पीठ पर मन्दिर के देवता को लाया जा रहा था। वहाँ लोगों से पता चला कि देवता को कई दिन इसी तरह हाथी की पीठ पर मन्दिर के चारों ओर घुमाया जाता है। वह रात आराट् की थी–अर्थात् देवता को जलस्नान कराने की। आराट् के साथ वह उत्सव समाप्त हो जाता था।

हाथियों के आगे तीन आदमी चार-चार जोतों की मशालें लिये चल रहे थे। साथ में पंचवाद्यम् था। लोगों में पंचवाद्यम् सुनने का बहुत उत्साह था। बजाने वाले भी बहुत मगन होकर बजा रहे थे–विशेष रूप से शहनाई वाले।

रास्ते में कई घरों के आगे सजी हुई वेदिकाएँ बनी थीं। हर वेदिका के पास हाथियों को रोककर अक्षत, चन्दन आदि से उनकी पूजा की जाती। फिर बीच के हाथी को कुछ नैवेद्य दिया जाता और यात्रा आगे बढ़ जाती। ज्यों-ज्यों हाथी मन्दिर के पास पहुँच रहे थे, उनके आस-पास भीड़ बढ़ती जा रही थी। भीड़ में प्रायः सभी स्त्री-पुरुष नंगे पाँव थे। अधिकांश स्त्रियों ने बड़े ढंग से केशों में फूल सजा रखे थे। फूल सजाने की उनकी अलग-अलग शैलियाँ थीं। कुछ ने अपनी साड़ी के साथ फूलों के रंग का मिलान कर रखा था, कुछ ने केशों में फूलों की अल्पनाएँ बना रखी थीं।

हाथी मन्दिर की सीमा के पास आ पहुँचे, तो लोगों का उत्साह दुगुना-तिगुना बढ़ गया। ज़ोर-शोर से पटाखे चलाए जाने लगे और आतिशबाज़ी छोड़ी जाने लगी। आराट् का समय बहुत पास आ गया था।

आस-पास सभी लोग किसी तरह मन्दिर के अन्दर पहुँचने के लिए संघर्ष कर रहे थे। भीड़ के उस दबाव में साँस लेना मुश्किल हो रहा था, इसलिए उलटा संघर्ष करके मैं किसी तरह भीड़ से बाहर निकल आया। सड़क पर अब इक्का-दुक्का लोग ही थे। जो मेरी तरह भीड़ से बाहर निकल आए थे और एक तरफ़ खड़े होकर मन्दिर से छूटती आतिशबाजी के रंग देख रहे थे। कुछ मजदूर थे जो अब उन वेदिकाओं को तोड़ रहे थे जिनमें थोड़ी देर पहले पूजा हुई थी। मैं भीड़ के बाहर आकर अभी दस क़दम भी नहीं चला था कि न जाने किस अँधेरे कोने से निकलकर एक व्यक्ति मेरे सामने आ खड़ा हुआ। ''मिस्टर, तुम मुझे कुछ दे सकते हो?'' उसने अंग्रेज़ी में कहा।

मैं थोड़ा अचकचाकर अपनी जगह पर रुक गया। उस आदमी को मैंने सिर से पाँव तक देखा। उसके सिर के बाल सड़ी हुई घास की तरह थे। कई दिनों की बढ़ी हुई खिचड़ी दाढ़ी एक खुरदरे बुरुश-जैसी लग रही थी। फटी हुई कमीज़ की एक कन्नी नीचे लटक रही थी। बाँह पर फटा एक कम्बल था जिसे वह बच्चे की तरह छाती से चिपकाए था। नीचे उसने कुछ भी नहीं पहन रखा था।

''तुम्हें क्या चाहिए?'' मैंने उससे पूछा।

''इकन्नी, दुअन्नी या जो भी तुम दे सको। मैं एक बार से ज़्यादा किसी से नहीं माँगता। उसे देना होता है, दे देता है। नहीं देना होता, नहीं देता।''

वह अच्छी अंग्रेज़ी बोल रहा था। मैंने सोचा कि कम-से-कम मैट्रिक तक तो वह पढ़ा ही होगा। ''तुम भीख क्यों माँग रहे हो?'' मैंने उससे कहा। ''बातचीत से तो तुम ख़ासे पढ़े-लिखे जान पड़ते हो। अंग्रेज़ी इतनी अच्छी बोल लेते हो...।''

''मैं तीन भाषाएँ इतनी ही अच्छी बोल लेता हूँ,'' वह बोला। ''अंग्रेज़ी, संस्कृत और तमिल।'' फिर तमिल में कुछ कहकर उसने कालिदास का एक श्लोक पूरा दोहरा दिया—''रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्...।'' श्लोक पूरा करते ही उतावले स्वर में बोला, ''बताओ तुम मुझे कुछ दे सकते हो या नहीं?''

''देने में मुझे एतराज़ नहीं,'' मैंने कहा। ''पर मैं जानना चाहता हूँ कि तुम पढ़े-लिखे होकर भी भीख क्यों माँग रहे हो?''

उसकी आँखों में एक चुभन आ गई। ''मैं बेकार हूँ और भूखा हूँ,'' वह वितृष्णा और कड़आहट के साथ बोला।

''फिर भी पढ़ा-लिखा आदमी कुछ-न-कुछ काम तो...।''

वह सहसा तिरस्कारपूर्ण स्वर में हँसा और आगे चल दिया। उस स्वर से मुझे लगा जैसे चलते-चलते उसने मेरे गाल पर थप्पड़ मार दिया हो।

आम्बलम् में बहुत-से पटाखे एक साथ छूटने लगे। आकाश में आतिशबाज़ी के कई-कई रंग बिखर गए। इससे और पंचवाद्यम् के उत्तान स्वर से मुझे लगा कि आराट् का क्षण आ पहुँचा है।

मैंने एक बार अपने आस-पास देख लिया। वह व्यक्ति अँधेरे में न जाने कहाँ गुम हो गया था।

पानी के मोड़

अर्णाकुलम् के जिस होटम में मैं ठहरा था, उसका मैनेजर बहुत मिलनसार आदमी था। उसकी मिलनसारी की वजह से बिल जहाँ ज़रूरत से ज़्यादा बढ़ जाता था, वहाँ महसूस यही होता था कि एक दोस्त के यहाँ मेहमान बनकर ठहरे हुए हैं—और दोस्त भी ऐसा कि कह-कहकर हर चीज़ खिलाता था और बिना चाहे हर तरह का परामर्श देने लगता था।

"आज जा रहे हैं आप?" मैं चलने के दिन नाश्ते के बाद कॉफ़ी पी रहा था, तो वह मेरे पास आ बैठा। उसका पूछने का ढंग ऐसा था जैसे इसके बाद उसे यही कहना हो कि नहीं, मैं आज आपको नहीं जाने दूँगा।

"हाँ, आज शाम की बोट से अलेप्पी जाने की सोच रहा हूँ?" मैंने कहा।

"पेरियार लेक नहीं जाएँगे?"

मैं नहीं जानता था कि पेरियार लेक कहाँ है, उसकी विशेषता क्या है। मैंने उसे बता दिया कि न तो मुझे उस झील की कुछ जानकारी है और न ही मेरा वहाँ जाने का कार्यक्रम है।

"अरे!" वह बोला। "आप पेरियार लेक के बारे में नहीं जानते? वह दक्षिण-पश्चिमी भारत की सबसे सुन्दर झील है। दूसरी विशेषता यह है कि पहाड़ी झील है। चारों तरफ़ घना जंगल है जो हिंस्र जीवों की बहुत बड़ी सेंक्चुअरी है। आप नाव में बैठे-बैठे शेरों और चीतों को किनारे से पानी पीते देख सकते हैं। शिकार के लिए भी बहुत अच्छी जगह है। पर उसके लिए पहले इजाज़त लेनी पड़ती है।"

मैंने कॉफ़ी की प्याली ख़ाली करके रख दी। मेरी कल्पना में पेरियार लेक का चित्र बन रहा था—मीलों में फैला गहरे हरे रंग का पानी...पानी में उठती लहरें...एक छोटी-सी नाव...चारों तरफ़ घनी हरियाली...ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ और एकान्त निःस्तब्धता।

"यहाँ से कितनी दूर है?" मैंने पूछा।

"उसके लिए आपको यहाँ से अलेप्पी न जाकर पहले कोट्टायम् जाना होगा। कोट्टायम् से वह साठ-सत्तर मील है। बस या टैक्सी मिल जाती है। आप कहें, तो

मैं यहीं से आपकी सारी व्यवस्था कर देता हूँ। सौ रुपए में जाना-आना और रहना सब हो जाएगा।"

सौ में से तीस-चालीस रुपए उसने बताया आने-जाने पर ख़र्च होंगे। तीस रुपए वहाँ नाव के देने होंगे। बाक़ी तीस-चालीस रहने-खाने और 'दूसरी सुविधाओं' पर लग जाएँगे। "ऐसी जगह आदमी का अकेले मन नहीं लगता न!" वह बोला। "इसलिए वहाँ के साथ का ख़र्च भी मैंने गिन लिया है। होटल वहाँ कोई है नहीं, इसलिए रहने-खाने का सारा इन्तज़ाम मेरे एक अपने आदमी के यहाँ होगा। वही आपके लिए दूसरा इन्तज़ाम भी कर देगा...एकदम ए क्लास। आप तय नहीं कर पाएँगे कि पेरियार लेक ज़्यादा ख़ूबसूरत है या...।"

मैं मन में मुस्कराया कि बनिए की आँख कितनी दूर तक जाती है। अर्णाकुलम् के होटल में बैठा वह आदमी पेरियार लेक के साथ-साथ वहाँ की किसी लड़की के सौन्दर्य का सौदा भी तय किए दे रहा था।

मैंने उसे नहीं बताया कि उस पूरी योजना पर ख़र्च करने के लिए सौ रुपया मेरे बजट में नहीं है। बहुत आभार के साथ उसे उसके सुझाव के लिए धन्यवाद देकर उठ खड़ा हुआ। कहा कि इस बार मेरे पास समय नहीं है—अगली बार जाऊँगा, तो पेरियार लेक का कार्यक्रम अवश्य रखूँगा।

"ख़ैर जब भी जाएँ, जाइएगा मेरे प्रबन्ध से।" वह भी साथ उठता बोला। "मेरा कार्ड अपने पास रख लीजिए। पेरियार लेक पर मेरे-जैसी सुविधा आपको और कोई नहीं दे सकता।"

शाम को मैंने अलेप्पी जाने के लिए फ़ेरी ले ली। बैक-वाटर्ज़ की यात्रा का यह मेरा पहला अनुभव था। कोचिन से अलेप्पी तक बैक-वाटर्ज़ का खुला विस्तार है जो बेम्बनाद लेक के नाम से जाना जाता है। बेम्बनाद में फ़ेरी की वह यात्रा एक रोमांचक अनुभव था। कहीं खुले पानी में इतनी बत्तखें तैरती मिलतीं कि लगता हम बत्तखों के देश में प्रवेश कर रहे हैं। सहसा फ़ेरी का साइरन बजता और बत्तखें पानी की सतह छोड़ पंख फड़फड़ाती आकाश में उड़ जातीं। फ़ेरी के ऊपर उठते-गिरते पंखों की जाली-सी बुनी जाती। कुछ देर उड़ती रहने के बाद बत्तखें फिर पानी के किसी दूसरे हिस्से में उतर आतीं। तब दूर से देखकर लगता कि पानी पर रूई के फूलों का एक द्वीप तैर रहा है। पर कुछ ही देर में उधर से आती किसी फ़ेरी का साइरन बज उठता और रूई के फूलों का द्वीप फिर से फड़फड़ाते पंखों में बदलकर आकाश में उड़ जाता।

अलेप्पी पहुँचने से पहले सुबह हो गई। अब हम झील में नहीं, पानी की सड़कों पर चल रहे थे—पानी की हाइवे, सबवे, दोराहे, चौराहे। यातायात के लिए बैक-वाटर्ज़ को काटकर बनाई गई उन नहरों की सतह पर सुबह की पहली किरणों

के स्पर्श से सितारे-से झिलमिला रहे थे। फ़ेरी जहाँ किनारे के साथ-साथ छाया में चलती, वहाँ पानी में लचकते नारियलों के साए ऐसे लगते जैसे बड़े-बड़े अजगर, छटपटाते केंकड़ों को मुँह में लिये, धार से लड़ते हुए किलोल कर रहे हों। किनारे से थोड़ा हट आने पर पूरा आकाश पानी में प्रतिबिम्बित दिखाई देता और लगता कि नाव दो आकाशों के बीच से जाती धार में चल रही है। परन्तु फिर से धूप में आ पहुँचने पर नीचे का आकाश अदृश्य हो जाता और धार इकहरे आकाश के नीचे ठोस ज़मीन पर लौट आती।

शाम को अलेप्पी के समुद्र-तट पर तीन बच्चों के साथ मिलकर रेत के आम्बलम् बनाता रहा। जिस समय समुद्र-तट पर पहुँचा, वे बच्चे—एक लड़की, दो लड़के—पहले से वहाँ रेत के घरौंदे बना रहे थे। मैं कुछ देर रुककर उनके हाथों का कौशल देखता रहा, फिर पैरों के भार उनके पास बैठ गया। लड़की ने न जाने कैसे—शायद अपनी स्त्री-बुद्धि से—पहचान लिया कि मैं मलयालम-भाषी नहीं हूँ, वह अटक-अटककर वाक्य बनाती बोली, "आप...क्या...हिन्दी-भाषी हैं?"

"हाँ," मैंने कहा। "तुम्हें हिन्दी आती है?"

"मैं...हम...हिन्दी में...," और रुककर उसने बस्ते से अपनी हिन्दी की किताब निकाल ली। उसमें देखकर बोली, "मैं...दूसरे फ़ार्म में...हिन्दी पढ़ती हूँ।"

हिन्दी में हम लोगों की बातचीत ज़्यादा नहीं चल सकी। उन लोगों को हिन्दी के थोड़े-से ही वाक्य बनाने आते थे। मगर इसके बावजूद जल्दी ही हममें घनिष्ठता हो गई और वे मुझे रेत का आम्बलम् बनाना सिखाने लगे। जिस तरह उन्होंने चारों तरफ़ से रेत में सूराख़ करना शुरू किया, उससे मुझे लगा कि वे एक भट्ठी बनाने जा रहे हैं। मगर धीरे-धीरे वे सूराख़ आम्बलम् के अन्दर जाने के रास्ते बन गए, रास्तों के आगे गोपुरम् खड़े हो गए और बीच में देवस्थान की स्थापना हो गई। एक लड़के ने अपनी ज़ेब में लाल फूल भर रखे थे। वे उसने आम्बलम् में इधर-उधर बिखरा दिए। इससे शिल्प के अतिरिक्त आम्बलम् का वातावरण भी प्रस्तुत हो गया।

आम्बलम् बना चुकने पर उन्होंने मुझसे कहा कि अब मैं भी वैसा ही आम्बलम् बनाऊँ। मैंने बड़ी तत्परता से अपना निर्माण-कार्य शुरू किया। मगर जब मेरा आम्बलम् बनकर तैयार हुआ, तो वह आम्बलम् न लगकर भूतों का डेरा लग रहा था। बच्चे मेरे आम्बलम् पर काफ़ी देर हँसते रहे।

फिर हम सफ़ेद कबूतरों को पकड़ने के लिए उनका पीछा करने लगे। कबूतर कुछ ऐसे अविश्वासी थे कि हम अभी उनसे बीस क़दम दूर होते और वह सारे का सारा झुंड उड़कर पचास क़दम और आगे चला जाता। हम बहुत सावधानी से आगे बढ़ते हुए फिर उनसे पन्द्रह-बीस क़दम पर पहुँचते, तो वे फिर उड़कर बीच का

फ़ासला उतना ही कर देते। हम शायद मील-भर उनके पीछे दौड़ते रहे। पर कबूतरों ने एक बार भी हमें अपने इतना पास नहीं पहुँचने दिया कि हम कपड़ा डालकर उनमें से किसी एक को पकड़ने की कोशिश कर सकते।

बच्चे चले गए, तो कुछ देर मैं थककर अकेला रेत पर लेटा रहा। कन्याकुमारी की ओर जाती समुद्र की तट-रेखा दूर तक दिखाई दे रही थी। समुद्र में पानी धीरे-धीरे बढ़ रहा था। एक लहर मुझसे एक गज़ दूर तक की रेत को भिगो गई। फिर एक और लहर मुझसे पाँच-छह इंच दूर तक आकर लौट गई। उसके बाद अगली लहर उससे भी दो फ़ुट आगे तक चली आई। मगर मैं तब तक वहाँ से उठकर वापस चल दिया था।

अलेप्पी से मैं कोइलून आ गया। कोइनूल में थंकासरी समुद्रतट के पास लाइट-हाउस है। मन हुआ कि देखा जाए उस मीनार पर चढ़कर समुद्र कैसा नज़र आता है। बड़ी मुश्किल से ऊपर जाने की इजाज़त मिली। ऊपर गुम्बज़ में पहुँचकर नीचे देखा, तो समुद्र समुद्र-जैसा न लगकर ऐसे लग रहा था जैसे रेशम की मुचड़ी हुई पतली सुरमई चादर यहाँ से वहाँ तक फैली हो। समुद्र में चलती नावें भी उस ऊँचाई से बहुत छोटी लग रही थीं—अपनी छायाओं और पीछे बनती सफ़ेद लकीरों-समेत उस कपड़े पर काढ़ी गई आकृतियों-जैसी। दूसरी तरफ़ घने नारियलों के शिखर क्षितिज तक फैले थे। धूप और हवा मिलकर उनमें चमचमाती लहरें पैदा कर रही थीं। पानी और नारियल के झुंडों का वह एक-सा लहराव तट-रेखा के पास जाकर मिल गया था। तट-रेखा साँप की तरह बलखाती उत्तरोत्तर दक्षिण-पूर्व की ओर सिमटती गई थी। वहाँ से उस रेखा को देखकर लगता था कि उसका छोर अब दूर नहीं है—थोड़ा और ऊँचे उठ सकें, तो वह बिन्दु भी नज़र आ सकता है जहाँ जाकर वह समुद्र में खो जाती है।

कोवलम्

कोवलम् बीच त्रिवेन्द्रम् से सात मील दूर है। उसे यह नाम शायद इसलिए दिया गया है कि उसका आकार मलयालम् के अक्षर 'को' से मिलता-जुलता है।

मेरा इरादा रात वहाँ के रेस्ट-हाउस में काटने का था। यह सोचकर कि बिस्तर वहीं मिल जाएगा, मैं अपना सामान त्रिवेन्द्रम् के होटल में ही छोड़ आया था।

जिस बस्ती में बस ने छोड़ा, वहाँ से बीच एक मील पर था। शाम हो चुकी थी। मैंने स्टाप पर उतरकर अपने आस-पास देखा। कुछ दूर तीन-चार बुड्ढे पत्थरों पर बैठे अपनी ज्ञान-गोष्ठी में लीन थे। एक लड़का साथ-साथ बँधी पन्द्रह-बीस बकरियों

को हाँक रहा था। सड़क के मोड़ के पास एक स्त्री चूल्हा जला रही थी। बाईं तरफ़ चाय की दुकान् में अँगीठी पर पानी उबल रहा था। मैं पहले एक प्याली चाय पी लेने के लिए उस दुकान् के अन्दर चला गया।

वहाँ कितने ही लोग चाय पी रहे थे। एक बाहर के व्यक्ति को आया देखकर उनकी बातचीत रुक गई। मैं कुछ बेढब-सा महसूस करता एक तरफ़ जा बैठा। जब तक मेरी चाय आई, तब तक एक अधेड़ व्यक्ति उठकर मेरे पास आ गया। उसने आते ही पूछना शुरू किया कि मैं कहाँ से आया हूँ और उस जगह मेरे आने का कारण क्या है। यह जानकर कि मैं दिल्ली की तरफ़ से आया हूँ, वह पास की कुर्सी पर बैठ गया और दिल्ली के बारे में तरह-तरह की बातें पूछने लगा।

कुछ देर बाद जब मैं चाय पीकर उस दुकान से निकला, तो वह भी मेरे साथ था। उसकी बातें अभी समाप्त नहीं हुई थीं, इसलिए कोवलम् की सड़क पर भी वह मेरे साथ-साथ चलने लगा। सुनसान सड़क थी। दूर तक कोई आता-जाता दिखाई नहीं दे रहा था। अँधेरा भी उतर आया था। मुझे उसका साथ चलना अच्छा ही लगा, क्योंकि अकेले में हो सकता था किसी ग़लत रास्ते पर भटक जाता। वह मुझसे सबकुछ पूछ चुकने के बाद अब अपने बारे में बता रहा था। वह वहाँ से कुछ मील दूर एक गाँव में रहता था। "हमारे गाँव का ज़मींदार बहुत ज़ालिम आदमी है," वह कह रहा था। "मगर ऊपर तक उसकी इतनी पहुँच है, कि कभी उस पर कोई जाँच नहीं आती। सारा इलाक़ा उससे थर-थर काँपता है। किसानों पर झूठे मुक़दमे बनाना, उन्हें पिटवाना या जान से मरवा देना और उनकी बहू-बेटियों की इज़्ज़त उतारना, ये सब उसके रोज़ के कारनामे हैं। क्या किसी तरह उस आदमी की रिपोर्ट पंडित नेहरू तक नहीं पहुँचाई जा सकती?

रास्ता सँकरा था और जगह-जगह उसमें फिसलन भी थी। एकाध जगह मेरा पाँव फिसलने को हुआ, तो बाँह से पकड़कर उसने मुझे सँभाल लिया। ज़मींदार पर अपने मन का गुबार निकाल चुकने के बाद वह मुझे वहाँ के जीवन के बारे में और-और बातें बताने लगा। आखिर हम उस दोराहे पर पहुँच गए जहाँ से एक रास्ता रेस्ट-हाउस की तरफ़ जाता था और दूसरा बीच की तरफ़। मैंने सोचा कि पहले कुछ देर बीच पर बैठते हैं—रेस्ट-हाउस में जाकर तो सोना ही है, वहाँ किसी भी समय जाया सकता है।

बीच पर आकर हम लोग काफ़ी देर रेत पर टाँगें फैलाए बैठे रहे। वह उसी तरह बात करता रहा—अपने बारे में, गाँव के बारे में, वहाँ के लोगों के बारे में—बच्चों की-सी सादगी के साथ। सामने समुद्र का पानी अजब बेबसी के साथ अँधेरे में छटपटा रहा था। लहरों का झाग एक धमाके के साथ रेत से टकराता, फिर हारा-सा लौट जाता। कुछ देर दूर कुनमुनाने के बाद फिर उसी तरह ज़ोर से आकर टकराता और फिर लौट जाता।

"हम लोग यहाँ आधे भूखे रहकर ज़िन्दगी काटते हैं," वह कह रहा था। "महँगाई दिन-ब-दिन इस तरह बढ़ती जा रही है कि हम लोग चावल तो क्या, मर्चिनी—टेपियोका—भी भर-पेट नहीं खा पाते। वह दिन बहुत खुशक़िस्मती का होता है जिस दिन खाने को चावल मिल जाए। कई बार हम लोग सिर्फ़ भुनी हुई मछली खाकर रह जाते हैं क्योंकि तेल के लिए पैसे नहीं होते। एक यह समुद्र ही है जिसने अब तक हमारे मछली के कोटे में कमी नहीं की—पता नहीं किस दिन सरकार इस पर भी प्रतिबन्ध लगा दे और हमें मछली मिलना भी मुश्किल हो जाए।"

मेरा आधा ध्यान उसकी बातों में था, आधा समुद्र की तरफ़। लहरें उछल-उछल कर रेत पर सिर पटक रही थीं—एक आवेश और पागलपन के साथ। जैसे रेत ने कोई चीज़ अपने में ढक रखी थी जिसे उन्हें रेत की सतह तोड़कर हासिल कर लेना था।

"ग़रीबी और बेकारी इतनी है कि कई घरों की लड़कियों को मजबूर होकर पेशा करना पड़ता है,"—मेरा साथी कह रहा था। "दो वक़्त खाने के लिए मर्चिनी तो किसी तरह मिलनी ही चाहिए। सरकारी तौर पर वेश्या-वृत्ति पर प्रतिबन्ध है, पर सरकारी हलक़े में ही उन लड़कियों की माँग सबसे ज़्यादा है। वे रात को त्रिवेन्द्रम् के होटलों में ले जाई जाती हैं, या अपने घास और टाट के घरों में ही छिपे-छिपे यह व्यापार करती हैं। हम लोग आँखों से देखते हुए भी नहीं कह सकते। कहें, तो उन्हें खाना-दाना कहाँ से लाकर दें?"

अँधेरे के साथ-साथ समुद्र का पागलपन बढ़ता जा रहा था। अब लहरें आस-पास की पूरी रेत को घेर लेने की कोशिश में थीं। जब हमें लगा कि हमारे बैठने की जगह भी अब सुरक्षित नहीं है, तो हम उठकर रेस्ट-हाउस की तरफ़ चल दिए। पर वहाँ पहुँचने पर पता चला कि रेस्ट-हाउस में कोई कमरा या बिस्तर ख़ाली नहीं है। नौ बज रहे थे। लौटकर त्रिवेन्द्रम् जाने के लिए भी कोई बस नहीं मिल सकती थी। मुझे समझ नहीं आ रहा था कि अब क्या करना चाहिए—बिना बिस्तर के सिवाय रेस्ट-हाउस के और कहाँ रात काटी जा सकती थी? मैंने चौकीदार की थोड़ी मिन्नत की, उसे लालच दिया, उससे बहस भी की—पर काम नहीं बना। आख़िर उस पर झल्लाकर मैं रेस्ट-हाउस से बाहर चला आया।

मेरा साथी भी मेरी वजह से परेशान था। पर उसके होंठों पर हल्की मुस्कराहट भी थी। शायद इसलिए कि थोड़ी देर पहले तक मैं जितना गम्भीर और ख़ामोश था, रेस्ट-हाउस में जगह न मिलने से उतना ही बिखर गया था। बीतनेवाली रात का पूरा संकट माथे पर लिए मैं कुछ देर उसके साथ दोराहे पर खड़ा रहा—जैसे कि बस्ती, रेस्ट-हाउस और बीच के अलावा वहाँ से किसी चौथी तरफ़ भी जाया जा सकता हो। मेरा साथी भी मन-ही-मन स्थिति का जायज़ा लेता रहा। फिर बोला, "घबराइए नहीं,

अभी कुछ-न-कुछ इन्तज़ाम हो जाएगा। मैं गाँव में पता करता हूँ—शायद वे लोग स्कूल का कोई कमरा रात-भर के लिए खोल दें।

वह जिधर को चला, मैं चुपचाप उसके पीछे-पीछे चलता गया। गाँव वहाँ पास ही था। एक स्कूल की इमारत को छोड़कर बाक़ी सब कच्ची झोंपड़ियाँ थीं। वहाँ पहुँचकर उसने कुछ लोगों से बात की, तो उन्होंने स्कूल का कमरा खोल देने में आपत्ति नहीं की। कमरा खुलने पर हमने वहाँ तीन बेंचें साथ-साथ जोड़ लीं। गाँव के घरों से एक चादर और तकिया भी ला दिया गया। इस तरह रात काटने की व्यवस्था हो गई। मगर तब एक समस्या सामने आई जिसे मैं तब तक भूल रहा था। मुझे भूख लगी थी। रेस्ट-हाउस के चौकीदार से लड़ आया था, इसलिए खाना खाने वहाँ नहीं जाना चाहता था। मैंने कुछ संकोच के साथ अपने साथी से इसका ज़िक्र किया। उसने फिर जाकर गाँव के लोगों से बात की। पर पता चला कि खाने को उस समय वहाँ नहीं मिलेगा—सिर्फ़ किसी लड़के को भेजकर बस्ती से दूध मँगवाया जा सकता है।

एक लड़के को बस्ती भेजकर हम लोग काफ़ी देर स्कूल के बरामदे में बैठे बात करते रहे। जिस आदमी से स्कूल की चाबी ली गई थी, वह भी अपने दामाद के साथ वहीं आ गया। दो-एक और लोग भी आ गए। उनमें अंग्रेजी बोलने-समझनेवाला कोई नहीं था, इसलिए मेरा साथी एक तरह से इंटरप्रेटर का काम करता रहा। बातचीत का विषय वही था—भूख, बीमारी और बेरोज़गारी। दिल्ली की तरफ़ से आए व्यक्ति को वे अपने पूरे हालात बता देना चाहते थे। एक बुड्ढा बार-बार कह रहा था—गम्भीर भाव से—कि क्या दिल्ली की सरकार ऐसा कोई क़ानून नहीं बना सकती जिससे हर आदमी को दोनों वक़्त का खाना मिलना अनिवार्य हो जाए? "बैल चारा खाता है, तभी हल जोतता है," उसने कहा। "उसे चारा न मिले, तो वह काम नहीं कर सकता। हम लोग सरकार के बैल हैं। क्या सरकार का यह फर्ज़ नहीं कि हमें पूरा चारा दे?"

जो लड़का बस्ती गया था, वह दूध लेकर लौट आया। उसके पीछे-पीछे दो व्यक्ति भी आए—एक लकड़ी टेकता बुड्ढा और एक युवा स्त्री। स्त्री ज़रा पीछे रुकी रही, बुड्ढा हम लोगों के पास आ गया। उसकी सफ़ेद दाढ़ी काफ़ी ऊँची-नीची कटी हुई थी। पास आकर वह कुछ पल मुझे ध्यान से देखता रहा, फिर अपनी भाषा में कुछ कहने लगा। मेरे साथी ने मेरे लिए अनुवाद कर दिया। बुड्ढे का लड़का कुछ दिन पहले घर छोड़कर चला गया था। किसी ने उसे बताया था कि वह भागकर दिल्ली गया है। आज यह जानकर कि मैं दिल्ली की तरफ़ से आया हूँ, वह अपनी बहू को साथ लेकर मील-भर से यह पता करने आया था कि दिल्ली में रहते कभी मेरी नज़र भूमिनाथन् नाम के किसी लड़के पर तो नहीं पड़ी—लड़के की उम्र लगभग मेरे जितनी है, रंग साँवला है और बात करते हुए वह थोड़ा हकलाता है।

मैंने उसे बताया कि एक तो मैं दिल्ली का रहनेवाला नहीं हूँ, दूसरे दिल्ली-जैसे शहर में किसी को इस तरह पहचान पाना सम्भव नहीं है। बुड्ढा निराश होकर पल-भर कुछ सोचता खड़ा रहा। फिर वापस चल दिया। अपनी बहू के पास पहुँचकर रुक गया। युवा स्त्री कुछ देर धीमे स्वर में उसे कुछ समझाती रही। उसकी बात सुनकर वह फिर हम लोगों के पास चला आया। आकर मुझे लड़के के क़द-काठ और चेहरे-मोहरे के बारे में विस्तार से बताने लगा। पर मैं इस पर उसे कोई आश्वासन नहीं दे सका, तो वह अविश्वास की एक नज़र मुझ पर डालकर फिर वापस चला गया। इस बार उसकी बहू ने भी उससे और बात नहीं की—सिर झुकाए चुपचाप उसके पीछे-पीछे चली गई।

उनके चले जाने के बाद मुझे बताया गया कि भूमिनाथन् को घर छोड़कर गए साल से ऊपर हो चुका है। उन लोगों के पास पहले अपनी ज़मीन थी जो लगान न दे सकने के कारण उनके हाथों से चली गई थी। घर में बूढ़े बाप और पत्नी के अलावा भूमिनाथन् के दो बच्चे भी थे। मज़दूरी करके वह पाँच आदमियों का पेट नहीं भर पाता था। एक दिन गुस्से में आकर उसने बाप को पीट दिया। फिर इस बात का मन को इतना रंज लगा कि उसी रात घर छोड़कर चला गया। कुछ लोगों का ख़याल था कि उसने वहाँ से जाकर आत्महत्या कर ली थी। बुड्ढा रात-दिन उसकी याद में रोता रहता था, इसलिए लोगों ने उससे कह दिया था कि भूमिनाथन् मरा नहीं है, दिल्ली में है—एक आदमी ने अपनी आँखों से उसे वहाँ देखा है।

"अब इसकी बहू मज़दूरी करके घर का ख़र्च चलाती है। तब इसी बात पर बाप-बेटे में लड़ाई हुई थी। लड़का चाहता था कि उसकी बीवी भी साथ मज़दूरी करे, पर बाप इसके लिए राजी नहीं था। उसका हठ था कि उनके घर की कोई लड़की-औरत मज़दूरी करने नहीं जा सकती। अब भी वही घर है, वही वह खुद है जो बहू की कमाई खाकर चुपचाप पड़ा रहता है। आदमी का पेट है—कब तक भूखा रह सकता है?"

थोड़ी देर में बुड्ढा फिर वापस आता दिखाई दिया। उसकी बहू अब उसके साथ नहीं थी। इस बार आकर वह बोला कि मैं लौटकर दिल्ली जाऊँ तो ख़याल ज़रूर रखूँ। हो सकता है कभी उस पर मेरी नज़र पड़ जाए। उस हालत में मैं उसे चिट्ठी डाल दूँ। और वह नए सिरे से मुझे लड़के के नयन-नक़्श और रंग-रूप आदि के विषय में बताने लगा।

मैंने इस बार कह दिया कि मैं दिल्ली जाऊँगा, तो ज़रूर ख़याल रखूँगा। बुड्ढे की आँखें भर आईं। वह चलने के लिए तैयार होकर आँखें पोंछता हुआ बोला कि सुबह मैं वहाँ से जल्दी न चला जाऊँ, उसका इन्तज़ार कर लूँ—वह आकर मुझे अपना पता लिखा एक पोस्ट कार्ड दे जाएगा।

आख़िरी चट्टान तक

कन्याकुमारी। सुनहले सूर्योदय और सूर्यास्त की भूमि।

केप होटल के आगे बने बाथ टैंक के बाईं तरफ़, समुद्र के अन्दर से उभरी स्याह चट्टानों में से एक पर खड़ा होकर मैं देर तक भारत के स्थल-भाग की आख़िरी चट्टान को देखता रहा। पृष्ठभूमि में कन्याकुमारी के मन्दिर की लाल और सफ़ेद लकीरें चमक रही थीं। अरब सागर, हिन्द महासागर और बंगाल की खाड़ी—इन तीनों के संगम-स्थल-सी वह चट्टान, जिस पर कभी स्वामी विवेकानन्द ने समाधि लगाई थी, हर तरफ़ से पानी की मार सहती हुई स्वयं भी समाधि-स्थित-सी लग रही थी। हिन्द महासागर की ऊँची-ऊँची लहरें मेरे आस-पास की स्याह चट्टानों से टकरा रही थीं। बलखाती लहरें रास्ते की नुकीली चट्टानों से कटती हुई आती थीं जिससे उनके ऊपर चूरा बूँदों की जालियाँ बन जाती थीं। मैं देख रहा था और अपनी पूरी चेतना से महसूस कर रहा था—शक्ति का विस्तार, विस्तार की शक्ति। तीनों तरफ़ से क्षितिज तक पानी-ही-पानी था, फिर भी सामने का क्षितिज, हिन्द महासागर का अपेक्षया अधिक दूर और अधिक गहरा जान पड़ता था। लगता था कि उस ओर दूसरा छोर है ही नहीं। तीनों ओर के क्षितिज को आँखों में समेटता मैं कुछ देर भूला रहा हे कि मैं मैं हूँ, एक जीवित व्यक्ति, दूर से आया यात्री, एक दर्शक। उस दृश्य के बीच मैं जैसे दृश्य का एक हिस्सा बनकर खड़ा रहा—बड़ी-बड़ी चट्टानों के बीच एक छोटी-सी चट्टान। जब अपना होश हुआ, तो देखा कि मेरी चट्टान भी तब तक बढ़ते पानी में काफ़ी घिर गई है। मेरा पूरा शरीर सिहर गया। मैंने एक नज़र फिर सामने के उमड़ते विस्तार पर डाली और पास की एक सुरक्षित चट्टान पर कूदकर दूसरी चट्टानों पर से होता हुआ किनारे पर पहुँच गया।

पच्छिमी क्षितिज में सूर्य धीरे-धीरे नीचे जा रहा था। मैं सूर्यास्त की दिशा में चलने लगा। दूर पच्छिमी तट-रेखा के एक मोड़ के पीली रेत का एक ऊँचा टीला नज़र आ रहा था। सोचा उस टीले पर जाकर सूर्यास्त देखूँगा।

यात्रियों की कितनी ही टोलियाँ उस दिशा में जा रही थीं। मेरे आगे कुछ मिशनरी युवतियाँ मोक्ष की समस्या पर विचार करती चल रही थीं। मैं उनके पीछे-पीछे चलने लगा—चुपके से मोक्ष का कुछ रहस्य पा लेने के लिए। यूँ उनकी बातों से कहीं रहस्यमय आकर्षण उनके युवा शरीरों में था और पीली रेत की पृष्ठभूमि में उनके लबादों के हिलते हुए स्याह-सफ़ेद रंग बहुत आकर्षक लग रहे थे। मोक्ष का रहस्य अभी बीच में ही था कि हम लोग टीले पर पहुँच गए। यह वह 'सैंड हिल' थी जिसकी चर्चा मैं वहाँ पहुँचने के बाद से ही सुन रहा था। सैंड हिल पर बहुत-से लोग थे। आठ-दस नवयुवतियाँ, छह-सात नवयुवक और दो-तीन गांधी टोपियोंवाले व्यक्ति। वे

शायद सूर्यास्त देख रहे थे। गवर्नमेंट गेस्ट हाउस के बैरे उन्हें सूर्यास्त के समय की कॉफ़ी पिला रहे थे। उन लोगों के वहाँ होने से सैंड हिल बहुत रंगीन हो उठी थी। कन्याकुमारी का सूर्यास्त देखने के लिए उन्होंने विशेष रुचि के साथ सुन्दर रंगों का रेशम पहना था। हवा समुद्र की तरह उस रेशम में भी लहरें पैदा कर रही थी। मिशनरी युवतियाँ वहाँ आकर थकी-सी एक तरफ़ बैठ गईं—उस पूरे कैनवस में एक तरफ़ छिटके हुए कुछ बिन्दुओं की तरह। उनसे कुछ दूर का एक रंगहीन बिन्दु, मैं, ज़्यादा देर अपनी जगह स्थिर नहीं रह सका। सैंड हिल से सामने का पूरा विस्तार तो दिखाई दे रहा था, पर अरब सागर की तरफ़ एक और ऊँचा टीला था जो उधर के विस्तार को ओट में लिए था। सूर्यास्त पूरे विस्तार की पृष्ठभूमि में देखा जा सके, इसके लिए मैं कुछ देर सैंड हिल पर रुका रहकर आगे उस टीले की तरफ़ चल दिया। पर रेत पर अपने अकेले क़दमों को घसीटता वहाँ पहुँचा, तो देखा कि उससे आगे उससे भी ऊँचा एक और टीला है। जल्दी-जल्दी चलते हुए मैंने एक के बाद कई टीले पार किए। टाँगें थक रही थीं, पर मन थकने को तैयार नहीं था। हर अगले टीले पर पहुँचने पर लगता कि शायद अब एक ही टीला और है, उस पर पहुँचकर पच्छिमी क्षितिज का खुला विस्तार अवश्य नज़र आएगा। और सचमुच एक टीले पर पहुँचकर वह खुला विस्तार सामने फैला दिखाई दे गया—वहाँ से दूर तक रेत की लम्बी ढलान थी, जैसे वह टीले से समुद्र में उतरने का रास्ता हो। सूर्य तब पानी से थोड़ा ही ऊपर था। अपने प्रयत्न की सार्थकता से सन्तुष्ट होकर मैं टीले पर बैठ गया—ऐसे जैसे वह टीला संसार की सबसे ऊँची चोटी हो, और मैंने, सिर्फ़ मैंने, उस चोटी को पहली बार सर किया हो।

पीछे दाईं तरफ़ दूर-दूर हटकर उगे नारियलों के झुरमुट नज़र आ रहे थे। गूँजती हुई तेज़ हवा से उनकी टहनियाँ ऊपर को उठ रही थीं। आकाश की तरफ़ उठकर हिलती हुई वे टहनियाँ ऐसे लग रही थीं जैसे उन्मुक्त रति के क्षणों में किन्हीं नग्न वन-युवतियों की बाँहें। पच्छिमी तट के साथ-साथ सूखी पहाड़ियों की एक शृंखला दूर तक चली गई थी जो सामने फैली रेत के कारण बहुत रूखी, बीहड़ और वीरान लग रही थी। सूर्य पानी की सतह के पास पहुँच गया था। सुनहली किरणों ने पीली रेत को एक नया-सा रंग दे दिया था। उस रंग में रेत इस तरह चमक रही थी जैसे अभी-अभी उसका निर्माण करके उसे वहाँ उँडेला गया हो। मैंने उस रेत पर दूर तक बने अपने पैरों के निशानों को देखा। लगा जैसे रेत का कुँवारापन पहली बार उन निशानों से टूटा हो। इससे मन में एक सिहरन भी हुई, हल्की उदासी भी घिर आई।

सूर्य का गोला पानी की सतह से छू गया। पानी पर दूर तक सोना-ही-सोना ढुल आया। पर वह रंग इतनी जल्दी-जल्दी बदल रहा था कि किसी भी एक क्षण के लिए

उसे एक नाम दे सकना असम्भव था। सूर्य का गोला जैसे एक बेबसी में पानी के लावे में डूबता जा रहा था। धीरे-धीरे वह पूरा डूब गया और कुछ क्षण पहले जहाँ सोना बह रहा था, वहाँ अब लहू बहता नज़र आने लगा। कुछ और क्षण बीतने पर वह लहू भी धीरे-धीरे बैज़नी और बैज़नी से काला पड़ गया। मैंने फिर एक बार मुड़कर दाईं तरफ़ पीछे देख लिया। नारियलों की टहनियाँ उसी तरह हवा में ऊपर उठी थीं, हवा उसी तरह गूँज रही थी, पर पूरे दृश्यपट पर स्याही फैल गई थी। एक-दूसरे से दूर खड़े झुरमुट, स्याह पड़कर, जैसे लगातार सिर धुन रहे थे और हाथ-पैर पटक रहे थे। मैं अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ और अपनी मुट्ठियाँ भींचता-खोलता कभी उस तरफ़ और कभी समुद्र की तरफ़ देखता रहा।

अचानक ख़याल आया कि मुझे वहाँ से लौटकर भी जाना है। इस ख़याल से ही शरीर में कँपकँपी भर गई। दूर सैंड हिल की तरफ़ देखा। वहाँ स्याही में डूबे कुछ धुँधले रंग हिलते नज़र आ रहे थे। मैंने रंगों को पहचानने की कोशिश की, पर उतनी दूर से आकृतियों को अलग-अलग कर सकना सम्भव नहीं था। मेरे और उन रंगों के बीच स्याह पड़ती रेत के कितने ही टीले थे। मन में डर समाने लगा कि क्या अँधेरा होने से पहले मैं उन सब टीलों को पार करके जा सकूँगा? कुछ क़दम उस तरफ़ बढ़ा भी। पर लगा कि नहीं। उस रास्ते से जाऊँगा तो शायद रेत में ही भटकता रह जाऊँगा। इसलिए सोचा बेहतर है नीचे समुद्र-तट पर उतर जाऊँ—तट का रास्ता निश्चित रूप से केप होटल के सामने तक ले जाएगा। निर्णय तुरन्त करना था, इसलिए बिना और सोचे मैं रेत पर बैठकर नीचे तट की तरफ़ फिसल गया। पर तट पर पहुँचकर फिर कुछ क्षण बढ़ते अँधेरे की बात भूला रहा। कारण था तट की रेत। यूँ पहले भी समुद्र-तट पर कई-कई रंगों की रेत देखी थी—सुरमई, खाकी, पीली और लाल। मगर जैसे रंग उस रेत में थे, वैसे मैंने पहले कभी कहीं की रेत में नहीं देखे थे। कितने ही अनाम रंग थे वे, एक-एक इंच पर एक-दूसरे से अलग...और एक-एक रंग कई-कई रंगों की झलक लिए हुए। काली घटा और घनी लाल आँधी को मिलाकर रेत के आकार में ढाल देने से रंगों के जितनी तरह के अलग-अलग सम्मिश्रण पाए जा सकते थे, से सब वहाँ थे—और उनके अतिरिक्त भी बहुत-से रंग थे। मैंने कई अलग-अलग रंगों की रेत को हाथ में लेकर देखा और मसलकर नीचे गिर जाने दिया। जिन रंगों को हाथों से नहीं छू सका, उन्हें पैरों से मसल दिया। मन था कि किसी तरह हर रंग की थोड़ी-थोड़ी रेत अपने पास रख लूँ। पर उसका कोई उपाय नहीं था। यह सोचकर कि फिर किसी दिन आकर उस रेत को बटोरूँगा, मैं उदास मन से वहाँ से आगे चल दिया।

समुद्र में पानी बढ़ रहा था। तट की चौड़ाई धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। एक लहर मेरे पैरों को भिगो गई, तो सहसा मुझे ख़तरे का एहसास हुआ। मैं

जल्दी-जल्दी चलने लगा। तट का सिर्फ़ तीन-तीन चार-चार फ़ुट हिस्सा पानी से बाहर था। लग रहा था कि जल्दी ही पानी उसे भी अपने अन्दर समा लेगा। एक बार सोचा कि खड़ी रेत से होकर फिर ऊपर चला जाऊँ। पर वह स्याह पड़ती रेत इस तरह दीवार की तरह उठी थी कि उस रास्ते ऊपर जाने की कोशिश करना ही बेकार था। मेरे मन में ख़तरा बढ़ गया। मैं दौड़ने लगा। दो-एक और लहरें पैरों के नीचे तक आकर लौट गईं। मैंने जूता उतारकर हाथ में ले लिया। एक ऊँची लहर से बचकर इस तरह दौड़ा जैसे सचमुच वह मुझे अपनी लपेट में लेने आ रही हो। सामने एक ऊँची चट्टान थी। वक़्त पर अपने को सँभालने की कोशिश की, फिर भी उससे टकरा गया। बाँहों पर हल्की खरोंच आ गई, पर ज़्यादा चोट नहीं लगी। चट्टान पानी के अन्दर तक चली गई थी—उसे बचाकर आगे जाने के लिए पानी में उतरना आवश्यक था। पर उस समय पानी की तरफ़ पाँव बढ़ाने का मेरा साहस नहीं हुआ। मैं चट्टान की नोकों पर पैर रखता किसी तरह उसके ऊपर पहुँच गया। सोचा नीचे खड़े रहने की अपेक्षा वह अधिक सुरक्षित होगा। पर ऊपर पहुँचकर लगा जैसे मेरे साथ एक मज़ाक किया गया हो। चट्टान के उस तरफ़ तट का खुला फैलाव था—लगभग सौ फ़ुट का। कितने ही लोग वहाँ टहल रहे थे। ऊपर सड़क पर जाने के लिए वहाँ से रास्ता भी बना था। मन से डर निकल जाने से मुझे अपना-आप काफ़ी हल्का लगा और मैं चट्टान से नीचे कूद गया।

रात। केप होटल का लॉन। अँधेरे में हिन्द महासागर को काटती कुछ स्याह लकीरें—एक पौधे की टहनियाँ। नीचे सड़क पर टार्च जलाता-बुझाता एक आदमी। दक्षिण-पूर्व के क्षितिज में एक जहाज़ की मद्धिम-सी-रोशनी।

मन बहुत बेचैन था—बिना पूरी तरह भीगे सूखती मिट्टी की तरह। जगह मुझे इतनी अच्छी लगी थी कि मन था अभी कई दिन, कई सप्ताह, वहाँ रहूँ। पर अपने भुलक्कड़पन की वजह से एक ऐसी हिमाक़त कर आया था कि लग रहा था वहाँ से तुरन्त लौट जाना पड़ेगा। अपना सूटकेस खोलने पर पता चला था कि कनानोर में सत्रह दिन रहकर जो अस्सी-नब्बे पन्ने लिखे थे, वे वहीं मेज़ की दराज़ में छोड़ आया हूँ। अब मुझे दो में से एक चुनना था। एक तरफ़ था कन्याकुमारी का सूर्यास्त, समुद्रतट और वहाँ की रेत। दूसरी तरफ़ अपने हाथ के लिखे काग़ज़ जो शायद अब भी सेवाय होटल की एक दराज़ में बन्द थे। मैं देर तक बैठा सामने देखता रहा—जैसे कि पौधे की टहनियों या उनके हाशिए में बन्द महासागर के पानी से मुझे अपनी समस्या का हल मिल सकता है।

कुछ देर में एक गीत का स्वर सुनाई देने लगा जो धीरे-धीरे पास आता गया। एक कान्वेंट की बस होटल के कम्पाउंड में आकर रुक गई। बस में बैठी लड़कियाँ अंग्रेजी में एक गीत गा रही थीं जिसमें समुद्र के सितारे को सम्बोधित किया गया

था। उस गीत को सुनते हुए और दूर जहाज़ की रोशनी के ऊपर एक चमकते सितारे को देखते हुए मन और उदास होने लगा। गहरी साँझ के सुरमई रंग में रँगी यह आवाज़ मन की गहराई के किसी कोमल रोएँ को हल्के-हल्के सहला रही थी। लग रहा था कि उस रोएँ की ज़िद शायद मुझे वहाँ से जाने नहीं देगी। लेकिन उससे भी जिद्‌दी एक और रोयाँ था–दिमाग़ के किसी कोने में अटका–जो सुबह वहाँ से जानेवाली बसों का टाइम टेबल मुझे बता रहा था। गीत के स्वरों की प्रतिक्रिया में साथ टाइम-टेबल के हिन्दसे जुड़ते जा रहे थे–पहली बस सात पन्द्रह, दूसरी आठ पैंतीस, तीसरी...। थोड़ी देर में बस लौट गई, गीत के स्वर विलीन हो गए और मन में केवल हिन्दसों की चर्ख़ी चलती रह गई।

सूर्योदय। हम आठ आदमी 'विवेकानन्द चट्टान' पर बैठे थे। चट्टान तट से सौ-सवा-सौ-गज़ आगे समुद्र के बीच जाकर है–वहाँ जहाँ बंगाल की खाड़ी की भौगोलिक सीमा समाप्त होती है। मेरे अलावा तीन कन्याकुमारी के बेकार नवयुवक थे जिनमें से एक ग्रेजुएट था। चार मल्लाह थे जो एक छोटी-सी मछुआ नाव में हमें वहाँ लाए थे। नाव क्या थी, रबड़-पेड़ के तीन तनों के साथ-साथ जोड़ लिया गया था, बस। नीचे की नुकीली चट्टानों और ऊपर की ऊँची-ऊँची लहरों से बचाते हुए मल्लाह नाव को उस तरफ़ ला रहे थे, तो मैंने आसमान की तरफ़ देखते हुए उतनी देर अपनी चेतना को स्थगित रखने की चेष्टा की थी, अपने अन्दर के डर को दिखावटी उदासीनता से ढक रखना चाहा था। पर जब चट्टान पर पहुँच गए, तो डर मेरी टाँगों में उतर गया क्योंकि वहाँ बैठे हुए भी वे हल्के-हल्के काँप रही थीं।

ग्रेजुएट नवयुवक मुझे बता रहा था कि कन्याकुमारी की आठ हज़ार की आबादी में कम-से-कम चार-पाँच सौ शिक्षित नवयुवक ऐसे हैं जो बेकार हैं। उनमें से सौ के लगभग ग्रेजुएट हैं। उनका मुख्य धन्धा है नौकरियों के लिए अर्ज़ियाँ देना और बैठकर आपस में बहस करना। वह खुद वहाँ फ़ोटो-एल्बम बेचता था। दूसरे नवयुवक भी उसी तरह के छोटे-मोटे काम करते थे। "हम लोग सीपियों का गूदा खाते हैं और दार्शनिक सिद्धान्तों पर बहस करते हैं," वह कह रहा था। "इस चट्टान से इतनी प्रेरणा तो हमें मिलती ही है।" मुझे दिखाने के लिए उसने वहीं से एक सीपी लेकर उसे तोड़ा और उसका गूदा मुँह में डाल लिया।

पानी और आकाश में तरह-तरह के रंग झिलमिलाकर, छोटे-छोटे द्वीपों की तरह समुद्र में बिखरी स्याह चट्टानों की ओट से सूर्य उदित हो रहा था। घाट पर बहुत-से लोग उगते सूर्य को अर्घ्य देने के लिए एकत्रित थे। घाट से थोड़ा हटकर गवर्नमेंट गेस्ट-हाउस के बैरे सरकारी मेहमानों को सूर्योदय के समय की कॉफ़ी पिला रहे थे। दो स्थानीय नवयुवतियाँ उन्हें अपनी टोकरियों से शंख और मालाएँ दिखला रही थीं।

वे लोग दोनों काम साथ-साथ कर रहे थे—मालाओं का मोल-तोल और अपने बाइनाक्युलर्ज़ से सूर्य-दर्शन। मेरा साथी अब मोहल्ले-मोहल्ले के हिसाब से मुझे बेकारी के आँकड़े बता रहा था। बहुत-से कडल-काक हमारे आस-पास तैर रहे थे—वहाँ की बेकारी की समस्या और सूर्योदय की विशेषता, इन दोनों से बे-लाग।

मेरे साथियों का कहना था कि लौटते हुए नाव को घाट की तरफ़ से घुमाकर लाएँगे, हालाँकि मल्लाह उस तूफ़ान में उधर जाने के हक़ में नहीं थे। बहुत कहने पर मल्लाह किसी तरह राज़ी हो गए और नाव को घाट की तरफ़ ले चले। नाव विवेकानन्द चट्टान के ऊपर से घूमकर लहरों के थपेड़े खाती उस तरफ़ बढ़ने लगी। वह रास्ता सचमुच बहुत ख़तरनाक था—जिस रास्ते से हम आए थे, उससे कहीं ज़्यादा। नाव इस तरह लहरों के ऊपर उठ जाती थी कि लगता था नीचे आने तक ज़रूर उलट जाएगी। फिर भी हम घाट के बहुत क़रीब पहुँच गए। ग्रेजुएट नवयुवक घाट से आगे की चट्टान की तरफ़ इशारा करके कह रहा था, "यहाँ आत्महत्याएँ बहुत होती हैं। अभी दो महीने पहले एक लड़की ने उस चट्टान से कूदकर आत्महत्या कर ली थी।"

मैंने सरसरी तौर पर आश्चर्य प्रकट कर दिया। मेरा ध्यान उसकी बात में नहीं था। मैं आँखों से तय करने की कोशिश कर रहा था कि घाट और नाव के बीच अब कितना फ़ासला बाक़ी है।

"वह आत्महत्या करने के लिए ही यहाँ आई थी," ग्रेजुएट नवयुवक कह रहा था। "सुना है उसे कुँवारेपन में ही बच्चा होनेवाला था। अर्णाकुलम् और त्रिवेन्द्रम् के बीच के किसी गाँव की थी वह। बाद में मुट्टम् के पास उसका शरीर लहरों ने किनारे पर निकाल दिया था।"

एक लहर ने नाव को इस तरह धकेल दिया कि मुश्किल से वह उलटते-उलटते बची। आगे तीन-चार चट्टानों के बीच एक भँवर पड़ रहा था। नाव अचानक एक तरफ़ से भँवर में दाखिल हुई और दूसरी तरफ़ से निकल आई। इससे पहले कि मल्लाह उसे सँभाल पाते, वह फिर उसी तरह भँवर में दाखिल होकर घूम गई। कुछ क्षणों के लिए भँवर और उससे घूमती नाव के सिवा और किसी चीज़ की चेतना नहीं रही। चेतना हुई जब भँवर में तीन-चार चक्कर खा लेने के बाद नाव किसी तरह उससे बाहर निकल आई। यह अपने-आप या मल्लाहों की कोशिश से, मैं नहीं कह सकता। भँवर से कुछ दूर आ जाने पर ग्रेजुएट नवयुवक ने बताया कि हम उस चट्टान को लगभग छूकर आए हैं जिस पर से कूदकर उस नवयुवती ने कन्याकुमारी की साक्षी में आत्महत्या की थी।

पर मैंने तब तक उस चट्टान की तरफ़ ध्यान से नहीं देखा जब तक हम किनारे के बहुत पास नहीं पहुँच गए। यह भी वहाँ पहुँचकर जाना कि घाट की तरफ़ से आने

का इरादा छोड़कर मल्लाह उसी रास्ते से नाव को वापस लाए हैं जिस रास्ते से पहले ले गए थे।

कन्याकुमारी के मन्दिर में पूजा की घंटियाँ बज रही थीं। भक्तों की एक मंडली अन्दर जाने से पहले मन्दिर की दीवार के पास रुककर उसे प्रणाम कर रही थी। सरकारी मेहमान गेस्ट-हाउस की तरफ़ लौट रहे थे। हमारी नाव और किनारे के बीच हल्की धूप में कई एक नावों के पाल और कडल-काकों के पंख एक-से चमक रहे थे। मैं अब भी आँखों से बीच की दूरी नाप रहा था और मन में बसों का टाइम-टेबल दोहरा रहा था। तीसरी बस नौ चालीस पर, चौथी...।*

---

* उसके बाद एक शाम और वहाँ रुककर कनानोर लौट गया। वहाँ जाकर अपने लिखे काग़ज़ मिल तो गए, पर तब तक चौकीदार ने उन्हें मोड़कर उनकी कॉपी बना ली थी। काग़ज़ों पर लिखाई एक ही तरफ़ थी। इसलिए उनके ख़ाली हिस्सों पर उसने अपना हिसाब लिखना शुरू कर दिया था। जब मैंने वह कॉपी उससे ली, तो उसे शायद उससे कम निराशा नहीं हुई जितनी कन्याकुमारी पहुँचकर अपना सूटकेस खोलने पर मुझे हुई थी।

उपन्यास

स्याह और सफ़ेद

तीस-पैंतीस व्यक्तियों की भीड़ में घिरा हुआ चन्दन जब पुल की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा, तो अट्ठाईस-उनतीस बरस के एक युवक ने उसके बराबर आकर भारी मगर धीमे स्वर में कहा, "भाई साहब, टिकट थर्ड क्लास का है कि सेकेंड क्लास का?"

चन्दन का चेहरा लाल हो गया। वह कोई उत्तर न देकर चुपचाप सीढ़ियाँ चढ़ता रहा।

वह युवक उसके कदम के साथ कदम मिलाता हुआ फिर बोला, "भाई साहब, हमने पूछा था कि टिकट थर्ड क्लास का है कि सेकेंड क्लास का?"

"क्यों?" चन्दन कुछ तेज़ स्वर में बोला, "आपको यह पूछने की ज़रूरत किसलिए है?"

"ज़रा आहिस्ता बात कीजिए," उसने चन्दन का हाथ इस तरह दबाया, जैसे कोई बहुत रहस्य की बात हो रही हो, "एक मिनट दम लीजिए, अभी बात करते हैं।" और उसे रोककर उसने सत्यरत्न से इशारा करते हुए कहा, "चलिए, चलिए आप लोग, हम भाई साहब से एक मिनट बात करके आ रहे हैं।"

चन्दन कुछ पल रुका रहा। वह उसके कान के पास मुँह ले जाकर बहुत धीमे स्वर में बोला, "बात यह है भाई साहब कि अगर तो टिकट है सेकेंड का, तब तो कोई बात ही नहीं है। धड़ल्ले से निकल चलते हैं। और अगर थर्ड का, तो निकालकर चुपके से हमारे हाथ दे दीजिए। आप शान से बाहर निकल जाइएगा, हम पीछे से देखते रहेंगे। क्या कहते हैं?"

क्षण भर के लिए चन्दन का सिर भन्ना गया, मगर उसने चुपचाप अपने गुस्से को पी लिया।

"आप चले आइए," उसने कहा, "मेरे पास जो टिकट है, मैं खुद दरवाज़े पर दूँगा।"

"वह आपकी मरज़ी है," युवक ने अपनी ढीली पतलून को कुहनियों से ऊँचा उठाते हुए कहा, "हमने तो आपसे एक बात कही थी।"

स्टेशन के बाहर एक टैक्सी इन्तज़ार कर रही थी। टैक्सी में भी वह युवक उसके साथ ही बैठा। टैक्सी की खिड़की से सिर निकालकर उसने सत्यरत्न को इशारे से पास बुलाया और उनके कान के पास मुँह ले जाकर बोला, "देखिए, आप कोई फ़िक्र मत कीजिएगा। हम वहाँ सब इन्तज़ाम ठीक कर लेंगे। हरीशजी को चाहे जब भेज दीजिएगा। उनके आने तक हम इनके पास ही रहेंगे।"

टैक्सी चल पड़ी तो चन्दन ने एक बार गौर से देखा। वह ठिंगने क़द और साँवले रंग का दुबला-पतला युवक था और उसके चेहरे की हड्डियाँ बाहर को निकली हुई थीं। चेहरे पर छोटी-छोटी मूँछें उसने शायद इसलिए पाल रखी थीं कि उनसे ठिंगने क़द की कुछ क्षतिपूर्ति हो जाए। वह काला सूट पहने था और भड़कीले लाल रंग की टाई लगाए था। उसने इस तरह तिरछा होकर, जैसे कहीं बहुत दूर हाथ डालना हो, अपनी पतलून की ज़ेब से सिगरेट की डिब्बी निकाली और चन्दन की तरफ़ बढ़ाकर पूछा, "क्यों साहब, सिगरेट पीते हैं?" उसकी आवाज़ इस तरह भारी थी, जैसे उसका सम्बन्ध उन पेशों में से किसी एक से हो, जिनमें आदमी को बाज़ार में जगह-जगह खड़े होकर भाषण देना पड़ता है।

"जी नहीं, मैं नहीं पीता। आप पीजिए।" कहकर चन्दन ने पीछे टेक लगा ली।

"मेरा नाम भाई साहब, राधेश्याम है," उसने सिगरेट सुलगाते हुए कहा। "वैसे लोग यहाँ मुझे राधेलाल कहकर बुलाते हैं।" दियासलाई फेंककर उसने सिगरेट को तीसरी और चौथी उँगली के बीच में रखा और एक कश लगाकर कहा, "यह बहुत ही अच्छी बात है कि आपको इसका ऐब नहीं है। सच मानें, हमें जानकर बहुत ही खुशी हुई। पैसा ऐसी चीज़ है भाई साहब, कि ख़ामख़ाह आदमी को ऐब लगा देता है। हमें भी यह शौक साला फिजूल के पैसे ने ही लगाया है, वरना अच्छी चीज़ हम भी इसे नहीं समझते। हम अभी बारह साल के थे जब हमारे वालिद साहब बहुत बड़ी जायदाद छोड़ गए थे और हम अकेले बेटे थे, सो जो होना था वही हुआ। पड़ गए ऐसी-वैसी सोहबत में। यह सिगरेट का ऐब भी उन्हीं दिनों से लगा है। सोचिए, बारह साल की उम्र से। अब अक्ल आने पर रोते हैं, मगर यह ऐब छुड़ाए से छूटनेवाला थोड़ा ही है? रोज़ दिन में डेढ़ रुपया-दो रुपया इसमें फुँक जाता है। आपने बहुत ही अच्छा किया जो इसकी लत नहीं लगाई। कोई चीज़ है साली कि पैसा भी फूँको और अपना कलेजा भी जलाओ! क्या कहते हैं?"

उसने एक बड़ा-सा कश खींचा, खिड़की से सिर निकालकर गला साफ़ किया और बोला, "माफ़ कीजिएगा, मैं जान सकता हूँ कि आप कितने भाई हैं?"

चन्दन के माथे पर बल पड़ गए, मगर शीघ्र ही उसने अपने को ठीक कर लिया। "मेरा एक छोटा भाई और है।" उसने कहा।

"उसका तो अभी ब्याह नहीं हुआ होगा, आपसे छोटा जो है।" और उसने चुटकी बजाकर सिगरेट की राख झाड़ दी।

चन्दन चुप रहा।

"और बहन भी है?"

"एक बहन है," चन्दन ने बात को जल्दी से समाप्त करने के लिए कहा, "उसका ब्याह हो चुका है।"

"हूँ!" राधेलाल ने एक लम्बा कश खींचकर कहा, "आपसे बड़ी होगी?"

"मुझसे दो साल छोटी है।"

राधेलाल कुछ देर सिर हिलाता रहा। फिर बोला, "आपको उसे साथ लाना चाहिए था।" उसने बाँह फ़ैलाकर चन्दन की तरफ़ रुख कर लिया और कहा, "बुरा मत मानिएगा, हमारे ख़याल में आपको भाई को भी साथ लाना चाहिए था। वैसे तो ख़ैर आदमी अपनी सहूलियत देखता है, मगर भाई साहब, ब्याह का मौका तो फिर ब्याह का ही मौका है। इस मौक़े पर दो-चार हज़ार सिर पर उठाना भी पड़े, तो आदमी को पीछे नहीं हटना चाहिए। ब्याह कौन रोज़-रोज़ होता है? क्या कहते हैं?"

"अब हम लोग चल कहाँ रहे हैं?" चन्दन ने पूछा।

"आपके लिए एकदम फर्स्ट क्लास होटल में कमरा लिया गया है साहब।" राधेलाल निहायत बेतकल्लुफ़ी से उसके कन्धे पर हाथ रखकर बोला, "हमने सत्यरत्नजी से कहा कि भाई साहब के ठहरने का इन्तज़ाम ऐसा होना चाहिए कि बस...आप अभी सत्यरत्नजी को जानते नहीं हैं। निहायत दिल-गुर्देवाले आदमी हैं। अब तो ख़ैर आप जान ही जाएँगे। उन्होंने हर चीज़ का इन्तज़ाम फर्स्ट क्लास किया है, एकदम ए क्लास। लोगों के दिलों पर साँप डोल रहे हैं। कोई क्या खाकर उनका मुकाबला करेगा, आपको भी भाई साहब याद रहेगा कि हाँ, हमारा भी ब्याह हुआ था..."

टैक्सी होटल के सहन में जाकर रुकी। कुली से सामान उतारने को कहकर राधेलाल एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की तरह ज़रा रुककर आगे-आगे चलने लगा। सहन पार करके वह बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ा और एक कमरे के दरवाज़े के बाहर रुककर बोला, "ज़रा देखिए क्या चीज़ ली गई है आपके लिए।"

ज़ेब से ताली निकालकर उसने दरवाज़ा खोला और इस तरह एक कदम पीछे हट गया, जैसे किसी प्रदर्शिनी का उद्घाटन कर रहा हो—"तशरीफ लाइए!" उसने कहा, "मैं अपने सामने कमरा ठीक कराके गया था।" वे दोनों कमरे में दाखिल हुए, तो वह उसका हाथ पकड़कर बोला, "ज़रा यहाँ के फ़र्नीचर पर नज़र डालिए। क्या किसी सेठ-साहूकार के घर का फ़र्नीचर होगा! आप इस काउच पर बैठकर देखिए।" चन्दन का हाथ पकड़े हुए साथ ही काउच पर वह बैठ गया।

मज़दूर आकर सामान अन्दर रख गया था। चन्दन उठकर अपना बैग खोलने लगा। राधेलाल ने ज़रा झुककर फूलदान उठा लिया।

"यह फूलदान आपने नहीं देखा," उसने कहा, "कम-से-कम दस तरह के फूल इसमें लगवाकर गया था।"

चन्दन ने बैग खोलकर तौलिया और साबुन वग़ैरह निकाला और उसे बन्द करता हुआ बोला, "मेरा ख़याल है, आपको उधर भी कई तरह के काम होंगे। आप चलिए, मुझे जिस चीज़ की ज़रूरत होगी, मैं मँगवा लूँगा। होटल है, इसलिए कोई दिक़्क़त तो होगी नहीं।"

"अरे आप कैसी बात करते हैं भाई साहब!" राधेलाल फूलदान रखकर काउच पर सीधा होता हुआ बोला, "यह भी कोई बात-में-बात है कि हम आपको अकेले छोड़कर चले जाएँ! यह बात आपकी बिलकुल सही है कि उधर भी कई तरह के काम हैं, मगर आपके पास बैठना भी भाई साहब, एक काम ही है और सबसे बड़ा ज़िम्मेदारी का काम है। वैसे आपके पास बैठने की ड्यूटी हरीशजी की थी, हरीशजी शकुन्तलाजी की सहेली विभा के हस्बैंड हैं। मगर उन्होंने कहा कि वे खाना खाकर ही उधर आएँगे, सो हमने सत्यरत्नजी से कहा कि तब तक हम यहाँ आपके पास ड्यूटी दें। भाई साहब, बारात के पास अपने एक आदमी का होना बहुत ज़रूरी होता है। ब्याह-शादियों का मामला ऐसा है कि न जाने कब कौन-सी बात उठ खड़ी हो! क्या कहते हैं? आपके साथ तो ख़ैर बारात नहीं है, आप अकेले हैं, फिर भी एक आदमी का यहाँ होना तो बहुत ज़रूरी है ही। कहीं आपके मन में आ जाए भाई साहब, कि हम ब्याह नहीं कराते, और आप उठकर वापस ही चल दें तो बताइए, हम यहाँ किससे पूछेंगे?" वह अपने छोटे-छोटे दाँत निकालकर हँसा और बोला, "हमारी बात का बुरा मत मानिएगा भाई साहब। हम हँसी में कह रहे हैं। हाँ, कहीं आप हमारी बात का बुरा ही मान जाएँ। हमारी कुछ आदत ही है कि हर वक़्त हँसी-मज़ाक करते रहते हैं। घर में भी हमारा रात-दिन हँसी-मज़ाक चलता है। हमारी ये कई बार बहुत बिगड़ती हैं कि तुम कभी तो अपनी यह हँसी छोड़ा करो, दूसरे बुरा मान जाते हैं।"

चन्दन अपना सूटकेस खोलकर उसमें से कपड़े निकाल रहा था। राधेलाल उठकर उसके पास आ गया।

"भाई साहब, रात को कौन-से कपड़े पहन रहे हैं?" उसने कहा। चन्दन अपने कपड़े निकालकर बाहर रखता रहा।

"यह तो उस वक़्त देखा जाएगा," उसने कहा, "कुछ भी पहन लूँगा।"

"भाई साहब, बुरा न मानें तो हम एक राय दें?" राधेलाल झुककर उसके सूटकेस में झाँकता हुआ बोला, "रात को आपको डार्क ग्रे कलर का सूट पहनना

चाहिए। उसके साथ गहरे सुर्ख रंग की टाई हो, तो क्या कहने हैं! दोनों चीज़ें आपके पास हों, तो कोई बात ही नहीं वरना हम अभी इन्तज़ाम किए देते हैं। राधेलाल की फुर्ती भी आप देखिएगा कि कैसे सब इन्तज़ाम करता है। रात को आपकी वह शो निकलनी चाहिए कि बस...लोग देखकर एक बार कह उठें कि हाँ, सत्यरत्नजी ने कुछ देखकर ही अपना दामाद चुना है। आपको शायद पता नहीं है, सत्यरत्नजी हमारे सगे चाचा की तरह हैं। और शकुंतलाजी, आपकी होने वाली वो, हमारी तो बहन की तरह हैं। इस नाते समझिए, हम आपके साले हैं, आप हमारे बहनोई हैं।''

''आप बैठिए, मैं ज़रा नहा आऊँ,'' चन्दन ने कहा, ''सफर की वजह से तबीयत कुछ परेशान हो रही है।'' उसने कमीज़ और बनियान बाहर रखकर बाक़ी कपड़े बन्द कर दिए और नहाने के कमरे में जाने के लिए तैयार हो गया।

''हाँ, हाँ, बड़े शौक से।'' राधेलाल बोला, ''आप नहाइए और हम उतनी देर में नाश्ते का इन्तज़ाम करते हैं। मगर भाई साहब, एक बात पूछते हैं, बुरा मत मानिएगा। आपके साथ यही सामान है, या और भी कुछ है?''

''क्यों?'' चन्दन ने आश्चर्य के साथ उसकी तरफ़ देखा। ''और सामान होता तो वह भी साथ ही आया होता। आपके सामने ही तो मैं गाड़ी से उतरा हूँ।''

''हम ऐसे ही पूछ रहे हैं।'' राधेलाल बोला, ''चाचीजी कह रही थीं कि शकुन्तलाजी के गहने और कपड़े आप साथ लाए हैं, मगर किसी को दिखाएँगे नहीं, बन्द-के-बन्द ही शकुन्तलाजी को दे देंगे। हमने कहा कि शायद आपके इसी सूटकेस में हों। मगर लगता है कि आप वे सब चीज़ें घर पर ही छोड़ आए हैं, वहीं जाकर उन्हें देंगे। हाँ, ठीक है। जब चीज़ दिखानी नहीं, तो बोझ साथ लेकर आने की क्या ज़रूरत थी? जिसे पहनने हैं, वह अपने घर जाकर पहन लेगी।''

चन्दन के होंठों पर खुश्क-सी मुसकराहट आ गई।

''मैं भाई साहब, कोई भी चीज़ घर पर छोड़कर नहीं आया,'' उसने तौलिए को अपने बाएँ हाथ पर लपेटते हुए कहा, ''आपकी चाचीजी ने अगर आपसे ऐसा कुछ कहा है, तो ग़लत कहा है।'' और वह होंठों को सिकोड़े हुए बाथरूम में चला गया।

चन्दन का मन सहसा उदास हो गया था। उसे समझ नहीं आ रहा था कि क्यों उन लोगों ने पहले ही ये बातें उसे नहीं लिख दीं। वह एक विशेष धरातल पर ब्याह के लिए तैयार होकर आया था, वहाँ अपने को एक और ही धरातल पर पा रहा था। परन्तु उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि उस सम्बन्ध में वह कर क्या सकता है। उसे पहले से इसका ज़रा भी आभास होता, तो सम्भव था कि वह ब्याह का विचार छोड़ देता। परन्तु अब ब्याह से कुछ घंटे पहले वह अपना विचार कैसे बदल सकता था?

उसने नल पूरा खोल दिया। पानी की धार छींटे उड़ाती हुई फ़र्श पर गिरने लगी। धार में भीगने से पहले वह कुछ देर साबुन हाथ में लिये खड़ा रहा। कल गाड़ी की

रात और आज की सुबह, दोनों में कितना अन्तर था! कल वह आज के सम्बन्ध में क्या सोच रहा था और आज क्या महसूस कर रहा था। उसने अपना पैर आगे बढ़ा दिया और कुछ देर उसे भीगते देखता रहा। फिर वह धार के नीचे बैठ गया और शरीर पर साबुन लगाने लगा। उस थोड़े से समय में ही जैसे उसने उम्र की कई सीढ़ियाँ लाँघ ली थीं और अपने को पहले से कहीं प्रौढ़ महसूस कर रहा था। साबुन लगाकर उसने शरीर को मल-मलकर धोया, जैसे उस परिस्थिति को लेकर सोचने के साथ शरीर को उस तरह मलने का कोई गहरा आन्तरिक सम्बन्ध हो।

वह बाहर निकला, तो राधेलाल एक छोटी-सी कॉपी निकालकर उसमें कुछ हिसाब लिख रहा था। उसे देखकर उसने कॉपी बन्द करके ज़ेब में रख ली और मुसकराता हुआ बोला, "वाह, भाई साहब, अब तो बिलकुल जँच आए आप!"

चन्दन भी उत्तर में मुसकराया और गीला तौलिया कुरसी की पीठ पर फैलाकर अपने बैग से कंघा-शीशा निकालने लगा।

"भाई साहब, यह ज़िन्दगी भी क्या चीज़ है!"

चन्दन ने घूमकर उसकी तरफ़ देखा। राधेलाल ने दूसरी सिगरेट सुलगा ली थी और एक पैर काउच पर रखकर ज़रा फैलकर बैठ गया। उसके मुँह से निकला हुआ धुआँ हवा में लचक रहा था।

"क्यों, आप ज़िन्दगी की चिन्ता क्यों करने लगे?" चन्दन स्वस्थ भाव से बोला।

"ऐसे ही एक बात कह रहे हैं।" राधेलाल लम्बा कश खींचकर बोला, "हमारी आदत है भाई साहब कि हमारे मन में बात आती है, तो मुँह से कह देते हैं। यह भी बात मुँह में आई थी, सो कह दी। और ठीक बात भी है कि परमात्मा ने ज़िन्दगी भी क्या अजीब चीज़ बनाई है।"

चन्दन कुछ न कहकर अपने बाल ठीक करने लगा। जब तक वह तैयार हुआ, तब तक चाय भी आ गई। राधेलाल सीधा होकर बैठ गया और चाय बनाने लगा।

"भाई साहब, चाय में आप कितनी चीनी पीते हैं?" उसने पूछा।

"सवा या डेढ़ चम्मच।"

"और अंडे का परहेज तो नहीं करते?"

"क्यों, क्यों?"

"ऐसे ही पूछ रहे हैं। हमने साथ पेस्ट्री मँगाई है। कहते हैं, पेस्ट्री में अंडा पड़ता है। हमने कहा शायद परहेज करते हों।"

"जी नहीं, मैं अंडे का परहेज नहीं करता," कहता हुआ चन्दन आकर उसके सामने ही कुरसी पर बैठ गया।

राधेलाल कुछ सोचता-सा चाय में चीनी मिलाता रहा, फिर बोला, ''और मांस-आंस का परहेज भी नहीं करते?''

उसने प्याली चन्दन की तरफ़ बढ़ा दी। चन्दन ने प्याली उसके हाथ से लेकर एक हलका-सा घूँट भर लिया।

''हमारे घर में नहीं बनता,'' चन्दन ने कहा, ''मगर कभी-कभार मैं बाहर खा लेता हूँ।''

''अच्छा?'' राधेलाल जैसे चौंक गया, ''तब तो कभी-कभार ड्रिंक भी ले लेते होंगे।''

चन्दन उसके पूछने के ढंग पर थोड़ा मुसकरा दिया और बोला, ''नहीं, ड्रिंक-व्रिंक मैं नहीं लेता।''

राधेलाल अपनी प्याली उठाने से पहले सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश खींचकर उसे समाप्त कर देना चाहता था। सिगरेट की राख इतनी बढ़ गई थी कि वह सहसा झड़कर उसके कपड़ों पर गिर पड़ी। कपड़े झाड़ते हुए उसने सिगरेट का टुकड़ा ऐश-ट्रे में डाला और प्याली की तरफ़ झुकते हुए बोला, ''सत्यरत्नजी के घर में तो भाई साहब, अंडा भी नहीं जाता, आपको पता ही होगा। मैं सोच रहा था कि अगर आप ड्रिंक भी लेते हों, तो...'' और उसने एक विशेष दृष्टि से उसे देखकर अपनी प्याली उठा ली।

चन्दन चुपचाप चाय के घूँट भरता रहा। राधेलाल फिर बोला, ''सत्यरत्नजी इन बातों का बहुत ख़याल करते हैं। और लोग देखिए ऐसे होते हैं कि अपने मन से ही सौ तरह की बातें बना लेते हैं। हमसे ही कोई कह रहा था कि भाई साहब ड्रिंक का भी परहेज नहीं करते। हमने कहा कि यह कभी हो ही नहीं सकता। आपसे तो हमने पूछा है, लेकिन उस वक़्त भी हमें दिल में पक्का विश्वास था कि ऐसी बात हो ही नहीं सकती। सत्यरत्नजी कभी लड़की का रिश्ता ऐसी जगह नहीं कर सकते। भाई साहब, बातें करने वाले ऐसे मौक़े पर हर तरह की बातें करते हैं। हम किसी का मुँह थोड़े ही पकड़ सकते हैं! क्या कहते हैं?''

''आप ठीक कह रहे हैं,'' कहकर चन्दन चाय पीता रहा।

''अब विभाजी हैं,'' राधेलाल एक घूँट भरकर हाथ से मुँह को पोंछता हुआ बोला, ''शकुन्तलाजी की सबसे अच्छी सहेली हैं। वही, जिनके हस्बैंड अभी आपके पास आएँगे। वह शकुन्तलाजी से कह रही थीं कि भाई साहब ने एम.ए. पास किया है, तो फिर स्कूल में क्यों पढ़ाते हैं? किसी कॉलेज में नौकरी नहीं करते? मगर हमने कहा कि जब उन्होंने कहा है कि एम.ए. पास हैं, तो यह कैसे हो सकता है कि एम.ए. पास न हों? सत्यरत्नजी क्या मूर्ख हैं कि एम.ए. पास लड़की का ब्याह बी.ए. पास लड़के से कर देंगे? एक बात कह रहे हैं भाई साहब, बुरा मत मानिएगा।

वह बात तो एक आम अक्लवाला आदमी भी सोच सकता है कि एम.ए. पास लड़की का ब्याह कम-से-कम एम.ए. पास लड़के से होना ही चाहिए। क्या कहते हैं?"

चन्दन की समझ में नहीं आया कि उसकी बात पर हँस दे या क्या कहे। उसकी प्याली ख़ाली हो गई थी। वह अपने लिए दूसरी प्याली बनाने लगा।

"यह चाय आपको कैसी लगी?" राधेलाल ने पूछा।

"अच्छी चाय है।" उसने कहा।

"चाय तो फिर भाई साहब, होटल की ही होती है," राधेलाल बोला, "हम लोग कितना ही करें, मगर घर में वैसी चाय नहीं बन सकती जैसी होटल में बनती है। घर की चाय में ससुरा फ्लेवर ही नहीं आता। हमारे घर में दिन में तीन दफे चाय बनती है, मगर जो बात इस चाय में है, वह बात उसमें कभी पैदा ही नहीं होती।"

"लगता है, आप चाय के मामले में काफ़ी समझ रखते हैं।" कहते हुए चन्दन ने कुर्सी की पीठ से टेक लगा ली।

"हम एक बात कह रहे हैं," राधेलाल बोला, "और भाई साहब, हम लोग तो बस बात ही कर सकते हैं, चाय के फ्लेवर की पहचान हम लोगों को कहाँ है? हम लोगों के लिए चाय चाय है, ससुरी कैसी भी हो! चाय के फ्लेवर का फ़र्क तो दरअसल अंग्रेज जानता था। अंग्रेज की बात अंग्रेज के साथ ही चली गई। क्या कहते हैं?"

●●●

गुंझल*

पूरे दिन का बस का सफर। एक ही सीट पर साथ-साथ बैठे हुए, फिर भी एक-दूसरे से कोसों दूर रहकर...।

सुरंग पार करके बस बानियाल कस्बे की तरफ़ उतरने लगी। आगे बिना कोलतार की सँकरी सड़क थी और साढ़े तीन हज़ार फुट की सीधी ढलान के नीचे बानिहाल की घाटी। सड़क को हमवार रखने के लिए जगह-जगह नए पत्थर डाले जा रहे थे। छुक-छुक करते रोड रोलर और बेलचे चलाते मज़दूर। नीचे बानिहाल की घाटी चिनार के एक बड़े पत्ते की तरह फैली हुई थी। किसी-किसी मोड़ से घाटी की ज़िन्दगी की एक झलक दिखाई दे जाती—टीन और सलेट की छतें, चिमनियों से निकलता धुआँ और धान के खेतों में चमकता पानी। जैसे वह सब यथार्थ न हो, यथार्थ की एक नकल हो। एक बड़े पैमाने पर आयोजित रंगमंच। और निचान की सड़क पर बस जैसे चल नहीं रही थी, लुढ़क रही थी। उसकी गति गति न होकर एक बेबसी थी। पहिए फिसल रहे थे और बस का जिस्म खड़खड़ा रहा था। घाटी का विस्तार धीरे-धीरे बड़ा हो रहा था...।

* उपन्यास-अंश को कहानी बनाने की प्रक्रिया में प्रथम अंश की शकुंतला को यहाँ कुन्तल बना दिया गया है। —सं.

नीचे और नीचे। पहाड़ को काटकर नई सुरंग बनाई जा रही थी। बड़े-बड़े क्रेन अपनी लम्बी गर्दनें फैलाए सुरंग का मलबा ढोकर खड्ड में डाल रहे थे। टनेल प्रोजेक्ट की नई आबादी।

बस का हार्न एक बार ज़ोर से बज उठा। एक बछड़ा और खरगोश बस के सामने पड़ गए थे। बछड़ा तेज़ी से कूदकर खड्ड की तरफ़ चला गया, मगर खरगोश आगे के पहिए के नीचे आकर कुचला गया। ड्राइवर ने पल-भर के लिए ब्रेक लगाया, मगर अगले ही क्षण बस उसी रफ़्तार से आगे बढ़ने लगी।

ब्रेक लगी, तो एक बार पति-पत्नी के शरीर आपस में छू गए। कुन्तल ने अपनी बाँहें सिकोड़ लीं और पहले से थोड़ा सिमटकर बैठ गई। उसके ब्लाउज़ के दो बटन खुल गए थे, मगर उसे बन्द करने का ध्यान नहीं था। उसके सोने के बुंदे काँटे में फँसकर तड़पती मछलियों की तरह अस्थिर थे। साड़ी का पल्ला सीट से पीछे की तरफ़ निकल गया था और रह-रहकर फड़फड़ा उठता था। बस ज्यों ही किसी मोड़ के पास पहुँचती, वह आगे की सीट को पकड़कर अपना भार सँभाल लेती। शरीर से शरीर छूना नहीं चाहिए। एक ही सीट पर साथ-साथ बैठे हुए इतना लम्बा सफर सचमुच कितनी बड़ी मजबूरी थी।

सामने के शीशे में बहुत-सी आकृतियाँ हिचकोले खाती नज़र आ रही थीं। दो आँख शीशे के अन्दर से बार-बार उसकी तरफ़ देखने लगती थीं। वह जब आँखें हटाकर फिर उधर देखती, वे आँखें उसी तरह से ताक रही होतीं। वह लड़की, स्नेह, जाने क्यों उसे देख रही थी? उसके चेहरे में ऐसा क्या था जो वह देखना चाहती थी? और ऐसे बेढब सफ़र में वह लड़की इस तरह बन-सँवरकर क्यों आई थी? वह जैसे बस में सफ़र नहीं कर रही थी, किसी पार्टी में आई थी, जहाँ सबके सामने उसे अपने को उभारकर दिखाना था। उसके चेहरे से लग रहा था जैसे अभी-अभी वह कोई गीत गुनगुनाने लगेगी या सहसा खिलखिलाकर हँसने लगेगी। मोतिया कमीज़, लाल दुपट्टा और हरी कोटी; उसके दुबले शरीर पर ये रंग कितने भड़कीले लग रहे थे।

मटियाले रंग के लहरिया साँप की तरह बल खाई सड़क। बस बानिहाल के बाज़ार में आकर रुक गई। लोग एक-एक करके नीचे उतरने लगे। बस को आधा घंटा वहाँ रुककर आगे चलना था। वे दोनों भी अपनी जगह से उठ खड़े हुए। स्नेह और उसके घर के लोग उनसे आगे उतर रहे थे। दरवाज़े के पास पहुँचकर स्नेह की आँखें एक बार पीछे को घूम गईं, फिर वह कूदकर नीचे उतर गई। उसका भाई मनोहर अपनी माँ की बाँह को सहारा दिए बहुत आहिस्ता से उतरा और अपने घर के सब लोगों को साथ लिए सामने के ढाबे में चला गया।

वे दोनों बस से उतरकर बिजली के खम्भे के पास खड़े हो गए और कुछ देर तक बिना बात किए, बिना एक-दूसरे की तरफ़ देखे, इस तरह खड़े रहे, जैसे वे

पति-पत्नी न होकर दो ऐसे यात्री हों जिनका अभी तक आपस में परिचय न हुआ हो। चन्दन ने दोनों हाथ पतलून की ज़ेबों में डाल लिए और जूते की नोक से ज़मीन को कुरेदने लगा। कुन्तल ने अपने बटुए से ऊन और सलाइयाँ निकाल लीं और अपना पुलोवर बुनने में व्यस्त हो गई।

"खाना खाओगी?" काफ़ी देर की चुप्पी के बाद चन्दन ने पूछ लिया।

कई क्षण कुन्तल ने उसे कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखें अपने हाथ की सलाइयों पर ही झुकी रहीं।

"आप खा लीजिए," फिर उसने कहा, "हमें भूख नहीं है।"

"खाना हो, थोड़ा-सा खा लो," चन्दन ने भी जैसे उससे न कहकर हवा से ही कहा "यहाँ से चलकर बस जाने कहाँ रुकेगी। और फिर जाने कहीं ढंग का खाने को मिलेगा भी या नहीं।"

कुन्तल ने सामने के ढाबे की तरफ़ देखा। चार-छः देगचियाँ और पतीलियाँ लगभग सड़क के छोर पर रखी थीं और रास्ते से उड़ती धूल बार-बार उन्हें घेर लेती थी। एक आदमी, जिसके हाथ और कपड़े एक-से ही मैले थे, नल के नीचे से गीली थालियाँ उठाकर एक स्याह कपड़े से पोंछ रहा था और दूसरा मुसीबत ढोने के ढंग से उनमें दाल-सब्ज़ी और रोटियाँ रखकर ग्राहकों के पास ले जा रहा था। जाने कितनी-कितनी कालिख की तहों में ढके फ्राइंग पैन में प्याज़ के टुकड़े तड़क रहे थे।

"हमारा खाने को मन नहीं है," उसने अपनी सलाइयों में व्यस्त होते हुए कहा, "और बस का सफर है, इस तरह का खाकर भी तबीयत ख़राब ही होगी।"

चन्दन ने फिर कुछ नहीं कहा। खम्भे से टेक लगाए जूते की नोक से मिट्टी कुरेदता खड़ा रहा। उसकी 'काडराय' की पतलून के घुटने बाहर को निकल आए थे और रोओं के घिस जाने से जगह-जगह उस पर चकत्तियाँ-सी पड़ी थीं। पायंचों के टाँके टूट गए थे जिससे उनका मुड़ा हुआ हिस्सा बाहर को खुल गया था। जूते की एड़ियाँ और तलुवे घिसे हुए थे और ऊपर के चमड़े में गहरी-गहरी लकीरें पड़ी थीं।

"आपको भूख हो, खा लीजिए," कुन्तल ने कुछ क्षण बाद उसकी तरफ़ देखकर कहा।

"भूख होगी, खा लूँगा," कहकर चन्दन वहाँ से हट गया और टहलता हुआ कुछ दूर उधर चला गया जिधर से उनकी बस अभी-अभी आई थी। सामने दूर तक पीर पंजाब की पहाड़ी शृंखला थी—रूखी, कठोर और पथरीली। बड़ी-बड़ी उभरी हुई चट्टानों की उस ऊँची दीवार को देखकर अनुमान भी नहीं होता था कि उसके दूसरी तरफ़ एक ऐसी घाटी है जहाँ मीलों के विस्तार में हरियाली ही हरियाली फैली है और आँख जहाँ भी जा पड़े कुछ देर के लिए वहीं ठिठककर रह जाती है।

वह बैरियर तक जाकर लौट पड़ा। जब वह कुन्तल के पास से होकर आगे निकलने लगा, तो कुन्तल ने आवाज़ से उसका रास्ता काट लिया, "सुनिए।"

वह रुक गया, मगर उसने कहा या पूछा कुछ नहीं। कुन्तल भी कुछ देर चुप रही। फिर आँख अपने हाथों पर स्थिर किए बोली, "देखिए रात को जम्मू से हमें आगे के लिए कोई बस मिल जाएगी?"

चन्दन कुछ न कहकर गम्भीर दृष्टि से उसकी तरफ़ देखता ही रहा तो उसने फिर कहा, "हम सोच रहे हैं, रात को पठानकोट से जो भी गाड़ी मिल जाए, हम उसी से चले जाएँ।"

"रात को जम्मू से तुम्हें कोई बस नहीं मिलेगी।" चन्दन अब पहले से और गम्भीर हो गया। "और कल से पहले शायद पठानकोट से कोई गाड़ी भी नहीं मिलेगी!"

कुन्तल पल-भर ख़ामोश रहकर जैसे कुछ सोचती रही। फिर कुछ बेबसी के स्वर में बोली, "तो कल सुबह पठानकोट से पहली गाड़ी कौन-सी मिलेगी?"

"इसका पता पठानकोट चलकर ही लगेगा। मुझे सिर्फ़ इतना पता है कि कश्मीर मेल वहाँ से शाम को चलती है।"

"मगर हम वहाँ कल शाम को नहीं रुकना चाहते। अगर कोई गाड़ी उससे पहले जाती हो, तो हम उसी से चले जाना चाहेंगे।"

चन्दन कुछ देर चुप रहकर अपना होंठ काटता रहा। फिर बोला, "तुम जो भी चाहोगी, उससे मैं तुम्हें मना नहीं करूँगा। तुम जिस गाड़ी से चाहो, चली जाना। मगर बात इतने से ही समाप्त नहीं हो जाती। हम लोगों के बीच कहने-समझने को अभी बहुत कुछ बाक़ी है।"

कुन्तल की भौंहें कुछ खिंच गईं और नाक ज़रा-ज़रा काँपने लगी। उसकी सलाइयाँ भी पहले से तेज़-तेज़ चलने लगीं। मगर उसने कहा कुछ नहीं, सिर्फ़ अपनी आँखें हटाकर दूसरी तरफ़ देखने लगीं।

"इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे जाने से पहले बात बिलकुल साफ़ कर ली जाए। कोई भी इंसान अपना पूरा जीवन इस तरह दुविधा में रहकर नहीं काट सकता। तुम आगे के लिए अपने मन में क्या सोचती और चाहती हो, यह तुम मुझसे साफ़-साफ़ कह सकती हो।"

"हम आगे के लिए न तो कुछ सोचते हैं और न ही कुछ चाहते हैं।" कुन्तल की सलाइयाँ और भी तेज़ चलने लगीं। "आप अपने मन में जो कुछ सोचते हों, वह हमसे कह दीजिए।"

"मैं जो कुछ सोचता हूँ, उसकी बात तुम रहने दो। वह मैं पहले भी कितनी बार कह चुका हूँ।" चन्दन की साँस जैसे शब्दों के लिए कम पड़ने लगी। "मगर मेरे

सोचने का तो कोई अर्थ अब रहा नहीं। मुझे अब सिर्फ़ इतना जानना है कि तुम अपने मन में क्या चाहती हो, क्योंकि तुम्हारे मन की बात का मुझे अभी पता नहीं चल सका।''

''हमने आपसे कह दिया है, हम अपने लिए न तो कुछ चाहते हैं और न ही इस विषय में हमें कोई बात करनी है।''

''तो तुम्हारा मतलब है कि बात जहाँ आज है, आगे भी वहीं की वहीं बनी रहेगी?''

''मतलब आप कुछ समझ लें। हम अभी सिर्फ़ इतना जानते हैं कि हमें पठानकोठ से सीधे खुरजा चले जाना है।''

''यह बात मैं सुन चुका हूँ,'' चन्दन अपने ही आवेश से स्तब्ध-सा बोला, ''मगर जो बात हमें स्पष्ट जान लेनी है, वह है कि इसके बाद हम लोग आपस में मिलने जा रहे हैं या नहीं। इस बात के जितने पहलू हैं, उनके सम्बन्ध में हमें अच्छी तरह सोच लेना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि जम्मू से चलने तक स्थिति बिलकुल साफ़ हो जाए जिससे आगे के लिए किसी के मन में कोई दुविधा न रहे,'' और कुछ क्षण चुपचाप उसकी तरफ़ देखकर वह फिर टहलता हुआ वहाँ से आगे चला गया।

बस का हार्न बजा तो वे दोनों उसी तरह अपनी सीट पर आ बैठे। चन्दन फैसला करने जा रहा था? क्या वह उस हठ के सामने इतना ही बेबस था कि उसने अपनी कुहनी खिड़की पर रख ली और बाहर देखने लगा। वही बल खाई सड़क पहाड़ के शरीर के चिकने रोएँ—हरी घास, चीड़ ख़ूबानी। हवा के चलने से रोएँ काँप जाते और पहाड़ जैसे पुलकित होकर 'सी-सी' कर उठता। जाने कहाँ से सैकड़ों चिड़ियाँ चहकने लगतीं। कुछ मील आगे घाटी का आकाश हल्के-हल्के बादलों से घिरा था। स्याह, सफ़ेद और सुरमई गुब्बारे बाँहों में बाँहें डाले घाटी में भटक रहे थे। आस-पास और ऊपर-नीचे बस धुंध ही धुंध। हर चीज़ धुंध के अन्दर नम होती जा रही थी। उसे लग रहा था, जैसे वही धुंध उसके अन्दर भी भर रही हो और वह स्वयं भी उसमें खोया जा रहा हो। सड़क उसकी आँखों के सामने से फीते की तरह फिसल रही थी। इंजन की गुर्राहट और पहियों की आवाज़ के साथ फ़ीता तेज़ी से घूम रहा था और वह जड़ से होकर उसे घूमते देख रहा था। उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह कुछ सोच रहा है या नहीं। शायद वह कुछ भी नहीं सोच रहा था, या शायद इतनी तेज़ी से इतना कुछ सोच रहा था कि कोई भी विचार मन में स्पष्ट नहीं हो पा रहा था। मन की वह जड़ता जड़ता थी या जड़ता जैसी अस्थिरता? उस जड़ता या अस्थिरता का अनुभव उसे पहले भी कितनी ही बार हुआ था जबकि विचारों के छोटे-छोटे खंड आपस में उलझ जाते थे और उन्हें सुलझाकर देखने के प्रयत्न में हर चीज़ और गहरे गुंझल उलझने लगी थी। परन्तु उस गुंझल में एक चीज़ फिर स्पष्ट रहती थी—एक दर्द या

एक प्रश्नचिह्न—कि वह सब ऐसे क्यों था? क्यों उसी के जीवन में वह सब ऐसे घटित हुआ था? क्यों उससे, शायद अकेले उसी से, परिस्थितियाँ इस तरह आ टकराई थीं कि किसी भी तरह अब अपने को सँभाले नहीं बनता था? और उस असमंजस, उस गुंझल में ही ज़िन्दगी हाथों से फिसलती जा रही थी और वह उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कर पा रहा था। यह सब ऐसे क्यों था? क्यों जीवन वैसे नहीं ढला था जैसे कि उसने ढालना चाहा था, या जैसे उसने सोचा था कि उसे ढलना चाहिए। और अब? अब आगे जीवन का रूप क्या होने जा रहा था? क्या आगे के लिए वह उसे सँभालकर ठीक दिशा दे सकता था? और यदि नहीं, तो आनेवाले कल की रूपरेखा क्या होने जा रही थी? क्या एक लड़की का सोचने का ढंग और उसके अन्दर का हठ ही उसके जीवन की हर चीज़ को तोड़ने के लिए कुछ भी नहीं कर सकता था?

फ़ीता तेज़ी से घूम रहा था और अतीत के कई छोटे-छोटे खंड, कई छोटे-छोटे चित्र एकसाथ मस्तिष्क में उभर रहे थे। ऐसे कई-कई बातों के टुकड़े दिमाग़ में मँडरा रहे थे जो जब तब उसने कही थीं, या जो उससे कही गई थीं। या जो कई बार चाहा था कि कही जाएँ, मगर कही नहीं जा सकी थीं। और उस सारे द्वंद्व के ऊपर घिरती कई एक छायाएँ थीं। बम्बई की एक सुबह। शिमला की एक शाम। और उन छायाओं के बीच से गुज़रती कई एक लकीरें। कार्ट रोड से घाटी की तरफ़ उतरती पगडंडी। एक पसीने से भीगा चेहरा। घाटी के उस तरफ़ से आती रेलगाड़ी की आवाज़। गुसलखाने में गिरता पानी। शीशे से छनकर आती धूप। एक वाक्य, "यह आप अपनी अमानत देख लीजिए।"

आगे पूरी सड़क बादलों से घिरी थी। चार हाथ आगे की हर चीज़ धुँधली दिखाई देती थी। पहाड़, पेड़, घाटी और सड़क, सबकुछ अदृश्य होता जा रहा था। हुआँ-हुआँ-हुआँ हवा के थपेड़े और टपूटप्-टपूटप् वर्षा की बूँदें। उसने शीशा चढ़ा दिया। कुछ देर लगता रहा जैसे चढ़ाई का वह रास्ता उन्हें सीधा आकाश में ले जा रहा हो—पहाड़, पेड़ों और चिड़ियों से बहुत ऊपर। मगर धीरे-धीरे बादल ऊपर उठने लगा और पहले से कहीं तीखी बूँदें शीशे से टकराने लगीं। वह शीशे से सिर सटाए देखता रहा। धुंध में से बाहर आती सड़क। उस सड़क से बहुत दूर एक और सड़क। उस सड़क की मुँडेर, सड़क से घाटी की तरफ़ उतरती पगडंडी, हेडमास्टर बर्टन की त्योरियाँ, जीने पर गूँजती पैरों की आवाज़, चाँदी की घंटियों जैसी हँसी और एक बहुत आत्मीय स्वर, "देखिए, आप खुद उन्हें लाने जाएँगे, जाएँगे न?"

"देखो," उसने कुन्तल की तरफ़ मुड़कर कहा।

कुन्तल अपने में ही खोई हुई बैठी थी। कुछ चौंककर बोली, "कहिए।"

"मैं तुम्हें एक सुझाव देना चाहता हूँ। अगर हम लोग आपस में बात करके किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकते, तो क्यों न सारी स्थिति को किसी तीसरे आदमी के

सामने रखकर देख लिया जाए? तुम चाहो, तो हम लोग यहाँ से सीधे लखनऊ चल सकते हैं। वहाँ तुम्हारे पिता के सामने बैठकर सारी बात की जा सकती है।''

''हमें किसी के सामने कोई बात नहीं करनी है।'' कुन्तल के माथे की सलवटें पहले से गहरी हो गईं। ''हम लोग बच्चे तो हैं नहीं जो किसी तीसरे आदमी के सामने बैठकर बात करेंगे।'' और उसकी तरफ़ से आँखें हटाकर सामने की तरफ़ देखते हुए उसने कहा, ''और पिताजी के सामने तो हम कभी भी कोई बात नहीं करेंगे।''

''तो ठीक है। मैंने यह बात तुम्हारी नज़र से कही थी।'' कहकर चन्दन ने फिर शीशे से चेहरा सटा लिया और बाहर देखने लगा।

रामबन के घातक मोड़। गहरी खड्ड में चनाब शोर करता बह रहा था। आवाज़ वातावरण में गूँज पैदा कर रही थी कि लगता था, वह सारे पहाड़ को तोड़कर रहेगी। एक मोड़ पूरा होने से पहले दूसरा मोड़, फिर तीसरा। वह फफकता हुआ ख़ूनी नाला सामने आ गया, जो सड़क पर से बहता हुआ चनाब में गिरता है और जिसकी वजह से हर बरसात के दिनों में सड़क कई-कई बार टूट जाती है। नाला पार करते हुए बस दो-एक बार धचके खा गई। बहुत-से छींटे उड़े और क्षण-भर के लिए सबके दिल दहल गए। मगर बस सही-सलामत नाला पार करके मोड़ मुड़ गई। फिर रामबन की दुकानें, चनाब का झूलता पुल, दरिया के साथ-साथ जाती सड़क की चढ़ाई...। वर्षा और बादल अब पीछे रह गए थे और दरिया की सतह पर खुली धूप फैली थी।

कुन्तल ने अपनी साड़ी के पल्ले को अच्छी तरह बाँहों के गिर्द लपेट लिया। उसके मन में बहुत उलझन हो रही कि सफर पूरा होने में क्यों नहीं आ रहा। घंटों से वे लोग इसी तरह हिचकोले खाते बैठे थे और सफर था जैसे एक ही मुकाम के इर्द-गिर्द घूमता जा रहा हो, या जैसे सड़क के अन्दर से ही और सड़क निकलती आ रही हो ओर रास्ता मकड़ी के जाले की तरह अपना ताना-बाना और-और फैलाए जा रहा हो।

फिर अभी जम्मू पहुँचकर एक रात—जाने कैसी रात—जो उन लोगों को साथ-साथ काटनी थी और उसके बाद आगे खुरजा तक का सफर...। क्या सफर किसी तरह छोटा नहीं हो सकता था? कुछ ऐसा नहीं हो सकता था कि रास्ते के सब पड़ाव जल्दी-जल्दी तय हो जाएँ और वह तुरन्त अपने उस 'क्वार्टर' में जा पहुँचे जो उसका अपना, एकमात्र अपना घर था और जहाँ रहते रात-दिन उसे उन दो आँखों का सामना नहीं करना पड़ता था जो जब-तब स्थिर होकर एक अभियोगपूर्ण दृष्टि से उसे देखने लगती थीं, देखती रहती थीं...!

वह उन आँखों के अभियोग का क्या उत्तर दे सकती थी? स्थिति क्या ऐसी थी कि उसे आपस में बात करके स्पष्ट किया जा सके? कितने दिनों से उस स्थिति को अपने मन में स्पष्ट करने के लिए वह अन्दर ही अन्दर संघर्ष कर रही थी? परन्तु वह संघर्ष क्या उसे किसी भी परिणाम तक ले जा सका था? एक और जाल था जो

जीवन को बाहर से अपने में कसे था। वह कितना चाहती थी कि अपने को दोनों में से किसी एक जाल से मुक्त कर सके, परन्तु उसके चाहने से कुछ भी तो नहीं होता था। और ऐसी स्थिति में वह किसी से बात कर ही क्या सकती थी? क्या उसने कभी सोचा था कि उसे जीवन में अपने ही अन्दर के संघर्ष से इस तरह पिसना पड़ेगा? कहाँ युनिवर्सिटी के वे दिन, जीने का वह उत्साह और मन की बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ, और कहाँ आज की यह घिसटती-छटपटाती ज़िन्दगी! क्या उसके अन्तर्द्वंद्व को उसके अतिरिक्त और कोई भी समझ सकता था?

उसने अपने विचारों को रोका और सिर को उठाकर मील के पत्थर की प्रतीक्षा करने लगी। एक पत्थर से दूसरे पत्थर तक जाने कितना फासला था कि तय होने में ही नहीं आता था। दूर से एक पत्थर आता दिखाई दिया, मगर पास आने पर वह ठीक से पढ़ा नहीं गया। ठीक से पढ़ने के लिए खिड़की की तरफ़ उचकना ज़रूरी था। उसने अपने अन्दर से उठती उसाँस को दबाया और दूसरे पत्थर की प्रतीक्षा करने लगी। जाने कितनी-कितनी प्रतीक्षा के बाद फिर दूसरा पत्थर आया। उस पर भी इतनी ही लिखाई पढ़ी जा सकी—कूल तीन मील। अभी कूद ही तीन मील था, तो जम्मू जाने कितनी दूर होगा?

"वह कोठी है जहाँ शेख अब्दुल्ला और उसके साथी नज़रबन्द हैं," पीछे की सीट से किसी ने कहा।

लोग उचक-उचककर खिड़कियों से बाहर देखने लगे। स्नेह भी अपनी सीट से उठकर उनकी तरफ़ आ गई और उनके ऊपर झुककर बाहर देखने का प्रयत्न करने लगी। उसे कोठी नज़र नहीं आई, इसलिए वह और भी झुक गई। उसके वक्ष का उतार-चढ़ाव चेहरे के बहुत पास आ जाने से चन्दन ने अपना चेहरा एक तरफ़ हटा लिया। इससे पति-पत्नी के शरीर फिर एक बार आपस में छू गए। स्नेह जब वहाँ से हटकर अपनी सीट पर वापस चली गई, तो चन्दन को खिड़की के शीशे का ध्यान आया। शायद शीशा लगा रहने से ही स्नेह को इतना झुकना पड़ा था। और शीशा बिलकुल साफ़ भी नहीं था। वर्षा की कुछ एक बूँदें अभी तक उस पर ठहरी थीं। और शीशे की तरफ़ देखते हुए उसे लगने लगा जैसे वह भी शीशे के एक घर में कैद हो और नन्हीं-नन्हीं बूँदें शरारती आँखों की तरह बाहर से उसे देख रही हों। उसने शीशा नीचे गिरा दिया।

बस कूद पहुँचकर रुक गई। चाय के लिए पूछनेवाले सड़कों ने बस को घेर लिया। कई-एक घिसी हुई आवाज़ें एकसाथ सुनाई देने लगीं। चाय के गिलासों से उठता धुआँ खिड़की के बहुत पास था और शरीर को जकड़ी नसों को एक निमन्त्रण देता जान पड़ता था।

"चाय पिओगी?" उसने जकड़े-से स्वर में पूछ लिया।

कुन्तल ने सिर हिलाकर मना कर दिया। उसका सिर हल्का दर्द कर रहा था और उसका बहुत मन था कि चाय की एक प्याली पी ले, चाहे कैसी भी हो। मगर उस मनःस्थिति में वह अपने को 'हाँ' कहने के लिए तैयार नहीं कर सकी। चन्दन ने भी उससे दूसरी बार नहीं पूछा और बस के चलने तक नाली में से झरते चश्मे के पानी को देखता रहा, जो जाने कब से व्यर्थ बह रहा था, और व्यर्थ ही आवाज़ कर रहा था...।

बस चली, तो धूप ढलने लगी थी। ढलती धूप के स्पर्श से छाबियाँ सुनहरी हो उठी थीं। पक्षियों की डारें नन्हें-नन्हें पंख फड़फड़ाती अपने बसेरों की तरफ़ लौट रही थीं। उतरती साँझ के वातावरण में चन्दन के मन में एक झुटपुटी-सी अनुभूति भरने लगी—सुख, घर विश्राम की सारी कल्पनाओं और सारे अभावों की एक मिलीजुली अनुभूति। उसके मन में वह प्रश्न, वह दर्द अब और भी तीखा होकर चुभने लगा। क्या सचमुच पूरा जीवन उसे बिना घर के ही काटना था? बिना उस छोटे-से कोने के, जहाँ साँस आए, तो मन उदास न हो और सुबह होते ही अपने-आप ख़ाली और व्यर्थ न लगने लगे? क्या सचमुच घर की वह कल्पना जीवन-भर के लिए उससे छिन चुकी थी, और उसे वापस लाने के लिए वह कुछ भी नहीं कर सकता था? उसने कुन्तल की तरफ़ देखा।

"मैं सोचता हूँ कि तुम न भी चलना चाहो, तो मैं एकाध दिन लखनऊ हो आऊँ," वह बोला, "तुम कभी भी इस विषय में स्पष्ट बात कर सकोगी, इसमें मुझे सन्देह है।"

"आपको जाना हो, हो आइएगा," कुन्तल ने उदासीन भाव से कहा, "मगर पिताजी आजकल वहाँ हैं नहीं, किसी काम से बाहर गए हैं।" और होंठ बन्द करके अपने अन्दर के उबाल को रोके, वह फिर सामने देखने लगी। तो क्या सचमुच स्थिति आ गई थी जब एक न एक तरफ़ फैसला कर लेना अनिवार्य था? परन्तु एक तरह से यह फैसला क्या पहले ही नहीं हो चुका था? क्या बात मुँह से कहने से ही कही जाती है और व्यक्ति बिना कहे उसे स्वीकार नहीं कर सकता? उन दोनों के सम्बन्ध में कहाँ और कैसी लकीर थी, क्या वे दोनों ही नहीं जानते थे? फिर उस बात को दुहराकर मुँह से कह लेने में क्या रखा था?...मगर वह उस विषय में सोच क्यों रही थी? क्या वह इस मनःस्थिति में थी कि उस विषय में कल से आगे सोच सके? उसके सामने तो इस समय केवल एक ही लक्ष्य था और वह यह कि जल्दी अपने 'क्वार्टर' में वापस पहुँच जाए—वहाँ, जहाँ चारों ओर से दरवाज़े बन्द करके कुछ देर आँखें मूँदकर पड़ी रह सके। उसके बाद की बात? उसके बाद की बात बाद में ही...।

ज्यों-ज्यों अँधेरा उतर रहा था, बस की रफ़्तार तेज़ होती जा रही थी। ड्राइवर को भी शायद जम्मू पहुँचने की जल्दी थी। माइलो-मीटर की सूई जो सुबह से बीस और पच्चीस के बीच झूल रही थी, अब किसी-किसी समय पैंतीस के हिन्दसे तक जा पहुँची थी। कुन्तल को बस की वह रफ़्तार अच्छी लग रही थी, हालाँकि रास्ता अब भी उतनी

तेज़ी से नहीं कट रहा था, जितनी तेज़ी से वह चाहती थी। बीच के पड़ाव, एक के बाद एक पीछे छूटते जा रहे थे। कई छोटी-छोटी बस्तियाँ आईं और निकल गईं। ऊधमपुर भी जाने कब आया और कब निकल गया। माइलो-मीटर की सूई अब कभी-कभी पैंतीस को भी पार कर जाती थी। वह रफ़्तार मन को सहारा दे रही थी, मगर साथ ही उसे कुछ घबराहट भी महसूस हो रही थी जैसे कोई चीज़ अंतड़ियों में से उठकर ऊपर को आना चाह रही हो? शायद उसे बहुत भूख लग आई थी।

माइलो-मीटर की सूई सहसा पीछे की तरफ़ गिरने लगी और गिरते-गिरते सिफर के हिन्दसे तक पहुँच गई। नन्दिनी की सुरंग के बाहर बहुत-सी बसें और ट्रक रुके हुए थे। दूसरी तरफ़ भी वही स्थिति होने से यातायात बन्द हो गया था।

और बस वहाँ रुकी, तो जैसे रुक गई। दस मिनट, बीस मिनट, आधा घंटा। न जाने कितना समय बीत गया, मगर यातायात रुका ही रहा। बसों की बत्तियाँ कितनी ही बार जलीं और बुझ गईं। इंजन गुर्राए और ख़ामोश हो गए। पीछे के ड्राइवर ज़ोर-ज़ोर हार्न बजा रहे थे और आगे के ड्राइवर उतरकर आपस में बहस कर रहे थे। किसी एक तरफ़ की गाड़ियाँ पीछे हटतीं, तभी दूसरी तरफ़ की गाड़ियाँ सुरंग में से निकलकर आगे जा सकती थीं। मगर इधर के ड्राइवर समझते थे कि उधरवालों को पीछे हटना चाहिए और उधर के ड्राइवर सोचते थे कि इधरवालों को अपनी गाड़ी पीछे हटानी चाहिए। परिणाम यह था कि दोनों तरफ़ और-और गाड़ियाँ आकर खड़ी होती जा रही थीं और जमघट बढ़ता जा रहा था। कुछ-एक ड्राइवर, जो कि उस बहस में नहीं पड़ना चाहते थे, अपने सिगरेट सुलगाकर एक तरफ़ जा बैठे और तमाशबीनों की तरफ़ उस झगड़े को देखते हुए आपस में हँसी-मज़ाक कर रहे थे। बहस की स्थिति को देखते हुए लगता था कि सारी गाड़ियाँ रात-भर वहीं रुकी रहेंगी।

कुन्तल के लिए उतनी देर सीट पर बैठे रहना असम्भव हो रहा था। ज्यों-ज्यों संमय बीत रहा था उसका उतावलापन बढ़ता जा रहा था। उसे झुँझलाहट हो रही थी कि आस-पास उतनी भीड़ क्यों इकट्ठी हो गई है और क्यों उनकी बस उस भीड़ को चीरकर आगे नहीं जा सकती? वह स्थिति जैसे उसे चिढ़ाने के लिए खड़ी की गई थी और वह क्योंकि उसके सामने बिलकुल असमर्थ थी, इसलिए अपनी असमर्थता सामने शीशे में से उसे अपनी तरफ़ मुँह बिचकाती प्रतीत होती थी। उसका वश होता तो वह वहीं बस से उतर जाती और पैदल आगे चल देती। मगर पैदल चलकर वह कितना रास्ता तय कर सकती थी, और उस ठंडे अँधेरे में आखिर कहाँ, किस मुकाम पर जाकर पहुँच सकती थी?

घबराहट बहुत बढ़ने लगी, तो वह सीट से उठकर नीचे चली गई। सड़क पर दूर तक बसों और ट्रकों का जमघट था और उससे पीछे घना अँधेरा। किसी-किसी समय अँधेरे में दो सितारे-से चमक उठते जो धीरे-धीरे पास आते जाते और रुकी हुई गाड़ियों

की लम्बी पंक्ति में एक और गाड़ी आकर शामिल हो जाती। पीछे खड्ड की ढलान भी थोड़ी दूर तक ही दिखाई देती थी और आगे घना अँधेरा जंगल सरसरा रहा था। उसे लग रहा था कि अभी-अभी उसका सिर चकराने लगेगा और वह चक्कर खाकर नीचे जा गिरेगी। पकड़ने की कोई चीज़ पास में होती, तो वह उसे पकड़ लेती या किसी पुल की मुँडेर वहाँ होती, तो कुछ देर के लिए उस पर बैठ जाती। मगर ऐसी कोई भी चीज़ या कोई भी जगह वहाँ आस-पास नहीं थी। वह बहुत कठिनाई से अपने को सँभाले हुए वहाँ खड़ी रही और सामने के सुनसान अँधेरे को देखती रही। ड्राइवरों की बहस लम्बी होती जा रही थी—जाने उस बहस को कभी समाप्त भी होना था या नहीं!

और जंगल में दूर तक मेंढकों की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं—टुक टर्रे, टुक टर्रे, टुक टर्रे। टर्रे, टर्रे, टर्रे,। टुक टुक टुक टर्रे...।

बस जम्मू के टूरिस्ट सेंटर पर पहुँची, तो रात के साढ़े दस बज चुके थे। हालाँकि बत्तियाँ जल रही थीं, फिर भी वहाँ का वातावरण देर से सो चुका लगता था।

बस की छत से सामान उतरवाकर चन्दन ने इधर-उधर देखा, तो कुन्तल उसे नज़र नहीं आई। मनोहर छत से अभी सामान उतरवा रहा था। स्नेह उतरते सामान को नीचे रखवा रही थी। उसके घर के और लोग जाकर बरामदे में बैठ गए थे। चन्दन कुछ देर असमंजस में खड़ा रहा। आते हुए वे लोग रात को कूद के रेस्ट-हाउस में ठहरे थे और वह मनोहर के साथ उसके कमरे में रहा था। मगर इस बार उसे अपने और कुन्तल के लिए अलग ही कमरे का प्रबन्ध करना था। बहुत-सी बसें एकसाथ आई थीं इसलिए उसे डर था कि देर करने से शायद टुरिस्ट सेंटर में कमरा न मिल सके और उसे इधर-उधर होटलों की खाक छाननी पड़े। उसने ज़ेब में हाथ डालकर पैसों को गिना। अभी पचास-पचपन रुपए बाक़ी थे। वहाँ से घर पहुँचने तक तो काम चल ही सकता था। उसके बाद की बात बाद में सोची जा सकती थी। जब कुछ खड़े रहने पर भी कुन्तल उसे दिखाई नहीं दी, तो स्नेह से अपना सामान देखने के लिए कहकर वह कमरे का पता करने चल दिया।

"वह आए, तो उससे कहना, मैं कमरा देखकर आ रहा हूँ।"

'टूरिस्ट सेंटर' में उस समय एक ही कमरा ख़ाली था जो थोड़ी हील-हुज्जत के बाद मैनेजर ने उसे दे दिया। जब वह लौटकर बस के पास आया, तो मनोहर भी वहाँ से चला गया था और स्नेह अकेली उसके और अपने सामान के पास खड़ी थी।

"और लोग कहाँ गए?" उसने पास आकर स्नेह से पूछ लिया।

"बहनजी शायद उधर खाने के कमरे में गई हैं," स्नेह ने कहा, "और मनोहर भाई साहब सामने के होटल में कमरा देखने गए हैं।"

"अच्छा, मैं जाकर अपने कमरे में सामान रखवा दूँ," चन्दन कुछ खिसियाना पड़कर बोला, "मनोहर से कहना कि मैं यहीं तीन नम्बर में हूँ।"

और कुली देखने के लिए वह कुछ कदम आगे चला तो स्नेह ने पीछे से कहा, ''देखिए आप ज़रा देर ठहर नहीं जाएँगे? मनोहर भाई साहब लौट आएँ, तो चले जाइएगा। मैं यहाँ अकेली खड़ी हूँ।''

''हाँ-हाँ, मनोहर के आने तक मैं रुक जाता हूँ।'' चन्दन अब पहले से भी खिसियाना पड़ गया, ''मुझे ध्यान नहीं रहा कि तुम यहाँ अकेली खड़ी हो।" और वह लौटकर एक पैर अपने बिस्तर पर रखकर खड़ा हो गया। परन्तु उस तरह खड़े रहना उस समय उसके लिए आसान नहीं था। उसके मन की हलचल पहले से कहीं बढ़ गई थी और उसे महसूस हो रहा था जैसे वह उसी समय कुछ करना चाहता हो। उसकी उत्तेजना उसकी बाँहों और पिंडलियों में सरसरा रही थी और मन हो रहा था कि और कुछ नहीं तो वह बिस्तर को ही ठोकर लगाता कुछ दूर तक ले जाए।

''आप बहुत दिनों से लुधियाना नहीं आए,'' स्नेह के गले की महीन आवाज़ से वह चौंक गया। स्नेह बस की आड़ में खड़ी थी, इसलिए बत्ती की रोशनी उसके चेहरे पर नहीं पड़ रही थी।

''हाँ, आने का मौका नहीं बना,'' कहते हुए चन्दन ने एक बार अहाते के गेट तक नज़र दौड़ा ली। एक बीड़ी पीते कुली को छोड़कर अहाते में कोई भी नहीं था।

''मौका तो बनाने से बनता है,'' स्नेह आँखें झुकाकर अपने हाथों के नाख़ूनों को देखती बोली, ''खुरजा तो कितनी बार जाते होंगे। लुधियाना तो रास्ते में ही पड़ता है।''

''बहुत दिनों से खुरजा तो क्या, कहीं भी नहीं गया। इस बार भी मनोहर के कहने से ही उसके साथ कश्मीर चला आया था,'' कहते हुए चन्दन ने कठिनाई से अपनी उसाँसों को दबाया और बोला, ''जितने दिन बेकार हूँ, उतने दिन तो कहीं जाने-आने की बात सोच भी नहीं सकता।''

स्नेह कुछ देर तक चुप रहकर अपने नाख़ूनों को देखती रही। फिर बोली, ''तो इस बार आप बहनजी को छोड़ने उनके साथ खुरजा नहीं जाएँगे? वह कह रही थीं कि पठानकोट से सीधी खुरजा चली जाएँगी।''

''अभी कुछ नहीं कह सकता। शायद जाऊँ, शायद न भी जाऊँ।''

''लुधियाना तो आप बस एक ही बार आए हैं। किसी दिन भाई साहब के साथ ही चले आइए।''

चन्दन को सहसा कुछ महीने पहले का वह दिन याद हो आया। शिमला से लौटते हुए पहले वह अम्बाला रुका था, और वहाँ से चलकर कुछ देर के लिए लुधियाना रुक गया था। दिसम्बर की बाईस तारीख़ थी—उसके ब्याह की पहली वर्षगाँठ। उसने सोचा था, मनोहर उस दिन लुधियाना में ही होगा, क्योंकि अपने एक पत्र में मनोहर ने लिखा था कि बीस से क्रिसमस की छुट्टी हो रही है, और उसी

दिन वह लुधियाना जा रहा है। मगर वहाँ पहुँचकर पता चला था कि मनोहर अभी अमृतसर में ही है, वहाँ नहीं आया। वह उसी समय वहाँ से लौट पड़ने के लिए तैयार हो गया था, मगर स्नेह और उसके छोटे भाई जीत ने मिलकर उसका बैग और पेन कहीं छिपा दिए थे और तब वापस दिए थे जब वह रात को रोटी खा चुका। रात को उन लोगों से विदा लेकर जब वह स्टेशन पर पहुँचा, तो उसकी गाड़ी निकल गई थी। दूसरी गाड़ी रात के दो बजे आती थी, इसलिए वह सर्दी में ठिठुरता हुआ चार घंटे स्टेशन की बेंच पर बैठा रहा था और प्लेटफार्म पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक टहलता रहा था, फिर भी उसे उस ठिठुरन में कहीं एक उष्णता महसूस होती रही थी—उस घर के वातावरण की उष्णता जहाँ से वह आया था। मनोहर की माँ सुभागी आग के पास बैठी जाने कितनी देर उससे बातें करती रही थी और उसे अपने घर के सम्बन्ध में कितना कुछ बताती रही थी। उसे यह महसूस तक नहीं हुआ कि उस घर में वह पहली बार आया है और उन लोगों से केवल एक बार का ही परिचय है।

"मनोहर भाई साहब दशहरे पर तो ज़रूर ही घर आएँगे। आप उसके साथ आइएगा," स्नेह ने फिर कहा।

"अभी तो देखना है कि दशहरे तक क्या-क्या होता है," चन्दन ने अनायास कह दिया। उसे लगा जैसे स्नेह की बात का उत्तर न देकर वह बात उसने अपने से ही कही हो। दशहरे के दो महीने बाक़ी थे। उतने दिनों में सचमुच कुछ भी तो हो सकता था।

मनोहर के आने पर उसने अपना सामान वहाँ से उठवा लिया। जब वह सामान रखवाकर वापस आया, तो अहाता बिलकुल ख़ाली हो चुका था। थोड़ी-थोड़ी हवा चल रही थी। हवा में साँय-साँय करते पेड़ वातावरण को और भी सुनसान बनाए दे रहे थे। वह अहाता पार करके बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ा और अन्दर खाने के कमरे में चला गया। वहाँ उस समय ज़्यादा लोग नहीं थे। चार-छह व्यक्ति ही एक तरफ़ बैठकर खाना खा रहे थे। कुन्तल खाना खा चुकी थी और बैरे की तश्तरी में पैसे रखकर वहाँ से उठ रही थी।

"यह कमरे की चाबी है," चन्दन के पास जाकर चाबी उसकी मेज़ पर रख दी। "अहाते में दाईं तरफ़ जाकर सामने तीन नम्बर का कमरा।"

कुन्तल ने चुपचाप चाबी मेज़ से उठा ली और बाहर चली गई। चन्दन जाकर कोने की एक मेज़ के पास बैठ गया। उसके मन में अस्थिरता के साथ-साथ अब एक शिथिलता और उदासी भी भर रही थी। जैसे वह बहुत तेज़ी से किसी ऊँची जगह की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था और चढ़ते-चढ़ते थकान की वजह से उसके कदम भारी हो उठे थे। खाना सामने आ गया, तो वह इस तरह खाने लगा, जैसे खाकर अपने पर

एहसान कर रहा हो। जैसे खाने का कोई स्वाद या अर्थ न हो, एक परिणाम में कुछ चीज़ें सामने पड़ी हों और उसे उन्हें गले से नीचे उतार लेना हो।

उसने पानी का गिलास उठाकर मुँह से लगाया, तो एक सवाल पानी के ठंडे जायके की तरह ही उसकी नस-नस में उतर गया—"क्या अब और इस तरह जिया जा सकता है?" गिलास मेज़ पर रखते हुए उसका हाथ ज़रा-सा काँप गया। वह चावल चम्मच में भरकर चम्मच को मुँह के पास लाया, तो कई-एक दाने उसके कपड़ों पर बिखर गए। "कोई भी आदमी पूरी ज़िन्दगी इस तरह कैसे जी सकता है?" वह जल्दी-जल्दी दाल-चावल मिलाने लगा। फिर उसने बहुत-सा चावल एकसाथ मुँह में भर लिया। "नहीं, यह इस तरह नहीं चल सकता, और एक दिन भी इस तरह चल सकता। मगर हल इसका क्या हो सकता है?" उसने मुँह के कौर को किसी तरह निगला और थोड़ा-सा पानी पी लिया। उसके हाथ धीमे पड़ गए और उसे लगने लगा कि चावल का यह ढेर वह कभी खाकर समाप्त नहीं कर सकता। वह धीरे-धीरे एक तरफ़ से थोड़ा-थोड़ा चावल लेकर खाने लगा। "मगर जैसे भी हो, कोई न कोई हल तो ढूँढ़ना ही होगा। बात को ऐसे तो नहीं छोड़ा जा सकता।" एक बड़ी-सी मिर्च उसके मुँह में चली गई थी, जिसने उसकी ज़बान को जला दिया। उसने फिर पानी पिया और खाना छोड़कर गिलास को दोनों हथेलियों में घुमाने लगा। "मगर हल हो क्या सकता है?"

वह बहुत देर तक उसी तरह बैठा रहा और धीरे-धीरे चावल निगलता सोचता रहा। प्लेट में चावल समाप्त हो गया, तो भी वह मेज़ पर कुहनियाँ रखे सामने देखता बैठा रहा, जैसे कि उस समस्या का हल अभी-अभी सामने दीवार पर लिखा जाना हो। कुछ देर में कमरे की बत्तियाँ बुझने लगीं, तो वह चौंक गया। उसने बिल मँगवाया, पैसे दिए और बाहर निकल आया।

अहाते की बत्तियाँ बुझ चुकी थीं, जिससे वह पहले से भी वीरान लग रहा था। बसें एक तरफ़ कतार में खड़ी थीं और उनके ड्राइवर और कंडक्टर वहाँ जगह पा सोने के लिए बिस्तर बिछा रहे थे। वह कुछ क्षण बरामदे में खड़ा रहा, फिर अपने कमरे की तरह चल दिया। उनके कमरे को छोड़कर तब तक और सब कमरों की बत्तियाँ भी बुझ चुकी थीं।

वह कमरे में आया, तो कुन्तल खिड़की के पास एक कुर्सी पर बैठी अपनी बुनाई में लगी थी। दोनों बिस्तर ज्यों-के-त्यों बँधे रखे थे। वह जाकर चुपचाप अपने बिस्तर की पेटियाँ खोलने लगा। पेटियाँ खोलकर उसने बिस्तर का सारा सामान एकसाथ ही बाहर निकाल लिया। लिहाफ, चादर और तकिए के अलावा मोज़े, जूते और मैले कपड़े भी निकलकर फ़र्श पर बिखर गए। उन्हें समेटकर उसने बिस्तरबन्द की पेटियाँ

लपेटीं और जिस किसी तरह उल्टा-सीधा बिस्तर बिछाकर अपना पाजामा लिये गुसलखाने में चला गया। वहाँ से आकर वह पलंग पर बैठ गया और जूते उतारकर अपने पैर झटकने लगा।

कुन्तल की आँखें दूसरी तरफ़ थीं, फिर भी वह उसके हर काम को देख रही थी। उसे उसका इस तरह पैर झटकना कतई अच्छा नहीं लगता था। शिमला में रहते हुए उसे पैर झटकते देख कई बार उसके मन में बहुत वितृष्णा भर जाती थी। उसके मन में शिमला के दिन-प्रतिदिन के जीवन की कई घटनाएँ उभरने लगीं। कुछ ही क्षणों में वह जैसे एक बार फिर उस जीवन की सारी कटुता और ऊब में से गुज़र गई। उसने आँखें मूँदकर किसी तरह अपने उबाल को दबाया और सलाइयाँ गोले में फँसाकर कुर्सी से उठ खड़ी हुई। अपना बिस्तर खोलकर उसने उसमें से बिछाने का सामान निकाल लिया और एक-एक सलवट निकालती हुई इस तरह बिछाने लगी जैसे वह बिस्तर सोने के लिए न होकर केवल प्रदर्शन के लिए हो। बिस्तर बिछाकर वह कपड़े बदलने के लिए गुसलखाने में चली गई और वहाँ से आकर अपने पलंग पर एक तरफ़ बैठ गई।

कुछ देर दोनों की आँखें आपस में मिली रहीं। उस नज़र में एक चुनौती की आशंका भी थी, कुछ करने का आवेश भी और कुछ न कर पाने की खीझ भी।

"बत्ती बुझा दीजिए," कुन्तल ने अपनी आँखें हटाते हुए कहा, "सुबह पाँच बजे से पहले उठकर तैयार होना है। साढ़े पाँच बजे बस यहाँ से चल देगी।" और उसने बिस्तर में लेटकर अपना आधा शरीर चादर से ढक लिया।

"मैंने तुमसे कहा था कि यहाँ से चलने से पहले हमें सारी बात साफ़ कर लेनी है।" चन्दन अपने दोनों हाथ पलंग के चौखटे पर रखे थोड़ा आगे को झुक गया। उसके माथे की नसें फड़क रही थीं और कान गर्म हो रहे थे। उसके सिर के अन्दर जैसे कोई हथौड़ी चला रहा था।

कुन्तल पल-भर सीधी आँखों से उसे देखती रही। चन्दन के झुके हुए कन्धों, फैले हुए घटनों में कुछ ऐसा अवहेलना का भाव था कि उसके मन की तुरशी सहसा कई गुना बढ़ गई।

"और हमने कह दिया था कि हमें कोई भी बात नहीं करनी है," उसने कहा और अपना सिर-मुँह चादर से ढाँपकर करवट बदल ली। क्षण-भर बाद चादर के अन्दर से ही उसने कहा, "बत्ती बुझा दीजिए।"

"तो इसका मतलब है कि हम लोगों का सम्बन्ध आज से और इसी समय से समाप्त हो जाता है?" चन्दन ने अपने मुँह तक आया ज़हर बाहर उगल दिया और पल-भर की प्रतीक्षा के बाद उठकर एकदम से बत्ती बुझा दी। कुन्तल के बिस्तर से सिर्फ़ करवट बदलने की आवाज़ सुनाई दी और फिर वातावरण में एक मनहूस ख़ामोशी छा गई जो धीरे-धीरे अपने ही बोझ से और गहरी होती गई।

नाटक

आषाढ़ का एक दिन

दो शब्द

हिन्दी नाटक रंगमंच की किसी विशेष परम्परा के साथ अनुस्यूत नहीं है। पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धियाँ ही हमारे सामने हैं। परन्तु न तो हमारा जीवन उन सब उपलब्धियों की माँग करता है, और न ही यह सम्भव प्रतीत होता है कि हम उस रंगशिल्प को व्यापक रूप से ज्यों का त्यों अपने यहाँ प्रतिष्ठित कर दें।

हिन्दी रंगमंच के विकास से निस्सन्देह यह अभिप्राय नहीं है कि अत्याधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न रंगशालाएँ राजकीय या अर्द्धराजकीय संस्थाओं द्वारा जहाँ-तहाँ बनवा दी जाएँ जिससे वहाँ हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन किया जा सके। प्रश्न केवल आर्थिक सुविधा का ही नहीं, एक सांस्कृतिक दृष्टि का भी है। हिन्दी रंगमंच को हिन्दी-भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे संवेदों और स्पन्दनों को अभिव्यक्त करने के लिए, जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूपविधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यन्तर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों उसका विकास होगा।

सम्भव है यह नाटक उन सम्भावनाओं की खोज में कुछ योग दे सके।

वसन्त, 1958 **—मोहन राकेश**

दूसरे संस्करण की भूमिका

मुझे प्रसन्नता है कि नाटक के प्रकाशन के तीन महीने बाद ही इसका दूसरा संस्करण प्रेस में जा रहा है। नाटक के सम्बन्ध में जिन मित्रों ने अपनी सम्मतियाँ भेजी हैं, उनके प्रति आभारी हूँ। लखनऊ तथा दिल्ली में कुछ मित्रों ने नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की योजनाएँ भी बनाई थीं, जो अभी तक कार्यान्वित नहीं हुईं। मैं समझता हूँ कि एक नाटकीय कृति के वास्तविक मूल्य—उसकी सफलता या असफलता का निर्णय रंगमंच पर ही होता है। अच्छे सफल नाटकों की रचना के लिए अपेक्षित तो यह होगा कि प्रकाशन से पूर्व ही उनका रंगमंच पर अभिनय हो—और उस अनुभव के प्रकाश में ही नाटक को उसका अन्तिम रूप दिया जाए। परन्तु लगता है कि उस स्थिति तक पहुँचने में हमें कुछ वर्ष लगेंगे। नाटक के तीनों अंकों का सेट एक ही है, इसलिए मैं समझता हूँ कि इसे खेलने के लिए थोड़े-से ही साधनों की आवश्यकता होगी। हाँ, मुख्य भूमिकाओं के लिए—कालिदास, मल्लिका और विलोम की भूमिकाओं के लिए विशेष रूप से—बहुत कुशल अभिनेताओं की आवश्यकता होगी। मैं इस संस्करण के साथ सब पात्रों के वस्त्रों आदि का विवरण भी देना चाहता था, परन्तु समयाभाव के कारण ऐसा नहीं कर पा रहा। आशा करता हूँ कि इसके बाद के संस्करण में वह सारा ब्योरा दे सकूँगा।

नाटक के अन्तिम अंक के सम्बन्ध में कुछ लोगों को थोड़ी भ्रान्ति रही है—उन्होंने समझा है कि उस समय मल्लिका और विलोम का सम्बन्ध पति-पत्नी का सम्बन्ध है। वास्तव में ऐसा नहीं है। मल्लिका उस समय विलोम की पत्नी नहीं है, दारिद्र्य के कारण अपने शरीर के व्यवसाय नाटक के सम्बन्ध में कई एक प्रश्न और भी हैं—विशेष रूप से **कालिदास** के चरित्र को तथा **मल्लिका** और **विलोम** के सम्बन्ध को लेकर। इनमें से पहले प्रश्न पर मैंने **लहरों के राजहंस** की आरम्भिक

भूमिका में विस्तार से लिखा है। यहाँ इतना और कि अधिकांश भ्रान्तियाँ नाटक को **कालिदास** का इतिवृत्त मानकर चलने से ही पैदा होती हैं। उस स्थिति में लग सकता है कि एक चरित्र-प्रतिमा को जान-बूझकर खंडित करने का प्रयत्न किया गया है। नाटक के चरित्र-निर्वाह को इस अर्थ में लेने का कारण कुछ लोगों की संस्कारगत भावना भी है और नाटक को एक आख्यान के रूप में देखने का मोह भी। इस तरह नाटक उनके अन्दर की दो-दो स्वीकृतियों को चोट पहुँचाता है। परन्तु नाटक की रचना एक सम-सामयिक परिस्थिति को उसकी अपनी नाटकीयता में अभिव्यक्त करने के लिए हुई है, इसलिए इसे इतिहासगत या संस्कारगत सन्दर्भ में अलग रखकर इसके साथ न्याय किया जा सकता है।

विलोम के साथ **मल्लिका** के सम्बन्ध को लेकर उठाई गई आपत्ति भी एक आदर्शवादी संस्कार की ही उपज है। **मल्लिका** का एक काल्पनिक बिम्ब मन में लेकर नाटक से उसके निर्वाह की आशा रखना रचना के आन्तरिक उद्‌देश्य से हटकर एक और उद्‌देश्य उस पर आरोपित करना है। मेरे लिए **मल्लिका** की बाहरी टूटन उस चरित्र की परिकल्पना का अनिवार्य अंग रही है क्योंकि उसी से उसकी आन्तरिक अखंडता रेखांकित होती है। 'तुमने वारांगणा का यह रूप भी देखा है?' इन शब्दों में **मल्लिका** का व्याकुल आक्रोश ही नहीं, आत्म-भर्त्सना भी है क्योंकि विलोम के साथ अपने सम्बन्ध को वह इसी अर्थ में लेती है। और **विलोम**? उसकी यह पूर्ति कि 'इस घर में अब तो (वह) अयाचित अतिथि नहीं है। अब तो वह अधिकार से आता है,' भी कितनी खंडित है क्योंकि उसके लिए वास्तविकता आज भी यही है— 'हर समय द्वार बन्द!'

नाटक का यह विशिष्ट संस्करण निकालने की बात दो साल पहले उठी थी। तब विचार था कि कुछ चुने हुए प्रदर्शनों के चित्र देने के अतिरिक्त दो-एक प्रमुख निर्देशकों के प्रस्तुतीकरण-सम्बन्धी नोट्स भी इसमें दिए जाएँ। **अलकाजी** तथा श्यामानन्द जालान से इस विषय में बात भी हुई थी। परन्तु बाद में और विचार करने पर लगा कि ऐसे नोट्स का अपना महत्त्व होते हुए भी उनका प्रकाशन यदि हो, तो अलग से ही होना चाहिए—अन्यथा किसी भी नए निर्देशक को वे एक रूढ़ि की तरह लग सकते हैं और साधारण पाठक को अपनी दृष्टि से अनपेक्षित। फिर नाटक के अलग-अलग प्रदर्शनों में प्रस्तुतीकरण की

इतनी विविधता रही है कि कभी-कभी तो लगता है कि नाटककार की ओर से किसी तरह के मंच-संकेत भी शायद नहीं होने चाहिए। नाटक के जिन पाँच प्रदर्शनों के चित्र इस संस्करण में दिए जा रहे हैं, उनमें से तीन मुक्ताकाश मंच पर हुए हैं—अर्थात् ऐसी मंच-परिकल्पना के अनुसार जो कि नाटककार की परिकल्पना से सर्वथा अलग थी।

आर-522, न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली-5

—मोहन राकेश

इस संस्करण तक...

जून सन् '58 में इस नाटक का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। तब इसे लेकर जो कई एक प्रश्न उठाए गए थे, उनमें एक प्रश्न अभिनेयता का भी था। परन्तु इन ग्यारह वर्षों में लगभग तीस स्थानों पर अलग-अलग नाट्य-संस्थाओं द्वारा इसका प्रस्तुतीकरण यहाँ उस प्रश्न पर विचार करने का अवसर नहीं रहने देता। हिन्दी रंगमंच की वर्तमान स्थिति में किसी भी नाटक के लिए इस तरह का सौभाग्य गर्व का विषय हो सकता है।

इस बीच नाटक की कई-एक आवृत्तियाँ हुई हैं—उसी मूलपाठ के साथ। इस नये संस्करण के समय भी मैंने मूलपाठ को बहुत कम छुआ है। कुछ-एक परिवर्तन हैं, यहाँ-वहाँ भाषा की गठन को लेकर, परन्तु इतने साधारण कि पढ़ने वाले को शायद उनका आभास भी नहीं होगा। इस दृष्टि से **लहरों के राजहंस** जैसी कोई समस्या इस नाटक के साथ नहीं रही।

नाटक की भाषा के सम्बन्ध में सबसे बड़ी आपत्ति इसके संस्कृतनिष्ठ होने को लेकर रही है। परन्तु भाषा की यह सीमा कुछ शब्दों के चुनाव तक है। एक काल-विशेष की पृष्ठभूमि रखने के कारण अपेक्षित यथार्थभ्रम की सृष्टि के लिए मुझे तब भी यह आवश्यक लगा था और अब भी मेरी यह धारणा बदली नहीं है। साधारण दर्शक तथा नाटक के सम्प्रेषण में इससे कोई बाधा आती हो, ऐसा अब तक के अनुभव से सिद्ध नहीं होता।

नाटक के सम्बन्ध में कई एक प्रश्न और भी हैं—विशेष रूप से **कालिदास** के चरित्र को तथा **मल्लिका** और **विलोम** के सम्बन्ध को लेकर। इनमें से पहले प्रश्न पर मैंने **लहरों के राजहंस** की आरम्भिक भूमिका में विस्तार से लिखा है। यहाँ इतना और कि अधिकांश भ्रान्तियाँ नाटक को **कालिदास** का इतिवृत्त मानकर चलने से ही पैदा होती हैं। उस स्थिति में लग सकता है कि एक चरित्र-प्रतिमा को जान-बूझकर खंडित करने का प्रयत्न किया गया है। नाटक के चरित्र-निर्वाह को इस अर्थ में लेने

का कारण कुछ लोगों की संस्कारगत भावना भी है और नाटक को एक आख्यान के रूप में देखने का मोह भी। इस तरह नाटक उनके अन्दर की दो-दो स्वीकृतियों को चोट पहुँचाता है। परन्तु नाटक की रचना एक सम-सामयिक परिस्थिति को उसकी अपनी नाटकीयता में अभिव्यक्त करने के लिए हुई है, इसलिए इसे इतिहासगत या संस्कारगत सन्दर्भ से अलग रखकर इसके साथ न्याय किया जा सकता है।

विलोम के साथ **मल्लिका** के सम्बन्ध को लेकर उठाई गई आपत्ति भी एक आदर्शवादी संस्कार की ही उपज है। **मल्लिका** का एक काल्पनिक बिम्ब मन में लेकर नाटक से उसके निर्वाह की आशा रखना रचना के आन्तरिक उद्देश्य से हटकर एक और उद्देश्य उस पर आरोपित करना है। मेरे लिए **मल्लिका** की बाहरी टूटन उस चरित्र की परिकल्पना का अनिवार्य अंग रही है क्योंकि उसी से उसकी आन्तरिक अखंडता रेखांकित होती है। 'तुमने वारांगणा का यह रूप भी देखा है?' इन शब्दों में **मल्लिका** का व्याकुल आक्रोश ही नहीं, आत्म-भर्त्सना भी है क्योंकि विलोम के साथ अपने सम्बन्ध को वह इसी अर्थ में लेती है। और **विलोम**? उसकी यह पूर्ति कि 'इस घर में अब तो (वह) अयाचित अतिथि नहीं है। अब तो वह अधिकार से आता है,' भी कितनी खंडित है क्योंकि उसके लिए वास्तविकता आज भी यही है—'हर समय द्वार बन्द!'

नाटक का यह विशिष्ट संस्करण निकालने की बात दो साल पहले उठी थी। तब विचार था कि कुछ चुने हुए प्रदर्शनों के चित्र देने के अतिरिक्त दो- एक प्रमुख निर्देशकों के प्रस्तुतीकरण-सम्बन्धी नोट्स भी इसमें दिए जाएँ। अलकाजी तथा श्यामानन्द जालान से इस विषय में बात भी हुई थी। परन्तु बाद में और विचार करने पर लगा कि ऐसे नोट्स का अपना महत्त्व होते हुए भी उनका प्रकाशन यदि हो, तो अलग से ही होना चाहिए—अन्यथा किसी भी नये निर्देशक को वे एक रूढ़ि की तरह लग सकते हैं और साधारण पाठक को अपनी दृष्टि से अनपेक्षित। फिर नाटक के अलग-अलग प्रदर्शनों में प्रस्तुतीकरण की इतनी विविधता रही है कि कभी-कभी तो लगता है कि नाटककार की ओर से किसी तरह के मंच-संकेत भी शायद नहीं होने चाहिए। नाटक के जिन पाँच प्रदर्शनों के चित्र इस संस्करण में दिए जा रहे हैं, उनमें से तीन मुक्ताकाश मंच पर हुए हैं—अर्थात् ऐसी मंच-परिकल्पना के अनुसार जो कि नाटककार की परिकल्पना से सर्वथा अलग थी।

—मोहन राकेश

आर-522, न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली-5

पात्र

अम्बिका	:	ग्राम की एक वृद्धा
मल्लिका	:	उसकी पुत्री
कालिदास	:	कवि
दन्तुल	:	राजपुरुष
मातुल	:	कवि-मातुल
निक्षेप	:	ग्राम-पुरुष
विलोम	:	ग्राम-पुरुष
रंगिणी	:	नागरी
संगिनी	:	नागरी
अनुस्वार	:	अधिकारी
अनुनासिक	:	अधिकारी
प्रियंगुमंजरी	:	राजकन्या—कवि-पत्नी

अंक एक

परदा उठने से पूर्व हलका-हलका मेघ-गर्जन और वर्षा का शब्द, जो परदा उठने के अनन्तर भी कुछ क्षण चलता रहता है। फिर धीरे-धीरे धीमा पड़कर विलीन हो जाता है।

परदा धीरे-धीरे उठता है।

एक साधारण प्रकोष्ठ। दीवारें लकड़ी की हैं, परन्तु निचले भाग में चिकनी मिट्टी से पोती गई हैं। बीच-बीच में गेरू से स्वस्तिक-चिन्ह बने हैं। सामने का द्वार अँधेरी ड्योढ़ी में खुलता है। उसके दोनों ओर छोटे-छोटे ताक हैं जिनमें मिट्टी के बुझे हुए दीये रखे हैं। बाईं ओर का द्वार दूसरे प्रकोष्ठ में जाने के लिए है। द्वार खुला होने पर उस प्रकोष्ठ में बिछे तल्प का एक कोना ही दिखाई देता है। द्वारों के किवाड़ भी मिट्टी से पोते गए हैं और उन पर गेरू एवं हल्दी से कमल तथा शंख बनाए गए हैं। दाईं ओर बड़ा-सा झरोखा है, जहाँ से बीच-बीच में बिजली कौंधती दिखाई देती है।

प्रकोष्ठ में एक ओर चूल्हा है। आसपास मिट्टी और काँसे के बरतन सहेजकर रखे हैं। दूसरी ओर, झरोखे से कुछ हटकर तीन-चार बड़े-बड़े कुम्भ रखे हैं जिन पर कालिख और काई जमी है। उन्हें कुशा से ढककर ऊपर पत्थर रख दिए गए हैं।

झरोखे से सटा एक लकड़ी का आसन है, जिस पर बाघ-छाल बिछी है। चूल्हे के निकट दो चौकियाँ हैं। उन्हीं में से एक पर बैठी अम्बिका छाज में धान फटक रही है। एक बार झरोखे की ओर देखकर वह लम्बी साँस लेती है, फिर व्यस्त हो जाती है।

सामने का द्वार खुलता है और मल्लिका गीले वस्त्रों में काँपती-सिमटती अन्दर आती है। अम्बिका आँखें झुकाए व्यस्त

रहती है। मल्लिका क्षण-भर ठिठकती है, फिर अम्बिका के पास आ जाती है।

मल्लिका : आषाढ़ का पहला दिन और ऐसी वर्षा माँ!...ऐसी धारासार वर्षा! दूर-दूर तक की उपत्यकाएँ भीग गईं।...और मैं भी तो! देखो न माँ, कैसी भीग गई हूँ!

अम्बिका उस पर सिर से पैर तक एक दृष्टि डालकर फिर व्यस्त हो जाती है। मल्लिका घुटनों के बल बैठकर उसके कन्धे पर सिर रख देती है।

गई थी कि दक्षिण से उड़कर आती बकुल-पंक्तियों को देखूँगी, और देखो सब वस्त्र भिगो आई हूँ।

उसके केशों को चूमकर खड़ी होती हुई ठंड से सिहर जाती है।

सूखे वस्त्र कहाँ हैं माँ? इस तरह खड़ी रही तो जुड़ा जाऊँगी।...तुम बोलतीं क्यों नहीं?

अम्बिका आक्रोश की दृष्टि से उसे देखती है।

अम्बिका : सूखे वस्त्र अन्दर तल्प पर हैं।

मल्लिका : तुमने पहले से ही निकालकर रख दिए?

अन्दर को चल देती है।

तुम्हें पता था मैं भीग जाऊँगी। और मैं जानती थी तुम चिन्तित होगी। परन्तु माँ...

द्वार के पास मुड़कर अम्बिका की ओर देखती है।

...मुझे भीगने का तनिक खेद नहीं। भीगती नहीं तो आज मैं वंचित रह जाती।

द्वार से टेक लगा लेती है।

चारों ओर धुआँरे मेघ घिर आए थे। मैं जानती थी वर्षा होगी। फिर भी मैं घाटी की पगडंडी पर नीचे-नीचे उतरती गई। एक बार मेरा अंशुक भी हवा ने उड़ा दिया। फिर बूँदें पड़ने लगीं।

अम्बिका से आँखें मिल जाती हैं।

वस्त्र बदल लूँ, फिर आकर तुम्हें बताती हूँ। वह बहुत अद्भुत अनुभव था माँ, बहुत अद्भुत।

अन्दर चली जाती है। अम्बिका उठकर फटके हुए धान को एक कुम्भ में डाल देती है और दूसरे कुम्भ से नया धान निकाल लेती है। अन्दर के प्रकोष्ठ से मल्लिका के

शब्द सुनाई देते रहते हैं। बीच-बीच में उसकी झलक भी दिखाई दे जाती है।

नीलकमल की तरह कोमल और आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय! मैं चाहती थी उसे अपने में भर लूँ और आँखें मूँद लूँ।...मेरा तो शरीर भी निचुड़ रहा है माँ! कितना पानी इन वस्त्रों ने पिया है! ओह! शीत की चुभन के बाद उष्णता का यह स्पर्श!

गुनगुनाने लगती है।

कुवलयदलनीलैरुन्नतैस्तोयनम्रैः...
गीले वस्त्र कहाँ डाल दूँ माँ? यहीं रहने दूँ?
मृदुपवनविधूतैर्मन्दमन्दं चलद्भिः...अपहृतमिव चेतस्तोयदैः
...सेन्द्रचापैः...पथिकजनवधूनां तद्वियोगाकुलानाम्।

बाहर आ जाती है।

माँ, आज के वे क्षण मैं कभी नहीं भूल सकती। सौन्दर्य का ऐसा साक्षात्कार मैंने कभी नहीं किया। जैसे वह सौन्दर्य अस्पृश्य होते हुए भी मांसल हो। मैं उसे छू सकती थी, देख सकती थी, पी सकती थी। तभी मुझे अनुभव हुआ कि वह क्या है जो भावना को कविता का रूप देता है। मैं जीवन में पहली बार समझ पाई कि क्यों कोई पर्वत-शिखरों को सहलाती मेघ-मालाओं में खो जाता है, क्यों किसी को अपने तन-मन की अपेक्षा आकाश में बनते-मिटते चित्रों का इतना मोह हो सकता है।...क्या बात है माँ? इस तरह चुप क्यों हो?

अम्बिका : देख रही हो मैं काम कर रही हूँ।

मल्लिका : काम तो तुम हर समय करती हो। परन्तु हर समय इस तरह चुप नहीं रहतीं।

अम्बिका के पास आ बैठती है। अम्बिका चुपचाप धान फटकती रहती है। मल्लिका उसके हाथ से छाज ले लेती है।

मैं तुम्हें काम नहीं करने दूँगी।...मुझसे बात करो।

अम्बिका : क्या बात करूँ?

मल्लिका : कुछ भी कहो। मुझे डाँटो कि भींगकर क्यों आई हूँ। या कहो कि तुम थक गई हो, इसलिए शेष धान मैं फटक दूँ। या कहो

कि तुम घर में अकेली थीं, इसलिए तुम्हें अच्छा नहीं लग रहा था।

अम्बिका : मुझे सब अच्छा लगता है।

छाज उससे ले लेती है।

और मैं घर में दुकेली कब होती हूँ? तुम्हारे यहाँ रहते मैं अकेली नहीं होती?

मल्लिका : मैं तुम्हें काम नहीं करने दूँगी।

फिर छाज उसके हाथ से ले लेती है और कुम्भों के पास रख आती है।

मेरे घर में रहते भी तुम अकेली होती हो?...कभी तो मेरी भर्त्सना करती हो कि मैं घर में रहकर तुम्हारे सब कामों में बाधा डालती हूँ, और कभी कहती हो...

पीठ के पीछे से उसके गले में बाँहें डाल देती है।

मुझे बताओ तुम इतनी गम्भीर क्यों हो?

अम्बिका : दूध औटा दिया है। शर्करा मिला लो और पी लो...

मल्लिका : नहीं, तुम पहले बताओ।

अम्बिका : और जाकर थोड़ी देर तल्प पर विश्राम कर लो। मुझे अभी...।

मल्लिका : नहीं माँ, मुझे विश्राम नहीं करना है। थकी कहाँ हूँ जो विश्राम करूँ? मुझे तो अब भी अपने में बरसती बूँदों के पुलक का अनुभव हो रहा है। रोम अभी तक सीज रहे हैं।...तुम बताती क्यों नहीं हो? ऐसे करोगी तो मैं भी तुमसे बात नहीं करूँगी।

अम्बिका कुछ न कहकर आँचल से आँखें पोंछती है और उसे पीछे से हटाकर पास की चौकी पर बैठा देती है। मल्लिका क्षण-भर चुपचाप उसकी ओर देखती रहती है।

क्या हुआ है, माँ! तुम रो क्यों रही हो?

अम्बिका : कुछ नहीं मल्लिका! कभी बैठे-बैठे मन उदास हो जाता है।

मल्लिका : बैठे-बैठे मन उदास हो जाता है, परन्तु बैठे-बैठे रोया तो नहीं जाता।...तुम्हें मेरी सौगन्ध है माँ, जो मुझे नहीं बताओ।

दूर कुछ कोलाहल और घोड़ों की टापों का शब्द सुनाई देता है। अम्बिका उठकर झरोखे के पास चली जाती है। मल्लिका क्षण-भर बैठी रहती है, फिर वह भी जाकर झरोखे से देखने लगती है। टापों का शब्द पास आकर दूर चला जाता है।

ये कौन लोग हैं माँ?

अम्बिका : सम्भवतः राज्य के कर्मचारी हैं।

मल्लिका : ये यहाँ क्या कर रहे हैं?

अम्बिका : जाने क्या कर रहे हैं!...कभी वर्षों में ये आकृतियाँ यहाँ दिखाई देती हैं। और जब भी दिखाई देती हैं, कोई-न-कोई अनिष्ट होता है। कभी युद्ध की सूचना आती है, कभी महामारी की।

लम्बी साँस लेती है।

पिछली महामारी में जब तुम्हारे पिता की मृत्यु हुई, तब भी मैंने ये आकृतियाँ यहाँ देखी थीं।

मल्लिका सिर से पैर तक सिहर जाती है।

मल्लिका : परन्तु आज ये लोग यहाँ किसलिए आए हैं?

अम्बिका : न जाने किसलिए आए हैं।

अम्बिका फिर छाज उठाने लगती है, परन्तु मल्लिका उसे बाँह से पकड़कर रोक लेती है।

मल्लिका : माँ, तुमने बात नहीं बताई।

अम्बिका पल-भर उसे स्थिर दृष्टि से देखती रहती है। उसकी आँखें झुक जाती हैं।

अम्बिका : अग्निमित्र आज लौट आया है।

छाज उठाकर अपने स्थान पर चली जाती है। मल्लिका वहीं खड़ी रहती है।

मल्लिका : लौट आया है? कहाँ से?

अम्बिका : जहाँ मैंने उसे भेजा था।

मल्लिका : तुमने भेजा था?

होंठ फड़फड़ाने लगते हैं। वह बढ़कर अम्बिका के पास आ जाती है।

किन्तु मैंने तुमसे कहा था, अग्निमित्र को कहीं भेजने की आवश्यकता नहीं है।

क्रमशः स्वर में और उत्तेजना आ जाती है।

तुम जानती हो मैं विवाह नहीं करना चाहती, फिर उसके लिए प्रयत्न क्यों करती हो? तुम समझती हो मैं निरर्थक प्रलाप करती हूँ?

अम्बिका धान को मुट्ठी में ले-लेकर जैसे मसलती हुई छाज में गिराने लगती है।

अम्बिका : मैं देख रही हूँ तुम्हारी बात ही सच होने जा रही है। अग्निमित्र सन्देश लाया है कि वे लोग इस सम्बन्ध के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। कहते हैं...

मल्लिका : क्या कहते हैं? क्या अधिकार है उन्हें कुछ भी कहने का? मल्लिका का जीवन उसकी अपनी सम्पत्ति है। वह उसे नष्ट करना चाहती है तो किसी को उस पर आलोचना करने का क्या अधिकार है?

अम्बिका : मैं कब कहती हूँ मुझे अधिकार है?

मल्लिका सिर झटककर अपनी उत्तेजना को दबाने का प्रयत्न करती है।

मल्लिका : मैं तुम्हारे अधिकार की बात नहीं कह रही।

अम्बिका : तुम न कहो, मैं कह रही हूँ। आज तुम्हारा जीवन तुम्हारी सम्पत्ति है। मेरा तुम पर कोई अधिकार नहीं है।

मल्लिका पास की चौकी पर बैठकर उसके कन्धे पर हाथ रख देती है।

मल्लिका : ऐसा क्यों कहती हो?...तुम मुझे समझने का प्रयत्न क्यों नहीं करतीं?

अम्बिका उसका हाथ कन्धे से हटा देती है।

अम्बिका : मैं जानती हूँ तुम पर आज अपना अधिकार भी नहीं है। किन्तु...इतना बड़ा अपवाद मुझसे नहीं सहा जाता है।

अम्बिका बाँहें घुटनों पर रखकर उन पर सिर टिका लेती है।

मल्लिका : मैं जानती हूँ माँ, अपवाद होता है। तुम्हारे दुख की बात भी जानती हूँ। फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता। मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है।...

अम्बिका के चेहरे पर रेखाएँ खिंच जाती हैं।

अम्बिका : और मुझे ऐसी भावना से वितृष्णा होती है। पवित्र, कोमल और अनश्वर! हूँ!

मल्लिका : मैं, तुम मुझ पर विश्वास क्यों नहीं करतीं?

अम्बिका : तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्म-प्रवंचना है।...भावना में भावना का वरण किया है।...मैं पूछती हूँ भावना

में भावना का वरण क्या होता है? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती हैं?...भावना में भावना का वरण! हूँ!

मल्लिका क्षण-भर छत की ओर देखती रहती है।

मल्लिका : जीवन की स्थूल आवश्यकताएँ ही तो सब कुछ नहीं हैं, माँ! उनके अतिरिक्त भी तो बहुत कुछ है।

अम्बिका फिर धान फटकने लगती है।

अम्बिका : होगा, मैं नहीं जानती।

मल्लिका कुछ क्षण अम्बिका की ओर देखती रहती है।

मल्लिका : सच तो यह है माँ, कि ग्राम के अन्य व्यक्तियों की तरह तुम भी उन्हें सन्देह और वितृष्णा की दृष्टि से देखती हो।

अम्बिका : ग्राम के अन्य लोग उसे उतना नहीं जानते जितना मैं जानती हूँ।

क्षण-भर दोनों की आँखें मिली रहती हैं।

मैं उससे घृणा करती हूँ।

मल्लिका के चेहरे पर व्यथा, आवेश तया विवशता की रेखाएँ एक साथ खिंच जाती हैं।

मल्लिका : माँ!

अम्बिका : अन्य लोगों को उससे क्या प्रयोजन है! परन्तु मुझे है। उसके प्रभाव से मेरा घर नष्ट हो रहा है।

ड्योढ़ी की ओर से कालिदास के शब्द सुनाई देने लगते हैं। अम्बिका के माथे की रेखाएँ गहरी हो जाती हैं। वह छाज लिये उठ खड़ी होती है। क्षण-भर ड्योढ़ी की ओर देखती रहती है, फिर अन्दर को चल देती है।

मल्लिका : ठहरो माँ, तुम चल क्यों दीं?

अम्बिका : माँ का जीवन भावना नहीं, कर्म है। उसे घर में बहुत कुछ करना है।

चली जाती है। कालिदास एक हरिणशावक को बाँहों में लिये पुचकारता हुआ आता है। हरिणशावक के शरीर से लहू टपक रहा है।

कालिदास : हम जिएँगे हरिणशावक! जिएँगे न? एक बाण से आहत होकर हम प्राण नहीं देंगे। हमारा शरीर कोमल है, तो क्या हुआ? हम पीड़ा सह सकते हैं। एक बाण प्राण ले सकता है, तो उँगलियों का कोमल स्पर्श प्राण दे भी सकता है। हमें नए प्राण मिल

जाएँगे। हम कोमल आस्तरण पर विश्राम करेंगे। हमारे अंगों पर घृत का लेप होगा। कल हम फिर वनस्थली में घूमेंगे। कोमल दूर्वा खाएँगे। खाएँगे न?

मल्लिका अपने को सहेजकर द्वार की ओर जाती है।

मल्लिका : यह आहत हरिणशावक?...यहाँ ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने इसे आहत किया? क्या दक्षिण की तरह यहाँ भी...?

कालिदास : आज ग्राम-प्रदेश में कई नई आकृतियाँ देख रहा हूँ।

झरोखे के पास जाकर आसन पर बैठ जाता है।

राज्य के कुछ कर्मचारी आए हैं।

हरिणशावक को वक्ष से सटाकर थपथपाने लगता है।

हम सोएँगे? हाँ, हम थोड़ी देर सो लेंगे तो हमारी पीड़ा दूर हो जाएगी। परन्तु उससे पहले हमें थोड़ा दूध पी लेना है।... मल्लिका, थोड़ा दूध हो तो किसी भाजन में ले आओ।

मल्लिका : माँ ने दूध औटाकर रखा है। देखती हूँ।

चूल्हे के निकट रखे बरतनों के पास जाकर देखने लगती है।

अभी-अभी दो-तीन राज-कर्मचारियों को हमने घोड़ों पर जाते देखा है। माँ कहती हैं कि जब भी ये लोग आते हैं, कोई न कोई अनिष्ट होता है। वर्षा के रोमांच के बाद...मुझे यह सब बहुत विचित्र लगा।

दूध का बरतन उठाकर दूध खुले बरतन में उँडेलने लगती है।

माँ आज बहुत रुष्ट हैं।

कालिदास हरिणशावक को बाँहों में झुलाने लगता है।

कालिदास : हम पहले से सुखी हैं। हमारी पीड़ा धीरे-धीरे दूर हो रही है। हम स्वस्थ हो रहे हैं।...न जाने इसके रूई जैसे कोमल शरीर पर उससे बाण छोड़ते बना कैसे? यह कुलाँच भरता मेरी गोद में आ गया। मैंने कहा, तुझे वहाँ ले चलता हूँ जहाँ तुझे अपनी माँ की-सी आँखें और उसका-सा ही स्नेह मिलेगा।

मल्लिका की ओर देखता है। मल्लिका दूध लिये पास आ जाती है।

मल्लिका : सच, माँ आज बहुत रुष्ट हैं। माँ को अनुमान हो गया होगा कि वर्षा में मैं तुम्हारे साथ थी, नहीं तो इस तरह भीगकर न आती। माँ को अपवाद की बहुत चिन्ता रहती है...।

कालिदास : दूध मुझे दे दो और इसे बाँहों में ले लो।

दूध का भाजन उसके हाथ से ले लेता है। मल्लिका हरिणशावक को बाँहों में लेकर उसका मुँह दूध के निकट ले जाती है। कालिदास भाजन को उसके और निकट कर देता है।

हम दूध नहीं पिएँगे? नहीं, हम ऐसा हठ नहीं करेंगे! हम दूध अवश्य पिएँगे।

राजपुरुष दन्तुल ड्योढ़ी से आकर द्वार के पास रुक जाता है। क्षण-भर वह उन्हें देखता रहता है। कालिदास हरिणशावक का मुँह दूध से मिला देता है।

ऐसे...ऐसे।

दन्तुल बढ़कर उनके निकट आता है।

दन्तुल : दूध पिलाकर इसके मांस को और कोमल कर लेना चाहते हो?

कालिदास और मल्लिका चौंककर उसे देखते हैं। मल्लिका हरिणशावक को लिये थोड़ा पीछे हट जाती है। कालिदास दूध का भाजन आसन पर रख देता है।

कालिदास : जहाँ तक मैं जानता हूँ, हम लोग परिचित नहीं हैं : तुम्हारा एक अपरिचित घर में आने का साहस कैसे हुआ?

दन्तुल एक बार मल्लिका की ओर देखता है, फिर कालिदास की ओर।

दन्तुल : कैसी आकस्मिक बात है कि ऐसा ही प्रश्न मैं तुमसे पूछना चाहता था। हमारा कभी का परिचय नहीं, फिर भी मेरे बाण से आहत हरिण को उठा ले आने में तुम्हें संकोच नहीं हुआ? यह तो कहो कि द्वार तक रक्त-बिन्दुओं के चिन्ह बने हैं, अन्यथा इन बादलों से घिरे दिन में मैं तुम्हारा अनुसरण कर पाता?

कालिदास : देख रहा हूँ कि तुम इस प्रदेश के निवासी नहीं हो।

दन्तुल व्यंग्यात्मक हँसी हँसता है।

दन्तुल : मैं तुम्हारी दृष्टि की प्रशंसा करता हूँ। मेरी वेश-भूषा ही इस बात का परिचय देती है कि मैं यहाँ का निवासी नहीं हूँ।

कालिदास : मैं तुम्हारी वेश-भूषा को देखकर नहीं कह रहा।

दन्तुल : तो क्या मेरे ललाट की रेखाओं को देखकर? जान पड़ता है चोरी के अतिरिक्त सामुद्रिक का भी अभ्यास करते हो।

मल्लिका चोट खाई-सी कुछ आगे आती है।

मल्लिका : तुम्हें ऐसा लांछन लगाते लज्जा नहीं आती?

दन्तुल : क्षमा चाहता हूँ देवि! परन्तु यह हरिणशावक, जिसे बाँहों में लिये हैं, मेरे बाण से आहत हुआ है। इसलिए यह मेरी सम्पत्ति है। मेरी सम्पत्ति मुझे लौटा तो देंगी?

कालिदास : इस प्रदेश में हरिणों का आखेट नहीं होता राजपुरुष! तुम बाहर से आए हो, इसलिए इतना ही पर्याप्त है कि हम इसके लिए तुम्हें अपराधी न मानें।

दन्तुल : तो राजपुरुष के अपराध का निर्णय ग्रामवासी करेंगे! ग्रामीण युवक, अपराध और न्याय का शब्दार्थ भी जानते हो!

कालिदास : शब्द और अर्थ राजपुरुषों की सम्पत्ति है, जानकर आश्चर्य हुआ।

दन्तुल : समझदार व्यक्ति जान पड़ते हो। फिर भी यह नहीं जानते हो कि राजपुरुषों के अधिकार बहुत दूर तक जाते हैं। मुझे देर हो रही है। यह हरिणशावक मुझे दे दो।

कालिदास : यह हरिणशावक इस पार्वत्य-भूमि की सम्पत्ति है, राजपुरुष! और इसी पार्वत्य-भूमि के निवासी हम इसके सजातीय हैं। तुम यह सोचकर भूल कर रहे हो कि हम इसे तुम्हारे हाथ में सौंप देंगे।...मल्लिका, इसे अन्दर ले जाकर तल्प पर या किसी आस्तरण पर...

अम्बिका सहसा अन्दर से आती है।

अम्बिका : इस घर के तल्प और आस्तरण हरिणशावकों के लिए नहीं हैं।

मल्लिका : तुम देख रही हो माँ...!

अम्बिका : हाँ, देख रही हूँ। इसीलिए तो कह रही हूँ। तल्प और आस्तरण मनुष्यों के सोने के लिए हैं, पशुओं के लिए नहीं।

कालिदास : इसे मुझे दे दो, मल्लिका!

दूध का भाजन नीचे रख देता है और बढ़कर हरिणशावक को अपनी बाँहों में ले लेता है।

इसके लिए मेरी बाँहों का आस्तरण ही पर्याप्त होगा। मैं इसे घर ले जाऊँगा।

द्वार की ओर चल देता है।

दन्तुल : और राजपुरुष दन्तुल तुम्हें ले जाते देखता रहेगा!

कालिदास : यह राजपुरुष की रुचि पर निर्भर करता है।

बिना उसकी ओर देखे ड्योढ़ी में चला जाता है।

दन्तुल : राजपुरुष की रुचि-अरुचि क्या होती है, सम्भवतः इसका परिचय तुम्हें देना आवश्यक होगा।

कालिदास बाहर चला जाता है। केवल उसका शब्द ही सुनाई देता है।

कालिदास : सम्भवतः।

दन्तुल : सम्भवतः?

तलवार की मूठ पर हाथ रखे उसके पीछे जाना चाहता है। मल्लिका शीघ्रता से द्वार के सामने खड़ी हो जाती है।

मल्लिका : ठहरो, राजपुरुष! हरिणशावक के लिए हठ मत करो। तुम्हारे लिए प्रश्न अधिकार का है, उनके लिए संवेदना का, कालिदास निःशस्त्र होते हुए भी तुम्हारे शस्त्र की चिन्ता नहीं करेंगे।

दन्तुल : कालिदास?...तुम्हारा अर्थ है कि मैं जिनसे हरिणशावक के लिए तर्क कर रहा था, वे कवि कालिदास हैं?

मल्लिका : हाँ-हाँ। परन्तु तुम कैसे जानते हो कि कालिदास कवि हैं?

दन्तुल : कैसे जानता हूँ। उज्जयिनी की राज्य-सभा का प्रत्येक व्यक्ति 'ऋतु-संहार' के लेखक कवि कालिदास को जानता है।

मल्लिका : उज्जयिनी की राज्य-सभा का प्रत्येक व्यक्ति उन्हें जानता है?

दन्तुल : सम्राट् ने स्वयं 'ऋतु-संहार' पढ़ा और उसकी प्रशंसा की है। इसलिए आज उज्जयिनी का राज्य 'ऋतु-संहार' के लेखक का सम्मान करना और उन्हें राजकवि का आसन देना चाहता है। आचार्य वररुचि इसी उद्देश्य से उज्जयिनी से यहाँ आए हैं।

मल्लिका सुनकर स्तम्भित-सी हो रहती है।

मल्लिका : उज्जयिनी का राज्य उन्हें सम्मान देना चाहता है? राजकवि का आसन...?

दन्तुल : मुझे खेद है, मैंने उनके साथ अशिष्टता का व्यवहार किया। मुझे जाकर उनसे क्षमा माँगनी चाहिए।

चला जाता है। मल्लिका कुछ क्षण उसी तरह खड़ी रहती है। फिर सहसा जैसे उसकी चेतना लौट आती है। अम्बिका इस बीच दूध का भाजन उठाकर कोने में रख देती है। जिस पात्र में पहले दूध रखा था, उसे देखती है। उसमें जो दूध शेष है, उसे एक छोटे पात्र में डालकर शक्कर मिलाने लगती है। हाथ ऐसे अस्थिर हैं जैसे वह

अन्दर-ही-अन्दर बहुत उत्तेजित हो। मल्लिका निचना होंठ दाँतों में दबाए दौड़कर उसके निकट आती है।

मल्लिका : तुमने सुना माँ...राज्य उन्हें राजकवि का आसन देना चाहता है।

अम्बिका हाथ से गिरते दूध के पात्र को किसी तरह सँभाल लेती है।

अम्बिका : गीले वस्त्र मैंने सूखने के लिए फैला दिए हैं। थोड़ा-सा दूध शेष है, इसमें शर्करा मिला दी है।

मल्लिका : तुमने सुना नहीं माँ, राजपुरुष क्या कह रहा था?

अम्बिका : दूध पी लो। आशा करती हूँ कि अब यहाँ किसी और का आतिथ्य नहीं होना है।

मल्लिका : आतिथ्य?...मैं चाहती हूँ आज इस घर में सारे संसार का आतिथ्य कर सकूँ।

दूध का पात्र अम्बिका के हाथ से ले लेती है।

तुम्हें इस दूध से नहला दूँ, माँ?

पात्र ऊँचा उठा लेती है। अम्बिका पात्र उसके हाथ से ले लेती है।

अम्बिका : मैं दूध से बहुत नहा चुकी हूँ।

मल्लिका : तुम कितनी निष्ठुर हो, माँ! तुमने सुना नहीं, राज्य उन्हें सम्मान दे रहा है? फिर भी तुम...।

अम्बिका : दूध पी लो। और फिर से वर्षा में भीगने का मोह न हो, तो तुम्हारे लिए आस्तरण बिछा दूँ।...मैं जैसी निष्ठुर हूँ, रहने दो।

मल्लिका उसके गले में बाँहें डाल देती है।

मल्लिका : नहीं, तुम निष्ठुर नहीं हो। मैंने कब कहा है तुम निष्ठुर हो?

अम्बिका : नहीं, तुमने नहीं कहा। दूध पी लो।

मल्लिका दूध का पात्र उसके हाथ से लेकर एक घूँट में दूध पी जाती है और पात्र कोने में रख देती है। फिर अम्बिका का हाथ खींचकर उसे बिठा देती है और स्वयं उसकी गोदी में लेट जाती है।

मल्लिका : माँ, तुम सोच सकती हो आज मैं कितनी प्रसन्न हूँ?

अम्बिका : मेरे पास कुछ भी सोचने की शक्ति नहीं है। अब उठ जाने दो, मुझे बहुत काम करना है।

उठने का प्रयत्न करती है, मल्लिका उसे रोके रहती है।

मल्लिका : नहीं, उठो नहीं। इसी तरह बैठी रहो...राज्य उन्हें सम्मान दे रहा है, माँ! उन्हें राजकवि का आसन प्राप्त होगा...

सहसा अम्बिका की गोदी से हटकर बैठ जाती है।

...उस व्यक्ति को, जिसे उसके निकट के लोगों ने आज तक समझने का प्रयत्न नहीं किया। जिसे घर में और घर से बाहर केवल लांछना और प्रताड़ना ही मिली है।...अब तो तुम विश्वास करती हो माँ, कि मेरी भावना निराधार नहीं है।

अम्बिका उठ खड़ी होती है।

अम्बिका : मैं कह चुकी हूँ, मेरी सोचने-समझने की शक्ति जड़ हो चुकी है।

मल्लिका : क्यों माँ? क्यों तुम्हें इतना पूर्वग्रह है? क्यों तुम उनके सम्बन्ध में उदारतापूर्वक नहीं सोच सकतीं?

अम्बिका : मेरी वह अवस्था बीत चुकी है जब यथार्थ से आँखें मूँदकर जिया जाता है।

अन्दर जाने लगती है। मल्लिका उठकर खड़ी हो जाती है।

मल्लिका : और तुम्हारी यथार्थ दृष्टि केवल दोष-ही-दोष देखती है?

अम्बिका मुड़कर पल-भर उसे देखती रहती है।

अम्बिका : जहाँ दोष है, वहाँ अवश्य वह दोष देखती है।

मल्लिका : उनमें तुम्हें क्या दोष दिखाई देता है?

अम्बिका : वह व्यक्ति आत्म-सीमित है। संसार में अपने सिवा उसे और किसी से मोह नहीं है।

मल्लिका : इसीलिए कि वे मातुल की गौएँ न हाँककर बादलों में खोए रहते हैं?

अम्बिका : मुझे मातुल से और उसकी गौओं से प्रयोजन नहीं है। मैं केवल अपने घर को देखकर कहती हूँ।

मल्लिका : बैठ जाओ, माँ!

अम्बिका को हाथ से पकड़कर झरोखे के पास आसन पर ले जाती है।

मैं तुम्हारी बात समझना चाहती हूँ।

अम्बिका : मैं भी चाहती हूँ तुम आज समझ लो।...तुम कहती हो तुम्हारा उससे भावना का सम्बन्ध है। वह भावना क्या है?

मल्लिका : मैं उसे कोई नाम नहीं देती।

अम्बिका के पैरों के पास बैठ जाती है।

अम्बिका : परन्तु लोग उसे नाम देते हैं।...यदि वास्तव में उसका तुमसे भावना का सम्बन्ध है, तो वह क्यों तुमसे विवाह नहीं करना चाहता?

मल्लिका : तुम उनके प्रति सदा अनुदार रही हो, माँ! तुम जानती हो, उनका जीवन परिस्थितियों की कैसी विडम्बना में बीता है। मातुल के घर में उनकी क्या दशा रही है। उस साधनहीन और अभावग्रस्त जीवन में विवाह की कल्पना ही कैसे की जा सकती थी?

अम्बिका : और अब जब कि उसका जीवन साधनहीन और अभावग्रस्त नहीं रहेगा?

मल्लिका कुछ क्षण चुप रहकर अपने पैरों को देखती रहती है।

किसी सम्बन्ध से बचने के लिए अभाव जितना बड़ा कारण होता है, अभाव की पूर्ति उससे बड़ा कारण बन जाती है।

मल्लिका : यह तुम्हारी नहीं, विलोम की भाषा है।

अम्बिका : मैं ऐसे व्यक्ति को अच्छी तरह समझती हूँ। तुम्हारे साथ उसका इतना ही सम्बन्ध है कि तुम एक उपादान हो, जिसके आश्रय से वह अपने से प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है। परन्तु तुम क्या सजीव व्यक्ति नहीं हो? तुम्हारे प्रति उसका या तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं है? कल तुम्हारी माँ का शरीर नहीं रहेगा, और घर में एक समय के भोजन की व्यवस्था भी नहीं होगी, तो जो प्रश्न तुम्हारे सामने उपस्थित होगा, उसका तुम क्या उत्तर दोगी? तुम्हारी भावना उस प्रश्न का समाधान कर देगी? फिर कह दो कि यह मेरी नहीं, विलोम की भाषा है।

मल्लिका सिर झुकाए कुछ क्षण चुप बैठी रहती है। फिर अम्बिका की ओर देखती है।

मल्लिका : माँ, आज तक का जीवन किसी तरह बीता ही है। आगे का भी बीत जाएगा। आज जब उनका जीवन एक नई दिशा ग्रहण कर रहा है, मैं उनके सामने अपने स्वार्थ की घोषणा नहीं करना चाहती।

बाहर से मातुल के शब्द सुनाई देने लगते हैं।

मातुल : अम्बिका!...अम्बिका!...घर में हो कि नहीं?

अम्बिका और मल्लिका ड्योढ़ी की ओर देखती हैं। मातुल अस्त-व्यस्त-सा आता है।

हो, हो, हो घर में ही हो! मैं आज सारे ग्राम में घोषणा करने जा रहा हूँ कि मेरा इस कालिदास नामधारी जीव से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मल्लिका : क्या हुआ है, आर्य मातुल?

मातुल : मैंने इसे पाला-पोसा, बड़ा किया। क्या इसी दिन के लिए कि यह इस तरह कुलद्रोही बने?

मल्लिका : परन्तु उन्हें तो सुना है, राज्य की ओर से सम्मानित किया जा रहा है। उज्जयिनी से कोई आचार्य आए हैं।

मातुल : यही तो कह रहा हूँ। उज्जयिनी से कोई आचार्य आए हैं।

मल्लिका : परन्तु आप तो कह रहे हैं...

मातुल : मैं ठीक कह रहा हूँ। आचार्य कल ही इसे अपने साथ उज्जयिनी ले जाना चाहते हैं।

मल्लिका : किन्तु...।

मातुल : दो रथ, दो रथवाह और चार अश्वारोही उनके साथ हैं। मैं तुमसे नहीं कहता था अम्बिका, कि हमारे प्रपितामह के एक दौहित्र का पुत्र गुप्त राज्य की ओर से शकों से युद्ध कर चुका है?

अम्बिका : तुम अपने भागिनेय की बात कर रहे थे।

मातुल : उसी की बात कर रहा हूँ, अम्बिका! तुम समझो कि एक तरह से राज्य की ओर से हमारे वंश का सम्मान किया जा रहा है। और वे वंशावतंस कहते हैं, 'मुझे यह सम्मान नहीं चाहिए...।'

मल्लिका सहसा उठकर खड़ी हो जाती है।

'मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ।'

उत्तेजना में एक कोने से दूसरे कोने तक टहलने लगता है। मल्लिका कुछ क्षण विस्मृत-सी खड़ी रहती है।

मल्लिका : वे राजकीय सम्मान को स्वीकार नहीं करना चाहते?

मातुल : मेरी समझ में नहीं आता कि इसमें क्रय-विक्रय की क्या बात है। सम्मान मिलता है, ग्रहण करो। नहीं, कविता का मूल्य ही क्या है?

मल्लिका : कविता का कुछ मूल्य है आर्य मातुल, तभी तो सम्मान का भी मूल्य है।...मैं समझती हूँ कि उनके हृदय में यह सम्मान कहाँ चुभता है।

अम्बिका कुछ सोचती-सी अपने अंशुक को उँगलियों में मसलने लगती है।

अम्बिका : मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ मातुल, कि वह उज्जयिनी अवश्य जाएगा।

मातुल उसी तरह टहलता रहता है।

मातुल : अवश्य जाएगा! वे लोग इसके अनुचर हैं जो अभिस्तुति करके इसे ले जाएँगे!

अम्बिका : सम्मान प्राप्त होने पर सम्मान के प्रति प्रकट की गई उदासीनता व्यक्ति के महत्त्व को बढ़ा देती है। तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हारा भागिनेय लोकनीति में भी निष्णात है।

मातुल सहसा रुक जाता है।

मातुल : यह लोकनीति है, तो मैं कहूँगा कि लोकनीति और मूर्खनीति दोनों का एक ही अर्थ है।

फिर टहलने लगता है।

जो व्यक्ति कुछ देता है, धन हो या सम्मान हो, वह अपना मन बदल भी सकता है और मन बदल गया तो बदल गया।

फिर रुक जाता है।

तुम सोचो कि सम्राट् रुष्ट भी तो हो सकते हैं कि एक साधारण कवि ने उनका सम्मान स्वीकार नहीं किया।

निक्षेप बाहर से आता है।

निक्षेप : मातुल, आप अभी तक यहाँ हैं, और आचार्य आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मातुल : और तुम यहाँ क्या कर रहे हो? मैंने तुमसे नहीं कहा था कि जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तुम आचार्य के पास रहना?

निक्षेप : परन्तु यह भी तो कहा था कि आचार्य विश्राम कर चुकें तो तुरन्त आपको सूचना दे दूँ।

मातुल : यह भी कहा था। किन्तु वह भी तो कहा था। यह कहा तुम्हारी समझ में आ गया, वह नहीं आया?

निक्षेप : किन्तु मातुल...।

मातुल : किन्तु क्या? मातुल मूर्ख है? बताओ तुम मुझे मूर्ख समझते हो?

निक्षेप : नहीं मातुल...।

मातुल : मैं मूर्ख नहीं, तो निश्चय ही तुम मूर्ख हो।...आचार्य ने क्या कहा है?

निक्षेप : उन्होंने कहा है कि वे आपके साथ इस सारे ग्राम प्रदेश में घूमना चाहते हैं...

मातुल के मुख पर गर्व की रेखाएँ प्रकट होती हैं।

...जिस प्रदेश ने कालिदास की कविता को जन्म दिया है।

मातुल के मुख की रेखाएँ वितृष्णा की रेखाओं में बदल जाती हैं।

मातुल : कालिदास की कविता!

फिर टहलने लगता है।

न जाने इतने बड़े आचार्य को इसकी कविता में क्या विशेषता दिखाई देती है।

रुककर अम्बिका की ओर देखता है।

इस व्यक्ति को सामान्य लोक-व्यवहार तक का तो ज्ञान नहीं, और तुम लोकनीति की बात कहती हो।...आप एक हरिणशावक को गोदी में लिये घर की ओर आ रहे थे। सौभाग्यवश मैंने बाहर ही देख लिया। मैंने प्रार्थना की कि कविकुलगुरु, यह समय इस रूप में घर में जाने का नहीं है। उज्जयिनी से एक बहुत बड़े आचार्य आए हैं। आप सुनते ही लौट पड़े। जैसे रास्ते में साँप देख लिया हो।

मल्लिका अम्बिका के पास आसन पर बैठ जाती है। मातुल फिर टहलने लगता है।

अम्बिका : मल्लिका, मातुल के लिए अन्दर से आसन ला दो।

मल्लिका उठने लगती है, परन्तु मातुल उसे रोक देता है।

मातुल : नहीं, मुझे आसन नहीं चाहिए। आचार्य मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

निक्षेप अम्बिका की ओर देखकर मुस्कुराता है। मातुल कोने तक जाकर लौटता है।

मैंने कहा, 'कविवर्य, आचार्य आपको साथ उज्जयिनी ले जाने के लिए आए हैं। राज्य की ओर से आपका सम्मान होगा।'

रुक जाता है।

सुनकर रुके। रुककर जलते अंगारे की-सी दृष्टि से मुझे देखा।–'मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ।'– ऐसे कहा जैसे राजकीय मुद्राएँ आपके विरह में घुली जा रही हों, और चल दिए।...मेरे लिए धर्म-संकट खड़ा हो गया कि अनुनय करता हुआ आपके पीछे-पीछे जाऊँ, या अभ्यागतों को देखूँ। अब इस निक्षेप से आचार्य के पास बैठने को कहकर आया था, और यह धुरीहीन चक्र की तरह मेरे पीछे-पीछे चला आया है।

निक्षेप : किन्तु मातुल, मैं तो समाचार देने आया था कि...।

मातुल : और मैं समाचार देने के लिए तुमसे धन्यवाद कहता हूँ। बहुत अच्छा किया! अभ्यागत वहाँ बैठे हैं और आप समाचार देने यहाँ चले आए हैं!...अब इतना कीजिए कि वे कविकुल-शिरोमणि जहाँ भी हों, उन्हें ढूँढ़कर ले आइए।

बाहर की ओर चल देता है।

मेरा कर्तव्य कहता है, जैसे भी हो उसे आचार्य के सामने प्रस्तुत करूँ।...और मन कहता है कि उसे जहाँ देखूँ वहीं चोटी से पकड़कर...।

चला जाता है।

निक्षेप : मातुल का तीसरा नेत्र हर समय खुला रहता है।

मल्लिका : परन्तु कालिदास इस समय हैं कहाँ?

निक्षेप : कालिदास इस समय जगदम्बा के मन्दिर में हैं।

मल्लिका : आपने उन्हें देखा है?

निक्षेप : देखा है।

मल्लिका : परन्तु आपने मातुल से नहीं कहा?

निक्षेप : मैं नहीं चाहता था कि मातुल इस समय वहाँ जाएँ?

मल्लिका : क्यों? क्या आप भी नहीं चाहते कि कालिदास...?

निक्षेप : मैं चाहता हूँ कि कालिदास उज्जयिनी अवश्य जाएँ। इसीलिए मैंने मातुल का इस समय उनके पास जाना उचित नहीं समझा।...मातुल को अपने मुँह के शब्द सुनने में ऐसा रस प्राप्त होता है कि वे बोलते ही जाते हैं, परिस्थिति को समझना नहीं चाहते।...कालिदास हठ कर रहे हैं कि जब तक उज्जयिनी से आए अतिथि लौट नहीं जाते, वे जगदम्बा के मन्दिर में ही रहेंगे, घर नहीं जाएँगे।

अम्बिका : कैसी विचक्षणता है!

निक्षेप : विचक्षणता?

अम्बिका : विचक्षणता ही तो है।

निक्षेप : इसमें विचक्षणता क्या है अम्बिका!

अम्बिका तीखी दृष्टि से निक्षेप को देखती है।

अम्बिका : राज्य कवि का सम्मान करना चाहता है। कवि सम्मान के प्रति उदासीन जगदम्बा के मन्दिर में साधनानिरत है। राज्य के प्रतिनिधि मन्दिर में आकर कवि की अभ्यर्थना करते हैं। कवि

धीरे-धीरे आँखें खोलता है।...इतना बड़ा नाटक करना विचक्षणता नहीं है?

निक्षेप : कालिदास नाटक नहीं कर रहे, अम्बिका! मुझे विश्वास है कि उन्हें राजकीय सम्मान का मोह नहीं है। वे सचमुच इस पर्वत-भूमि को छोड़कर नहीं जाना चाहते।

अम्बिका अपने स्थान से उठकर उस ओर जाती है जिधर बरतन आदि पड़े हैं।

अम्बिका : नहीं चाहता!...हूँ!

एक थाली लाकर कुम्भ से उसमें चावल निकालने लगती है।

निक्षेप : मातुल का या किसी का भी आग्रह उनका हठ नहीं छुड़ा सकता।

मल्लिका को अर्थपूर्ण दृष्टि से देखता है। मल्लिका की आँखें झुक जाती हैं।

केवल एक व्यक्ति है, जिसके अनुरोध से सम्भव है वे यह हठ छोड़ दें।

अम्बिका निक्षेप की अर्थपूर्ण दृष्टि को और फिर मल्लिका को देखती है।

अम्बिका : हमारे घर में किसी को उसके हठ छोड़ने या न छोड़ने से कोई प्रयोजन नहीं है।

थाली लिये चूल्हे के निकट चली जाती है और उन दोनों की ओर पीठ किए अपने को व्यस्त रखने का प्रयत्न करती है।

निक्षेप : कालिदास अपनी भावुकता में भूल रहे हैं कि इस अवसर का तिरस्कार करके वे बहुत कुछ खो बैठेंगे। योग्यता एक चौथाई व्यक्तित्व का निर्माण करती है। शेष पूर्ति प्रतिष्ठा द्वारा होती है। कालिदास को राजधानी अवश्य जाना चाहिए।

अम्बिका व्यस्त रहने का प्रयत्न करती हुई भी व्यस्त नहीं हो पाती।

अम्बिका : तो उसमें बाधा क्या है?

निक्षेप : मैंने अनुभव किया है कि उनके हठ के मूल में कहीं गहरी कटुता की रेखा है।

मल्लिका : मैं जानती हूँ, वह रेखा कहाँ है।...कुछ समय पहले एक राजपुरुष से उनका सामना हो चुका है।

निक्षेप : उस कटुता को केवल तुम्हीं दूर कर सकती हो, मल्लिका! अवसर

किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। कालिदास यहाँ से नहीं जाते हैं, तो राज्य की कोई हानि नहीं होगी। राजकवि का आसन रिक्त नहीं रहेगा। परन्तु कालिदास जो आज हैं, जीवन-भर वही रहेंगे– एक स्थानीय कवि! जो लोग आज 'ऋतु-संहार' की प्रशंसा कर रहे हैं, वे भी कुछ दिनों में उन्हें भूल जाएँगे।

मल्लिका अपने में खोई-सी उठ खड़ी होती है।

मल्लिका : नहीं, उन्हें इस सम्मान का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। यह सम्मान उनके व्यक्तित्व का है। उन्हें अपने व्यक्तित्व को उसके अधिकार से वंचित नहीं करना चाहिए। चलिए, मैं आपके साथ जगदम्बा के मन्दिर में चलती हूँ।

अम्बिका सहसा खड़ी हो जाती है।

अम्बिका : मल्लिका!

मल्लिका स्थिर दृष्टि से अम्बिका को देखती है।

मल्लिका : माँ!

अम्बिका : मुझे एक बाहर के व्यक्ति के सामने कहना होगा कि मैं इस समय तुम्हारे वहाँ जाने के पक्ष में नहीं हूँ?

निक्षेप : निक्षेप बाहर का व्यक्ति नहीं है, अम्बिका!

मल्लिका : यह एक महत्त्वपूर्ण क्षण है, माँ! मुझे इस समय अवश्य जाना चाहिए। आइए, आर्य निक्षेप!

बिना अम्बिका की ओर देखे बाहर को चल देती है। अम्बिका की आँखों में क्रोध की लहर उठती है, जो पराजय के भाव में बदल जाती है। निक्षेप अम्बिका के भाव को लक्ष्य करता क्षण-भर रुका रहता है।

निक्षेप : क्षमा चाहता हूँ, अम्बिका!

मल्लिका के पीछे चला जाता है। अम्बिका कुछ क्षण आँखें मूँदे खड़ी रहती है। फिर घर की वस्तुओं को एक-एक करके देखती है, और जैसे टूटी-सी, चौकी पर बैठकर थाली के चावलों को मसलने लगती है। आँखों से आँसू उमड़ आते हैं, जिन्हें वह आँचल में पोंछ लेती है। प्रकाश कम हो जाता है। अम्बिका के कंठ से रुँधा-सा स्वर निकलता है :

अम्बिका : भावना!...ओह!

आँचल में मुँह छिपा लेती है। प्रकाश कुछ और क्षीण हो जाता है। तभी ड्योढ़ी के अँधेरे में अग्निकाष्ठ की लौ

चमक उठती है। विलोम अग्निकाष्ठ हाथ में लिये बाहर से आता है। अम्बिका को इस तरह बैठे देखकर क्षण-भर रुका रहता है। फिर पास चला आता है।

विलोम : घिरे हुए मेघों ने आज असमय अन्धकार कर दिया है अम्बिका, या तुम्हें समय का ज्ञान नहीं रहा?

अम्बिका आँचल से मुँह उठाती है। अग्निकाष्ठ के प्रकाश में उसके मुख की रेखाएँ गहरी और आँखें धँसी-सी दिखाई देती हैं।

आश्चर्य है, तुमने दीपक नहीं जलाया!

अम्बिका : विलोम!...तुम यहाँ क्यों आए हो?

विलोम बाईं ओर के दीपक के निकट चला जाता है।

विलोम : दीपक जला दूँ?

अग्निकाष्ठ से छूकर दीपक जला देता है।

विलोम का आना ऐसे आश्चर्य का विषय नहीं है।

जाकर सामने के दीपक जलाने लगता है। अम्बिका उठ खड़ी होती है।

अम्बिका : चले जाओ विलोम! तुम जानते हो कि तुम्हारा यहाँ आना...

विलोम : मल्लिका को सह्य नहीं है।

दीपक जलाकर अम्बिका की ओर देखता है।

जानता हूँ, अम्बिका! मल्लिका बहुत भोली है। वह लोक और जीवन के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती।

दीवार में बने आधार में अग्निकाष्ठ तिरछा लगा देता है।

वह नहीं चाहती कि मैं इस घर में आऊँ, क्योंकि कालिदास नहीं चाहता।

घूमकर अम्बिका के पास आता है।

और कालिदास क्यों नहीं चाहता? क्योंकि मेरी आँखों में उसे अपने हृदय का सत्य झाँकता दिखाई देता है। उसे उलझन होती है।...किन्तु तुम तो जानती हो अम्बिका, मेरा एकमात्र दोष यह है कि मैं जो अनुभव करता हूँ, स्पष्ट कह देता हूँ।

अम्बिका : मैं इस समय तुम्हारे दोष-अदोष का विवेचन नहीं करना चाहती।

विलोम : देख रहा हूँ, इस समय तुम बहुत दुखी हो।...और तुम दुखी कब नहीं रहीं, अम्बिका? तुम्हारा तो जीवन ही पीड़ा का इतिहास है।

पहले से कहीं दुबली हो गई हो?...सुना है कालिदास उज्जयिनी जा रहा है।

अम्बिका : मैं नहीं जानती।

विलोम जैसे उसकी बात न सुनकर झरोखे के पास चला जाता है।

विलोम : राज्य की ओर से उसका सम्मान होगा! कालिदास राजकवि के रूप में उज्जयिनी में रहेगा। मैं समझता हूँ उसके जाने से पहले ही उसका और मल्लिका का विवाह हो जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में तुमने सोचा तो होगा?

अम्बिका : मैं इस समय कुछ भी सोचना नहीं चाहती।

विलोम : तुम, मल्लिका की माँ, इस विषय में सोचना नहीं चाहतीं? आश्चर्य है!

अम्बिका : मैंने तुमसे कहा है विलोम, तुम चले जाओ।

विलोम : कालिदास उज्जयिनी चला जाएगा! और मल्लिका, जिसका नाम उसके कारण सारे प्रान्तर में अपवाद का विषय बना है, पीछे यहाँ पड़ी रहेगी? क्यों, अम्बिका?

अम्बिका कुछ न कहकर आसन पर बैठ जाती है। विलोम घूमकर उसके सामने आ जाता है।

क्यों? तुमने इतने वर्ष सारी पीड़ा क्या इसी दिन के लिए सही है? दूर से देखने वाला भी जान सकता है, इन वर्षों में तुम्हारे साथ क्या-क्या बीता है। समय ने तुम्हारे मन, शरीर और आत्मा की इकाई को तोड़कर रख दिया है। तुमने तिल-तिल करके अपने को गलाया है कि मल्लिका को किसी अभाव का अनुभव न हो। और आज, जब कि उसके लिए जीवन-भर के अभाव का प्रश्न सामने है, तुम कुछ सोचना नहीं चाहतीं?

अम्बिका : तुम यह सब कहकर मेरा दुख कम नहीं हर रहे, विलोम! मैं अनुरोध करती हूँ कि तुम इस समय मुझे अकेली रहने दो।

विलोम : मैं इस समय अपना तुम्हारे पास होना आवश्यक समझता हूँ, अम्बिका! मैं ये सब बातें तुमसे नहीं, उससे कहने के लिए आया हूँ। आशा कर रहा हूँ कि वह मल्लिका के साथ अभी यहाँ आएगा। मैंने मल्लिका को जगदम्बा के मन्दिर की ओर जाते देखा है। मैं यहीं उसकी प्रतीक्षा करना चाहता हूँ।

ड्योढ़ी से कालिदास और उसके पीछे मल्लिका आती है।

कालिदास : अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी, विलोम!

विलोम को देखकर मल्लिका की आँखों में क्रोध और वितृष्णा का भाव उमड़ आता है, और वह झरोखों की ओर चली जाती है। कालिदास विलोम के पास आ जाता है।

मैं जानता हूँ कि तुम कहाँ, किस समय, और क्यों मेरे साक्षात्कार के लिए उत्सुक होते हो।...कहो, आजकल किस नए छन्द का अभ्यास कर रहे हो?

विलोम : छन्दों का अभ्यास मेरी वृत्ति नहीं है।

कालिदास : मैं जानता हूँ तुम्हारी वृत्ति दूसरी है।

क्षण-भर उसकी आँखों में देखता रहता है।

उस वृत्ति ने सम्भवतः छन्दों का अभ्यास सर्वथा छुड़ा दिया है।

विलोम : आज निःसन्देह तुम छन्दों के अभ्यास पर गर्व कर सकते हो।

अग्निकाष्ठ के पास जाकर उसे सहलाने लगता है। प्रकाश उसके मुख पर पड़ता है।

सुना है, राजधानी से निमन्त्रण आया है।

कालिदास : सुना मैंने भी है। तुम्हें दुख हुआ?

विलोम : दुख? हाँ-हाँ, बहुत। एक मित्र के बिछुड़ने का किसे दुख नहीं होता?

...कल ब्राह्म मुहूर्त में ही चले जाओगे?

कालिदास : मैं नहीं जानता।

विलोम : मैं जानता हूँ। आचार्य कल ब्राह्म मुहूर्त में ही लौट जाना चाहते हैं। राजधानी के वैभव में जाकर ग्राम-प्रान्तर को भूल तो नहीं जाओगे?

एक दृष्टि मल्लिका पर डालकर फिर कालिदास की ओर देखता है।

सुना है, वहाँ जाकर व्यक्ति बहुत व्यस्त हो जाता है। वहाँ के जीवन में कई तरह के आकर्षण हैं—रंगशालाएँ, मदिरालय और तरह-तरह की विलास-भूमियाँ!

मल्लिका के भाव में बहुत कठोरता आ जाती है।

मल्लिका : आर्य विलोम, यह समय और स्थान इन बातों के लिए नहीं है। मैं इस समय आपको यहाँ देखने की आशा नहीं कर रही थी।

विलोम : मैं जानता हूँ, तुम इस समय मुझे यहाँ देखकर प्रसन्न नहीं हो। परन्तु मैं अम्बिका से मिलने आया था। बहुत दिनों से भेंट नहीं हुई थी। यह कोई ऐसी अप्रत्याशित बात नहीं है।

कालिदास : विलोम का कुछ भी करना अप्रत्याशित नहीं है। हाँ, कई कुछ न करना अप्रत्याशित हो सकता है।

विलोम : यह वास्तव में प्रसन्नता का विषय है कालिदास, कि हम दोनों एक-दूसरे को इतनी अच्छी तरह समझते हैं। निःसन्देह मेरे स्वभाव में ऐसा कुछ नहीं है, जो तुमसे छिपा हो।

क्षण-भर कालिदास की आँखों में देखता रहता है।

विलोम क्या है? एक असफल कालिदास। और कालिदास? एक सफल विलोम। हम कहीं एक-दूसरे के बहुत निकट पड़ते हैं।

अग्निकाष्ठ के पास से हटकर कालिदास के निकट आ जाता है।

कालिदास : निःसन्देह। सभी विपरीत एक-दूसरे के बहुत निकट पड़ते हैं।

विलोम : अच्छा है, तुम इस सत्य को स्वीकार करते हो। मैं उस निकटता के अधिकार से तुमसे एक प्रश्न पूछ सकता हूँ?...सम्भव है फिर कभी तुमसे बात करने का अवसर ही प्राप्त न हो। एक दिन का व्यवधान तुम्हें हमसे बहुत दूर कर देगा न!

कालिदास : वर्षों का व्यवधान भी विपरीत को विपरीत से दूर नहीं करता।...मैं तुम्हारा प्रश्न सुनने के लिए उत्सुक हूँ।

विलोम बहुत पास आकर उसके कन्धे पर हाथ रख देता है।

विलोम : मैं जानना चाहता हूँ कि तुम अभी तक वही कालिदास हो न?

अर्थपूर्ण दृष्टि से अम्बिका की ओर देख लेता है।

कालिदास : मैं तुम्हारा अभिप्राय नहीं समझ सका।

उसका हाथ अपने कन्धे से हटा देता है।

विलोम : मेरा अभिप्राय है कि तुम अभी तक वही व्यक्ति हो न जो कल तक थे?

मल्लिका झरोखे के पास से उधर को बढ़ आती है।

मल्लिका : आर्य विलोम, मैं इस प्रकार की अनर्गलता क्षम्य नहीं समझती।

विलोम : अनर्गलता?

अम्बिका के निकट आ जाता है। कालिदास दो-एक पग दूसरी ओर चला जाता है।

इसमें अनर्गलता क्या है? मैं बहुत सार्थक प्रश्न पूछ रहा हूँ। क्यों कालिदास? मेरा प्रश्न सार्थक नहीं है?...क्यों अम्बिका?

अम्बिका अव्यवस्थित भाव से उठ खड़ी होती है।

अम्बिका : मैं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती, और न ही जानना चाहती हूँ।

अन्दर की ओर चल देती है।

विलोम : ठहरो, अम्बिका!

अम्बिका रुककर उसकी ओर देखती है।

आज तक ग्राम-प्रान्तर में कालिदास के साथ मल्लिका के सम्बन्ध को लेकर बहुत कुछ कहा जाता रहा है।

मल्लिका एक पग और आगे आ जाती है।

मल्लिका : आर्य विलोम, आप...!

विलोम : उसे दृष्टि में रखते हुए क्या यह उचित नहीं कि कालिदास यह स्पष्ट बता दे कि उसे उज्जयिनी अकेले ही जाना है या...

मल्लिका : कालिदास आपके किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं हैं।

विलोम : मैं कब कहता हूँ कि बाध्य है? परन्तु सम्भव है कालिदास का अन्तःकरण उसे उत्तर देने के लिए बाध्य करे। क्यों कालिदास?

कालिदास मुड़ पड़ता है। दोनों एक-दूसरे के सामने आ जाते हैं।

कालिदास : मैं तुम्हारी प्रशंसा करने के लिए अवश्य बाध्य हूँ। तुम दूसरों के घर में ही नहीं, उनके जीवन में भी अनधिकार प्रवेश कर जाते हो।

विलोम : अनधिकार प्रवेश...? मैं? क्यों अम्बिका, तुम्हें कालिदास की यह बात कहाँ तक संगत प्रतीत होती है कि मैं, विलोम, दूसरों के जीवन में अनधिकार प्रवेश कर जाता हूँ?

अम्बिका : मैं कह चुकी हूँ, मुझे इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहना है।

अन्दर चली जाती है।

विलोम : बस, चल ही दी।...अच्छा कालिदास, तुम्हीं बताओ, तुम्हें अपनी यह बात कहाँ तक संगत प्रतीत होती है? मैंने किसके जीवन में अनधिकार प्रवेश किया है? चलो, ग्राम-प्रान्तर में चलकर किसी से भी पूछ लें...।

विदग्ध दृष्टि से उसे देखता है। फिर अग्निकाष्ठ के पास जाकर उसे आधार से हाथ में ले लेता है।

तो तुम अपने अन्तःकरण से भी मेरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं हो! सम्भवतः प्रश्न ही ऐसा है...!

कालिदास : तुम कुछ भी अनुमान लगाने के लिए स्वतन्त्र हो। मैं इतना ही जानता हूँ कि मुझे ग्राम-प्रान्तर छोड़कर उज्जयिनी जाने का तनिक मोह नहीं है।

विलोम उल्मुक को कालिदास के मुख के निकट ले आता है।

विलोम : निःसन्देह! तुम्हें ऐसा मोह क्यों होगा? साधारण व्यक्ति को हो सकता है, तुम्हें क्यों होगा? परन्तु मैं केवल इतना जानना चाहता था कि यदि ऐसा हो—क्षण-भर के लिए स्वीकार कर लिया जाए कि तुम जाने का निश्चय कर लो—तो उस स्थिति में क्या यह उचित नहीं कि...

मल्लिका उसके और कालिदास के बीच में आ जाती है। अग्निकाष्ठ का प्रकाश उसके मुँह पर पड़ने लगता है।

मल्लिका : आर्य विलोम, आज अपनी सीमा से आगे जाकर बात कर रहे हैं। मैं बच्ची नहीं हूँ, अपना भला-बुरा सब समझती हूँ।...आप सम्भवतः यह अनुभव नहीं कर रहे कि आप यहाँ इस समय एक अनचाहे अतिथि के रूप में उपस्थित हैं।

विलोम : यह अनुभव करने की मैंने आवश्यकता नहीं समझी। तुम मुझसे घृणा करती हो, मैं जानता हूँ। परन्तु मैं तुमसे घृणा नहीं करता। मेरे यहाँ होने के लिए इतना ही पर्याप्त है।

अग्निकाष्ठ का प्रकाश फिर कालिदास के चेहरे पर डालता है।

और एक बात कालिदास से भी करना चाहता था।

अर्थपूर्ण दृष्टि से कालिदास को देखकर फिर मल्लिका की ओर देखता है।

तुम कालिदास के बहुत निकट हो, परन्तु मैं कालिदास को तुमसे अधिक जानता हूँ।

पुनः एक-एक करके दोनों की ओर देखता है और ड्योढ़ी की ओर चल देता है। ड्योढ़ी के पास से मुड़कर फिर कालिदास की ओर देखता है।

तुम्हारी यात्रा शुभ हो, कालिदास! तुम जानते हो, विलोम तुम्हारा ही शुभचिन्तक है।

कालिदास : यह मुझसे अधिक कौन जान सकता है?

विलोम के कंठ से तिरस्कारपूर्ण स्वर निकलता है और वह मल्लिका की ओर देखता है।

विलोम : अनचाहा अतिथि सम्भवतः फिर भी कभी आ पहुँचे। तब के लिए भी क्षमा चाहते हुए...।

व्यंग्य के साथ मुस्कुराकर चला जाता है। कालिदास क्षण-भर मल्लिका की ओर देखता रहता है। फिर झरोखे के पास चला जाता है।

मल्लिका : फिर उदास हो गए?

कालिदास झरोखे से बाहर देखता रहता है।

देखो, तुम मुझे वचन दे चुके हो।

कालिदास लौटकर उसके पास आ जाता है।

कालिदास : फिर एक बार सोचो, मल्लिका! प्रश्न सम्मान और राज्याश्रय स्वीकार करने का ही नहीं है। उससे कहीं बड़ा एक प्रश्न मेरे सामने है।

मल्लिका : और वह प्रश्न मैं हूँ...हूँ न?

उसे बाँहों से पकड़कर आसन पर बिठा देती है।

यहाँ बैठो। तुम मुझे जानते हो। हो न?

कालिदास उसकी ओर देखता रहता है।

तुम समझते हो कि तुम इस अवसर को ठुकराकर यहाँ रह जाओगे, तो मुझे सुख होगा?

उमड़ते आँसुओं को दबाने के लिए आँखें झपकती और ऊपर की ओर देखने लगती है।

मैं जानती हूँ कि तुम्हारे चले जाने से मेरे अन्तर को एक रिक्तता छा लेगी। बाहर भी सम्भवतः बहुत सूना प्रतीत होगा। फिर भी मैं अपने साथ छल नहीं कर रही।

मुस्कुराने का प्रयत्न करती है।

मैं हृदय से कहती हूँ तुम्हें जाना चाहिए।

कालिदास : चाहता हूँ तुम इस समय अपनी आँखें देख सकतीं।

मल्लिका : मेरी आँखें इसलिए गीली हैं कि तुम मेरी बात नहीं समझ रहे।

उसके पैरों के पास बैठकर उसके घुटनों पर कुहनियाँ रख देती है।

तुम यहाँ से जाकर भी मुझसे दूर हो सकते हो...? यहाँ ग्राम-प्रान्तर में रहकर तुम्हारी प्रतिभा को विकसित होने का अवसर कहाँ मिलेगा? यहाँ लोग तुम्हें समझ नहीं पाते। वे सामान्य की कसौटी पर तुम्हारी परीक्षा करना चाहते हैं।

कुहनियों पर ठोड़ी भी रख लेती है।

विश्वास करते हो न कि मैं तुम्हें जानती हूँ? जानती हूँ कि कोई भी रेखा तुम्हें घेर ले, तो तुम घिर जाओगे। मैं तुम्हें घेरना नहीं चाहती। इसलिए कहती हूँ, जाओ।

कालिदास : तुम पूरी तरह नहीं समझ रहीं, मल्लिका! प्रश्न तुम्हारे घेरने का नहीं है।

मल्लिका शब्दों की चुभन अनुभव करके भी अपनी मुद्रा स्वाभाविक बनाए रखने का प्रयत्न करती है। कालिदास जैसे सोचता-सा उठ खड़ा होता है और टहलने लगता है।

मैं अनुभव करता हूँ कि यह ग्राम-प्रान्तर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ। उन सूत्रों में तुम हो, यह आकाश और ये मेघ हैं, यहाँ की हरियाली है, हरिणों के बच्चे हैं, पशुपाल हैं।

रुककर मल्लिका की ओर देखता है।

यहाँ से जाकर मैं अपनी भूमि से उखड़ जाऊँगा।

मल्लिका आसन पर कुहनी रखे उससे टेक लगा लेती है।

मल्लिका : यह क्यों नहीं सोचते कि नई भूमि तुम्हें यहाँ से अधिक सम्पन्न और उर्वरा मिलेगी। इस भूमि से तुम जो कुछ ग्रहण कर सकते थे, कर चुके हो। तुम्हें आज नई भूमि की आवश्यकता है, जो तुम्हारे व्यक्तित्व को अधिक पूर्ण बना दे।

कालिदास : नई भूमि सुखा भी तो सकती है!

फिर टहलने लगता है।

मल्लिका : कोई भूमि ऐसी नहीं जिसके अन्तर में कोमलता न हो। तुम्हारी प्रतिभा उस कोमलता का स्पर्श अवश्य पा लेगी।

कालिदास : और उस जीवन की अपनी अपेक्षाएँ भी होंगी...

मल्लिका उठकर उसके पास आ जाती है और उसके हाथ अपने हाथों में ले लेती है।

मल्लिका : यह क्यों आवश्यक है कि तुम उन अपेक्षाओं का पालन करो? तुम दूसरों के लिए नई अपेक्षाओं की सृष्टि कर सकते हो।

कालिदास : फिर भी कई-कई आशंकाएँ उठती हैं। मुझे हृदय में उत्साह का अनुभव नहीं होता।

मल्लिका : मेरी ओर देखो।

कालिदास कुछ क्षण उसकी आँखों में देखता रहता है।

अब भी उत्साह का अनुभव नहीं होता...? विश्वास करो तुम यहाँ से जाकर भी यहाँ से अलग नहीं होओगे। यहाँ की वायु, यहाँ के मेघ और यहाँ के हरिण, इन सबको तुम साथ ले जाओगे...। और मैं भी तुमसे दूर नहीं होऊँगी और उड़कर आते मेघों में घिर जाया करूँगी।

बिजली कौंधती है और मेघ-गर्जन सुनाई देता है। कालिदास उसके हाथ पकड़े रहता है। मल्लिका पलकें झपककर अपने आँसू सुखाती है।

लगता है फिर वर्षा होगी। यूँ भी बहुत अँधेरा हो गया है। आचार्य तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

कालिदास : मुझे जाने के लिए कह रही हो?

मल्लिका : हाँ! देखना मैं तुम्हारे पीछे प्रसन्न रहूँगी, बहुत घूमूँगी और हर सन्ध्या को जगदम्बा के मन्दिर में सूर्यास्त देखने जाया करूँगी...।

कालिदास : इसका अर्थ है तुमसे विदा लूँ।

मल्लिका : नहीं! विदा तुम्हें नहीं दूँगी। जा रहे हो, इसलिए केवल प्रार्थना करूँगी कि तुम्हारा पथ प्रशस्त हो।

उसके हाथ छोड़ देती है।

जाओ।

कालिदास पल-भर आँखें मूँदें रहता है। फिर झटके से चला जाता है। मल्लिका हाथों में मुँह छिपाए आसन पर जा बैठती है। तीव्र मेघ-गर्जन सुनाई देता है और साथ वर्षा का शब्द सुनाई देने लगता है। मल्लिका अपने को रोकने का प्रयत्न करती हुई भी सिसक उठती है। अम्बिका अन्दर से आकर उसके सिर पर हाथ रखती है। और उसका मुँह ऊपर उठाती है।

अम्बिका : मल्लिका!

मल्लिका आसन से उठ खड़ी होती है और झरोखे के पास जाकर उससे सिर टिका देती है।

अम्बिका : तुम स्वस्थ नहीं हो मल्लिका, चलो अन्दर चलकर विश्राम कर लो।

मल्लिका अपनी सिसकियाँ दबाने का प्रयत्न करती हुई उसी तरह खड़ी रहती है।

मल्लिका : मुझे यहीं रहने दो माँ : मैं अस्वस्थ नहीं हूँ। देखो माँ, चारों ओर कितने गहरे मेघ घिरे हैं! कल ये मेघ उज्जयिनी की ओर उड़ जाएँगे...!

पुनः हाथों में मुँह छिपाकर सिसक उठती है। अम्बिका पास जाकर उसे अपने से सटा लेती है।

अम्बिका : रोओ नहीं, मल्लिका!

मल्लिका : मैं रो नहीं रही हूँ, माँ! मेरी आँखों में जो बरस रहा है, यह दुख नहीं है। यह सुख है माँ, सुख...!

अम्बिका के वक्ष में मुँह छिपा लेती है। पुनः मेघ-गर्जन सुनाई देता है और वर्षा का शब्द ऊँचा हो जाता है।

अंक दो

कुछ वर्षों के अनन्तर
वही प्रकोष्ठ।

प्रकोष्ठ की स्थिति में पहले से कहीं अन्तर आ गया है। लिपाई कई स्थानों से उखड़ रही है। गेरू से बने स्वस्तिक, शंख और कमल अब बुझे-बुझे से हैं। चूल्हे के पास पहले से बहुत कम बरतन हैं। कुम्भ केवल दो हैं और उन पर ऊपर तक काई जमी है। आसन पर कुछ भोजपत्र बिखरे हैं, कुछ एक रेशमी वस्त्र में बँधे हैं। आसन के निकट एक टूटा मोढ़ा है, जिस पर भोजपत्र सीकर बनाया एक ग्रन्थ रखा है। चूल्हे के निकट कोने में रस्सी बँधी है जिस पर कुछ वस्त्र सूखने के लिए फैलाए गए हैं। अधिकांश वस्त्र फटे हैं और उन पर जगह-जगह टाँकियाँ लगी हैं।

एक टूटा मोढ़ा ड्योढ़ी के द्वार के पास रखा है। चौकी एक ही है जिस पर बैठी मल्लिका खरल में औषध पीस रही है। अन्दर बिछे तल्प का कोना उसी तरह दिखाई देता है। अम्बिका तल्प पर लेटी है। बीच-बीच में वह करवट बदल लेती है। निक्षेप बाहर से आता है। मल्लिका अपना अंशुक ठीक करती है।

निक्षेप : अब कैसा है अम्बिका का स्वास्थ्य?
मल्लिका : वैसे ही ज्वर आता है अभी।
निक्षेप : पहले से कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा?
मल्लिका : लगता तो नहीं।
निक्षेप : दो वर्ष से निरन्तर एक-सा ज्वर!

मल्लिका ठंडी साँस भरकर पीसी हुई औषध पत्थर से कटोरे में डालने लगती है। निक्षेप मोढ़ा खींचकर उसके पास आ बैठता है।

वास्तव में अम्बिका बहुत चिन्ता करती हैं।

मल्लिका : औषध भी ठीक से नहीं खातीं।

औषध में दूध और शहद मिलाकर हिलाने लगती है। निक्षेप अपनी उँगलियाँ उलझाए उसे देखता रहता है।

निक्षेप : तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है?

मल्लिका : ठीक है।

निक्षेप : दुबली होती जा रही हो।...बहुत दिनों से राजधानी की ओर से कोई व्यक्ति नहीं आया।

मल्लिका आँखें बचाती हुई अधिक व्यस्त भाव से औषध हिलाती रहती है।

कभी-कभी सोचता हूँ, एक बार उज्जयिनी जाकर उनसे मिल आऊँ।

मल्लिका : क्यों?

निक्षेप : कई बातें करना चाहता हूँ। कई बार लगता है कि दोष मेरा ही है।

मल्लिका गम्भीर भाव से उसकी ओर देखती है।

मल्लिका : किस बात का?

निषेध लम्बी साँस लेता है।

निक्षेप : बात तुम जानती हो।...मैंने आशा नहीं की थी कि उज्जयिनी जाकर कालिदास इस तरह वहाँ के हो जाएँगे।

मल्लिका : और मुझे प्रसन्नता है कि वे वहाँ रहकर इतने व्यस्त हैं। यहाँ उन्होंने केवल 'ऋतु-संहार' की रचना की थी। वहाँ उन्होंने कई नए काव्यों की रचना की है। दो वर्ष पहले जो व्यवसायी आए थे, उन्होंने 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' की प्रतियाँ मुझे ला दी थीं। बता रहे थे, उनके एक और बड़े काव्य की बहुत चर्चा है, परन्तु उसकी प्रति उन्हें नहीं मिल पाई।

निक्षेप : यूँ तो सुना है, उन्होंने कुछ नाटकों की भी रचना की है जो उज्जयिनी की रंगशालाओं में खेले गए हैं। फिर भी...।

मल्लिका : फिर भी क्या?

निक्षेप : मुझे कहते दुख होता है। उन्हीं व्यवसायियों के मुँह से और भी तो कई बातें सुनी थीं...।

मल्लिका : व्यक्ति उन्नति करता है, तो उसके नाम के साथ कई तरह के अपवाद जुड़ने लगते हैं।

निक्षेप : मैं अपवाद की बात नहीं कर रहा।

उठकर टहलने लगता है।

सुना यह भी तो था न कि गुप्त वंश की राज-दुहिता से उनका विवाह हो गया।

मल्लिका : तो इसमें बुरा क्या है?

निक्षेप : एक तरह से देखें, तो बुरा नहीं भी है। परन्तु यहाँ रहते उनका जो आग्रह था कि जीवन-भर विवाह नहीं करेंगे?

रुककर उसकी ओर देखता है।

उस आग्रह का क्या हुआ? उन्होंने यह नहीं सोचा कि उनके इसी आग्रह की रक्षा के लिए तुमने...?

मल्लिका : उनके प्रसंग में मेरी बात कहीं नहीं आती। मैं अनेकानेक साधारण व्यक्तियों में से हूँ। वे असाधारण हैं। उन्हें जीवन में असाधारण का ही साथ चाहिए था।...सुना है राज-दुहिता बहुत विदुषी हैं।

निक्षेप : हाँ, सुना है। बहुत शास्त्र-दर्शन पढ़ी हैं। मैंने कहा है न कि एक तरह से देखें, तो इसमें कुछ बुरा नहीं है। परन्तु दूसरी तरह से देखने पर बहुत ग्लानि होती है।

मल्लिका : इसके विपरीत मुझे अपने से ग्लानि होती है, कि यह, ऐसी मैं, उनकी प्रगति में बाधा भी बन सकती थी। आपके कहने से मैं उन्हें जाने के लिए प्रेरित न करती, तो कितनी बड़ी क्षति होती?

निक्षेप : यही तो दुख है कि मेरे कहने से तुम ऐसा न करतीं, तो आज तुम्हारे जीवन का रूप यह न होता।

मल्लिका : मेरे जीवन में पहले से क्या अन्तर आया है? पहले माँ काम करती थीं। अब वे अस्वस्थ हैं, मैं काम करती हूँ।

निक्षेप : बाहर से तो इतना ही अन्तर लगता है।

मल्लिका : केवल इतना ही अन्तर है।

औषध लिए उठ खड़ी होती है।

माँ को औषध दे दूँ, अभी आती हूँ।

अन्दर चली जाती है और अम्बिका को सहारे से उठाकर औषध पिलाती है। अम्बिका पीकर सिर हिलाती है। निक्षेप टहलता हुआ झरोखे के पास चला जाता है। बाहर घोड़े की टापों का शब्द सुनाई देता है जो पास आकर दूर चला जाता है। निक्षेप झरोखे से सटा देखता रहता है।

अम्बिका औषध पीकर लेट जाती है। मल्लिका बाहर आ जाती है, और किवाड़ के पास रुककर अम्बिका की ओर देखती है।

मल्लिका : माँ, ठंड लगती हो तो किवाड़ बन्द कर दूँ?

अम्बिका सिर हिलाती है। मल्लिका किवाड़ बन्द कर देती है। निक्षेप झरोखे के पास से हट आता है।

निक्षेप : लगता है आज फिर कुछ लोग बाहर से आए हैं।

मल्लिका : कौन लोग?

निक्षेप : सम्भवतः राज्य के कर्मचारी हैं। दो वैसी ही आकृतियाँ मैंने देखी हैं, जैसी तब देखी थीं, जब आचार्य कालिदास को लेने आए थे।

मल्लिका थोड़ा सिहर जाती है।

मल्लिका : वैसी आकृतियाँ?

अपने भाव को दबाकर हँसने का प्रयत्न करती है।

जानते हैं, माँ इस सम्बन्ध में क्या कहती हैं? कहती हैं कि जब भी ये आकृतियाँ दिखाई देती हैं, कोई-न-कोई अनिष्ट होता है। कभी युद्ध, कभी महामारी! परन्तु पिछली बार तो ऐसा कुछ नहीं हुआ।

निक्षेप : नहीं हुआ?

मल्लिका आँखें बचाती हुई गीले वस्त्रों को देखने में व्यस्त हो जाती है।

मल्लिका : क्या हुआ?...और जो हुआ, वह तो अच्छा ही था।

दो-एक वस्त्रों को उतारकर फिर रस्सी पर फैला देती है।

हवा में आजकल इतनी नमी रहती है कि वस्त्र घंटों नहीं सूखते।

फिर टापों का शब्द सुनाई देता है। निक्षेप फिर झरोखे के पास चला जाता है। सहसा उसके मुँह से आश्चर्य की ध्वनि निकल पड़ती है।

निक्षेप : हैं-हैं?...नहीं?? परन्तु नहीं कैसे?

टापों का शब्द दूर चला जाता है। निक्षेप उत्तेजित-सा झरोखे के पास से हटकर आता है।

मल्लिका : सहसा उत्तेजित क्यों हो उठे, आर्य निक्षेप?

निक्षेप : मैंने अभी एक और आकृति को घोड़े पर जाते देखा है।

मल्लिका : तो क्या हुआ? आपको भी माँ की तरह अनिष्ट की आशंका हो रही है?

निक्षेप : वह एक बहुत परिचित आकृति है, मल्लिका!

मल्लिका : परिचित आकृति?

निक्षेप : मुझे विश्वास है, वे स्वयं कालिदास हैं।

मल्लिका हाथ के वस्त्र को पकड़े स्तम्भित-सी हो रहती है।

मल्लिका : कालिदास?...यह कैसे सम्भव है?

निक्षेप : मैंने अपनी आँखों से देखा है। वे घोड़ा दौड़ाते पर्वत-शिखर की ओर गए हैं। इस राजसी वेश-भूषा में और कोई उन्हें न पहचान पाए, निक्षेप की आँखें पहचानने में भूल नहीं कर सकतीं।...मैं अभी जाकर देखता हूँ। राज्य-कर्मचारी भी अवश्य उन्हीं के साथ आए होंगे।

उसी उत्तेजना में चला जाता है।

मल्लिका : वे आए हैं और पर्वत-शिखर की ओर गए हैं?

अपनी उँगली को दाँत से काटती है और पीड़ा का अनुभव होने पर यन्त्र-चालित-सी झरोखे के पास वली जाती है। ड्योढ़ी से रंगिणी और संगिनी अन्दर आती हैं। मल्लिका आश्चर्य से उनकी ओर देखती है। रंगिणी संगिनी को आगे करती है।

रंगिणी : इससे पूछ, हम अन्दर आ सकती हैं?

संगिनी उसे आगे करके स्वयं पीछे हट जाती है।

संगिनी : तू पूछ।

मल्लिका उनके पास आ जाती है।

रंगिणी : अच्छा, मैं पूछती हूँ।...सुनो, यह तुम्हारा घर है?

मल्लिका : हाँ-हाँ। आइए...आप मेरे यहाँ आई हैं?

रंगिणी और संगिनी अन्दर आ जाती हैं और खोजती दृष्टि से इधर-उधर देखती हैं।

रंगिणी : हम विशेष रूप से किसी के यहाँ नहीं आईं। समझ लो कि यूँ ही आई हैं—ग्राम-प्रदेश में घूमती हुईं।

संगिनी : हम यहाँ के घर देखना चाहती हैं।

रंगिणी : और यहाँ के जीवन का अध्ययन करना चाहती हैं।

संगिनी : पहले मैं परिचय दे दूँ। यह है रंगिणी। उज्जयिनी के नाट्य केन्द्र में नृत्य का अभ्यास करती है। नाटक लिखने में भी इसकी रुचि है।

रंगिणी : और यह संगिनी—उसी केन्द्र में मृदंग और वीणावादन सीखती

है। बहुत सुन्दर प्रणय-गीत लिखती है। अब गद्य की ओर आ रही है। और तुम्हारा परिचय?

मल्लिका कुछ भी उत्तर न देकर आश्चर्य से उनकी ओर देखती रहती है।

संगिनी : तुमने अपना परिचय नहीं दिया।

मल्लिका : मेरा परिचय कुछ भी नहीं है। आइए, यहाँ आसन पर बैठिए।

संगिनी : हम बैठने के लिए नहीं, अध्ययन करने के लिए आई हैं। इस स्थान को आप लोग क्या कहते हैं?

मल्लिका : किस स्थान को?

रंगिणी : इसका अभिप्राय इस सारे स्थान से है जहाँ इस समय हम हैं। उज्जयिनी में हम इसे प्रकोष्ठ कहते हैं। यहाँ तुम लोग क्या कहते हो?

मल्लिका : प्रकोष्ठ।

रंगिणी : प्रकोष्ठ को तुम लोग भी प्रकोष्ठ कहते हो? और...

कुम्भों के निकट जाकर एक कुम्भ को छूती है।

इसे?

मल्लिका : कुम्भ।

रंगिणी : कुम्भ? प्रकोष्ठ को प्रकोष्ठ और कुम्भ को कुम्भ?

निराशा से कन्धे हिलाती है।

संगिनी : देखो, यहाँ के कुछ स्थानीय शब्द नहीं हैं?

मल्लिका हतप्रभ-सी उनकी ओर देखती रहती है।

मल्लिका : स्थानीय शब्द?

संगिनी : हाँ, आंचलिक शब्द। जैसे पतंजलि ने लिखा है न कि यद्वा को कुछ यर्वा बोलते हैं और तद्वा को तर्वा। यर्वाणस्तर्वाणः ऋषयो बभूवुः।

मल्लिका : मुझे इतना ज्ञान नहीं है।

संगिनी कुछ निराश-सी आसन पर बैठ जाती है। रंगिणी घूमकर प्रकोष्ठ की एक-एक वस्तु का निरीक्षण करती है। मल्लिका संगिनी के पास चली जाती है।

संगिनी : देखो, हम कुछ ऐसी बातें जानना चाहती हैं जिनका सम्बन्ध यहाँ के और केवल यहाँ के जीवन से हो। तुम्हारे घर और वस्त्र तो लगभग हमारे जैसे हैं। यहाँ के जीवन की अपनी विशेषता क्या है?

मल्लिका : यहाँ के जीवन की अपनी विशेषता?

पल-भर झरोखे की ओर देखती रहती है।

मैं नहीं जानती। हमारा जीवन हर दृष्टि से बहुत साधारण है।

संगिनी : यह मैं नहीं मान सकती। इस प्रदेश ने कालिदास जैसी असाधारण प्रतिभा को जन्म दिया है। यहाँ की तो प्रत्येक वस्तु असाधारण होनी चाहिए।

रंगिणी चूल्हे के आसपास की सब वस्तुओं को अच्छी तरह देखकर तथा एक बार अन्दर झाँककर उसके पास आ जाती है।

रंगिणी : देखो, मैं तुम्हें समझाती हूँ। बात यह है कि राजकीय नियोजन से हम दोनों कवि कालिदास के जीवन की पृष्ठभूमि का अध्ययन कर रही हैं। तुम समझ सकती हो कि यह कितना बड़ा और महत्त्वपूर्ण कार्य है। परन्तु यहाँ घूमकर हम तो लगभग निराश हो चुकी हैं, यहाँ कुछ सामग्री है ही नहीं।

संगिनी : अच्छा, यहाँ के कुछ वनस्पतियों के नाम बताइए।

मल्लिका : कैसे वनस्पति?

रंगिणी : कैसे वनस्पति?

सोचने लगती है।

जैसे कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में लिखा है–
'भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च'। ये प्रकाश देनेवाली औषधियाँ कौन-सी हैं?

मल्लिका : औषधियाँ प्रकाश नहीं देतीं।

संगिनी उठ खड़ी होती है।

संगिनी : औषधियाँ प्रकाश नहीं देतीं? तुम्हारा अभिप्राय है कि कालिदास ने जो लिखा है, वह झूठ है?

मल्लिका : उन्होंने कुछ भी झूठ नहीं लिखा। उन्होंने तो लिखा है कि...

रंगिणी : रहने दे संगिनी! यह यहाँ के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं जानती।

संगिनी भी निराशा से मुँह बिचकाकर उठ खड़ी होती है।

संगिनी : अच्छा, तुम्हारा बहुत समय नष्ट किया। क्षमा करना। चल, रंगिणी!

दोनों चली जाती हैं। मल्लिका ड्योढ़ी का किवाड़ बन्द कर देती है। आसन के पास जाकर नीचे बैठ जाती है और बिखरे पृष्ठों पर सिर टिका देती है। उसकी आँखें मुँद जाती हैं।

मल्लिका : आज वर्षों के बाद तुम लौटकर आए हो! सोचती थी तुम आओगे तो उसी तरह मेघ घिरे होंगे, वैसा ही अँधेरा-सा दिन होगा, वैसे ही एक बार वर्षा में भीगूँगी और तुमसे कहूँगी कि देखो मैंने तुम्हारी सब रचनाएँ पढ़ी हैं...

कुछ पृष्ठ हाथ में ले लेती है।

उज्जयिनी की ओर जानेवाले व्यवसायियों से कितना-कितना कहकर मैंने तुम्हारी रचनाएँ मँगवाई हैं।...सोचती थी तुम्हें 'मेघदूत' की पंक्तियाँ गा-गाकर सुनाऊँगी। पर्वत-शिखर से घंटा-ध्वनियाँ गूँज उठेंगी और मैं अपनी यह भेंट तुम्हारी हाथों में रख दूँगी...

मोढ़े पर रखा ग्रन्थ उठा लेती है।

कहूँगी कि देखो, ये तुम्हारी नई रचना के लिए हैं। ये कोरे पृष्ठ मैंने अपने हाथों से बनाकर सिए हैं। इन पर तुम जब जो भी लिखोगे, उसमें मुझे अनुभव होगा कि मैं भी कहीं हूँ, मेरा भी कुछ है।

निःश्वास छोड़कर ग्रन्थ रख देती है।

परन्तु आज तुम आए हो, तो सारा वातावरण ही और है। और...और नहीं सोच पा रही कि तुम भी वही हो या...?

कोई किवाड़ खटखटाता है। वह अपने को झटककर उठ खड़ी होती है और जाकर किवाड़ खोल देती है। ड्योढ़ी में अनुस्वार और अनुनासिक साथ-साथ खड़े दिखाई देते हैं। मल्लिका उन्हें देखकर असमंजस में पड़ जाती है।

अनुस्वार : मुझे विश्वास है मैं इस समय देवी मल्लिका के सामने खड़ा हूँ।

मल्लिका : कहिए।

अनुस्वार : देव मातृगुप्त के अनुचरों का अभिवादन स्वीकार कीजिए।

दोनों झुककर अभिवादन करते हैं। मल्लिका भौचक्की-सी उन्हें देखती रहती है।

मल्लिका : देव मातृगुप्त? देव मातृगुप्त कौन हैं?

अनुस्वार : 'ऋतुसंहार', 'कुमारसम्भव', 'मेघदूत' एवं 'रघुवंश' के प्रणेता कवीन्द्र, राजनीति-निष्णात आचार्य तथा काश्मीर के भावी शासक। देव मातृगुप्त की राजमहिषी गुप्त-वंश-दुहिता परम विदुषी देवी प्रियंगुमंजरी आपके साक्षात्कार के लिए उत्सुक हैं और शीघ्र ही यहाँ आना चाहती हैं। हम उनके अनुचर ापको इसकी पूर्व सूचना देने के लिए उपस्थित हैं।

मल्लिका : 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' आदि के प्रणेता तो कालिदास हैं और आप कह रहे हैं कि...।

अनुस्वार : वे गुप्त राज्य की ओर से काश्मीर का शासन सँभालने जा रहे हैं। मातृगुप्त उन्हीं का नया नाम है।

मल्लिका : वे काश्मीर का शासन सँभालने जा रहे हैं? और...और उनकी राजमहिषी मुझसे मिलने के लिए आ रही हैं?

अनुस्वार : मुझे विश्वास है कि इस गौरवपूर्ण अवसर पर आप अपने उपवेश-गृह के वस्तु-विन्यास में कुछ परिवर्तन आवश्यक समझेंगी। इसे आपका आदेश समझते हुए हम यह कार्य अभी अपने हाथों सम्पन्न किए देते हैं। आओ, अनुनासिक।

दोनों प्रकोष्ठ में आकर निरीक्षण करने की दृष्टि से सब वस्तुओं को देखने लगते हैं। मल्लिका एक ओर हट जाती है। अनुनासिक आसन के पास चला जाता है।

अनुनासिक : मैं समझता हूँ यह आसन द्वार के निकट होना चाहिए।

अनुस्वार : देवी द्वार से प्रवेश करेंगी और आसन द्वार के निकट होगा?

अनुनासिक : उस स्थिति में इसे इसकी वर्तमान स्थिति से सात अंगुल दक्षिण की ओर हटा देना चाहिए।

अनुस्वार : दक्षिण की ओर?

नकारात्मक भाव से सिर हिलाता है।

मैं समझता हूँ इसकी स्थिति पाँच अंगुल उत्तर की ओर होनी चाहिए। गवाक्ष से सूर्य की किरणें सीधी इस पर पड़ती हैं।

अनुनासिक : मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ।

अनुस्वार : मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ।

अनुनासिक : तो?

अनुस्वार : तो विवादास्पद विषय होने से आसन को यहीं रहने दिया जाए।

अनुनासिक : अच्छी बात है। इसे यहीं रहने दिया जाए। और ये कुम्भ?

कुम्भों के पास चला जाता है।

अनुस्वार : मैं समझता हूँ एक कुम्भ इस कोने में और दूसरा उस कोने में होना चाहिए।

अनुनासिक : पर मैं समझता हूँ कि कुम्भ यहाँ होने ही नहीं चाहिए।

अनुस्वार : क्यों?

अनुनासिक : क्यों का कोई उत्तर नहीं।

अनुस्वार : मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ।

अनुनासिक : मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ।
अनुस्वार : तो?
अनुनासिक : तो कुम्भों को भी यहीं रहने दिया जाए।

दोनों उधर जाते हैं जिधर रस्सी पर वस्त्र सूखने के लिए फैलाए गए हैं। मल्लिका आसन के पास जाकर बिखरे पन्नों को समेटती है और उन्हें मोढ़े पर रखकर चुपचाप अन्दर चली जाती है। अनुस्वार गीले वस्त्रों को छूता है।

अनुस्वार : ये वस्त्र?
अनुनासिक : वस्त्र अभी गीले हैं, इसलिए इन्हें नहीं हटाना चाहिए।
अनुस्वार : क्यों?
अनुनासिक : शास्त्रीय प्रमाण ऐसा है।
अनुस्वार : कौन-सा प्रमाण है?
अनुनासिक : यह तो मुझे याद नहीं।
अनुस्वार : यह याद है कि ऐसा प्रमाण है?
अनुनासिक : हाँ।
अनुस्वार : तो?
अनुनासिक : तो संदिग्ध विषय है।
अनुस्वार : हाँ, तब तो अवश्य संदिग्ध विषय है।
अनुनासिक : संदिग्ध विषय होने से वस्त्रों को भी रहने दिया जाए।
अनुस्वार : अच्छी बात है। वस्त्रों को भी रहने दिया जाए।
अनुनासिक : परन्तु यह चूल्हा अवश्य यहाँ से हटा देना चाहिए।
अनुस्वार : चूल्हा हटाने का अर्थ होगा आसपास की सब वस्तुओं को हटाया जाए। इसके लिए बहुत समय चाहिए।
अनुनासिक : समय के अतिरिक्त बहुत धैर्य चाहिए।
अनुस्वार : धैर्य के अतिरिक्त बहुत परिश्रम चाहिए।।
अनुनासिक : मैं समझता हूँ कि भाजनों को हाथ लगाना हमारी स्थिति के अनुकूल नहीं है।
अनुस्वार : मैं भी यही समझता हूँ।
अनुनासिक : तो इस बात में हम दोनों सहमत हैं कि चूल्हे को न हटाया जाए?
अनुस्वार : मैं समझता हूँ हम दोनों सहमत हैं।

अनुनासिक चारों ओर देखता है।

अनुनासिक : और तो कुछ शेष नहीं?

अनुस्वार भी चारों ओर देखता है।

अनुस्वार : मेरे विचार में कुछ भी शेष नहीं।
अनुनासिक : नहीं, अभी शेष है।
अनुस्वार : क्या?
अनुनासिक : यह चौकी यहाँ रास्ते में पड़ी है। इसे यहाँ से हटा देना चाहिए।
अनुस्वार : मैं इससे सहमत हूँ।
अनुनासिक : तो?
अनुस्वार : तो?
अनुनासिक : तो इसे हटा देना चाहिए।
अनुस्वार : हाँ, अवश्य हटा देना चाहिए।
अनुनासिक : तो?
अनुस्वार : तो?
अनुनासिक : हटा दो।
अनुस्वार : मैं?
अनुनासिक : हाँ।
अनुस्वार : तुम नहीं?
अनुनासिक : नहीं।
अनुस्वार : क्यों?
अनुनासिक : क्यों का कोई उत्तर नहीं।
अनुस्वार : फिर भी!
अनुनासिक : पहले मैंने तुमसे कहा है।
अनुस्वार : परन्तु चौकी देखी पहले तुमने है।
अनुनासिक : तो?
अनुस्वार : तो?
अनुनासिक : हटा दो।
अनुस्वार : तुम हटा दो।
अनुनासिक : तो रहने दो।
अनुस्वार : रहने दो।
अनुनासिक : अब?
अनुस्वार : हाँ, अब?
अनुनासिक : चारों ओर एक दृष्टि और डाल लें।
अनुस्वार : हाँ, चारों ओर एक दृष्टि और डाल लें।

मातुल उत्तेजित-सा बाहर से आता है।

मातुल : अधिकारी-वर्ग, आपका कार्य यहाँ पूरा हो गया?

अनुनासिक : क्यों अनुस्वार?

अनुस्वार : हाँ, पूरा हो गया। हो गया न? क्यों अनुनासिक?

अनुनासिक : हाँ, हो गया। केवल एक दृष्टि डालना शेष है।

अनुस्वार : हाँ, केवल एक दृष्टि डालना शेष है।

मातुल : तो वह दृष्टि अब रहने दीजिए। देवी प्रियंगुमंजरी बाहर पहुँच गई हैं।

अनुनासिक : देवी बाहर पहुँच गई हैं! तो चलो अनुस्वार।

अनुस्वार : चलो।

दोनों साथ-साथ बाहर चले जाते हैं। मातुल भी पीछे-पीछे चला जाता है और कुछ क्षण बाद प्रियंगुमंजरी को मार्ग दिखलाता वापस आता है।

मातुल : वह इस सारे प्रदेश में सबसे सुशील, सबसे विनीत और सबसे भोली लड़की है...।

मल्लिका अन्दर से आती है।

आओ-आओ, मल्लिका! मैं देवी से तुम्हारी ही प्रशंसा कर रहा था।

चाटुकारिता की हँसी हँसता है।

देवी जब से आई हैं, तुम्हारे ही सम्बन्ध में पूछ रही हैं।...तो यही है हमारी मल्लिका, इस प्रदेश की राजहंसिनी...अ...अ...मल्लिका, देवी के लिए कौन-सा आसन निश्चित किया गया है?

मल्लिका प्रियंगुमंजरी का अभिवादन करती है। प्रियंगुमंजरी मुस्कुराकर अभिवादन की स्वीकृति देती है।

प्रियंगु : आर्य मातुल, आप अब जाकर विश्राम करें। अनुचर मेरे लौटने तक बाहर प्रतीक्षा करेंगे।

मातुल : परन्तु आपके लिए आसन...?

प्रियंगु : उसकी चिन्ता न करें। मुझे असुविधा नहीं होगी।

मातुल : असुविधा तो होगी। आप असुविधा को असुविधा न मानें, यह दूसरी बात है। और वास्तव में कुलीनता कहते इसी को हैं। बड़े कुल की विशेषता ही यह होती है कि...

प्रियंगु : आप विश्राम करें। मैंने पहले ही आपको बहुत थकाया है।

मातुल : मुझे थकाया है? आपने?

फिर चाटुकारिता की हँसी हँसता है।

आपके कारण मैं थकूँगा? मुझे आप दिन-भर पर्वत-शिखर से खाई में और खाई से पर्वत-शिखर पर जाने को कहती रहें, तो भी मैं

नहीं थकूँगा। मातुल का शरीर लोहे का बना है, लोहे का। आत्म-श्लाघा नहीं करता, परन्तु हमारे वंश में केवल प्रतिभा ही नहीं, शरीर-शक्ति भी बहुत है। मैं पशुओं के पीछे दिन में दस-दस योजन घूमा हूँ। मैं कहता हूँ संसार में सबसे कठिन काम कोई है तो पशु-पालन का। एक भी पशु मार्ग से भटक जाए, तो...।

प्रियंगु : देखिए; आज भी आपके पशु भटक रहे होंगे। जाकर एक बार उन्हें देख लीजिए।

मातुल : अब मैं पशु को देखता हूँ? गुप्त वंश के साथ सम्बन्ध, और पशुओं की देख-रेख? मैंने तो अपने सब पशु वर्षों पहले ही बेच दिए। और सच कहूँ, तो उसमें भी मुझे लाभ ही रहा क्योंकि...

प्रियंगु की दृष्टि मल्लिका से मिल जाती है। वह बढ़कर मल्लिका के हाथ अपने हाथों में ले लेती है।

प्रियंगु : सचमुच वैसी ही हो जैसी मैंने कल्पना की थी।

मल्लिका कुछ अव्यवस्थित होकर उसे देखती रहती है।

मातुल : क्योंकि...अ...अ...अच्छा, तो मुझे अनुमति दीजिए। घर में कई कुछ बिखरा पड़ा है। कई तरह की व्यवस्था करनी है। तो अनुचर आपकी प्रतीक्षा करेंगे।...फिर भी मेरे लिए कोई आदेश हो, तो कहला दीजिएगा...मल्लिका, देवी के बैठने की कुछ तो व्यवस्था कर दो। नहीं, ये तो ऐसे ही खड़ी रहेंगी। अच्छा, मैं चल रहा हूँ। कोई आदेश हो तो कहला दीजिएगा।

प्रियंगु : आप चलें। यहाँ के लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।

मातुल : अच्छा-अच्छा...!

चल देता है।

मुझे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? चिन्ता करने के लिए यहाँ मल्लिका है, अम्बिका है।...फिर भी कोई काम हो, तो कहला दीजिएगा...।

चला जाता है। प्रियंगुमंजरी क्षण-भर मल्लिका को देखती रहती है। फिर उसकी ठोड़ी को हाथ से छू लेती है।

प्रियंगु : सचमुच बहुत सुन्दर हो। जानती हो, अपरिचित होते हुए भी तुम मुझे अपरिचित नहीं लग रहीं?

मल्लिका : आप बैठ जाइए न।

प्रियंगु : नहीं; बैठना नहीं चाहती। तुम्हें और तुम्हारे घर को देखना चाहती हूँ। उन्होंने बहुत बार इस घर की और तुम्हारी चर्चा की है। जिन

दिनों 'मेघदूत' लिख रहे थे, उन दिनों प्रायः यहाँ का स्मरण किया करते थे।

दृष्टि चारों ओर घूमकर फिर मल्लिका के चेहरे पर स्थिर हो जाती है।

आज इस भूमि का आकर्षण ही हमें यहाँ ले आया है। अन्यथा दूसरे मार्ग से जाने में हमें अधिक सुविधा थी।

मल्लिका : मैं समझ नहीं पा रही कि किस रूप में आपका आतिथ्य करूँ। आप आसन ले लें, तो मैं आपके लिए...।

प्रियंगु : आतिथ्य की बात मत सोचो। मैं तुम्हारे यहाँ अतिथि के रूप में नहीं आई हूँ।...सम्भव था ये न भी आते, परन्तु मैं ही विशेष आग्रह के साथ इन्हें लाई हूँ। मैं स्वयं एक बार इस प्रदेश को देखना चाहती थी। इसके अतिरिक्त...

गले से हल्का विदग्धतापूर्ण स्वर निकल पड़ता है।

इसके अतिरिक्त एक और भी कारण था। चाहती थी कि इस प्रदेश का कुछ वातावरण साथ ले जाऊँ।

मल्लिका : इस प्रदेश का वातावरण?

प्रियंगुमंजरी मुस्कुराकर उसे देखती है। फिर टहलती हुई झरोखे के पास चली जाती है।

प्रियंगु : यहाँ से बहुत दूर तक की पर्वत-शृंखलाएँ दिखाई देती हैं।... कितनी निर्व्याज सुन्दरता है। मुझे यहाँ आकर तुमसे स्पर्द्धा हो रही है।

मल्लिका दो-एक पग उस ओर को बढ़ आती है।

मल्लिका : हमारा सौभाग्य होगा कि आप कुछ दिन इस प्रदेश में रह जाएँ। यहाँ आपको असुविधा तो होगी, परन्तु...।

प्रियंगुमंजरी फिर विदग्ध भाव से उसे देखती है।

प्रियंगु : इस सौन्दर्य के सामने जीवन की सब सुविधाएँ हेय हैं। इसे आँखों में व्याप्त करने के लिए जीवन-भर का समय भी पर्याप्त नहीं।

झरोखे के पास से हट आती है।

परन्तु इतना अवकाश कहाँ है? काश्मीर की राजनीति इतनी अस्थिर है कि हमारा एक-एक दिन वहाँ से दूर रहना कई-कई समस्याओं को जन्म दे सकता है।...एक प्रदेश का शासन बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। हम पर तो और भी बड़ा उत्तरदायित्व है क्योंकि काश्मीर की स्थिति इस समय बहुत संकटपूर्ण है। यूँ वहाँ

के सौन्दर्य की ही इतनी चर्चा है, परन्तु हमें उसे देखने का अवकाश कहाँ रहेगा?

बाँहें पीछे टिकाए आसन पर बैठ जाती है।

इसलिए तुमसे स्पर्द्धा होती है। सौन्दर्य का यह सहज उपभोग हमारे लिए केवल एक सपना है।...बैठ जाओ।

आसन पर अपने सामने बैठने के लिए संकेत करती है।

मल्लिका नीचे बैठने लगती है, तो वह उसे रोक देती है।

यहाँ मेरे पास बैठो।

मल्लिका : मैं दूसरा आसन ले लेती हूँ।

कोने से मोढ़ा उठाकर आसन के पास रख लेती है और उस पर रखे भोजपत्र आदि गोदी में रखकर बैठ जाती है।

प्रियंगु : लगता है यहाँ ग्राम-प्रदेश में रहकर भी तुम्हें साहित्य से अनुराग है।

मल्लिका की आँखें झुक जाती हैं।

किसकी रचनाएँ हैं ये?

मल्लिका : कालिदास की।

प्रियंगु की भौंहें कुछ संकुचित हो जाती हैं।

प्रियंगु : अब वे मातृगुप्त के नाम से जाने जाते हैं। यहाँ भी उनकी रचनाएँ मिल जाती हैं?

मल्लिका : ये प्रतियाँ मैंने उज्जयिनी से आनेवाले व्यवसायियों से प्राप्त की हैं।

प्रियंगुमंजरी के होंठों पर हल्की व्यंग्यात्मक मुस्कुराहट प्रकट होती है।

प्रियंगु : मैं समझ सकती हूँ। उनसे जान चुकी हूँ कि तुम बचपन से उनकी संगिनी रही हो। उनकी रचनाओं के प्रति तुम्हारा मोह स्वाभाविक है।

जैसे कुछ सोचती-सी छत की ओर देखने लगती है।

वे भी जब-तब यहाँ के जीवन की चर्चा करते हुए आत्मविस्मृत हो जाते हैं। इसीलिए राजनीतिक कार्यों से कई बार उनका मन उखड़ने लगता है।

फ़िर उसकी आँखें मल्लिका के मुख पर स्थिर हो जाती हैं।

ऐसे अवसरों पर उनके मन को सन्तुलित रखने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। राजनीति साहित्य नहीं है। उसमें

एक-एक क्षण का महत्त्व है। कभी एक क्षण के लिए भी चूक जाएँ, तो बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। राजनीतिक जीवन की धुरी में बने रहने के लिए व्यक्ति को बहुत जागरूक रहना पड़ता है।...साहित्य उनके जीवन का पहला चरण था। अब वे दूसरे चरण में पहुँच चुके हैं। मेरा अधिक समय इसी आयास में बीतता है कि उनका बढ़ा हुआ चरण पीछे न हट जाए।...बहुत परिश्रम पड़ता है इसमें।

मुस्कुराने का प्रयत्न करती है।

तुम ऐसा नहीं समझतीं?

मल्लिका : मैं राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानती।

प्रियंगु : क्योंकि तुम ग्राम-प्रदेश में ही रही हो।

उठ खड़ी होती है। मल्लिका भी उठने लगती है, तो कन्धे पर हाथ रखकर वह उसे बिठा देती है।

बैठी रहो।

निचले होंठ को थोड़ा चबाती हुई टहलने लगती है।

मैंने तुमसे कहा था कि मैं यहाँ का कुछ वातावरण साथ ले जाना चाहती हूँ। यह इसलिए कि उन्हें अभाव का अनुभव न हो। उससे कई बार बहुत क्षति होती है। वे व्यर्थ में धैर्य खो देते हैं, जिसमें समय भी जाता है, शक्ति भी। उनके समय का बहुत मूल्य है। मैं चाहती हूँ उनका समय उस तरह नष्ट न हुआ करे।

मल्लिका के सामने आकर रुक जाती है।

इसीलिए मैं यहाँ से कई कुछ अपने साथ ले जा रही हूँ। कुछ हरिणशावक जाएँगे, जिनका हम अपने उद्यान में पालन करेंगे। यहाँ की औषधियाँ उद्यान के क्रीड़ा-शैल पर तथा आसपास के प्रदेश में लगवा दी जाएँगी। हम यहाँ के-से कुछ घरों का भी वहाँ निर्माण करेंगे। मातुल और उनका परिवार भी साथ जाएगा। यहाँ से कुछ अनाथ बच्चों को वहाँ ले जाकर हम शिक्षा देंगे। मैं समझती हूँ इससे अन्तर पड़ेगा।

फिर टहलती हुई प्रकोष्ठ के दूसरे भाग में चली जाती है।

देख रही हूँ तुम्हारा घर बहुत जर्जर स्थिति में है। इसका परिसंस्कार आवश्यक है। चाहो, तो मैं इस कार्य के लिए आदेश दे जाऊँगी। उज्जयिनी के दो कुशल स्थपति हमारे साथ आए हैं। क्यों?

मल्लिका उठकर उसकी ओर आती है।

मल्लिका : आप बहुत उदार हैं। परन्तु हमें ऐसे ही घर में रहने का अभ्यास है, इसलिए असुविधा नहीं होती।

प्रियंगु : फिर भी चाहूँगी कि इस घर का परिसंस्कार हो जाए। उनके जीवन के आरम्भिक वर्षों का इस घर के साथ भी सम्बन्ध रहा है। मातुल के घर के स्थान पर मैंने नए भवन के निर्माण का आदेश दिया है। स्थपतियों से कहा है कि वे उज्जयिनी से श्लक्ष्ण शिलाएँ लाकर कार्य आरम्भ करें। खेद है कि कार्य के निरीक्षण के लिए मैं स्वयं यहाँ नहीं रह पाऊँगी। कल ही हमें आगे की यात्रा आरम्भ कर देनी होगी।...तुम भी हमारे साथ क्यों नहीं चलतीं?

मल्लिका विमूढ़-सी उसकी ओर देखती रहती है।

मल्लिका : मैं?

प्रियंगु पास आकर उसके कन्धे पर हाथ रख देती है।

प्रियंगु : हाँ! इसमें बाधा क्या है? यहाँ तुम किसी ऐसे सूत्र से तो बँधी नहीं हो कि...

मल्लिका : मेरी माँ यहाँ हैं।

प्रियंगु : यह कोई बाधा नहीं है। तुम्हारी माँ के भी साथ चलने की व्यवस्था हो सकती है। हमारे स्थपति इस घर का परिसंस्कार करते रहेंगे, तुम वहाँ मेरे साथ मेरी संगिनी के रूप में रहोगी।

मल्लिका के चेहरे पर आहत अभिमान की रेखाएँ प्रकट होती हैं। परन्तु वह अपने को दबाए रखती है।

मल्लिका : क्षमा चाहती हूँ। मैं अपने को ऐसे गौरव की अधिकारिणी नहीं समझती।

प्रियंगु : परन्तु मैं तुम्हें इससे कहीं अधिक की अधिकारिणी समझती हूँ।...मेरे आने से पहले राज्य के दो अधिकारी यहाँ आए थे।

होंठों पर फिर विदग्ध मुस्कान आ जाती है।

मैंने उन्हें औपचारिकता के लिए ही नहीं भेजा था। तुमने उन दोनों को देखा है?

मल्लिका उसका अर्थ समझने का प्रयत्न करती हुई अनिश्चित-सी उसकी ओर देखती रहती है।

मल्लिका : देखा है।

प्रियंगु : तुम उनमें से जिसे भी अपने योग्य समझो, उसी के साथ तुम्हारे विवाह का प्रबन्ध किया जा सकता है। दोनों योग्य अधिकारी हैं।

मल्लिका : देवि!

भोजपत्रों को वक्ष से सटाए कुछ पग आसन की ओर हट जाती है। प्रियंगुमंजरी उसे सीधी दृष्टि से देखती हुई धीरे-धीरे उसके पास चली जाती है।

प्रियंगु : सम्भवतः तुम दोनों में से किसी को भी अपने योग्य नहीं समझतीं। परन्तु राज्य में ये दो ही नहीं, और भी अनेक अधिकारी हैं। मेरे साथ चलो। तुम जिससे भी चाहोगी...

मल्लिका आसन पर बैठ जाती है और रुँधे आवेश से अपना होंठ काट लेती है।

मल्लिका : इस विषय की चर्चा छोड़ दीजिए।

गला रुँध जाने से शब्द स्पष्ट ध्वनित नहीं होते। अन्दर का द्वार खुलता है और अम्बिका रोग और आवेश के कारण शिथिल और काँपती-सी बाहर आकर जैसे अपने को सहेजने के लिए रुकती है।

प्रियंगु : क्यों? तुम्हारे मन में कल्पना नहीं है कि तुम्हारा अपना घर-परिवार हो?

अम्बिका धीरे-धीरे उनकी ओर बढ़ती है।

अम्बिका : नहीं। इसके मन में यह कल्पना नहीं है।

प्रियंगु घूमकर उसकी ओर देखती है। मल्लिका अव्यवस्थित भाव से उठ खड़ी होती है।

मल्लिका : माँ!

अम्बिका : इसके मन में यह कल्पना नहीं है क्योंकि यह भावना के स्तर पर जीती है। इसके लिए जीवन में...

साँस फूल जाने से शब्द गले में अटक जाते हैं। मल्लिका हाथ के पृष्ठ आसन पर रख देती है और पास जाकर अम्बिका को पीठ से सहारा देती है।

मल्लिका : तुम उठ क्यों आईं, माँ? तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। चलो, चलकर लेट रहो।

उसे वापस अन्दर ले जाना चाहती है, परन्तु अम्बिका उसका हाथ अपनी पीठ से हटा देती है।

अम्बिका : मैं किसी आनेवाले से बात भी नहीं कर सकती? दिन, मास, वर्ष, मुझे घुटते हुए बीत गए हैं। मेरे लिए यह घर घर नहीं, एक काल-गुफा है जिसमें मैं हर समय बन्द रहती हूँ। और तुम चाहती हो, मैं किसी से बात भी न करूँ?

चलने की चेष्टा में गिरने को हो जाती है। मल्लिका उसे सँभाल लेती है।

मल्लिका : परन्तु माँ, तुम स्वस्थ नहीं हो।

अम्बिका : तुम्हारी अपेक्षा मैं फिर भी अधिक स्वस्थ हूँ।

प्रियंगु के पास जाकर उसे सिर से पैर तक देखती है।

यह घर सदा से इस स्थिति में नहीं है, राजवधू! मेरे हाथ चलते थे, तो मैं प्रतिदिन इसे लीपती-बुहारती थी। यहाँ की हर वस्तु इस तरह गिरी-टूटी नहीं थी। परन्तु आज तो हम दोनों माँ-बेटी भी यहाँ टूटी-सी पड़ी रहती हैं। यह सब इसलिए कि..।

फिर साँस फूल जाने से आगे नहीं बोल पाती। प्रियंगुमंजरी प्रकोष्ठ पर दृष्टि डालने के बहाने उसके पास से हट जाती है।

प्रियंगु : मैं देख रही हूँ घर की स्थिति अच्छी नहीं है। मल्लिका मेरे साथ चल सकती, तो समस्या वैसे ही सुलझ जाती। परन्तु अब...

होंठ काटती हुई जैसे सोचने के लिए क्षर-भर रुकती है।

अब भी जो कुछ सम्भव है, मैं कर जाऊँगी। स्थपतियों को आदेश दे जाऊँगी कि इस घर को गिराकर इसके स्थान पर...

मल्लिका चिहुँक जाती है।

मल्लिका : ऐसा मत कीजिए। इस घर को गिराने का आदेश मत दीजिए।

प्रियंगुमंजरी फिर सीधी दृष्टि से उसे देखती है।

प्रियंगु : मैं तुम्हारी सुविधा के लिए ही कह रही थी। तुम्हें इसमें असुविधा है, तो...ठीक है। मैं ऐसा आदेश नहीं दूँगी। फिर भी चाहती हूँ कि तुम्हारे लिए कुछ-न-कुछ कर सकूँ...। इस समय और नहीं रुक सकती। कल की यात्रा से पहले कई आवश्यक कार्य पूरे करने हैं। यूँ तो इस समय भी अवकाश नहीं था। पर मैंने आना आवश्यक समझा। वे पर्वत-शिखर की ओर घूमने गए थे। मैं उस बीच इधर चली आई, अच्छा...!

मल्लिका की उँगलियाँ उलझ जाती हैं और आँखें झुक जाती हैं। अम्बिका अपने आवेश में दो-एक पग प्रियंगु की ओर बढ़ जाती है।

अम्बिका : मैं तुमसे कुछ कहना चाहती थी, राजवधू! तुम्हें बताना चाहती थी कि हम लोग...हम लोग...।

खाँसने लगती है और शब्द खाँसी में डूब जाते हैं। प्रियंगुमंजरी द्वार के पास से मुड़कर उसकी ओर देखती है।

प्रियंगु : मैं आपका कष्ट समझ रही हूँ। जो भी सहायता मुझसे बन पड़ेगी, अवश्य करूँगी। इस समय अनुचर प्रतीक्षा कर रहे हैं, इसलिए...

गम्भीर मुस्कुराहट के साथ मल्लिका को देखकर सिर हिलाती है और चली जाती है। अम्बिका आवेश से शिथिल उस ओर देखती रहती है। फिर गिरती-सी आसन पर बैठ जाती है। और कुछ पन्ने उठाकर मल्लिका की ओर बढ़ा देती है।

अम्बिका : लो, 'मेघदूत' की पंक्तियाँ पढ़ो। इन्हीं में न कहती थीं, उसके अन्तर की कोमलता साकार हो उठी है? आज इस कोमलता का और भी साकार रूप देख लिया?

मल्लिका ठगी-सी उसकी ओर देखती रहती है।

आज वह तुम्हें तुम्हारी भावना का मूल्य देना चाहती है, तो क्यों नहीं स्वीकार कर लेती? घर की भित्तियों का परिसंस्कार हो जाएगा और तुम उनके यहाँ परिचारिका बनकर रह सकोगी। इससे बड़ा और क्या सौभाग्य तुम्हें चाहिए?

मल्लिका : राजकन्या की अपनी जीवन-दृष्टि है माँ! उसके लिए और कोई कैसे उत्तरदायी है?

अम्बिका : परन्तु राजकन्या के यहाँ आने के लिए कौन उत्तरदायी है? निःसन्देह वह उस किसी की इच्छा के बिना यहाँ नहीं आई। राज्य के स्थपति घर की भित्तियों का परिसंस्कार कर देंगे! आज वह शासक है, उसके पास सम्पत्ति है। उस शासन और सम्पत्ति का परिचय देने के लिए इससे अच्छा और क्या उपाय हो सकता था?

मल्लिका : परन्तु माँ...।

अम्बिका : माँ कुछ नहीं जानती। कुछ नहीं समझती। माँ भावना की गहराई तक नहीं जाती, माँ...।

फिर खाँसी उठ आने से आगे नहीं बोल पाती। विलोम बाहर से आता है।

विलोम : इस तरह क्षुब्ध क्यों हो अम्बिका...? आज तो सारा ग्राम तुम्हारे सौभाग्य पर तुमसे स्पर्द्धा कर रहा है।

अर्थपूर्ण दृष्टि से मल्लिका की ओर देखता है। मल्लिका आँखें बचाकर दूसरी ओर हट जाती है।

राजकीय पगधूलि घर में पड़ती है, तो लोग गौरव का अनुभव करते हैं। ऐसा अवसर हर किसी के जीवन में कहाँ आता है?

मल्लिका : यह अवसर देखने के लिए ही तो मैंने आज तक का जीवन जिया है! इतना बड़ा सौभाग्य हमारे क्षुद्र जीवन में कहाँ समा सकता है।

उठ खड़ी होती है।

चलो, मैं स्वयं चलकर सारे ग्राम में इस सौभाग्य की घोषणा करूँगी। हमारे वर्षों के अभाव और दुःख कितना बड़ा फल लाए हैं कि राज्य के स्थपति हमारे घर की भित्तियों का परिसंस्कार कर देंगे!

विलोम : बैठ जाओ, अम्बिका! आज ग्राम के पास तुम्हारी बात सुनने का अवकाश नहीं है।

टहलता हुआ झरोखे के पास चला जाता है।

ग्राम के लोग आज व्यस्त हैं। उन्हें बाहर से आए अतिथियों के लिए कई तरह की सामग्री जुटानी है। अतिथि आज यहाँ के पत्थर तक बटोरकर ले जाना चाहते हैं। यहाँ के पत्थर आज बहुत मूल्यवान समझे जाने लगे हैं।

मल्लिका : यहाँ के पत्थर पहले भी मूल्यवान थे, आर्य विलोम! यह और बात है कि पहले किसी ने उनका मूल्य समझा नहीं।

अम्बिका आवेश में कई पग उसकी ओर बढ़ जाती है।

अम्बिका : तो जाकर तुम भी बटोर क्यों नहीं लेतीं? सम्भव है फिर लोग यहाँ कोई पत्थर शेष न रहने दें और तुम्हारी भावना के लिए कोई आधार ही न रह जाए!

मल्लिका : बैठ जाओ, माँ, तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है।

उसे बाँह से पकड़कर आसन पर बिठा देती है।

विलोम : ग्राम में चारों ओर बहुत उत्साह है। यह दिन इस प्रदेश के जीवन का सबसे बड़ा उत्सव है। लोग आज अपने पशुओं की चिन्ता नहीं कर रहे। वे अतिथियों के लिए भोजन और पान की सामग्री जुटाने में व्यस्त हैं। उस सामग्री में कुछ हरिणशावक भी होंगे जो राजकन्या के विशेष आदेश पर एकत्रित किए जा रहे हैं।

मल्लिका : यह सच नहीं है।

विलोम : सच नहीं है? इन्द्र वर्मा और विष्णुदत्त को राजकन्या ने स्वयं आदेश दिया है कि...।

मल्लिका : उस आदेश का कुछ और अर्थ भी हो सकता है।

विलोम : और अर्थ? क्या और अर्थ हो सकता है? क्या राजकन्या हरिणशावकों से खेला करेंगी? या उज्जयिनी के कलाकार उनकी अनुकृतियाँ बनाएँगे? यह भी एक मनोरंजक विषय है कि राज-परिवार के साथ आए राजधानी के कलाकार आज यहाँ की हर वस्तु की अनुकृतियाँ बनाते घूम रहे हैं। यहाँ का कोई पेड़, पत्ता, तिनका शेष नहीं रहेगा जिनकी वे अनुकृति बनाकर नहीं ले जाएँगे।

मल्लिका : इसका भी कुछ दूसरा अर्थ हो सकता है।

विलोम झरोखे के पास से हटकर उसकी ओर आता है।

विलोम : मैं कब कहता हूँ कि दूसरा अर्थ नहीं है? अर्थ बहुत स्पष्ट है। वे यहाँ की हर वस्तु को विचित्र के रूप में देखते हैं और उस वैचित्र्य को यहाँ से जाकर दूसरों को दिखाना चाहते हैं। तुम, मैं, यह घर, ये पर्वत, सब उनके लिए विचित्र के उदाहरण हैं। मैं तो उनकी सूक्ष्म और समर्थ दृष्टि की प्रशंसा करता हूँ जो जहाँ वैचित्र्य नहीं, वहाँ भी वैचित्र्य देख लेती है। एक कलाकार को मैंने यहाँ की धूप में अपनी छाया की अनुकृति बनाते देखा है।

अम्बिका : यहाँ की धूप में उन्हें अपनी छायाएँ अवश्य और-सी लगती होंगी!...वह कौन राक्षसी थी जो जिस किसी जीव को उसकी छाया से पकड़ लेती थी?

बोलते-बोलते फिर हाँफने लगती है।

मैं चाहती हूँ मैं ही वह राक्षसी होती जिससे आज मैं...आज मैं...।

खाँसी उठ जाने से शब्द डूब जाते हैं। मल्लिका पास जाकर उसके कन्धों को सहारा देती है।

मल्लिका : तुमसे कहा है माँ, तुम विश्राम करो। बात मत करो।...आर्य विलोम, माँ का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। इन्हें इस समय विश्राम करने दीजिए।

विलोम : हाँ अम्बिका को तुम अन्दर ले जाओ। ग्राम का उत्सव-कोलाहल अम्बिका के मन को और अशान्त करेगा। मैं तो केवल उत्सव की सूचना देने आया था।...आश्चर्य है कि कालिदास ने यहाँ आना उचित नहीं समझा। कल तो सुनते हैं वे लोग चले भी जाएँगे।

अम्बिका : उसने आना उचित नहीं समझा, क्योंकि वह जानता है अम्बिका अभी जीवित है।

विलोम : परन्तु मैं समझता हूँ वह एक बार आएगा अवश्य। उसे आना चाहिए। व्यक्ति किसी सम्बन्ध को ऐसे नहीं तोड़ता।

फिर टहलता हुआ झरोखे के पास चला जाता है।

और विशेष रूप से वह, जिसे एक कवि का कोमल हृदय प्राप्त हो। तुम क्या सोचती हो, मल्लिका? उसे एक बार आना नहीं चाहिए?

मल्लिका : मैंने आपसे अनुरोध किया है आर्य विलोम, कि इस समय माँ को विश्राम करने दीजिए। आपकी बातों से माँ का मन विक्षुब्ध होता है।

विलोम : मेरी बातों से अम्बिका का मन विक्षुब्ध होता है? मैं समझता हूँ उसके कारण दूसरे हैं। अम्बिका जानती है किन कारणों से उसका मन विक्षुब्ध होता है।

झरोखे से बाहर देखने लगता है।

मैं भी उन कारणों को समझता हूँ। इसलिए बहुत-सी बातें, जो अम्बिका के मन में रहती हैं, मैं मुँह से कह देता हूँ।

मुड़कर मल्लिका की ओर देखता है।

तुम्हें मेरा यहाँ होना अखर रहा है, मैं जानता हूँ। यह कोई नई बात नहीं। परन्तु मैं कुछ ही देर और यहाँ रहना चाहता हूँ।

फिर बाहर देखने लगता है।

पर्वत-शिखर की ओर से एक अश्वारोही को आते देख रहा हूँ। सम्भव है इस बार कुछ क्षणों के लिए वह यहाँ रुकना चाहे। उस स्थिति में मैं भी उससे कुशल-क्षेम पूछ लूँगा। मेरी उससे पुरानी मित्रता है।

मल्लिका जैसे आपे से बाहर होने लगती है।

मल्लिका : आर्य विलोम, उस स्थिति में आपका यहाँ होना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। आप उनसे मिलना चाहें, तो उसके लिए यही एक स्थान नहीं है।

विलोम उसी तरह बाहर देखता रहता है।

विलोम : परन्तु यही स्थान क्या बुरा है? उसके जाने के दिन भी हम यहीं पर मिले थे। वर्षों के बाद उसी स्थान पर मिलने से अन्तराल का अनुभव नहीं होगा।

मल्लिका विलोम के पास चली जाती है और उसे बाँह से पकड़कर झरोखे से हटा देना चाहती है।

मल्लिका : मैं अनुरोध करती हूँ आप इस समय यहाँ ठहरने का हठ न करें।

विलोम अपने स्थान से नहीं हिलता। दूर से घोड़े की टापों का शब्द सुनाई देने लगता है।

...मैं कह रही हूँ आप चले जाएँ। यह मेरा घर है। मैं नहीं चाहती, आप इस समय मेरे घर में हों।

विलोम फिर भी उसी तरह खड़ा रहता है। टापों का शब्द पास आता जाता है। मल्लिका उधर से हटकर अम्बिका के पास आ जाती है।

माँ, इनसे कहो यहाँ से चले जाएँ। मैं नहीं चाहती इस समय यहाँ कोई अयाचित स्थिति उत्पन्न हो। तुम स्वस्थ नहीं हो, और मैं नहीं चाहती कि कोई भी ऐसी बात हो जिसका तुम्हारे स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़े।

अम्बिका उसके हिलाने से इस तरह हिलती है जैसे वह जड़ हो गई हो। उसके माथे पर त्योरियाँ पड़ी हैं और आँखें बिना पलक झपके सामने देख रही हैं। टापों का शब्द बहुत पास आ जाता है। मल्लिका फिर विलोम के पास चली जाती है।

मल्लिका : आर्य विलोम, मैंने आपसे कहा है आप यहाँ से चले जाएँ। आप नहीं जानते कि...।

टापों का शब्द पास आकर दूर जाने लगता है। मल्लिका ऐसे स्तब्ध हो रहती है जैसे उसे काठ मार गया हो। विलोम धीरे से मुड़कर उसकी ओर देखता है।

विलोम : चला जाता हूँ।

कंठ से हलका व्यंग्यात्मक स्वर निकलता है।

मैं नहीं चाहता मेरे कारण यहाँ कोई अयाचित स्थिति उत्पन्न हो। परन्तु क्या अयाचित स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जान सकता हूँ?

झरोखे से हटकर प्रकोष्ठ के बीच में आ जाता है।

क्यों अम्बिका, मेरे यहाँ रहने से क्या अयाचित स्थिति उत्पन्न हो सकती है?

अम्बिका : मैं जानती थी। आज नहीं, तब से ही जानती थी। वह आता, तो मुझे आश्चर्य होता। अब मुझे आश्चर्य नहीं है।

स्वर ऊँचा उठता जाता है। मल्लिका जैसे सारी शक्ति खोकर, धीरे-धीरे आसन पर बैठ जाती है।

कोई आश्चर्य नहीं है। प्रसन्नता है कि मैं उसके सम्बन्ध में ठीक सोचती थी। जीवन एक भावना है! कोमल भावना! बहुत-बहुत कोमल भावना!

विलोम : परन्तु मुझे खेद है। वर्षों से इस दिन की प्रतीक्षा थी। अपनी मित्रता पर भरोसा भी था...!

अर्थपूर्ण दृष्टि से मल्लिका की ओर देखता है।

परन्तु अब भरोसा नहीं रहा। सम्भवतः यह मित्रता एक ओर से ही थी। उसने कभी हमें अपनी मित्रता के योग्य नहीं समझा। फिर समान की समान से मित्रता होती है।...।

मल्लिका सहसा उठ खड़ी होती है। उसकी आँखों से हताशा की कठोरता झलक रही है।

मल्लिका : आर्य विलोम!

विलोम ऐसी दृष्टि से उसे देखता है, जैसे किसी बच्चे से खेल रहा हो।

मैं फिर कह रही हूँ आप चले जाएँ। अन्यथा वास्तव में ही यहाँ एक अयाचित स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

विलोम : ऐसा?...

मुस्कुराकर अम्बिका की ओर देखता है।

तब तो मुझे अवश्य चले जाना चाहिए।...अच्छा अम्बिका! तुम्हारे स्वास्थ्य की मुझे बहुत चिन्ता रहती है। जहाँ तक सम्भव हो, घृत और मधु का सेवन करो। मैंने अभी-अभी नया मधु निकाला है। आवश्यकता हो, तो मैं तुम्हारे लिए...

मल्लिका : हमें मधु की आवश्यकता नहीं है। हमारे घर में मधु पर्याप्त मात्रा में है।

विलोम : ऐसा?...अच्छा, अम्बिका!

क्षण-भर दोनों की ओर देखता रहता है, फिर चल देता है। द्वार के पास पहुँचकर फिर रुक जाता है।

...पर कभी मधु की आवश्यकता पड़ ही जाए, तो संकोच मत करना।

फिर चला जाता है। मल्लिका क्षण-भर सिर झुकाए दबी-सी खड़ी रहती है। फिर अपने को सँभाल पाने में

असमर्थ, अन्दर को चल देती है। अम्बिका का भाव आवेश में हताशा और हताशा से करुणा में बदल जाता है।

अम्बिका : मल्लिका!

मल्लिका रुक जाती है। पर कुछ भी उत्तर न देकर मुँह हाथों में छिपा लेती है। अम्बिका उठकर धीरे-धीरे उसके पास आ जाती है और उसे बाँहों में ले लेती है। मल्लिका अम्बिका के वक्ष में मुँह छिपा लेती है। सारा शरीर रुलाई से काँपता रहता है, पर गले से स्वर नहीं निकलता। अम्बिका की आँखें भर आती हैं और वह उसके काँपते शरीर को अपने से सटाए उसकी पीठ पर हाथ फेरती रहती है, फिर होंठों और गालों से उसके सिर को दुलारने लगती है।

अम्बिका : अब भी रोती हो? उसके लिए? उस व्यक्ति के लिए जिसने...?

मल्लिका : उनके सम्बन्ध में कुछ मत कहो माँ, कुछ मत कहो...।

सिसकने लगती है। अम्बिका उसे सहारे से वहीं बिठा लेती है और उसकी सिसकती पीठ पर झुक जाती है।

अंक तीन

कुछ और वर्षों के बाद

वर्षा और मेघ-गर्जन का शब्द। परदा उठने पर वही प्रकोष्ठ। एक दीपक जल रहा है। प्रकोष्ठ की स्थिति में पहले से बहुत अन्तर दिखाई देता है। सबकुछ जर्जर और अस्तव्यस्त है। कुम्भ केवल एक है और उसका भी कोना टूटा है। आसन अपने स्थान से हटा हुआ है और उस पर अब बाघ-छाल नहीं है। दीवारों पर से स्वस्तिक आदि के चिह्न लगभग बुझ चुके हैं। चूल्हे के पास केवल दो-एक वर्तन हैं, जिन पर स्याही चढ़ी है।...एक कोने में फटे-मैले वस्त्र एकत्रित हैं। प्रकोष्ठ में कोई नहीं है। मातुल भीगे वस्त्रों में बैसाखी के सहारे चलता हुआ आता है। चारों ओर दृष्टि डालकर एक लम्बी साँस लेता है, नकारात्मक ढंग से सिर हिलाता है। और प्रकोष्ठ के बीचोबीच आ जाता है।

मातुल : मल्लिका!

मल्लिका का स्वर अन्दर से सुनाई देता है।

मल्लिका : कौन है?

मातुल : मैं हूँ, मातुल। देखो, वर्षा ने मातुल की क्या दुर्गति की है!

सिर से और वस्त्रों से पानी निचोड़ने लगता है। मल्लिका अन्दर से आती है। उसके वस्त्र फटे हैं, रंग पहले से काला पड़ गया है और आँखों का भाव भी विचित्र-सा लगता है। उसके व्यक्तित्व में भी प्रकोष्ठ की-सी ही जीर्णता है। किवाड़ खुलने पर अन्दर का जो भाग दिखाई देता है वहाँ अब तल्प के स्थान पर टूटा पालना रखा है। मल्लिका बाहर आकर किवाड़ बन्द कर देती है।

मल्लिका : आर्य मातुल, आप इस वर्षा में?

मातुल : वर्षा से बचने के लिए तुम्हारे घर के सिवा कोई शरण नहीं थी। सोचा, जो हो, मातुल के लिए आज भी तुम वही मल्लिका हो।...यह आषाढ़ की वर्षा तो मेरे लिए काल हो रही है। पहले जब दो पैरों पर चल लेता था, तो मैंने कभी भारी-से-भारी वर्षा की चिन्ता नहीं की। परन्तु अब यह स्थिति है कि बैसाखी आगे रखता हूँ तो पैर पीछे को फिसल जाता है और पैर आगे रखता हूँ तो बैसाखी पीछे को फिसल जाती है। यह जानता कि राज-प्रासाद में रहकर पाँव तोड़ बैठूँगा तो कभी ग्राम छोड़कर वहाँ न जाता। अब पीछे से मेरा घर भी उन लोगों ने ऐसा कर दिया है कि कहीं पैर टिकता ही नहीं। इन चिकने शिला-खंडों से तो वह मिट्टी ही अच्छी थी जो पैर को पकड़ती तो थी। मैं तो अब घर के रहते बेघर हो रहा हूँ। न बाहर रहते बनता है न अन्दर। उन श्वेत शिला-खंडों के दर्शन से ही मुझे प्रासाद का स्मरण हो आता है। जहाँ रहकर एक पाँव तोड़ आया हूँ।

मल्लिका : खड़े रहने में कष्ट होगा। आसन ले लीजिए।

मातुल आसन के पास जाकर बैसाखी रख देता है और जमकर बैठ जाता है।

मातुल : मुझसे कोई पूछे तो मैं कहूँगा कि राज-प्रासाद में रहने से अधिक कष्टकर स्थिति संसार में हो ही नहीं सकती। आप आगे देखते हैं, तो प्रतिहारी जा रहे हैं। पीछे देखते हैं, तो प्रतिहारी आ रहे हैं। सच कहता हूँ, मुझे कभी पता ही नहीं चल पाया कि प्रतिहारी मेरे पीछे चल रहे हैं या मैं प्रतिहारियों के पीछे चल रहा हूँ।...और इससे भी कष्टकर स्थिति यह थी कि जिन व्यक्तियों को देखकर मेरा आदर से सिर झुकाने को मन करता था, वे मेरे सामने सिर झुका देते थे। मेरे सामने...?

हाथ से अपनी ओर संकेत करता है।

बताओ, मातुल में ऐसा क्या है जिसके आगे कोई सिर झुकाएगा। मातुल न देवी है न देवता, न पंडित है, न राजा है। तो फिर क्यों कोई सिर झुकाकर मातुल की वन्दना करे? परन्तु नहीं। लोग मातुल की तो क्या मातुल के शरीर से उतरे वस्त्रों तक की वन्दना करने को प्रस्तुत थे। और मैं बार-बार अपने को छूकर देखता था कि मेरा शरीर हाड़-मांस का ही है या चिकने

पत्थर का हो गया है, जैसे मन्दिरों में देवी-देवताओं का होता है।...यहाँ आकर सबसे बड़ा सुख यही है कि न कोई झुककर मेरी वन्दना करता है और न ही मुझे भ्रम होता है कि मैं आगे चल रहा हूँ या प्रतिहारी आगे चल रहे हैं। केवल यह वर्षा मुझसे नहीं सही जाती।

मल्लिका : वस्त्र सुखाने के लिए आग जला दूँ?

मातुल चूल्हे की ओर देखता है, फिर चारों ओर दृष्टि डालता है।

मातुल : तुमने घर की क्या अवस्था कर रखी है! अम्बिका के न रहने से घर की अवस्था ही नहीं रही।...यह ठीक है कि प्रियंगुमंजरी ने तुम्हारे लिए कुछ वस्त्र और स्वर्ण-मुद्राएँ भिजवाई थीं जो तुमने लौटा दीं?

मल्लिका : मुझे उनकी आवश्यकता नहीं थी।

मैले वस्त्रों के पास जाकर उनके नीचे से भोजपत्रों का बना ग्रन्थ निकाल लेती है और उसकी धूल झाड़ने लगती है।

मातुल : और इस घर के परिसंस्कार के लिए भी उसने स्थपतियों से कहा था।

मल्लिका : मैंने किसी परिसंस्कार की आवश्यकता नहीं समझी।

ग्रन्थ रखने के लिए इधर-उधर स्थान देखती है। फिर उसे मातुल के पास आसन पर रख देती है।

आग जला दूँ।

मातुल : नहीं, वर्षा थम रही है।

बैसाखी लिए हुए झरोखे के पास चला जाता है।

हल्की-हल्की बूँदें हैं। किसी तरह घिसटता हुआ घर पहुँच जाऊँ, तो वहीं वस्त्र सुखाऊँगा। कहीं फिर धारासार बरसने लगा तो बस...।

झरोखे से हटकर मल्लिका के पास आ जाता है।

तुमने काश्मीर का कुछ समाचार सुना है?

मल्लिका गम्भीर और स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखती रहती है।

मल्लिका : मैं हर समय घर में ही रहती हूँ। कहीं का भी समाचार कैसे सुन सकती हूँ?

मातुल : मैंने सुना है। विश्वास नहीं होता, परन्तु होता भी है। राजनीति में कुछ भी असम्भव नहीं है। जितना सम्भव है कि ऐसा न हो, उतना ही सम्भव है कि ऐसा हो। और यह भी सम्भव है कि जो हो, वह न हो...।

मल्लिका अप्रतिभ-सी उसकी ओर देखती रहती है।

मल्लिका : परन्तु समाचार क्या है?

मातुल : समाचार यह है कि सम्राट् का निधन हो गया है। काश्मीर में विद्रोही शक्तियाँ सिर उठा रही हैं। वहीं से आए एक आहत सैनिक का कहना है कि...कि कालिदास ने काश्मीर छोड़ दिया है।

मल्लिका : उन्होंने काश्मीर छोड़ दिया है?

वैसे ही अप्रतिभ-सी आसन पर बैठ जाती है।

और अब पुनः उज्जयिनी चले गए हैं?

मातुल : नहीं। उज्जयिनी नहीं गया। वहाँ के लोगों का तो कहना है कि उसने संन्यास ले लिया है और काशी चला गया है। परन्तु मुझे विश्वास नहीं होता। उसका राजधानी में इतना मान है। यदि काश्मीर में रहना सम्भव नहीं था, तो उसे सीधे राजधानी चले जाना चाहिए था। परन्तु असम्भव भी नहीं है। एक राजनीतिक जीवन दूसरे कालिदास। मैं आज तक दोनों में से किसी की भी धुरी नहीं पहचान पाया। मैं समझता हूँ कि जो कुछ मैं समझ पाता हूँ, सत्य सदा उसके विपरीत होता है। और मैं जब उस विपरीत तक पहुँचने लगता हूँ, तो सत्य उस विपरीत से विपरीत हो जाता है। अतः मैं जो कुछ समझ पाता हूँ, वह सदा झूठ होता है। इससे अब तुम निष्कर्ष निकाल लो कि सत्य क्या हो सकता है, कि उसने संन्यास ले लिया है, या नहीं लिया। मैं समझता हूँ कि उसने संन्यास नहीं लिया, इसलिए सत्य यही होना चाहिए कि उसने संन्यास ले लिया है और काशी चला गया है।

मल्लिका आसन से ग्रन्थ उठाकर वक्ष से लगा लेती है।

मल्लिका : नहीं, यह सत्य नहीं हो सकता। मेरा हृदय इसे स्वीकार नहीं करता।

मातुल : मैंने तुमसे क्या कहा था? कि मैं जो कहूँगा, वह कभी सत्य नहीं हो सकता! इसलिए मैं कुछ नहीं कहता। वह काशी गया है, तो भी मैं झूठा हूँ। नहीं गया, तो भी झूठा हूँ।...यह तो ठीक है?

बैसाखी पटकता हुआ चला जाता है। मल्लिका गुमसुम-सी आसन पर बैठी रहती है।

मल्लिका : नहीं, तुम काशी नहीं गए। तुमने संन्यास नहीं लिया। मैंने इसलिए तुमसे यहाँ से जाने के लिए नहीं कहा था।...मैंने इसलिए भी नहीं कहा था कि तुम जाकर कहीं का शासन-भार सँभालो। फिर भी जब तुमने ऐसा किया, मैंने तुम्हें शुभकामनाएँ दीं—यद्यपि प्रत्यक्ष तुमने वे शुभकामनाएँ ग्रहण नहीं कीं।

ग्रन्थ को हाथों में लिए जैसे अभियोगपूर्ण दृष्टि से उसे देखती है।

मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं होने दिया। तुम रचना करते रहे, और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है।

ग्रन्थ को घुटनों पर रख लेती है।

और आज तुम मेरे जीवन को इस तरह निरर्थक कर दोगे?

ग्रन्थ को आसन पर रखकर उद्विग्न दृष्टि से उसकी ओर देखती रहती है।

तुम जीवन से तटस्थ हो सकते हो, परन्तु मैं तो अब तटस्थ नहीं हो सकती। क्या जीवन को तुम मेरी दृष्टि से देख सकते हो? जानते हो मेरे जीवन के ये वर्ष कैसे व्यतीत हुए हैं? मैंने क्या-क्या देखा है? क्या से क्या हुई हूँ?

उठकर अन्दर का किवाड़ खोल देती है और पालने की ओर संकेत करती है।

इस जीव को देखते हो? पहचान सकते हो? यह मल्लिका है जो धीरे-धीरे बड़ी हो रही है और माँ के स्थान पर अब मैं इसकी देखभाल करती हूँ।...यह मेरे अभाव की सन्तान है। जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परन्तु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जाने कितनी-कितनी आकृतियाँ हैं! जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण उपार्जित किया है और अब मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं, केवल विशेषण हूँ।

किवाड़ बन्द करके आसन की ओर लौट पड़ती है।

व्यवसायी कहते थे, उज्जयिनी में अपवाद है, तुम्हारा बहुत-सा समय वारांगणाओं के सहवास में व्यतीत होता है।...परन्तु तुमने

वारांगणा का यह रूप भी देखा है? आज तुम मुझे पहचान सकते हो? मैं आज भी उसी तरह पर्वत-शिखर पर जाकर मेघ-मालाओं को देखती हूँ। उसी तरह 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' की पंक्तियाँ पढ़ती हूँ। मैंने अपने भाव के कोष्ठ को रिक्त नहीं होने दिया। परन्तु मेरे अभाव की पीड़ा का अनुमान लगा सकते हो?

कुहनियाँ आसन पर रखकर बैठ जाती है। और ग्रन्थ हाथों में उठा लेती है।

नहीं, तुम अनुमान नहीं लगा सकते। तुमने लिखा था कि एक दोष गुणों के समूह में उसी तरह छिप जाता है, जैसे चाँद की किरणों में कलंक; परन्तु दारिद्र्य नहीं छिपता। सौ-सौ गुणों में भी नहीं छिपता। नहीं, छिपता ही नहीं, सौ-सौ गुणों को छा लेता है--एक-एक करके नष्ट कर देता है।

बोलती-बोलती और अन्तर्मुख हो जाती है।

परन्तु मैंने यह सब सह लिया। इसलिए कि मैं टूटकर भी अनुभव करती रही कि तुम बन रहे हो। क्योंकि मैं अपने को अपने में न देखकर तुममें देखती थी। और आज यह सुन रही हूँ कि तुम सब छोड़कर संन्यास ले रहे हो? तटस्थ हो रहे हो? उदासीन? मुझे मेरी सत्ता के बोध से इस तरह वंचित कर दोगे?

बिजली कौंधती है और मेघ-गर्जन सुनाई देता है।

वही आषाढ़ का दिन है। उसी तरह मेघ गरज रहे हैं। वैसे ही वर्षा हो रही है। वही मैं हूँ। उसी घर में हूँ। किन्तु...!

पुनः बिजली कौंधती है, मेघ-गर्जन सुनाई देता है और ड्योढ़ी का द्वार धीरे-धीरे खुलता है। कालिदास क्षत-विक्षत-सा, द्वार खोलकर ड्योढ़ी में ही खड़ा रहता है। मल्लिका किवाड़ खुलने के शब्द से उधर देखती है और सहसा उठ खड़ी होती है। कालिदास अन्दर आता है। मल्लिका जड़-सी उसे देखती रहती है।

कालिदास : सम्भवतः पहचानती नहीं हो।

मल्लिका उसी तरह देखती रहती है। कालिदास प्रकोष्ठ में इधर-उधर देखता है, फिर मल्लिका पर सिर से पैर तक एक दृष्टि डालकर आसन की ओर चला जाता है।

और न पहचानना ही स्वाभाविक है, क्योंकि मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसे तुम पहले पहचानती रही हो। दूसरा व्यक्ति हूँ।

बाँहें पीछे टिकाकर आसन पर बैठ जाता है।

और सच कहूँ तो वह व्यक्ति हूँ जिसे मैं स्वयं नहीं पहचानता!...तुम इस तरह जड़-सी क्यों खड़ी हो? मुझे देखकर बहुत आश्चर्य हुआ?

मल्लिका किवाड़ बन्द कर देती है। फिर खोई-सी उसकी ओर बढ़ आती है।

मल्लिका : आश्चर्य?...मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा है कि तुम तुम हो, और मैं जो तुम्हें देख रही हूँ, वास्तव में मैं मैं ही हूँ!

कालिदास : देख रहा हूँ कि तुम भी वह नहीं हो। सब कुछ बदल गया है। या सम्भव है कि परिवर्तन केवल मेरी दृष्टि में हुआ है।

मल्लिका : मुझे विश्वास नहीं होता कि यह स्वप्न नहीं है...।

कालिदास : नहीं, स्वप्न नहीं है। यथार्थ है कि मैं यहाँ हूँ। दिनों की यात्रा करके थका, टूटा-हारा हुआ यहाँ आया हूँ कि एक बार यहाँ के यथार्थ को देख लूँ।

मल्लिका : बहुत भीग गए हो। मेरे यहाँ सूखे वस्त्र तो नहीं हैं, पर मैं...।

कालिदास : मेरे भीगे होने की चिन्ता मत करो।...जानती हो, इस तरह भीगना भी जीवन की एक महत्त्वाकांक्षा हो सकती है? वर्षों के बाद भीगा हूँ। अभी सूखना नहीं चाहता। चलते-चलते बहुत थक गया था। कई दिन ज्वर आता रहा। परन्तु इस वर्षा से जैसे सारी थकान मिट गई है...।

मल्लिका उसके और पास चली जाती है।

मल्लिका : बहुत थक गए हो?

कालिदास : थक गया था। अब भी थका हूँ, परन्तु वर्षा ने थकान कम कर दी है।

मल्लिका : तुम सचमुच पहचाने नहीं जाते।

कालिदास क्षण-भर उसे देखता रहता है। फिर उठकर झरोखे के पास चला जाता है।

कालिदास : और तुम्हीं कहाँ पहचानी जाती हो? यह घर भी कितना बदल गया है! और मैं आशा कर रहा था कि सब कुछ वैसा ही होगा, ज्यों-का-त्यों, यथास्थान।...पर कुछ भी तो यथास्थान नहीं है।

चारों ओर देखता है।

तुमने सब कुछ बदल दिया है। सभी कुछ बदल दिया है।

मल्लिका : मैंने नहीं बदला।

कालिदास उसकी ओर देखता है, फिर टहलने लगता है।

कालिदास : जानता हूँ तुमने नहीं बदला। परन्तु मल्लिका..।

उसके पास आ जाता है।

मैंने नहीं सोचा था कि यह घर कभी मुझे अपरिचित भी लग सकता है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु का स्थान और विन्यास इतना निश्चित था। परन्तु आज सब कुछ अपरिचित लग रहा है, और...

उसकी आँखों में देखता है।

...और तुम भी। तुम भी अपरिचित लग रही हो। इसलिए कहता हूँ कि सम्भव है दृश्य उतना नहीं बदला जितना मेरी दृष्टि बदल गई है।

मल्लिका : थके हो, बैठ जाओ। आँखों से लगता है, तुम अब भी स्वस्थ नहीं हो।

कालिदास : बहुत दिन इधर-उधर भटकने के बाद यहाँ आया हूँ। काश्मीर जाते हुए जिस कारण से नहीं आया था, आज उसी कारण से आया हूँ।

क्षण-भर दोनों की आँखें मिली रहती हैं।

मल्लिका : आर्य मातुल से आज ही पता चला था कि तुमने काश्मीर छोड़ दिया है।

कालिदास : हाँ, क्योंकि सत्ता और प्रभुता का मोह छूट गया है। आज मैं उस सबसे मुक्त हूँ, जो वर्षों से मुझे कसता रहा है। काश्मीर में लोग समझते हैं कि मैंने संन्यास ले लिया है। परन्तु मैंने संन्यास नहीं लिया। मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ जिससे पुनः कालिदास के कलेवर में जी सकूँ। एक आकर्षण सदा मुझे उस सूत्र की ओर खींचता था जिसे तोड़कर मैं यहाँ से गया था। यहाँ की एक-एक वस्तु में जो आत्मीयता थी, वह यहाँ से जाकर मुझे कहीं नहीं मिली। मुझे यहाँ की एक-एक वस्तु के रूप और आकार का स्मरण है।

फिर प्रकोष्ठ में आसपास देखता है।

कुम्भ, बाघ-छाल, कुशा, दीपक, गेरू की आकृतियाँ...और तुम्हारी आँखें। जाने के दिन तुम्हारी आँखों का जो रूप देखा था, वह आज तक मेरी स्मृति में अंकित है। मैं अपने को विश्वास दिलाता रहा हूँ कि कभी भी लौटकर आऊँ, यहाँ सब कुछ वैसा ही होगा।

कोई द्वार खटखटाता है। मल्लिका अव्यवस्थित होकर उस ओर देखती है। कालिदास द्वार की ओर जाना चाहता है, पर वह उसे रोक देती है।

मल्लिका : द्वार बन्द रहने दो। तुम जो बात कर रहे हो, करते जाओ।

कालिदास : देख तो लो, कौन आया है।

मल्लिका : वर्षा का दिन है। कोई भी हो सकता है। तुम बात करते रहो। वह चला जाएगा।

बाहर से आगन्तुक नशे के स्वर में झल्लाता हुआ लौट जाता है...'हर समय द्वार बन्द...हैं? हर समय द्वार बन्द!'

कालिदास : कौन था यह?

मल्लिका : कहा है न कोई भी हो सकता है। वर्षा में जिस किसी को आश्रय की आवश्यकता पड़ सकती है।

कालिदास : परन्तु मुझे इसका स्वर बहुत विचित्र-सा लगा।

मल्लिका : तुम यहाँ के सम्बन्ध में बात कर रहे थे।

कालिदास : लगा जैसे मैं इस स्वर को पहचानता हूँ। जैसे यहाँ की हर वस्तु की तरह यह भी किसी परिचित स्वर का बदला हुआ रूप है।

मल्लिका : तुम थके हुए हो और अस्वस्थ हो। बैठकर बात करो।

कालिदास एक निःश्वास छोड़कर आसन पर बैठ जाता है। मल्लिका घुटनों पर बाँहें रखकर कुछ दूर नीचे बैठ जाती है।

कालिदास : मैंने बहुत बार अपने सम्बन्ध में सोचा है मल्लिका, और हर बार इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अम्बिका ठीक कहती थीं।

बाँहें पीछे की ओर फैल जाती हैं और आँखें छत की ओर उठ जाती हैं।

मैं यहाँ से क्यों नहीं जाना चाहता था? एक कारण यह भी था कि मुझे अपने पर विश्वास नहीं था। मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर मैं कैसा अनुभव करूँगा। मन में कहीं यह आशंका थी कि वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा...और यह आशंका निराधार नहीं थी।

आँखें मल्लिका की ओर झुक आती हैं।

तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ था कि मैं काश्मीर का शासन सँभालने जा रहा हूँ? तुम्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा होगा। परन्तु मुझे

इसमें कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। सम्भवतः उसमें कहीं उन सबसे प्रतिशोध लेने की भावना भी थी जिन्होंने जब-तब मेरी भर्त्सना की थी, मेरा उपहास उड़ाया था।

होंठ काटकर उठ पड़ता है और झरोखे के पास चला जाता है।

परन्तु मैं यह भी जानता था कि मैं सुखी नहीं हो सकता। मैंने बार-बार अपने को विश्वास दिलाना चाहा कि कमी उस वातावरण में नहीं, मुझमें है। मैं अपने को बदल लूँ, तो सुखी हो सकता हूँ। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। न तो मैं बदल सका, न सुखी हो सका। अधिकार मिला, सम्मान बहुत मिला, जो कुछ मैंने लिखा उसकी प्रतिलिपियाँ देश-भर में पहुँच गईं, परन्तु मैं सुखी नहीं हुआ। किसी और के लिए वह वातावरण और जीवन स्वाभाविक हो सकता था, मेरे लिए नहीं था। एक राज्याधिकारी का कार्यक्षेत्र मेरे कार्यक्षेत्र से भिन्न था। मुझे बार-बार अनुभव होता कि मैंने प्रभुता और सुविधा के मोह में पड़कर उस क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश किया है, और जिस विशाल में मुझे रहना चाहिए था उससे दूर हट आया हूँ। जब भी मेरी आँखें देर तक फैली क्षितिज-रेखा पर पड़तीं, तभी यह अनुभूति मुझे सालती कि मैं उस विशाल से दूर हट आया हूँ। मैं अपने को आश्वासन देता कि आज नहीं तो कल मैं परिस्थितियों पर वश पा लूँगा और समान रूप से दोनों क्षेत्रों में अपने को बाँट दूँगा। परन्तु मैं स्वयं ही परिस्थितियों के हाथों बनता और चालित होता रहा। जिस कल की मुझे प्रतीक्षा थी, वह कल कभी नहीं आया और मैं धीरे-धीरे खंडित होता गया, होता गया। और एक दिन...एक दिन मैंने पाया कि मैं सर्वथा टूट गया हूँ। मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसका उस विशाल के साथ कुछ भी सम्बन्ध था।

क्षण-भर वह चुप रहता है। फिर टहलने लगता है।

काश्मीर जाते हुए मैं यहाँ से होकर नहीं जाना चाहता था। मुझे लगता था कि यह प्रदेश, यहाँ की पर्वत-शृंखला और उपत्यकाएँ मेरे सामने एक मूक प्रश्न का रूप ले लेंगी। फिर भी लोभ का संवरण नहीं हुआ। परन्तु उस बार यहाँ आकर मैं सुखी नहीं हुआ। मुझे अपने से वितृष्णा हुई। उनसे भी वितृष्णा हुई जिन्होंने मेरे

आने के दिन को उत्सव की तरह माना। तब पहली बार मेरा मन मुक्ति के लिए व्याकुल हुआ था। परन्तु उस समय मुक्त होना सम्भव नहीं था। मैं तब तुमसे मिलने के लिए नहीं आया क्योंकि भय था तुम्हारी आँखें मेरे अस्थिर मन को और अस्थिर कर देंगी। मैं इससे बचना चाहता था। उसका कुछ भी परिणाम हो सकता था। मैं जानता था तुम पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, दूसरे तुमसे क्या कहेंगे। फिर भी उस सम्बन्ध में निश्चिन्त था कि तुम्हारे मन में कोई वैसा भाव नहीं आएगा। और मैं यह आशा लिए हुए चला गया कि एक कल ऐसा आएगा जब मैं तुमसे यह सब कह सकूँगा और तुम्हें अपने मन के द्वन्द्व का विश्वास दिला सकूँगा। यह नहीं सोचा कि द्वन्द्व एक ही व्यक्ति तक सीमित नहीं होता, परिवर्तन एक ही दिशा को व्याप्त नहीं करता। इसलिए आज यहाँ आकर बहुत व्यर्थता का बोध हो रहा है।

फिर झरोखे के पास चला जाता है।

लोग सोचते हैं मैंने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत कुछ लिखा है। परन्तु मैं जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था। 'कुमारसम्भव' की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और तपस्विनी उमा तुम हो। 'मेघदूत' के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरहविमर्दिता यक्षिणी तुम हो—यद्यपि मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें नगर में देखने की कल्पना की। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शकुन्तला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थीं। मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया। और जब उससे हटकर लिखना चाहा, तो रचना प्राणवान नहीं हुई। 'रघुवंश' में अज का विलाप मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति है और...।

मल्लिका दोनों हाथों में मुँह छिपा लेती है। कालिदास सहसा बोलते-बोलते रुक जाता है और क्षण-भर उसकी ओर देखता रहता है।

चाहता था, तुम यह सब पढ़ पातीं, परन्तु सूत्र कुछ इस रूप में टूटा था कि...।

मल्लिका मुँह से हाथ हटाकर नकारात्मक भाव से सिर हिलाती है।

मल्लिका : वह सूत्र कभी नहीं टूटा।

उठकर वस्त्र में लिपटे पन्ने कोने से उठा लाती है और कालिदास के हाथ में रख देती है। कालिदास पन्ने पलटकर देखता है।

कालिदास : 'मेघदूत'! तुम्हारे पास 'मेघदूत' की प्रतिलिपि कैसे पहुँच गई?

मल्लिका : मेरे पास तुम्हारी सब रचनाएँ हैं। 'रघुवंश' और 'शाकुन्तलम्' की प्रतियाँ कुछ ही मास पहले मुझे मिल पाई हैं।

कालिदास : तुम्हारे पास मेरी सब रचनाएँ हैं? परन्तु वे यहाँ कैसे उपलब्ध हुई? क्या...?

मल्लिका : उज्जयिनी के व्यवसायी कभी-कभी इस मार्ग से होकर भी जाते हैं।

कालिदास : और उनके पास ये प्रतिलिपियाँ मिल जाती हैं?

मल्लिका : मैंने कहकर मँगवाई थीं। वर्ष-दो वर्ष में कहीं एक प्रतिलिपि मिल पाती थी।

कालिदास : और इनके लिए धन?

मल्लिका : वर्ष-दो वर्ष में एक प्रति मिल पाती थी। धन एकत्रित करने के लिए बहुत समय रहता था।

कालिदास सिर झुकाए आसन पर आ बैठता है।

कालिदास : जो अभाव वर्षों से मुझे सालते रहे हैं, वे आज और बड़े प्रतीत होते हैं, मंल्लिका! मुझे वर्षों पहले यहाँ लौट आना चाहिए था ताकि यहाँ वर्षा में भीगता, भीगकर लिखता—वह सब जो मैं अब तक नहीं लिख पाया और जो आषाढ़ के मेघों की तरह वर्षों से मेरे अन्दर घुमड़ रहा है।

निःश्वास छोड़कर आसन पर रखे ग्रन्थ को उठा लेता है और उसके पन्ने पलटने लगता है।

परन्तु बरस नहीं पाता। क्योंकि उसे ऋतु नहीं मिलती। वायु नहीं मिलती।...यह कौन-सी रचना है? ये तो केवल कोरे पृष्ठ हैं।

मल्लिका : ये पन्ने अपने हाथों से बनाकर सिए थे। सोचा था तुम राजधानी से आओगे, तो मैं तुम्हें यह भेंट दूँगी। कहूँगी कि इन पृष्ठों पर अपने सबसे बड़े महाकाव्य की रचना करना। परन्तु उस बार तुम आकर भी नहीं आए और यह भेंट यहीं पड़ी रही। अब तो ये पन्ने टूटने भी लगे हैं, और मुझे कहते संकोच होता है कि ये तुम्हारी रचना के लिए हैं।

कालिदास पन्ने पलटता जाता है।

कालिदास : तुमने ये पृष्ठ अपने हाथों से बनाए थे कि इन पर मैं एक महाकाव्य की रचना करूँ!

पन्ने पलटते हुए एक स्थान पर रुक जाता है।

स्थान-स्थान पर इन पर पानी की बूँदें पड़ी हैं जो निःसन्देह वर्षा की बूँदें नहीं हैं। लगता है तुमने अपनी आँखों से इन कोरे पृष्ठों पर बहुत कुछ लिखा है। और आँखों से ही नहीं, स्थान-स्थान पर ये पृष्ठ स्वेद-कणों से मैले हुए हैं, स्थान-स्थान पर फूलों की सूखी पत्तियों ने अपने रंग इन पर छोड़ दिए हैं। कई स्थानों पर तुम्हारे नखों ने इन्हें छीला है, तुम्हारे दाँतों ने इन्हें काटा है। और इसके अतिरिक्त ये ग्रीष्म की धूप के हल्के-गहरे रंग, हेमन्त की पत्रधूलि और इस घर की सीलन...ये पृष्ठ अब कोरे कहाँ हैं मल्लिका? इन पर एक महाकाव्य की रचना हो चुकी है...अनन्त सर्गों के एक महाकाव्य की।

ग्रन्थ रख देता है।

इन पृष्ठों पर अब नया कुछ क्या लिखा जा सकता है?

उठकर झरोखे के पास चला जाता है। कुछ क्षण बाहर देखता रहता है। फिर मल्लिका की ओर मुड़ आता है।

परन्तु इससे आगे भी तो जीवन शेष है। हम फिर अथ से आरम्भ कर सकते हैं।

अन्दर से बच्ची के कुनमुनाने और रोने का शब्द सुनाई देता है। मल्लिका सहसा उठकर उद्विग्न भाव से उस ओर चल देती है। कालिदास हतप्रभ-सा उसे जाते देखता है।

कालिदास : मल्लिका!

मल्लिका रुककर उसकी ओर देखती है।

कालिदास : किसके रोने का शब्द है यह?

मल्लिका : यह मेरा वर्तमान है।

अन्दर चली जाती है। कालिदास स्तम्भित-सा प्रकोष्ठ के बीचोबीच आ जाता है।

कालिदास : तुम्हारा वर्तमान?

कोई द्वार खटखटाता है। फिर पैर की चोट से द्वार अपने आप खुल जाता है। ड्योढ़ी में विलोम द्वार को कोसता खड़ा है। वस्त्र कीचड़ से लथपथ हैं। वह झूलता-सा अन्दर आता है।

विलोम : भीगे दिन में फिसलकर गिरे और गिरे खाई में।...कितनी बार कहा है भैया विलोम, बहुत ऊँचे मत चढ़ा करो। परन्तु भैया विलोम क्यों मानने लगे? पहले आए, तो द्वार बन्द। लौटकर [illegible] और फिसल गए। फिर आए, तो द्वार बन्द। फिर लौट कर जाते, तो क्या होता? आज का दिन ही ऐसा है कि...

कालिदास को देखकर बोलते-बोलते रुक जाता है। दृष्टि का भाव ऐसा हो जाता है जैसे किसी बहुत सूक्ष्म वस्तु का अध्ययन कर रहा हो।

न जाने आँखों को क्या हो गया है? कभी अपरिचित आकृतियाँ बहुत परिचित जान पड़ती हैं और कभी परिचित आकृतियाँ भी परिचित नहीं लगतीं।...अब यह इतनी परिचित आकृति है और मैं इसे पहचान ही नहीं रहा। आकृति जानी हुई है और व्यक्तित्व नया-सा लगता है।...क्यों बन्धु, तुम मुझे पहचानते हो?

मल्लिका अन्दर से आती है और विलोम को देखकर द्वार के पास जड़ हो जाती है।

कालिदास : आकृति बहुत बदल गई है, परन्तु व्यक्ति आज भी वही हो।

विलोम : स्वर भी परिचित है और शब्द भी।

आँखें स्थिर करके देखने का प्रयत्न करता है। फिर सहसा हँस उठता है।

तो तुम हो, तुम?...गिरने और चोट खाने का सारा कष्ट दूर हो गया! कितने दिनों से तुम्हें देखने की लालसा मन में थी। आओ...।

उसकी ओर बाँहें बढ़ाता है, परन्तु कालिदास उसके सामने से हट जाता है।

गले नहीं मिलोगे? मेरा शरीर मैला है, इसलिए? या मुझी से घृणा है? परन्तु इस तरह मेरा-तुम्हारा सम्बन्ध नहीं टूट सकता। तुमने कहा था न कि हम एक-दूसरे के बहुत निकट पड़ते हैं। नहीं कहा था? मैंने इन वर्षों में उस निकटता में अन्तर नहीं आने दिया। मैं तो समझता हूँ कि अब हम एक-दूसरे के और भी निकट पड़ते हैं।

मल्लिका की ओर मुड़ता है।

क्यों मल्लिका, मैं ठीक नहीं कहता?...तुम वहाँ स्तम्भित-सी क्यों खड़ी हो? विलोम इस घर में अब तो अयाचित अतिथि नहीं है।

अब तो वह अधिकार से आता है। नहीं? अब तो वह इस घर में कालिदास का स्वागत और आतिथ्य कर सकता है। नहीं?

फिर कालिदास की ओर मुड़ता है।

कहोगे कि कितनी आकस्मिक बात है कि तब भी मुझसे इसी घर में भेंट हुई थी और आज भी यहीं हुई है। परन्तु सच मानो, यह आकस्मिक बात नहीं है। तुम जब भी आते, हमारी भेंट यहीं होती।

मल्लिका की ओर मुड़ता है।

तुमने अब तक कालिदास के आतिथ्य का उपक्रम नहीं किया? वर्षों के बाद एक अतिथि घर में आए और उसका आतिथ्य न हो? जानती हो? कालिदास को इस प्रदेश के हरिणशावकों का कितना मोह है...?

फिर कालिदास की ओर मुड़ता है।

एक हरिणशावक इस घर में भी है।...तुमने मल्लिका की बच्ची को नहीं देखा? उसकी आँखें किसी हरिणशावक से कम सुन्दर नहीं हैं। और जानते हो अष्टावक्र क्या कहता है? कहता है...।

मल्लिका सहसा आगे बढ़ जाती है।

मल्लिका : आर्य विलोम!

विलोम हँसता है।

विलोम : तुम नहीं चाहतीं कि कालिदास यह जाने कि अष्टावक्र क्या कहता है। परन्तु मुझे उसकी बात पर विश्वास नहीं होता। मैं इसलिए कह रहा था कि सम्भव है कालिदास ही देखकर बता सके कि अष्टावक्र की बात कहाँ तक सच है। क्या बच्ची की आकृति सचमुच विलोम से मिलती है या...?

मल्लिका हाथों में मुँह छिपाए आसन पर जा बैठती है।

विलोम कालिदास के पास चला जाता है।

चलो, देखोगे?

कालिदास : यहाँ से चले जाओ विलोम!

विलोम : चला जाऊँ!

हँसता है।

इस घर से या ग्राम-प्रान्तर से ही? सुना है शासन बहुत बली होता है। प्रभुता में बहुत सामर्थ्य होती है।

कालिदास : मैं कह रहा हूँ, इस समय यहाँ से चले जाओ।

विलोम : क्योंकि तुम यहाँ लौट आए हो?...क्योंकि वर्षों से छोड़ी हुई भूमि आज फिर तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है?...क्योंकि तुम्हारे अधिकार शाश्वत हैं?

हँसता है।

जैसे तुमसे बाहर जीवन की गति ही नहीं है। तुम्हीं तुम हो और कोई नहीं है। परन्तु समय निर्दय नहीं है। उसने औरों को भी सत्ता दी है। अधिकार दिए हैं। वह धूप और नैवेद्य लिए घर की देहली पर रुका नहीं रहा। उसने औरों को अवसर दिया है! निर्माण किया है।...तुम्हें उसके निर्माण से वितृष्णा होती है? क्योंकि तुम जहाँ अपने को देखना चाहते हो, नहीं देख पा रहे?

कई क्षण उसकी ओर देखता रहता है। फिर हँसता है।

...तुम चाहते हो इस समय मैं यहाँ से चला जाऊँ। मैं चला जाता हूँ। इसलिए नहीं कि तुम आदेश देते हो। परन्तु इसलिए कि तुम आज यहाँ अतिथि हो, और अतिथि की इच्छा का मान होना चाहिए।

द्वार की ओर चल देता है। द्वार के पास रुककर मल्लिका की ओर देखता है।

देखना मल्लिका, आतिथ्य में कोई कमी न रहे। जो अतिथि वर्षों में एक बार आया है वह आगे जाने कभी आएगा या नहीं।

अर्थपूर्ण दृष्टि से दोनों की ओर देखता है और चला जाता है। मल्लिका मुँह से हाथ हटाकर कालिदास की ओर देखती है। कुछ क्षण दोनों चुप रहते हैं।

मल्लिका : क्या सोच रहे हो?

कालिदास झरोखे के पास चला जाता है।

कालिदास : सोच रहा हूँ कि वह आषाढ़ का ऐसा ही दिन था। ऐसे ही घाटी में मेघ भरे थे और असमय अँधेरा हो आया था। मैंने घाटी में एक आहत हरिणशावक को देखा था और उठाकर यहाँ ले आया था। तुमने उसका उपचार किया था।

मल्लिका उठकर उसके पास चली जाती है।

मल्लिका : और भी तो कुछ सोच रहे हो!

कालिदास : और सोच रहा हूँ कि उपत्यकाओं का विस्तार वही है।

पर्वत-शिखर की ओर जाने वाला मार्ग भी वही है। वायु में वैसी ही नमी है। वातावरण की ध्वनियाँ भी वैसी ही हैं।

मल्लिका : और?

कालिदास : और कि वही चेतना है जिसमें कम्पन होता है। वही हृदय है जिसमें आवेश जागता है। परन्तु...।

मल्लिका चुपचाप उसकी ओर देखती रहती है। कालिदास वहाँ से हटकर आसन के पास आ जाता है और वहाँ से ग्रन्थ उठा लेता है।

परन्तु यह कोरे पृष्ठों का महाकाव्य तब नहीं लिखा गया था।

मल्लिका : तुम कह रहे थे कि तुम फिर अथ से आरम्भ करना चाहते हो।

कालिदास निःश्वास छोड़ता है।

कालिदास : मैंने कहा था मैं अथ से आरम्भ करना चाहता हूँ। यह सम्भवतः इच्छा का समय के साथ द्वन्द्व था। परन्तु देख रहा हूँ कि समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि...।

मल्लिका : क्योंकि?

फिर अन्दर से बच्ची के रोने का शब्द सुनाई देता है। मल्लिका झट से अन्दर चली जाती है। कालिदास ग्रन्थ आसन पर रखता हुआ जैसे अपने को उत्तर देता है।

कालिदास : क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता।

बिजली चमकती है और मेघ-गर्जन सुनाई देता है। कालिदास एक बार चारों ओर देखता है, फिर झरोखे के पास चला जाता है। वर्षा पड़ने लगती है। वह झरोखे के पास आकर ग्रन्थ को एक बार फिर उठाकर देखता है और रख देता है। फिर एक दृष्टि अन्दर की ओर डालकर ड्योढ़ी में चला जाता है। क्षण-भर सोचता-सा वहाँ रुका रहता है। फिर बाहर से दोनों किवाड़ मिला देता है। वर्षा और मेघ-गर्जन का शब्द बढ़ जाता है। कुछ क्षणों के बाद मल्लिका बच्ची को वक्ष से सटाए अन्दर आती है और कालिदास को न देखकर दौड़ती-सी झरोखे के पास चली जाती है।

मल्लिका : कालिदास!

उसी तरह झरोखे के पास से आकर ड्योढ़ी के किवाड़ खोल देती है।

कालिदास!

पैर बाहर की ओर बढ़ने लगते हैं, परन्तु बच्ची को बाँहों में देखकर जैसे वहीं जकड़ जाती है। फिर टूटी-सी आकर आसन पर बैठ जाती है और बच्ची को और साथ सटाकर रोती हुई उसे चूमने लगती है। बिजली बार-बार चमकती है और मेघ-गर्जन सुनाई देता रहता है।

●●●

परिशिष्ट

प्रदर्शन-सूची : आषाढ़ का एक दिन

हिन्दी

संस्था	निर्देशक	वर्ष/तिथि
राष्ट्रीय नाट्य परिषद्/रंगमंच	रमेशचन्द्र श्रीवास्तव	1958, लखनऊ
नाट्य केन्द्र, इलाहाबाद	लक्ष्मीनारायण लाल	1959, फरवरी 15
अनामिका, कोलकाता	श्यामानन्द जालान	1960, सितम्बर 18
सांस्कृतिक परिषद्, गया	नवलकिशोर प्रसाद सिंह	1960
कमला राजा महाविद्यालय ग्वालियर	सुशीला रोहगती	1960
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली	इब्राहिम अल्काज़ी	1962, नवम्बर
एशियन ड्रामा सोसाइटी, दिल्ली	प्राणनाथ तुगनैत	1964, मार्च 11
थियेटर यूनिट, मुम्बई	सत्यदेव दुबे	1964, नवम्बर 21
प्रयाग रंगमंच, इलाहाबाद	सत्यव्रत सिन्हा	1965
रंगवाणी, कानपुर	पी. कैम्फ़र	1967, अगस्त 13
एमेच्योर आर्टिस्ट एसोसिएशन जयपुर	मोहन महर्षि	1968, सितम्बर
सेंट एंड्रूज कॉलेज, गोरखपुर		1968
सी.एम. दुबे कॉलेज, बिलासपुर	रवि पांडेय	1968
यवनिका, दिल्ली	मनोज भटनागर	1969, नवम्बर 10
यात्रिक– (इंडियन नेशनल थिएटर)	मोहन महर्षि	1970, अक्टूबर 22
वर्तमान, रायपुर	विवेक दत्त झा	1972, जनवरी 11
अनुपमा, वाराणसी	ज्योतिन्द्र सिंह सोहल	1972
युवक कल्याण एवं सांस्कृतिक परिषद्, सागर	विवेक दत्त झा	1972, दिसम्बर 22
दिशान्तर, दिल्ली	ओम शिवपुरी	1973, मार्च 13
युवा मन्त्रालय, मॉरीशस	मोहन महर्षि	1973, अप्रैल
नव नाट्य निकेतन, दिल्ली	सूर्यकान्त माथुर	1973, जून 15

रूपान्तर, गोरखपुर	: गिरीश रस्तोगी	: 1973, अक्टूबर 19
नाट्य भारती, कानपुर	: राधेश्याम दीक्षित	: 1973
अभिनेत, चंडीगढ़	: एन.सी. ठाकुर	: 1974, अगस्त
द ड्रैमेटिक क्लब, आई.आई.टी. दिल्ली	: सुधा शिवपुरी	: 1974, अगस्त 29
दर्पण, लखनऊ	: उर्मिल कुमार थपलियाल	: 1974, अक्टूबर 14
ज.रा. दानी कन्याशाला, रायपुर	: विनोद गर्ग	: 1975, जनवरी 9
सेवा मन्दिर, उदयपुर	: भानु भारती	: 1975
हिन्दी नाट्य समिति, जबलपुर	: महेन्द्र सिंह चौहान	: 1975
यौवन, दिल्ली	: बृज मोहन शाह	: 1975, अक्टूबर
कला संगम, पटना	: सतीश आनन्द	: 1975, दिसम्बर 13 (जनवरी, 9, 76, 11 फरवरी, 77)
चतुरंग, पटना	: दीपांकर दासगुप्ता	: 1975, दिसम्बर 14
मिलन, जबलपुर	: रामगोपाल बजाज	: 1976, फरवरी 20
त्रिवेणी, मॉरीशस	: मोहन महर्षि	: 1976, मार्च 14
संगीत कला मन्दिर, कलकत्ता	: बद्री तिवारी	: 1976
जनवादी रंगमंच, चंडीगढ़	: कुमार वर्मा	: 1976
सम्वेदना, देहरादून	: सतीश कुमार चाँद, बंसीकौल	: 1976
कला त्रिवेणी, जोधपुर	: के.के. माथुर	: 1977
मिरांडा हाउस, दिल्ली	: रामगोपाल बजाज, रवि शर्मा	: 1978
मिनी सांस्कृतिक संस्थान, वाराणसी	: सुधांशु मोहन मीत	: 1978, नवम्बर 5
नव नाट्यम, आज़मगढ़	: ओमप्रकाश पांडेय	: 1979, मार्च 31
अंकुर आर्ट्स, अम्बाला	: ज्ञान चौरसिया	: 1979
विवेकानन्द कॉलेज, दिल्ली	: अशोक निशेष	: 1981, जनवरी 19
महारानी सुदर्शना छात्रा महाविद्यालय; बीकानेर	:	: 1981
भारतीय संगीत-नृत्य-नाट्य महाविद्यालय, बड़ौदा	: यशवंत केलकर	: 1981, सितम्बर 7
स्टूडियो-1, दिल्ली	: अमाल अल्लाना	: 1981, सितम्बर 8

श्रीराम सेन्टर रंगमंडल, दिल्ली : रजिन्दर नाथ : 1982, जनवरी 11

कल्चरल सोसाइटी ऑफ़ राजस्थान, जयपुर : रामसहाय पारीक : 1984, जनवरी 10

पूर्वाभ्यास, लखनऊ : नवीन कुमार : 1985

भारतेन्दु नाट्य अकादमी, लखनऊ : भानु भारती : 1992, फरवरी 18

संवाद, सोलन : : कैलाश अहलुवालिया : 1993, अप्रैल 25

गोवा कला अकादमी, गोवा : वसन्त जोसलकर : 1994, मार्च

माध्यम, गाज़ीपुर : शिवमूरत सिंह : 1995, जनवरी 7

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली (रंगशिविर-इम्फाल) : सानाख्या इबोतोम्बी : 1995, दिसम्बर 14 (इम्फ़ाल), 1996, जनवरी 14, दिल्ली

श्रीराम सेन्टर (प्रशिक्षण-प्रस्तुति) दिल्ली : संजय उपाध्याय : 1996, फरवरी 15

क्षितिज (दिल्ली)-अल्मोड़ा नाट्य शिविर : नन्दन सिंह रौतेला : 1998, जनवरी

रंगयात्रा, लखनऊ : ज्ञानेश्वर मिश्र 'ज्ञानी' : 2000, फरवरी 11

*राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली (छात्र-प्रस्तुति) : एस. थानिललीमा : 2001, फरवरी 22

दस्तक एवं रंगयात्री, भोपाल : सच्चिदानन्द जोशी : 2001, जून 8

संस्कार भारती, आगरा : राजेश पंडित : 2002

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली (छात्र-प्रस्तुति) : रामगोपाल बजाज : 2002, मई 12

दोस्त, भोपाल : आलौक चटर्जी : 2003, सितम्बर 7

जसम, बेगूसराय : दीपक सिन्हा : 2003, अक्टूबर 11

आकांक्षा थियेटर ग्रुप, लखनऊ : प्रभात बोस : 2005, सितम्बर 23

नाट्य भारती, कानुपर : पं. राधेश्याम दीक्षित : 2010, अक्टूबर 13

अंग्रेज़ी (अनुवाद : सराह ऐंस्ले, बिन्दू बत्रा)

मेरी वाशिंगटन कॉलेज, वर्जीनिया : जाय माइकेल : 1968, मई 15

---

* 'आषाढ़ का एक दिन' पर आधारित इस प्रस्तुति को 'किस दिशा की ओर' नाम से प्रदर्शित किया गया था।

लेडी इर्विन कॉलेज, दिल्ली : अवीक् घोष : 1970
थियेटर ग्रुप, बम्बई : सैम कैरावाला : 1971, सितम्बर 22
रूचिका, दिल्ली : फ़ैज़ल अल्काज़ी : 1972
द आस्कर्स, कोलकाता : स्वर्ण चौधरी : 1972, अप्रैल 15
द ड्रैमेटिक सर्किल, हैदराबाद : बॉब मार्श : 1974

कन्नड़ (अनुवाद : सिद्धलिंग पट्टण शेट्टी)

नीनासम्, हेग्गड्डू (कर्नाटक) : के.वी. सुब्बण्णा : 1972, नवम्बर 19
कन्नड़ साहित्य संघ, बैंगलूर : नागेश

मराठी (अनुवाद : विद्या बापट)

भरत नाट्य मन्दिर, पूना : विजय कुमार चौकसे : 1976, जनवरी 3
अहिल्या देवी माध्यमिक विद्यालय, पूना : श्रीमती विद्या बा : 1981, दिसम्बर 10

असमिया (अनुवाद : देव कुमार नाथ, महंता बैजबरूआ)

न्यू आर्ट प्लेअर्स, गुवाहाटी : देव कुमार नाथ : 1976
असम राज्य सांस्कृतिक संघ/ नाट्योत्सव, डिब्रूग्रढ़ असम : (अनुवाद नि. मुनीन भुईया! महंता बैजबरूआ : 1990

मणिपुरी (अनुवाद : दीनामनि सिंह)

कोरंस रिपर्टरी, इम्फ़ाल : रतन थियम : 1978, अप्रैल 12
अवन्त गार्द, इम्फ़ाल : सानाख्या इबोतोम्बी : 1995

पंजाबी (अनुवाद : कृष्ण द्विवेदी)

नाटक कला विभाग, पटियाला : रामगोपाल बजाज : 1980, अगस्त 17
दिशान्तर, दिल्ली : रामगोपाल बजाज : 1984, अगस्त 15

गुजराती

राष्ट्रीय कला केन्द्र, सूरत

डोगरी (अनुवाद : मुश्ताक काक)

*एमेच्योर थियेटर ग्रुप, जम्मू : मुश्ताक काक : 1975

---

* 'आषाढ़ का ... प्रदर्शित किया गया। —सं.

●●●

मोहन राकेश

जन्म : 8 जनवरी, 1925; जंडीवाली गली, अमृतसर।

शिक्षा : संस्कृत में शास्त्री, अंग्रेजी में बी.ए., संस्कृत और हिन्दी में एम.ए.।

आजीविका : लाहौर, मुम्बई, शिमला, जालंधर और दिल्ली में अध्यापन, सम्पादन और स्वतंत्र-लेखन।

प्रकाशन : आखिरी चट्टान तक (यात्रा वृत्तान्त); इंसान के खँडहर, नये बादल, जानवर और जानवर, एक और ज़िन्दगी, फ़ौलाद का आकाश (कहानी); अँधेरे बन्द कमरे, न आनेवाला कल, अन्तराल (उपन्यास); आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे (नाटक); परिवेश (निबंध), मृच्छकटिक, शाकुंतल (नाट्यानुवाद)।

पुरस्कार/सम्मान : सर्वश्रेष्ठ नाटक और सर्वश्रेष्ठ नाटककार के संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार, नेहरू फ़ैलोशिप, फ़िल्म वित्त निगम का निदेशकत्व, फ़िल्म सेंसर बोर्ड के सदस्य।

निधन : 3 दिसम्बर, 1972, नई दिल्ली।

जयदेव तनेजा

जन्म : 15 मार्च, 1943, ओकाड़ा (अविभाजित भारतवर्ष)।

शिक्षा : एम.लिट्. पी-एच.डी।

आजीविका : अध्यापन एवं पत्रकारिता।

प्रकाशन : हिन्दी/भारतीय रंगकर्म पर 26 पुस्तकें प्रकाशित। मोहन राकेश पर—लहरों के राजहंस : विविध आयाम, मोहन राकेश : रंग शिल्प और प्रदर्शन (समीक्षा एवं शोध), राकेश और परिवेश : पत्रों में, पुनश्चः, एकत्र, नाट्य-विमर्श, मेरे साक्षात्कार, पूर्वाभ्यास (सम्पादन)।

पुरस्कार/सम्मान : दिल्ली नाट्य संघ, साहित्य कला परिषद्, हिन्दी अकादमी एवं केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा पुरस्कृत/सम्मानित।

संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

मोहन राकेश रचनावली

खंड 1
अंतरंग

खंड 2
पहले पहल

खंड 3
नाटक

खंड 4
एकांकी

खंड 5
कहानियाँ

खंड 6
उपन्यास

खंड 7
उपन्यास

खंड 8
निबंध-आलोचना

खंड 9
विविध विधाएँ

खंड 10
पत्र

खंड 11
नाट्यानुवाद

खंड 12
कथानुवाद

खंड 13
कथानुवाद

ISBN : 978-81-8361-427-6
₹ 10400 (तेरह खंड)
9 788183 614276

राधाकृष्ण
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद